परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैनपुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक
डॉक्टर देवीप्रसाद मिश्र

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडमी
इलाहाबाद (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

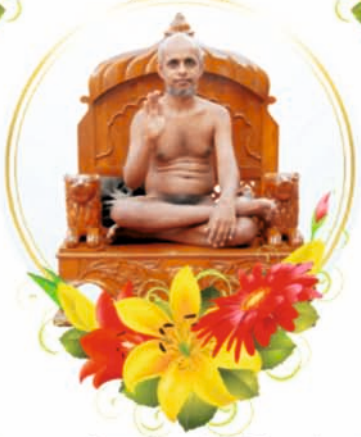

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन

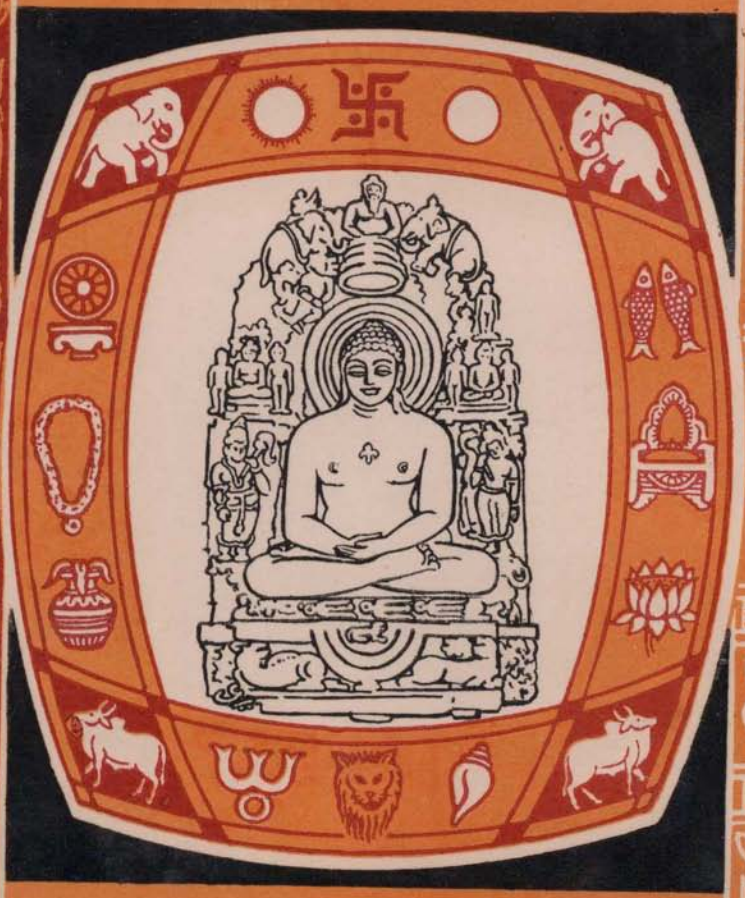

डॉ० देवी प्रसाद मिश्र

डॉ देवी प्रसाद मिश्र का प्रस्तुत ग्रन्थ **जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली शोध कार्य है, जो तथ्यों के सूक्ष्म अनुसन्धान तथा उनकी प्रामाणिक व्याख्याओं से मण्डित है। विषय का साहित्यिक प्रस्तुतीकरण मोहक, चारु और अत्यधिक लाभप्रद है।.....लेखक द्वारा विषय के विश्लेषणात्मक प्रस्तुतीकरण से उसकी क्षमता का आभास मिलता है, जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की अनेक ज्वलन्त समस्याओं को समाधान करने में सक्षम है।.....इससे विद्वान् लेखक की मौलिक शोधदृष्टि, आलोचनात्मक विश्लेषण, तथ्यानुसन्धान तथा तुलनात्मक अध्ययन की क्षमता का द्योतन होता है।.....प्रस्तुत ग्रन्थ जैन-विद्यानुरागियों, विद्वानों एवं अनुसन्धाताओं के लिए प्रकाश-पुञ्ज है।

डॉ० नथमल टाटिया
निदेशक
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध है। इसमें सांस्कृतिक सामग्री का सुव्यवस्थित अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। डॉ देवी प्रसाद मिश्र ने अपने इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृति के अध्ययन का एक आकर ग्रन्थ बना दिया है। ..... प्रस्तुत ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने पुराणों की महत्त्वपूर्ण सामग्री को समकालीन साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आलोक में जाँचा-परखा है। भारत की विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के संदर्भ में उसका आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।..... लेखक का व्यापक अध्ययन, उदार दृष्टिकोण और आग्रह-मुक्त विश्लेषण ग्रन्थ में पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। ..... मेरी दृष्टि में यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें जैन पुराणों का सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। निःसन्देह यह ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के अध्येता, अनुसन्धाताओं एवं विद्वानों का मार्ग-दर्शक सिद्ध होगा।

डॉ० गोकुल चन्द्र जैन
अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० देवी प्रसाद मिश्र

एम०ए०, डी०फिल्०, पी०जी०डी०एल०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

प्रथम संस्करण
सन् १९८८ ई०
विक्रम संवत् २०४४
वीर निर्वाण संवत् २५१३

मूल्य : १६०·०० रुपये

प्रकाशक :
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद–२११००१

मुद्रक :
अरविन्द प्रिंटर्स
२० डी, बेली रोड
नया कटरा
इलाहाबाद–२११००२

समर्पण

जिनके पुण्य एवं आशीर्वाद की रश्मियाँ मेरे जीवन-पथ
को आलोकित कर रहीं हैं, उन्हीं स्वर्गस्थ
पूज्य पिता पण्डित केदार नाथ मिश्र
जी के दिव्य चरणों में
श्रद्धा सहित
समर्पित।

प्रकाशकीय

जैनों के अनुसार सृष्टि अनादि है और उनकी काल-गणना ब्राह्मण-ग्रंथों से भी विशद दिखायी देती है। जैन-कला एवं शिल्प भी अत्यन्त समृद्ध रहे हैं। भारतीय ज्ञानपीठ ने "जैन कला और स्थापत्य" नाम से तीन खण्डों में एक बृहत् ग्रंथ भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के पावन अवसर पर श्री अमलानन्द घोष के सम्पादकत्व में १९७५ में किया है। उसमें जैन-शिल्प शास्त्रों तथा जैन-पुराणों का आधार लिया गया है। डॉ० शिवराममूर्ति द्वारा लिखित अंग्रेजी ग्रंथ 'पैनोरमा ऑव जैन आर्ट' इंगित करता है कि जैन कला भारतीय संस्कृति के अत्यन्त उदात्त पक्ष का विकास है। किन्तु ये पुराणों पर ही केन्द्रित शोध-कार्य नहीं कहे जा सकते हैं। यह शोध-ग्रन्थ विशेष रूप से उक्त अभाव की पूर्ति करता है, क्योंकि इसने जैन पुराणों की आधारपीठिका पर भारतीय संस्कृति का मनोज्ञ चित्र प्रस्तुत किया है।

पुराणों का भारतीय वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है। पारम्परिक संस्कृत-पुराणों के अतिरिक्त जैन-परम्परा में भी पुराणों की रचना हुई है। जैन-पुराणों का प्रणयन यद्यपि गुप्तोत्तर काल में हुआ है, किन्तु विषय-वस्तु एवं विचारधारा की दृष्टि से ये चिर-पुरातन कहे जा सकते हैं। जैन-विद्या के ये विश्व-कोश हैं। संस्कृति एवं सभ्यता का कोई ऐसा अंश नहीं है जो इन पुराणों में वर्णित न हो। जैन-पुराण प्राचीन जैन-संस्कृति के सक्षम वाहक हैं। जैन-पुराण प्राचीन भारतीय संस्कृति का व्यापक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें जिन धार्मिक विश्वासों, देव-स्तुतियों, व्रतों की कथाओं, तीर्थों के माहात्म्यों का वर्णन है, उनका जैन-समाज में आज भी घर-घर में प्रचलन है।

इतिहास-विषयक शोध की पद्धतियों को प्रतिबिम्बित करने वाले डॉ० देवी प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित "जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन" नामक इस शोध-प्रबन्ध में विषय-वस्तु को बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें जैन

पुराणों के आधार पर तत्कालीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का सजीव चित्र सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक अपने विषय की एक प्रामाणिक, संतुलित एवं गम्भीर रचना है। पुस्तक के अन्त में अनेक चित्रफलकों द्वारा विषय के अनुरूप विविध रेखांकन समाहित कर दिये गये हैं, जो उपयुक्त तथा प्रामाणिक आधार पर बने हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से उनका ज्ञान उपादेय होगा। इसमें संदर्भ ग्रंथ और शब्दानुक्रमणिका भी दे दी गयी है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक जैन-विद्या के विद्वानों, अनुरागियों तथा शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी और गंभीर अध्ययन की प्रेरणा प्रदान करेगी।

इलाहाबाद
२५-१२-१९८७

जगदीश गुप्त
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

—o—

आशीर्वचन

जैन साहित्य के अक्षय भण्डार में जैन आगम और उनका व्याख्या साहित्य सर्वोपरि महत्त्व का साहित्य है। उत्तरवर्ती साहित्य में पुराण साहित्य ऐसा है, जो जैन दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को सरलता और सरसता से अपने साथ गुंफित किये हुए है। उस साहित्य में पद्म पुराण, हरिवंश पुराण और महा पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनका समय ईसा की सातवीं से दशवीं शताब्दी के मध्य माना गया है। डॉ० देवी प्रसाद मिश्र ने इन आधारभूत पुराणों की बुनियाद पर गवेषणात्मक एवं आलोचनात्मक "जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन" नामक शोध-प्रबन्ध लिखा है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शिक्षा एवं साहित्य, ललित कला, वास्तु एवं स्थापत्य कला, धर्म एवं दर्शन, भौगोलिक दशा आदि विषयों से सम्बद्ध सामग्री को वर्गीकृत कर व्यवस्थित रूप में प्रस्तुति दी है। अन्त में प्रामाणिक एवं तथ्यपरक चित्र-फलकों द्वारा शोध-प्रबन्ध को समलंकृत किया गया है। यह प्रस्तुति जितनी सहज है, उतनी ही सूक्ष्म है।

लेखक ने पारम्परिक पुराणों से जैन पुराणों की भिन्नता दिखाई है और जैन पुराण साहित्य में उक्त तीनों को सबसे प्राचीन एवं मूलाधार प्रमाणित किया है। इनके आधार पर यह सांस्कृतिक अध्ययन समीक्षित हुआ है। इसमें तत्कालीन भारतीय जीवन की झलक साफ-साफ दिखाई दे रही है। कुछ ऐसी बातें भी इससे उभर कर सामने आती हैं, जो वर्तमान लोक-जीवन से जुड़कर उसे नई दिशा दे सकती है। लेखक का यह श्रम मूल्यार्ह है। पुराण साहित्य के जिज्ञासु व्यक्तियों, विद्वानों एवं शोधार्थियों द्वारा इसका समुचित उपयोग ही प्रस्तुत पुस्तक की सार्थकता है।

आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

१७ अगस्त, १९८७
अणुव्रत भवन
नई दिल्ली–२

पुरोवाक्

जिस साहित्य-सन्दोह में भारतीय संस्कृति के अंग-उपांगों का बिम्बन एवं प्रतिबिम्बन हुआ है, उसमें पौराणिक वाङ्मय का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पौराणिक वाङ्मय के भी दो पक्ष हैं—एक तो क्रियात्मक पक्ष और दूसरा प्रतिक्रियात्मक पक्ष। क्रियात्मक पक्ष के प्रतिफल पारम्परिक पुराण हैं, जिन्हें वस्तुतः पुराण की आख्या प्रदान की जा सकती है; तथा प्रतिक्रियात्मक पक्ष की प्रसूति हैं जैन पुराण, जिन्हें जैन सन्तों ने वस्तुतः पारम्परिक पुराणों की अनुकृति में सँवारा है। संकलन की दृष्टि से देखा जाय तो जैन पुराणों के सन्दर्भ में दो स्तर बनते हैं; एक तो परम्परा का स्तर जिसे किसी कालावधि में आबद्ध करना सुकर नहीं है, दूसरे प्रणयन का स्तर जिसे गुप्तोत्तर काल से सम्बन्धित करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है। जैन-मुनियों ने अपनी रचनाओं को पुराण नाम देकर अतीत कालीन वृत्तों एवं प्रवृत्तियों को नवोदित मान्यताओं के साथ समायोजित करने का प्रयास किया है। इसके परिणाम में जैन पुराण भारतीय संस्कृति का एक ऐसा कलेवर प्रस्तुत करते हैं, जो एक ओर यदि जैन परम्परा का स्पर्श करता है तो दूसरी ओर उसके माध्यम से संस्कृति के सार्वजनीन स्वरूप का भी आकलन किया जा सकता है।

यह एक सुखद संयोग का विषय है कि संख्यातीत जैन धर्म को सन्निबद्ध करने वाली पाण्डुलिपियाँ जैन भण्डारों में सुरक्षित रहीं तथा सम्बन्धित संरक्षकों ने इनके सन्निकर्ष में केवल आधिकारिक एवं सुपात्र साहित्यिक समालोचकों एवं जिज्ञासुओं को आने दिया। विद्वत्समाज के समक्ष इनके प्रणिधान का मूल श्रेय जिन पूर्वसूरियों को दिया जा सकता है, उनमें विलसन, टेलर, बूँलर, राजेन्द्रलाल मित्र, याकोबी, बर्नेल, हुल्श, आर० जी० भण्डारकर, कीलहार्न, वेबर इत्यादि को विशेषतया सन्दर्भित किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं है कि सम्प्रति जैन धर्म को गौरवान्वित करने वाली प्रचुर संख्या में पाण्डुलिपियाँ कर्नाटक, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के भण्डारों में संगृहीत हैं तथा इनका आलोचनात्मक प्रकाशन सातिशय वाञ्छनीय है। यद्यपि प्राच्य विद्यानुसन्धान में जैन संस्कृति

के अनुशीलन को अभी तक सन्तोषजनक एवं अपेक्षित स्थान नहीं प्राप्त हो सका है, तथापि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि विगत कई वर्षों से संगोष्ठियों एवं सांस्कृतिक सम्मेलनों में इसे समुचित एवं समादृत स्थान दिया जा रहा है। यह परम सन्तोष का विषय है कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग ने जैन संस्कृति से सम्बन्धित कतिपय महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध तैयार कराये हैं।

"जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन" नामक शोध-ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखने में मुझे विशेष गौरव का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत रचना मेरे निर्देशन में अवश्य तैयार हुई है, किन्तु इसे वर्त्तमान कलेवर में प्रतिष्ठित करने का समस्त श्रेय मेरे अनन्य-सामान्य अन्तेवासी डॉ० देवी प्रसाद मिश्र को है। सांस्कृतिक तत्त्वों के संकलन, समायोजन एवं पूर्वाग्रह-निरपेक्ष-प्रस्तुतीकरण जैसी इतिहास-लेखन की सुग्राह्य शैली को अपनाकर डॉ० मिश्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ को सुपाठ्य बना दिया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि अनेक विशेषताओं द्वारा अन्तर्निहित, प्राञ्जल एवं परिष्कृत भाषा में प्रणीत प्रस्तुत रचना का सुधी पाठक न केवल समादर करेंगे, अपितु इसके गुण-दोष के विवेचन में अपनी मनीषा को संलग्न करेंगे, शोध-जिज्ञासु अनुसन्धान समरूप एवं समस्तरीय ग्रन्थों के प्रणयनार्थ प्रयास करेंगे तथा सामान्य पाठक भी इसे पढ़कर जैन पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व का मूल्यांकन कर सकेंगे।

प्रो० सिद्धेश्वरी नारायण राय
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

विजया दशमी
२-१०-१९८७
इलाहाबाद

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में परम्परागत पुराणों के समानान्तर जैन पुराणों की एक अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती है। पुराण भारतीय इतिहास के अजस्र स्रोत हैं। इनमें सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्षों से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। वस्तुतः पुराणों को 'भारतीय संस्कृति का विश्वकोश' की अविधा प्रदान की जा सकती है। पुराण साहित्य भारतीय संस्कृति की वैदिक और जैन धाराओं में समान रूप से उपलब्ध होता है। बौद्धों ने पुराण नामधारी किसी भी ग्रन्थ की न तो रचना की और न ही उनको ऐसा करने की आवश्यकता थी। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' की प्रेरणा से वैदिक परम्परा में अष्टादश पुराणों तथा अनेक उपपुराणों की रचना हुई है। पारम्परिक पुराणों का विकास आख्यान, इतिहास, गल्प, गाथा एवं उपाख्यान से हुआ है।

जैन पुराण साहित्य विशाल एवं बहुविध हैं। जैन पुराणों का उद्भव आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से माना जाता है, जो गुरु-परम्परा द्वारा विकसित हुआ। जैन पुराणों के उद्भव में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। जैन परम्परा में बारह प्रकार—अरहन्त, चक्रवर्ती, विद्याधर, वासुदेव, चारणवंश, प्रज्ञा श्रमण, कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश, वादि (वाचक) तथा नाथवंश—के पुराणों की परम्परा का उल्लेख मिलता है (षट्खंडागम खण्ड १, भाग १, धवलाटीका १.१.२, पृष्ठ ११३)। सामान्यतया जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण एवं नौ बलभद्र इन तिरसठ शलाकापुरुषों के जीवन-चरित को आधार बना कर अनेक पुराणों एवं चरित्र ग्रन्थों का निर्माण किया गया है। जैन पुराणों की कथावस्तु रामायण, महाभारत एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के जीवन पर आधारित है। यह साहित्य सामान्यतया दिगम्बरों में 'पुराण' तथा श्वेताम्बरों में 'चरित्र' या 'चरित' नाम से अभिहित है। वस्तुतः चरित्र ग्रन्थ इसी विधा के अन्तर्गत आते हैं। जैनाचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के अतिरिक्त अनेक प्रान्तीय भाषाओं—तमिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, हिन्दी आदि—में भी प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों का

प्रणयन किया है। पारम्परिक पुराणों की तरह जैन पुराणों की संख्या सीमित नहीं है। जैन पुराणों में कथारस गौण और धर्मभाव प्रधान है। इस साहित्य में जहाँ एक ओर किसी एक या एकाधिक शलाकापुरुषों का जीवन-चरित वर्णित है, वहीं दूसरी ओर भारत के सांस्कृतिक इतिहास की बहुमूल्य सामग्री भी निबद्ध है। इस दृष्टि से जैन पुराण भारतीय संस्कृति के अक्षय भण्डार हैं।

जैन पुराणकारों का मन्तव्य सदैव लोकोन्मुखी रहा है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ सर्वप्रथम जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में ही जैन साहित्य का निर्माण किया। पारम्परिक पुराणों का रचना-काल अज्ञात है, किन्तु जैन पुराणों के रचना-काल तथा आचार्यों के विषय में पर्याप्त प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध है। जैन धर्म के प्रारम्भिक साहित्य प्राकृत में है। प्राकृत के बाद संस्कृत भाषा का अधिक प्रभाव बढ़ने से संस्कृत में पुराणों का प्रणयन हुआ। इसके बाद जब अपभ्रंश लोकप्रिय हुई, तो जैनाचार्यों ने अपभ्रंश में ग्रन्थ रचे। इसके साथ ही साथ जैनों ने क्षेत्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में भी पुराणों का सृजन किया। जैन पुराणों का प्रणयन गुप्तोत्तर काल से हुआ, किन्तु वर्ण्य-विषय की दृष्टि से ये चिरपुरातन कहे जा सकते हैं। जैन पुराणों को ईसा की छठी शती से अट्ठारहवीं शती के मध्य रखा जा सकता है। इनकी संख्या शताधिक है, किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए पद्म पुराण, हरिवंश पुराण और महा पुराण (आदि पुराण एवं उत्तर पुराण) को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है, जो जैन पुराणों के प्रतिनिधिभूत हैं। इन पुराणों का रचना-काल सातवीं शती ईसवी से दशवीं शती ईसवी के मध्य है।

विगत कतिपय वर्षों से विद्वानों का ध्यान जैन वाङ्मय की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। परिणामस्वरूप उनके अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान के प्रयत्न भी हुए हैं। इसी शृंखला में जैन पुराणों के अनुशीलन के भी कतिपय प्रयत्न हुए हैं, किन्तु देश-विदेश में ऐसा एक भी प्रयत्न नहीं हुआ है, जिससे विभिन्न जैन पुराणों की सामग्री को एक जगह उपयोग करके तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक जीवन का सम्पूर्ण रेखांकन करके एक पूर्ण मनोज्ञ चित्र प्रस्तुत किया जा सकता। इसी को दृष्टि में रख कर यह एक लघु प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के लम्बे अन्तराल में मुझे अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। विषय की व्यापकता, अनुसंधान सामग्री की दुर्लभता एवं अन्य बहुविध

विघ्न-बाधाओं को पार करना पड़ा। दैव दुर्विपाक से इसी बीच मेरे पूज्य पिता पं० केदार नाथ मिश्रजी के आकस्मिक स्वर्गवास के कारण पारिवारिक उत्तरदायित्व का भार वहन करना पड़ा। मेरी विपत्तियों की परिणति मेरे शोध-प्रबन्ध के पाँच अध्यायों की पूर्ण मूल पाण्डुलिपि की रेल-यात्रा के समय चोरी से हुई। इस बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरे व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं के नीचे दब कर अपूर्ण ही रह जायेगा। किन्तु मैंने पुनः नये सिरे से काम प्रारम्भ किया और सम्प्रति इसे ग्रन्थ रूप में विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार अलौकिक आनन्द की अनुभूति हो रही है। अपनी सीमाओं के बावजूद भी यह प्रयत्न किया है कि प्रमुख जैन पुराणों की विपुल सामग्री का तत्कालीन जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों से तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए, पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर प्रामाणिक सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए। एक दशक से अधिक निरन्तर अध्यवसाय के फलस्वरूप मैंने अपने अनुसंधान की उपलब्धियों को अधोलिखित नौ अध्यायों में संयोजित करने का प्रयास किया है :

प्रथम अध्याय में साक्ष्य-अनुशीलन के अन्तर्गत 'पुराण' शब्द की व्याख्या करते हुए इतिहास एवं इतिवृत्त शब्द का परिशीलन किया गया है। जैन पुराणों का उद्भव और विकास, उनका रचना-काल, विशेषताओं का वर्णन करते हुए प्रस्तुत अनुसंधान की पृष्ठभूमि एवं योजना की विवेचना की गयी है।

द्वितीय अध्याय में जैन पुराणों की सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन किया गया है। सामाजिक व्यवस्था के व्यापक अध्ययन के लिए प्रस्तुत अध्याय को त्रयोदश उपखण्डों में विभक्त करके विवेचना की गयी है—प्रारम्भिक स्वरूप एवं कुलकर-परम्परा, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, संस्कार (क्रिया), विवाह, पुरुषार्थ, स्त्री दशा, भोजनपान (आहार), वस्त्र एवं वेशभूषा, आभूषण, प्रसाधन, मनोरञ्जन, धार्मिक एवं सामाजिक उत्सव।

तृतीय अध्याय में जैन पुराणों में उपलब्ध राजनय एवं राजनीतिक व्यवस्था की समीक्षा की गयी है। इसके अन्तर्गत राजनय : स्वरूप एवं सिद्धान्त, राजा और शासन-व्यवस्था, सैन्य संगठन ये तीन उपखण्ड हैं।

चतुर्थ अध्याय में शिक्षा और साहित्य की दृष्टि से जैन पुराणों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसे शिक्षा और साहित्य उपखण्डों में विभक्त कर तत्कालीन शिक्षा एवं साहित्य की मीमांसा की गयी है।

पंचम अध्याय में कला और स्थापत्य के अन्तर्गत जन-सन्निवेश : स्वरूप एवं प्रकार, वास्तु एवं स्थापत्य कला, मूर्तिकला इस प्रकार तीन उपखण्ड हैं।

षष्ठ अध्याय में ललित कलाओं का अनुशीलन संगीत कला, चित्रकला और विविध ललित कला उपशीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

सप्तम अध्याय में आर्थिक व्यवस्था की विवेचना गवेषणात्मक ढंग से किया गया है। इस अध्याय को आर्थिक उपादान, आजीविका के साधन, व्यापार और वाणिज्य इन तीन उपखण्डों में विवेचित किया गया है।

अष्टम अध्याय में धार्मिक व्यवस्था को दार्शनिक पक्ष और धार्मिक पक्ष के अन्तर्गत रखकर समीक्षा की गयी है। इस अध्याय में जैन धर्म-दर्शन के साथ ही जैनेतर धार्मिक व्यवस्था की भी विवेचना की गयी है।

नवम अध्याय में भौगोलिक दशा के अन्तर्गत देश (राष्ट्र), नगर, पर्वत एवं नदी का अध्ययन किया गया है। जैन पुराणों में उपलब्ध भौगोलिक सामग्री का तादात्म्य तत्कालीन अन्य स्रोतों के साथ किया गया है। जिनका समीकरण नहीं किया जा सका, उनका पृथक् से विवरण दिया गया है।

उपर्युक्त नौ अध्यायों के उपरान्त प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जिन ग्रन्थों का संदर्भ दिया गया है तथा जिनका उपयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किया गया है, उनको संदर्भ-ग्रन्थ के अन्तर्गत रखा गया है। तदुपरान्त शब्दानुक्रमणिका को स्थान दिया गया है। अन्त में चित्र-फलक एवं उनका विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनमें से कतिपय चित्र तत्कालीन अन्य ग्रन्थों एवं पुरातात्त्विक उत्खननों के आधार पर निर्मित हैं। शेष का विवरण जैन पुराणों में उपलब्ध विवरण के आधार पर स्वतः तैयार किया गया है जो विशेष रूप से आकर्षक एवं अनुसंधान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पूज्य गुरुवर प्रो० सिद्धेश्वरी नारायण राय के कुशल एवं समर्थ निर्देशन का ही प्रतिफल है। इस कार्य की पूर्णता में उनका योगदान अविस्मरणीय है, जिसके लिए मैं उनका चिरऋणी रहूँगा। प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वरिष्ठ गुरुजन स्वर्गीय प्रो० गोवर्धन राय शर्मा, प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, प्रो० जे० एस० नेगी, प्रो० ब्रज नाथ सिंह यादव, प्रो० उदय नारायण राय, प्रो० एस० सी० भट्टाचार्य, प्रो० विनोद

चन्द्र श्रीवास्तव, प्रो० राधा कान्त वर्मा, डॉ० मन्धा मुकर्जी, श्री विद्याधर मिश्र, श्री आर० के० द्विवेदी, प्रो० यू० पी० अरोड़ा, डॉ० ओम प्रकाश तथा अन्य गुरुजनों का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर परामर्श एवं प्रेरणा प्रदान की है। विभाग के ही रीडर डॉ० जय नारायण पाण्डेय ने एक अभिन्न मित्र एवं प्रेरक के दुर्वह दायित्व का निर्वाह किया, जिसके लिए वे धन्यवाद और श्रद्धा के पात्र हैं। मेरे सहपाठी मित्र डॉ० रुद्रदेव तिवारी, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इस कष्ट-साध्य एवं सान्तराय शोध-यात्रा में मुझे आद्यन्त उत्साहित किया, जिसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ। इसके अतिरिक्त अपने अन्य मित्रों, सहयोगियों एवं शुभ-चिन्तकों में प्रो० लक्ष्मी नारायण तिवारी, प्रो० कमला कान्त शुक्ल, श्री उमाधर द्विवेदी, श्री जगत नारायण त्रिपाठी, श्री राम भवन मिश्र, श्री आलोक श्रीवास्तव, श्री राम कुमार सिंह, डॉ० राम निहोर पाण्डेय, डॉ० हरि नारायण दुबे, श्री परम हंस दुबे, डॉ० चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित 'ललित', डॉ० (श्रीमती) प्रतिभा त्रिपाठी, डॉ० (श्रीमती) रंजना बाजपेयी, श्रीमती हीरामणि अग्रवाल, को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे यथासमय प्रोत्साहित एवं उत्साहवर्धन किया। त्रिनिडाड (वेस्ट इण्डीज़) निवासी अपने प्रिय मित्र श्री रवीन्द्र नाथ महाराज को मैं भूल नहीं सकता, जिन्होंने शोध-कार्य के समय चार वर्षों तक मेरे साथ रह कर मित्र के पावन-कर्त्तव्य का निर्वाह किया। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

न्यायमूर्ति पं० राम वृक्ष मिश्र, पूर्व न्यायमूर्ति, उच्चतम न्यायालय, नई दिल्ली; प्रो० अम्बा दत्त पन्त, निदेशक, गोविन्द वल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद; प्रो० बदरी नाथ शुक्ल पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; प्रो० विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय; प्रो० ए० सी० बनर्जी, कुलपति, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद; डॉ० विद्या निवास मिश्र, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी; प्रो० करुणापति त्रिपाठी पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने अपने गरि-मामय व्यक्तित्व से न केवल मुझे प्रभावित किया, अपितु अपने स्नेह और सत्परामर्शों से मेरा उत्साहवर्धन किया, जिसके लिए मैं आप सभी का कृतज्ञ हूँ।

जैन वाङ्मय के विद्वान् डॉ० गोकुल चन्द्र जैन, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने शोध-प्रबन्ध के निर्माण के समय जो मार्ग-दर्शन दिया, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। जैन वाङ्मय

के अन्य विद्वान् प्रो० दलसुख भाई मालवणिया, प्रो० नथमल टाटिया, महामहोपाध्याय डॉ० दामोदर शास्त्री, स्व० पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, स्व० पं० फूलचन्द्र शास्त्री, प्रो० मोहन लाल मेहता, डॉ० दरबारी लाल कोठिया, डॉ० लक्ष्मी चन्द्र जैन, डॉ० विमल प्रकाश जैन, डॉ० पन्ना लाल जैन, डॉ० सागर मल जैन आदि महानुभावों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने अपने सत्परामर्शों से मुझे अनुगृहीत किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निर्माण की अवधि में श्री राजेन्द्र प्रसाद पाण्डे, पूर्व निदेशक, स्थानीय निधि लेखा परीक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद और सम्प्रति प्रकाशन के समय श्री हरदेव तिवारी, निदेशक, स्थानीय निधि लेखा परीक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद से मुझे जो स्नेहमय प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, इसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। शैक्षणिक गतिविधियों तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मिलित होने में श्री हरदेव तिवारी द्वारा मुझे जो प्रोत्साहन उपलब्ध हो रहा है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

शोध-प्रबन्ध के निर्माण में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी; वर्णी शोध-संस्थान, नरिया, वाराणसी; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; एल० डी० इन्स्टीच्यूट ऑव इण्डोलोजी, अहमदाबाद; जैन विश्व भारती, लाडनं (राजस्थान); प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय; गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, इलाहाबाद आदि पुस्तकालयों से मुझे विशेष रूप से सहायता मिली। इसके लिए मैं इनके अधिकारियों एवं कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ।

दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य विद्यानन्दजी ने अपनी साधना में से अपना अमूल्य समय प्रदान कर मेरे शोध-प्रबन्ध को आद्यन्त पढ़ने के उपरान्त आशीर्वाद और प्रोत्साहन प्रदान किया है। इसके लिए मैं आचार्य जी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। सम्प्रति श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शिरोमणि आचार्य तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञजी अपने चातुर्मास के प्रवास के व्यस्ततम अमूल्य क्षणों में मेरे इस शोध-प्रबन्ध को सम्यक् पढ़ने के उपरान्त जो 'आशीर्वचन' लिखा है, वह मेरे लिए बहुत ही सौभाग्य की बात है। इस लिए मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के तत्त्वावधान में हो रहा है। एकेडेमी के अध्यक्ष डॉ० राम कुमार वर्मा, सचिव डॉ० जगदीश गुप्त, सहायक सचिव डॉ० रामजी पाण्डेय और एकेडेमी के समस्त

कर्मचारीगण जिस निष्ठा, लगन एवं उत्साह से इस दायित्व का निर्वाह किया, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे यह स्वतः उन्हीं की पुस्तक हो। इसके लिए मैं सभी के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इस शोध-प्रबन्ध के चित्र-फलक का निर्माण श्री एस० के० ठाकुर और प्रूफ संशोधन श्री शिवचन्द्र ओझा एवं श्री जगदीश दीक्षित ने अत्यन्त तत्परता से किया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अग्रज तुल्य श्री गोविन्द शरण दास एवं भाभी श्रीमती मीनाक्षी दास ने मुझे जो स्नेह और सम्बल प्रदान किया, उसका प्रतिदान शब्दों में असम्भव है। भाई श्री सन्तोष कुमार दीक्षित एवं भाभी (श्रीमती) डॉ० उर्मिला दीक्षित और प्रिय मित्र श्री अरबिन्द शरण दास एवं भाभी श्रीमती शशि प्रभा दास की स्नेहसिक्त सदाशयता ने मुझे सदैव जो प्रोत्साहन दिया है, वह अविस्मरणीय रहेगा।

स्वर्गस्थ पिताजी की पुण्य-स्मृति से मैं रोमांचित हो उठता हूँ, जिनकी अदृश्य प्रेरणा प्रतिपल मेरा मार्ग-निर्देशन कर रही है। पूजनीया जननी के ऋण से मैं जन्म-जन्मान्तर तक उऋण नहीं हो सकता, जिन्होंने पति के स्वर्गवास को हृदय में दबाकर, गृहस्थी के सम्पूर्ण जंजालों को समेट, मेरे कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अपना पवित्र आशीर्वाद प्रदान किया। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला मिश्रा ने बाल-बच्चों के दायित्व को अपने ऊपर लेकर मुझे इस कठोर शोध-साधना के लिए मुक्त रख कर अपने सहधर्मिणी के कर्त्तव्य का निर्वाह किया, जिसके लिए वे साधुवाद की अधिकारिणी हैं।

इस प्रकार जैन पुराणों के सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक अध्ययन की दिशा में मेरा यह एक अत्यन्त विनम्र प्रयास है। आशा है, इससे अब तक इस दिशा में किये गये अनुसन्धानों की शृंखला में एक नयी कड़ी जुड़ेगी तथा भविष्य के अनुसन्धान कार्यों में जैन पुराणों की इस महनीय सामग्री का उपयोग किया जा सकेगा। जैन पुराणों के इतस्ततः बिखरे सांस्कृतिक सूत्रों का संचय करने का मैंने जो प्रस्तुत प्रयास किया है, उसके द्वारा अगाध जैन साहित्य के अध्ययन में विद्वानों, शोधार्थियों, जिज्ञासुओं एवं साधारण पाठकों को यदि किञ्चित् भी सहायता मिल सकी, तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

दीपावली
२२ अक्टूबर, १९८७ ई०
इलाहाबाद

देवी प्रसाद मिश्र

विषयानुक्रम

	प्रकाशकीय	v
	आशीर्वचन	vii
	पुरोवाक्	ix
	प्राक्कथन	xi
१.	**साक्ष्य-अनुशीलन**	१–२२
	(क) पुराण-व्याख्या : पारम्परिक एवं जैन दृष्टिकोण	१–३
	(ख) इतिवृत्त एवं इतिहास शब्द का परिशीलन	३–४
	(ग) जैन पुराणों का उद्भव और विकास	४–१६
	(अ) रामायण विषयक पुराण; (ब) महाभारत विषयक पुराण; (स) त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक पुराण; (द) तिरसठशलाकापुरुषों के स्वतंत्र पुराण	
	(घ) जैन पुराणों का रचना-काल	१६–१७
	(ङ) जैन पुराणों की विशेषताएँ	१७–२०
	(च) प्रस्तुत अनुसंधान की पृष्ठभूमि एवं योजना	२०–२२
२.	**सामाजिक व्यवस्था**	२३–१७६
	(क) प्रारम्भिक स्वरूप एवं कुलकर परम्परा	२३–३१
	१. भोगभूमि, कर्मभूमि तथा कुलकर परम्परा; २. कुल (परिवार) की महत्ता; ३. कुल (परिवार) का स्वरूप एवं संघटन; ४. पारिवारिक परिधि : आयाम एवं सीमा।	
	(ख) वर्ण-व्यवस्था	३२–५३
	१. वर्ण-व्यवस्था और जैन मान्यता; २. वर्ण-व्यवस्था और उसका स्वरूप; ३. वर्ण-व्यवस्था के नियामक उपादान; ४. विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति एवं कर्त्तव्य— अ. ब्राह्मण, ब. क्षत्रिय, स. वैश्य, द. शूद्र कारु एवं अकारु), य. दास प्रथा; ५. वर्णसंकर : उपजातियों का विश्लेषण, उपजातियाँ सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण।	
	(ग) आश्रम-व्यवस्था	५४–६४
	१. ब्रह्मचर्याश्रम; २. गृहस्थाश्रम; ३. वानप्रस्थाश्रम, ४. संन्यासाश्रम।	

(घ) संस्कार क्रिया) ६५–९०

१. 'संस्कार' शब्द : व्युत्पत्ति एवं अर्थ; २ 'संस्कार' के प्रति जैन पुराणों का दृष्टिकोण : तात्पर्य एवं व्याख्या, ३. संस्कारों के भेद-भेदान्तर—(अ) गर्भान्वय क्रिया : आधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रियोद्भव, (जातकर्म), नामकर्म, बहिर्यान, निषद्या, अन्नप्राशन, व्युष्टि (वर्ष वर्धन), केशवाप (चूड़ाकर्म), लिपि संख्यान, उपनीति (उपनयन)–[समय, नियम, यज्ञोपवीत], व्रतचर्या, व्रतावतरण, विवाह, वर्णलाभ, कुलचर्या, गृहीशिता प्रशान्ति, गृहत्याग, दीक्षाद्य, जिनरूपता, मौनाध्ययनवृत्तत्व, तीर्थकृद्भावना, गुरुस्थानाभ्युपगम, गणोपग्रह, स्वगुरुस्थानावाप्ति, निःसंगत्वात्मभावना, योगनिर्वाण संप्राप्ति, योगनिर्वाणसाधन, इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान, सुखोदय, इन्द्रत्याग, इन्द्रावतार, हिरण्योत्कृष्टजन्मता, मन्दराभिषेक, गुरुपूजन, यौवराज्य, स्वराज्य, चक्रलाभ, दिशाञ्जय, चक्राभिषेक, साम्राज्य, निष्कान्ति, योगसम्मह, आर्हन्त्य, विहार, योगत्याग, अग्रनिर्वृत्ति; (ब) दीक्षान्वय क्रिया : अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रहण, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञा, दृढ़चर्या, उपयोगिता, उपनीति, व्रतचर्या, व्रतावतरण, विवाह, वर्णलाभ, कुलचर्या, गृहीशिता, प्रशान्तता, गृहत्याग, दीक्षाद्य, जिनरूपता; (स) कर्त्रन्वय क्रिया : सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्रज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, आर्हन्त्य, परिनिर्वृत्ति; (द) मृतक-संस्कार ।

(ङ) विवाह ९१–१०१

१. विवाह का महत्त्व; २. विवाह के प्रकार एवं भेद—स्वयंवर विवाह, गान्धर्व विवाह, परिवार द्वारा नियोजित विवाह, प्राजापत्य विवाह, राक्षस विवाह; ३. विवाह विषयक नियम—सवर्ण विवाह (अनुलोम विवाह), एकपत्नी व्रत और बहुविवाह; ४. विवाहार्थ वर-कन्या की आयु; ५. वर-कन्या के गुण एवं लक्षण; ६. दहेज प्रथा; ७ विवाह-विधि ।

(च) पुरुषार्थ १०२–१०५
१. धर्म; २. अर्थ; ३. काम; ४. मोक्ष; ५. पुरुषार्थ का समन्वय।

(छ) स्त्री-दशा १०६–१२६
१. स्त्रियों की सामान्य स्थिति; २. स्त्रियों को संरक्षण; ३. स्त्रियों के गुण; ४. स्त्रियों के दुर्गुण; ५. विभिन्न रूपों में स्त्रियों की स्थिति—कन्या, पत्नी, माता, विधवा, वीराङ्गना, सेविका (सामान्य धात्री, दासी, परिचारिका), वेश्या; ६. बहुपत्नी प्रथा; ७. पर्दा प्रथा; ८. पत्नी त्याग या तलाक प्रथा; ९. सती प्रथा।

(ज) भोजन-पान (आहार) १३०–१४२
१. भोजन (आहार) के नियम-निर्देश; २. भोजन (आहार) के स्वरूप एवं प्रकार—भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य, चूष्य; ३. भोजन निर्माण कला—योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुण-दोष, कौशल; ४. निषिद्ध भोजन (आहार); ५. भोजन सामग्री या खाद्यान्न—नीवार, अक्षत, व्रीहि, तण्डुल, शालि, कलम, सामा, साठी, श्यामाक, कोदो (कोद्रव), यव, गोधूम, राजमाष, आढ़की, मुद्ग, मसूर, तिल, माष, चना, निष्पाव, बरका, त्रिपुट, कुलित्थ, कङ्गु, अलस्य, सर्षप, कोशीपुट, शस्य; ६. तैयार भोजन सामग्री या पक्वान्न—अपूप, व्यञ्जन, महाकल्याण भोजन, अमृतगर्भ मोदक, सूप, सर्पिगुड़पयो-मिश्रशाल्योदन, अमृतकल्पखाद्य, पायस, शर्करामोदक, खण्डमोदक, कर्करा, पूरिका, गुड़पूर्णिकापूरिका, शष्कुली, घनबन्ध, अम्लिका (कढ़ी); ७. शाक निर्मित भोजन; ८. दूध निर्मित पदार्थ; ९. भोजन में प्रयुक्त अन्य पदार्थ; १०. भोजनशाला में प्रयुक्त पात्र; ११. फलाहार; १२. पेय पदार्थ—सुरा, मैरेय, सीधु, अरिष्ट, आसव, नारिकेलासव, नारिकेलरस, अमृत, पुण्ड्रेक्षुरस, ईख का रस।

(झ) वस्त्र एवं वेशभूषा १४३–१५०

१. प्रस्ताविक; २. सामान्य विशेषताएँ; ३. प्रकार एवं स्वरूप—अंशुक (शुकच्छायांशुक, स्तनांशुक, उज्ज्वलांशुक, सदंशुक, पटांशुक), क्षौम, कंचुक, चीनपट, प्रावार, उष्णीष, चीवर, परिधान, कम्बल, रंग-बिरंगे कपड़े, उपसंव्यान, वल्कल, दुष्यकुटी या देवदूष्य, दुकूल, कुशा के वस्त्र, वासस्, कुसुम्भ, नेत्र, एणाजिना, उपानत्क, उत्तरीय, अन्य प्रकार के वस्त्र (प्रच्छदपट, परिकर, गल्लक, उपधान, लालरंग का साफा, वल्कल, चर्म-निर्मित, पीताम्बर)।

(ञ) आभूषण १५१–१६३

१. आभूषण बनाने के उपादान; २. आभूषण के आकार-प्रकार— (अ) शिरोभूषण—किरीट, किरीटी, चूड़ामणि, मुकुट, मौलि, सीमान्तकमणि, उत्तंस, कुन्तली, पट्ट।
(ब) कर्णभूषण—कुण्डल, अवतंस, तलपत्रिका, बालिक।
(स) कण्ठाभूषण—यष्टि (शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्ड, अवघाटक, तरल प्रबन्ध—(मणिमध्या यष्टि एवं शुद्धा यष्टि), हार (इन्द्रच्छन्दहार, विजयच्छन्दहार, हार, देवरच्छन्दहार, अर्द्धहार, रश्मिकलापहार, गुच्छहार, नक्षत्रमालाहार, अर्द्धगुच्छहार, माणवहार, अर्द्धमाणवहार), कण्ठ के अन्य आभूषण (कण्ठमालिका, कण्ठाभरण, स्रक, काञ्चनसूत्र, ग्रैवेयक, हारलता, हारवल्ली, हारवल्लरी, मणिहार, हाटक, मुक्ताहार, कण्ठिका, कण्ठिकेवास)। (द) कराभूषण—अंगद, केयूर, मुद्रिका, कटक। य) कटि आभूषण—काञ्ची, मेखला, रसना, दाम, कटिसूत्र। (र) पादाभूषण—नूपुर, तुलाकोटि, गोमुखमणि।

(ट) प्रसाधन १६४–१६७

१. प्रसाधन-सामग्री एवं उसका उपयोग—मज्जन, तिलक, काजल, भौंह का शृङ्गार, पत्ररचना, ओष्ठ रँगना, कपूर, चन्दन, कुंकुम, आलक्तक, सुगन्धितचूर्ण; २. केश-प्रसाधन—केश-विन्यास, अलक-जाल, धम्मिलविन्यास,

कबरी; ३ पुष्प-प्रसाधन—पुष्प-माला, आम्रमञ्जरी, पुष्प-मञ्जरी, कर्णोत्पल ।

(ठ) मनोरञ्जन १६८—१७४

१. महत्त्व एवं उपादेयता; २. मनोरञ्जन के प्रकार—(शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक); (अ क्रीड़ा (क्रीड़ा के प्रकार एवं स्वरूप : जल, वन, दोला कन्दुक, दण्ड, रास, द्यूत, मृगया-विनोद, पर्वतारोहण, युद्ध इन्द्रजाल, बाह्याली अलौकिक); (ब) गोष्ठी (प्रकार एवं स्वरूप)।

(ड) धार्मिक एवं सामाजिक उत्सव १७५—१७६

(अ) धार्मिक उत्सव—पञ्चकल्याणक महोत्सव, (गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, केवलज्ञान कल्याणक, निर्वाणकल्याणक), कल्याणाभिषेक, जन्मोत्सव; (ब) सामाजिक उत्सव—विवाहोत्सव, वर्षवृद्धिदिनोत्सव, विजयोत्सव, मदनोत्सव, कार्तिक पूर्णिमा महोत्सव ।

३. राजनय एवं राजनीतिक व्यवस्था १८०—२३०

(क) राजनय : स्वरूप एवं सिद्धान्त १८१—१८६

१. राज्य की उत्पत्ति; २. राज्य के प्रकार; ३. राज्य के उद्देश्य एवं कार्य—(आवश्यक कार्य, ऐच्छिक या लोक-हितकारी कार्य); ४. राज्य के सप्ताङ्गसिद्धान्त—स्वामी, अमात्य, दण्ड, जनस्थान, गढ़, कोश, मित्र; ५. राजनय के चतुष्टय सिद्धान्त—साम, दाम, दण्ड, भेद; ६. स्वराष्ट्र और परराष्ट्र नीति; ७. राजनय के षड् सिद्धान्त—सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय, द्वैधीभाव ।

(ख) राजा और शासन-व्यवस्था १९०—२२०

१. राजा तथा उसका महत्त्व; २. राजा : उपाधियाँ एवं प्रकार; ३. राजा के गुण; ४. राजा के उपहार; ५. राजा : अधिकार एवं कर्त्तव्य; ६. राजा-प्रजा-सम्बन्ध; ७. राजा के उत्तराधिकारी : चयन, शिक्षा और राज्याभिषेक; ८. राजतन्त्र की सीमाएँ; ९. राजा का मन्त्रिमण्डल;

१०. सामन्त व्यवस्था; ११. राजा के प्रमुख कर्मचारी—पुरोहित, अमात्य, सेनापति, श्रेष्ठि, धर्माधिकारी, लेखक, लेखवाह (पत्रवाहक), नगर-रक्षक, गुप्तचर, दूत, आरक्षी; १२. न्याय-व्यवस्था—न्याय : स्वरूप एवं प्रकार, महत्त्व एवं आदर्श, न्याय के प्रकार, शपथ, अपराध एवं दण्ड; १३. राज्य के आय के स्रोत; १४. राज्य का व्यय।

(ग) सैन्य-संगठन २२१–२३०

१. सेना और उसके अंग—पत्ती, सेना, सेनामुख, गुल्म, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी; (हस्ति-सेना, अश्व-सैना, रथ-सेना, पैदल-सेना); २. युद्ध के कारण; ३. सैनिक-अभियान एवं युद्ध; ४. युद्ध का नियम; ५. सेना के शस्त्रास्त्र; ६. सेना से सम्बन्धित अन्य सामान; ७. युद्ध का फल।

४. शिक्षा और साहित्य २३१–२४५

(क) शिक्षा २३१–२३८

१. शिक्षा का महत्त्व; २. शिक्षा सम्बन्धी संस्कार या क्रिया—लिपि, उपनीति (उपनयन); व्रतचर्या, व्रतावतरण; ३. विद्या प्राप्ति का स्थान; ४. गुरु का महत्त्व; ५. गुरु के गुण; ६. शिष्य के गुण; ७. शिष्य के दोष; ८. गुरु-शिष्य सम्बन्ध; ९. गुरु-सेवा; १०. गुरु-दक्षिणा; ११. स्त्री-शिक्षा; १२. सह-शिक्षा; १३. पाठ्य-क्रम।

(ख) साहित्य २३९–२४५

१. भाषा और लिपि—अनुवृत्तलिपि, विकृतलिपि, सामयिक लिपि, नैमित्तिक लिपि; २. वेद; ३. वेदांग; ४. पुराण; ५. वाङ्मय—व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र; ६. पहेली; ७. गणित; ८. अर्थशास्त्र; ९. कामशास्त्र; १०. गान्धर्वशास्त्र; ११. चित्रकला; १२. वास्तु एवं स्थापत्य कला; १३. नाटक; १४. कथा साहित्य—आक्षेपणी कथा, निक्षेपणी कथा, सवेजनी कथा, निर्वेदनी कथा;

१५. चिकित्साशास्त्र; १६. ज्योतिषशास्त्र; १७. खगोल-शास्त्र; १८. अन्य शास्त्र—नीतिशास्त्र, मानविद्या (मापविद्या), उपकरण निर्माणशास्त्र, आयुधनिर्माणशास्त्र, वस्त्रों से सम्बन्धित शास्त्र, लक्षणशास्त्र, तंत्रशास्त्र, लोकाचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, रत्नपरीक्षाशास्त्र ।

५. कला एवं स्थापत्य २४६–२८१

(क) जन-सन्निवेश : स्वरूप एवं प्रकार २४६–२५२

१. ग्राम; २. नगर; ३. पत्तन; ४. द्रोणमुख; ५. पुट-भेदन; ६. खर्वट (कर्वट); ७. खेट; ८. मटम्ब; ९. संग्रह; १०. संवाह; ११. घोष; १२. आकर ।

(ख) वास्तु एवं स्थापत्य कला २५३–२७६

१. नगर-विन्यास—दुर्ग, राजधानी, सड़क-निर्माण, सुरक्षा-व्यवस्था [परिखा, वप्र (कोट), प्राकार, अट्टालक, बुर्ज, गोपुर, प्रतोली]; २. भवन-निर्माण—भवनों की विशेषताएँ, भवनों के प्रमुख अंग (द्वार, स्तम्भ, आस्थान-मण्डप, अन्य मण्डप, सभा, गवाक्ष, दीर्घिका, धारागृह), भवन : प्रकार एवं स्वरूप, (गृह या गेह, सद्म, वेश्म, अगार, आलय, स्नानागार, हर्म्य, प्रासाद, भवन, शाला या शाल भवन, कूटागार, पुष्करावर्त, भाण्डारगृह, क्रीड़ास्थल या क्रीड़ानक, प्रपा या प्याऊ); ३. मन्दिर निर्माण-कला—जैनमन्दिर : विश्लेषण, निर्माण कला एवं विशेषताएँ, समवसरण ।

(ग) मूर्तिकला २७७–२८१

१. स्रोत; २. समय; ३. सामग्री; ४. मूर्तिकला : प्रकार एवं स्वरूप—तीर्थंकर, शासनदेव, यक्ष-यक्षिणी, सप्तर्षि, नौग्रह, श्रुतदेवी और विद्या देवी ।

६. ललित-कला २८२–३१४

(क) संगीत-कला २८२–३०५

१. संगीत-कला के सिद्धान्त : स्वरूप एवं प्रकार—स्वर; वृत्ति; जाति (स्थान, स्वर, संस्कार, विन्यास, काकु,

समुदाय, विराम, सामान्याभिहित, समानार्थत्व, लेख)—शुद्ध जाति एवं विकृत जाति; मात्रिकाएँ; मूर्च्छना; तान; राग; ताल; लय; अभिव्यक्ति, पद और अलंकार (स्थायी पद के अलंकार, संचारी पद के अलंकार, आरोही पद के अलंकार, अवरोही पद के अलंकार); श्रुतियाँ; ग्राम (षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम) २. संगीत-कला के भेद-भेदान्तर—गीत या गायन संगीत; वाद्य-संगीत : [१. तत वाद्य—स्वरगत गान्धर्व, पदगत गान्धर्व, तालगत गान्धर्व—तुणव, वीणा, अलाबु, तंत्री, सुघोषा; २. अवनद्ध वाद्य—आनक, झल्लरी, ढक्का, दर्दुर, दुन्दुभि, पटह, पणव, पाणिघ (तबला), पुष्कर, भेरी, मृदंग, मुरज, मर्दल; ३. सुषिर वाद्य—कहला, तूर्य, वंश तथा बाँसुरी, वेणु, शंख; ४. घन वाद्य—घण्टा, ताल, कंसवादक (झांझ), झांझ-मंजीरा; ५. अन्य वाद्य—अम्लातक, गुञ्जा, झर्झर, दुंदुकाणक, भंभा, मण्डुक, रटित, लम्प, लम्पाक, विपञ्ची (वैपञ्च), वेत्रासन, सुन्द, हक्का, हुंकार, हेतुगुञ्जा, हैका]; नृत्य कला (विशेषताएँ, नृत्य की मुद्राएँ, नृत्य के प्रकार एवं स्वरूप—आनन्द, अलातचक्र, अंगुष्ठ, इन्द्रजाल, कटाक्ष, चक्र, ताण्डव, निष्क्रमण, पुतली, बहुरूपिणी, बांस, लास्य, सामूहिक, सूची, नीलांजना ।

(ख) चित्रकला ३०६–३१०

१. सामान्य परिचय; २. जैन चित्रकला : उद्भव और विकास; ३. चित्र-निर्माण के उपकरण; ४. वर्गीकरण—गुहान्तर्गत भित्तिचित्र, चैत्यालयान्तर्गत भित्तिचित्र, ताड़पत्र चित्र, कर्गल चित्र, पटचित्र, धूलिचित्र, फुटकर ललित कला, काष्ठ चित्र, लौकिक चित्र; ५. विशेषताएँ ।

(ग) विविध ललित कला ३११–३१४

१. पत्रच्छेद कला—वृष्किम, छिन्न, अछिन्न; २. पुस्तकर्म कला—क्षयजन्य, उपचयजन्य, संक्रमजन्य, (यन्त्र, निर्यन्त्र, सश्छिद्र, निश्छिद्र); ३ परिधान कला, ४. संवाहन कला—कर्म सश्रया, कर्म संश्रया के दोष और शय्योपचारिका संवाहन;

५. माला निर्माणकला—आर्द्र, शुष्क, तदुन्मुक्त, मिश्र; ६. गन्धयोजना कला—योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुणदोष, विज्ञान, तथा कौशल; ७. लेप्यकला ।

७. आर्थिक व्यवस्था ३१५–३३३

(क) आर्थिक उपादान ३१५–३१९

१. आर्थिक समृद्धता; २. अर्थोपार्जन और धर्मानुकूलता; ३. श्रम-विभाजन; ४. ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था ।

(ख) अजीविका के साधन ३२०–३२७

१. असि वृत्ति; २. मषि वृत्ति; ३. कृषि और पशुपालन; ४. शिल्प-कर्म; ५. व्यावसायिक वर्ग ।

(ग) व्यापार और वाणिज्य ३२८–३३३

१. महत्त्व एव प्रचलन; २. राष्ट्रीय व्यापार; ३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार; ४. आयात-निर्यात; ५. मुद्रा; ६. माप प्रणाली—मेयमान, देशमान, कालमान, तुलामान ।

८. धार्मिक व्यवस्था ३३४–३९७

(क) दार्शनिक पक्ष ३३४–३६३

१. लोक—अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक । २. षड्द्रव्य—द्रव्य का स्वरूप; द्रव्य के प्रकार—(अ) जीवद्रव्य—जीव के नाम, जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व, जीव का स्वतन्त्र महत्त्व, जीव और आत्मा, जीव : प्रकार एवं स्वरूप (संसारी जीव और उनके भेद, मुक्त या सिद्ध जीव, संसारी जीव की गतियाँ); (ब) अजीव द्रव्य—पुद्गल, परमाणु, स्कन्ध, धर्म, अधर्म, आकाश, काल (काल के भेद—व्यवहार काल और निश्चय काल) । ३. सप्ततत्त्व एवं नौ पदार्थ—तत्त्व का अर्थ, तत्त्व : प्रकार एवं स्वरूप—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष एवं पाप और पुण्य; (स) आस्रव—जीवाधिकरण

आस्रव, अजीवाधिकरण आस्रव; (द) बन्ध; (य) संवर—भावसंवर, द्रव्यसंवर; (र) निर्जरा—विपाकजा निर्जरा, अविपाकजा निर्जरा; (ल) मोक्ष—महत्त्व, मोक्ष-प्राप्ति के साधन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र); फल, तीर्थंकरत्व प्राप्ति के साधन; (व, श) पुण्य और पाप। ४. ईश्वर : जैनी दृष्टिकोण ५. कर्म सिद्धान्त—कर्म का महत्त्व, कर्मबन्ध के कारण, कर्मों के भेद एवं स्वरूप, कर्मों का फल, कर्म और पुनर्जन्म। ६. अनेकान्तवाद और स्याद्वाद; ७. स्याद्वाद और सप्तभंगी। ८. नयवाद—नय का लक्षण, नय : प्रकार एवं स्वरूप [नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत]।

(ख) धार्मिक पक्ष ३६४–३९७

१. मुनि का आचार या श्रमणाचार—मुनियों का महत्त्व, मुनियों के प्रकार [यति, पारिव्राजक, ऋषि, भिक्षुक, श्रमण क्षपण, संन्यासी, अमोघवादी मुनि, सिद्ध, निर्ग्रन्थ मुनि (पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक); मुनियों के कर्त्तव्य; मुनि-धर्म (नियम)—पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग); पाँच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग); गुप्ति; मूलगुण; उत्तरगुण; परीषह; तप; अनुप्रेक्षा; चारित्र; कषाय]; मुनिसंघ; मुनि-दीक्षा; पतित (भ्रष्ट) मुनि। २. योग—योग की व्युत्पत्ति, योग के लक्षण, योग : प्रकार एवं स्वरूप (योग, समाधान या समाधि, प्राणायाम, धारणा, आध्यान, ध्येय, स्मृति, ध्यान का फल, ध्यान का बीज, प्रत्याहार)। ३. ध्यान—ध्याय की व्युत्पत्ति; ध्यान के अंग (ध्याता, ध्यान, ध्येय); ध्यान का स्वरूप; ध्यान की क्रिया; ध्यान : प्रकार एवं स्वरूप (आर्त्तध्यान—बाह्य आर्त्तध्यान और आभ्यन्तर आर्त्तध्यान; रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान—बाह्य धर्म्यध्यान और आभ्यन्तर धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान)। ४. गृहस्थ का आचार या श्रावकाचार। ५. देवता—

देवताओं के प्रकार, ज्योतिषी देवता, भवनवासी देवता, व्यन्तर देवता, कल्पवासी देवता, अन्य देवी-देवता। ६. पूजा— पूजा : लक्षण एवं नाम, पूजा : प्रकार एवं विधि-विधान (सदार्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुम, अष्टाह्निक); यज्ञ और यज्ञों का विरोध (आर्य यज्ञ और अनार्य यज्ञ); वेद और वेदों का विरोध। ७. दान— दान की व्युत्पत्ति; दान का लक्षण; दान : प्रकार एवं स्वरूप (दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति, अन्वयदत्ति, शास्त्र दान, अभय दान, अन्न दान, प्रशंसनीय दान, निन्दित दान); दान की पात्रता और उसका परिणाम; दान की वस्तुएँ; दान का महत्त्व तथा फल। ८. व्रतोपवास।

९. **भौगोलिक दशा** ३९८–४५४

(क) देश [राष्ट्र] ३९८–४१६

१. समीकृत देश (राष्ट्र); २. असमीकृत देश (राष्ट्र)

(ख) नगर ४१७–४३८

१. समीकृत नगर; २. असमीकृत नगर।

(ग) पर्वत ४३९–४४६

१. समीकृत पर्वत; २. असमीकृत पर्वत।

(घ) नदी ४४७–४५४

१. समीकृत नदी; २. असमीकृत नदी।

संदर्भ-ग्रन्थ ४५५–४८१

शब्दानुक्रमणिका ४८२–४९२

चित्र-फलक ४९३–५३३

संकेत तालिका

आश्वलायन	आश्वलायन गृह्यसूत्र
कात्यायन	कात्यायन श्रौतसूत्र
कामन्दक	कामन्दकीय नीतिसार
कौटिल्य	कौटिलीय अर्थशास्त्र
गौतम	गौतम गृह्यसूत्र
नारद	नारदस्मृति
पद्म	पद्म पुराण
पराशर	पराशरमाधवीय
पाण्डव	पाण्डव पुराण
पारस्कर	पारस्कर गृह्यसूत्र
पु	पुराण
बौधायन	बौधायन गृह्यसूत्र
मनु	मनुस्मृति
महा	महा पुराण
याज्ञवल्क्य	याज्ञवल्क्यस्मृति
शुक्र	शुक्रनीतिसार
हरिवंश	हरिवंश पुराण
हिरण्यकेशिन्	हिरण्यकेशिन् गृह्यसूत्र

—o—

१

साक्ष्य–अनुशीलन

[क] पुराण-व्याख्या : पारम्परिक एवं जैन दृष्टिकोण

'पुराण' का अर्थ प्राचीन काल की घटनाओं का सूचक ग्रन्थ है। 'पुराण' शब्द का आविर्भाव तो बहुत पहले हो चुका था, परन्तु पौराणिक ग्रन्थ बाद में रचे गये। 'पुराण' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम वैदिक-ग्रन्थों में उपलब्ध है। ऋग्वेद में कई स्थलों पर 'पुराण'[१] शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु एक स्थल पर 'पुराणी'[२] शब्द प्राप्य है। यहाँ यह शब्द प्राचीनता तथा प्राचीन गाथा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद के दो मंत्रों में 'पुराण'[३] तथा 'पुराणवित्'[४] शब्द मिलते हैं। गोपथ-ब्राह्मण में ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प आदि के साथ-साथ पुराण भी वेदांग के रूप में मान्य है।[५] इसमें अन्यत्र

---

१. ऋग्वेद ३।५।४६, ३।५८।६, १०।१३०।६
२. वही ६।६६।४
३. अथर्ववेद ११।७।२७
४. वही।
५. गोपथ ब्राह्मण १।२।१०

'पुराण-वेद' और 'इतिहास-वेद' का भी उल्लेख है।[1] पं० बलदेव उपाध्याय के मतानुसार इस समय तक 'इतिहास' तथा 'पुराण' में भिन्नता हो चुकी थी।[2] शतपथ-ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद् एवं छान्दोग्य उपनिषद् तथा आश्वालयन-गृह्यसूत्र के अध्ययन से यह स्पष्टतः विदित होता है कि इनके काल में पुराणों की प्रतिष्ठा पौराणिक वाङ्मय के रूप में नहीं हो पायी थी।

वैदिक ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का प्रयोग मात्र आख्यानार्थ हुआ है। चूंकि पुराण-प्रणेता वैदिक आख्यानों के प्रति श्रद्धावान् थे, अतएव प्राथमिक पुराण-संरचना का सूत्रपात्र भी इन आख्यानों के समावेश के साथ हुआ था। वेदों तथा पारम्परिक पुराणों में ऐसे आख्यान भी मिल जाते हैं, जिनके विवरण में या तो समरूपता है या जिनका पहले के आधार पर दूसरे के अनुवर्ती विकास का साक्ष्य उपलब्ध होता है।[3] डॉ० एस० एन० राय के मतानुसार वेदों में जो आख्यान के प्रकरण उपलब्ध हैं, वे बौद्धिक रूप से समाज के निम्न-वर्ग के लिए थे, किन्तु पौराणिक-आख्यान का विकास युग के अनुरूप हुआ था।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पारम्परिक पुराणों का विकास आख्यान, इतिहास, कल्प, गाथा, उपाख्यान से हुआ है। इन्हीं का विकसित रूप पारम्परिक पुराण हैं।

जैनाचार्यों के कथनानुसार जैन 'पुराण' का उद्भव तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ है। महापुराण में वर्णित है कि उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी एवं तृतीय काल में ऋषभदेव ने जिस इतिवृत्त का वर्णन किया, वृषभसेन गणधर ने उसे ही पुराण रूप प्रदान किया। वही पुराण अजितनाथ आदि तीर्थंकरों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा प्रकाशित किया गया।[5] चतुर्थ काल में अन्तिम तीर्थंकर महावीर से महाराज श्रेणिक ने राजगृह में उक्त पुराण के विषय में जिज्ञासा प्रकट की, तब गणधर स्वामी ने उन्हें सुनाया। गौतम गणधर से सुधर्माचार्य, सुधर्माचार्य से जम्बूस्वामी और

---

१. गोपथ ब्राह्मण १।१।१०
२. बलदेव उपाध्याय–पुराण-विमर्श, वाराणसी, १९६५, पृ० ११
३. एस० एन० राय–पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९७३, पृ० २८-२९
४. एस० एन० राय–हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन द पुराणाज, इलाहाबाद, १९७८, पृ० ५
५. महा १।१९१-१९५

तदुपरान्त गुरु परम्परा से यह चला आ रहा है।[1] इस प्रकार इस पुराण के मूल कर्त्ता महावीर और अन्तिम कर्त्ता गौतम गणधर हैं।[2]

जैन पुराणों में 'पुराण' के दो भेद हैं :—'पुराण' और 'महापुराण'। जिसमें एक शलाकापुरुष के चरित्र का वर्णन हो, उसे 'पुराण' कहते हैं और जिनमें तिरसठ शलाकापुरुषों के चरित्र का वर्णन हो, उसे 'महापुराण' कहते हैं।[3] महापुराण में वर्णित है कि ये पुराण आचार्यों द्वारा प्रणीत होने से प्रमाणभूत हैं।[4]

[ख] इतिवृत्त एवं इतिहास शब्द का परिशीलन

वैदिक ग्रन्थों में 'इतिहास' और 'पुराण' शब्द साथ-साथ इतिहास-वेद तथा पुराण-वेद के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु वहाँ पर इतिहास का अर्थ स्पष्ट नहीं है। विण्टरनित्ज के मतानुसार इतिहास-वेद की पृथक् से पुस्तक नहीं थी, अपितु ये अध्ययन के साधन थे।[5] छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्टतः वर्णित है कि यद्यपि इतिहास और पुराण पृथक्तः अस्तित्व नहीं रखते थे, परन्तु अपने गुण के कारण इन्हें पाँचवाँ वेद कहते हैं।[6] उत्तर वैदिक काल में इतिहास और पुराण स्पष्ट रूप में प्रकाश में आये। पौराणिक एवं अपौराणिक साक्ष्यों के अध्ययनोपरान्त पं० बलदेव उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इतिहास और पुराण का अन्तर परवर्ती काल में मिलता है।[7]

डॉ० पुसाल्कर का मत है कि उत्तर वैदिक काल में पुराण की अपेक्षा इतिहास का स्थान ऊँचा था और दोनों उस समय बहुत लोकप्रिय थे।[8] छान्दोग्योपनिषद् में

---

१. महा १।१६६-२००
२. वही १।२०१
३. वही १।२२-२३; पाण्डव, पृ० ६
४. पुराणमृषिभिः प्रोक्तं प्रमाणं सूक्तमाञ्जसम्। महा १।२०४
५. विण्टरनित्ज—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ३१३
६. छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२
७. बलदेव उपाध्याय—पुराण-विमर्श, वाराणसी, १९६५, पृ० ६
८. ए० डी० पुसाल्कर—स्टडीज इन् द एपिक्स एण्ड पुराणाज़, बम्बई, १९५५, पृ० ४४-४५

इतिहास और पुराण साथ प्रयुक्त हुआ है।[1] विण्टरनित्ज का विचार है कि उस समय समाज में कथावाचकों के दो वर्ग थे—ऐतिहासिक तथा पौराणिक।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पुराण के साथ 'इतिवृत्त' शब्द वर्णित है, जो कि इतिहास है। इतिहास को पुराण, इतिवृत्त, आख्यान, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र कहा गया है।[3]

आलोचित जैन पुराणों में उक्त विचार परिलक्षित होते हैं। महा पुराण में पुरातन को पुराण वर्णित किया है।[4] इसी पुराण में अन्यत्र पुराणार्थ 'इतिहास' 'इतिवृत्त' तथा 'ऐतिह्य' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।[5] यही विचार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्राप्य है।[6] आलोचित जैन पुराणों में इतिहास तथा पुराण को स्पष्ट किया गया है। इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण उनसे प्राप्त फलाफल, पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है और व्यक्ति के चारित्र-निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में केवल वर्तमान कालिक घटनाओं का उल्लेख रहता है, परन्तु पुराण में नायक के अतीत अनागत भावों का भी वर्णन रहता है; और वह इस लिए कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिए क्या-क्या त्याग और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। वस्तुतः मनुष्य के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथावत अक्षुण्ण है।

[ग] जैनपुराणों का उद्भव और विकास

जैनपुराणों के उद्भव के विषय में कहा गया है कि तीर्थंकर आदि के जीवन के कुछ तथ्यों का संग्रह स्थानांग-सूत्र में उपलब्ध है, जिसके आधार पर श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र आदि ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि की रचनाएँ कीं। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि के चरित्र के तथ्यों का प्राचीन संकलन हमें प्राकृत भाषा

१. छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२
२. विण्टरनित्ज - वही, पृ० ३१३
३. अर्थशास्त्र ५।१३-१४
४. पुरातनं पुराणं स्यात् ·····। महा११।२
५. महा १।२५
६. अर्थशास्त्र ५।१३-१४

के 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थ में प्राप्य है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण तथा नौ बलभद्र के जीवन के प्रमुख तथ्य भी इसी में संग्रहीत हैं। इन्हीं के आधार पर विभिन्न पुराणकारों ने अपनी लेखनी उठायी और छोटे-बड़े अनेक पुराणों का प्रणयन किया।[1] स्वामी समन्तभद्र कृत स्वयंभूस्तोत्र में चौबीस तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र के अनेक प्रसंग उल्लिखित हैं। पुराणकारों के लिए वे भी आधार स्रोत बने।[2]

जैन पुराणों के उद्भव में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।[3] इन पर अत्यन्त संक्षेप में दृष्टिपात किया जा सकता है। इन पुराणों का समय गुप्तोत्तर काल है। उस समय देश संक्रमण युग से गुजर रहा था। सार्वभौम सत्ता का अभाव था। जैन-धर्म देश के विभिन्न भागों में प्रसरित था। बहुत से राजा जैन-मतावलम्बी थे, जिससे जैन-धर्म को राजकीय संरक्षण भी प्राप्त था।

तत्कालीन भारतीय समाज जाति-प्रथा में जकड़ता जा रहा था और धार्मिक रीति-रिवाज के बंधन जटिल होते जा रहे थे। समाज के शिक्षित एवं अशिक्षित सभी लोग तंत्र-मंत्र, जादू, टोना-टोटका, शकुन-मुहूर्त आदि अंधविश्वासों से ग्रसित थे। सामाजिक वैमनस्य एवं भेदभाव का अन्तराल विशाल होता जा रहा था।

गुप्तयुग संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग मान्य है। इस समय रामायण, महाभारत, पुराण तथा धर्मशास्त्रों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, बाण आदि रीतिबद्ध शैली से संस्कृत साहित्य को समृद्ध कर रहे थे।

गुप्तयुग ब्राह्मण धर्म का पुनर्जागरण काल था। ब्राह्मण धर्म में नाना अवतारों की अवधारणा, उनकी पूजा तथा भक्ति की प्रधानता हो गयी थी। इस समय वेदों के स्थान पर पुराण का महत्त्व बढ़ गया था। रामायण एवं महाभारत लोकप्रिय

---

१. महा, प्रस्तावना, पृ० ७

२. स्वयंभूस्तोत्र, सरसावा, ५ सं० १९

३. गुलाब चन्द्र चौधरी—जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, वाराणसी, १९७३, पृ० ८-१९

हो गये थे। पारम्परिक पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। विभिन्न धर्मों में परस्पर आदान-प्रदान और सम्मिश्रण अधिक बढ़ रहा था। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और बौद्धों के भगवान् बुद्ध को ब्राह्मण धर्म के अवतारों में गृहीत कर लिया गया था। धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन हो रहा था।

उपर्युक्त तत्कालीन परिस्थितियों के अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि पारम्परिक पुराण जैन एवं बौद्ध धर्म को अनुत्साहित कर रहे थे। पारम्परिक पुराणों में बुद्ध को अवतार मानने तथा बौद्ध धर्म का समाहार करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। मायामोह आख्यान के माध्यम से बौद्ध धर्म को पौराणिक धर्म में अंगीभूत करने की चेष्टा की गई है।[1] विष्णु पुराण में वर्णित है कि कंक, कौंकण, वेंकट, कूठक, दक्षिणी कर्नाटक प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में ऋषभ के अनुयायी नग्न अर्हत् रहते थे। ये लोग कलयुग में व्यवस्था को ध्वस्त कर ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ एवं वेदों का विरोध करेंगे। ये दैत्य अर्हत् कहे गये हैं। मयूरपिच्छधारी दिगम्बर तथा मुण्डितकेश मायामोह नामक असुर को दैत्यों के प्रति मधुरवाणी में संशयात्मक वेद विरोधी मतों का उपदेश करते हुए पाया गया है। मायामोह को जैन धर्म का प्रवर्तक वर्णित किया है।[2] भागवत पुराण के पाँचवें स्कन्ध के प्रथम छः अध्यायों में ऋषभ देव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृत्तान्त उपलब्ध है, जो मुख्य-मुख्य बातों में जैन पुराणों के वर्णनों से साम्यता रखता है।[3]

यह समीक्षा का विषय है कि क्या जैन पुराणों का उद्भव पारम्परिक पुराणों द्वारा जैन एवं बौद्ध धर्मों के अनुत्साहित करने से हुआ? वस्तुतः बौद्धों ने न तो पुराण नामधारी कोई ग्रन्थ लिखा और न ही उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। क्योंकि बौद्धों के क्रियाकलाप का क्षेत्र भारत के अतिरिक्त बाहरी देश भी थे। इस प्रकार उनकी लोकप्रियता बाहर अधिक बढ़ती गयी। इसके विपरीत जैनों के क्रिया-कलाप का केन्द्र भारत था। जैन धर्म को व्यावहारिक रूप प्रदानार्थ तथा उसे सर्व-साधारण तक सुप्रचलित करने के लिए जैन आचार्यों ने 'पुराण' नामधारी ग्रन्थों का भी सृजन किया।

---

१. द्रष्टव्य, राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८ पृ० ३५

२. एच० एच० विल्सन—द विष्णु पुराण–ए सिस्टम ऑफ हिन्दू मैथालोजी एण्ड ट्रेडीसन, कलकत्ता, १९६१, पृ० १३३ तथा २७०-२७१

३. उद्धृत, हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, १९४२, पृ० ११

जैनाचार्यों ने तत्कालीन परिस्थितियों का आकलन किया। जैनधर्म मूलतः अहिंसा, तप, त्याग, ज्ञान एवं वैराग्य प्रधान था, परन्तु युग की माँग के अनुरूप जैन विद्वानों ने न केवल संस्कृत में, अपितु प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी अनेक प्रकार की रचनाओं का सृजन किया। जैनों की साहित्य साधना सर्वप्रथम लोकरुचि की ओर केन्द्रित हुई। इसीलिए उन्होंने सामान्य जन के योग्य प्राकृत-अपभ्रंश के अतिरिक्त अनेक प्रान्तीय भाषाओं—तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, हिन्दी आदि—में भी प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों का प्रणयन किया। इस साहित्यिक साधना में जैनों को राजवर्ग एवं धनिकवर्ग से भी अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। पारम्परिक ब्राह्मण धर्म की लोकप्रियता, प्रभाव एवं जैन-धर्म के प्रति उपेक्षा के कारण जैन मुनियों का ध्यान शास्त्रों, मन्दिरों एवं मूर्तियों के संरक्षण में होने लगा। वे अब इन कार्यों के लिए दान भी ग्रहण करने लगे। जिन आगम-सूत्रों का अध्ययन मात्र जैन साधुओं तक ही नियत था, देशकाल के परिवर्तन तथा गृहस्थ श्रावकों के प्रभाव एवं उनकी रुचि का ध्यान रख कर आगमिक और औपदेशिक प्रकरणों के साथ पौराणिक महाकाव्यों, बहुविध कथा साहित्य, स्तोत्रों तथा पूजापाठों की रचना होने लगी। जैनाचार्यों ने लौकिक धर्म को भी अपने धर्म में आत्मसात कर लिया।

तत्कालीन भारतीय समाज में रामायण तथा महाभारत के पात्र—राम, लक्ष्मण, सीता और कौरव, पाण्डव, कृष्ण, बलराम आदि—समाज में लोकप्रिय एवं पूज्य थे। जैन पुराणों के रचना-काल में पारम्परिक पुराणों का समाज में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसी समय पारम्परिक पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। जैनाचार्यों ने जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने तथा सर्वसाधारण में इसे प्रचलित करने के उद्देश्य से रामायण एवं महाभारत की कथावस्तु तथा पात्रों को लेकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्रादेशिक भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की। जैन विद्वानों ने न केवल रामायण एवं महाभारत की कथाओं एवं पात्रों को जैन पुराणों में निबद्ध किया, अपितु पारम्परिक पुराणों के कतिपय नामों को भी जैन पुराणों का नाम दिया, उदाहरणार्थ—पद्म पुराण, महा पुराण। उन्होंने अलौकिक तथा अविश्वसनीय घटनाओं के स्थान पर सरल, तर्कसंगत तथा बोधगम्य घटनाओं को अपने पुराणों में स्थान दिया। यह साहित्य सामान्यतया दिगम्बरों में 'पुराण' तथा श्वेताम्बरों में 'चरित्र' या 'चरित' नाम से अभिहित है।[1] प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय 'जैन पुराणों

१. विण्टरनित्ज—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, नई दिल्ली, १९७७, पृ० ४९१; के० ऋषभचन्द्र-जैन पुराण साहित्य, श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ, भाग १ बम्बई १९६८, पृ० ७२

का सांस्कृतिक अध्ययन' है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन को 'पुराण' नामधारी ग्रन्थों तक ही सीमित रखा गया है। जैसा कि पारम्परिक पुराणों एवं उपपुराणों की संख्या निश्चित है, वैसी संख्या जैन पुराणों की नहीं है। जैन 'पुराण' और 'चरित' ग्रन्थ बहु संख्या में प्राप्य हैं। इनकी स्पष्ट संख्या का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

आधार ग्रन्थों तथा विषयवस्तु के आधार पर जैन पुराणों को निम्नांकित चार भागों में विभाजित किया गया है :।[१]

(अ) रामायण विषयक पुराण,

(ब) महाभारत विषयक पुराण,

(स) त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक पुराण,

(द) तिरसठ शलाकापुरुषों के स्वतंत्र पुराण।

[अ] रामायण विषयक पुराण : रामायण विषयक सबसे प्राचीन जैन पुराण विमलसूरि का प्राकृत में निबद्ध 'पउम-चरियं' है। याकोबी ने इसकी तिथि तृतीय शती ई० मानी है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसकी तिथि वि० सं० ५३० निर्धारित किया है। इसमें–श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा यापनीय–सभी सम्प्रदायों का समावेश उपलभ्य है। इसमें पद्म (राम) के जीवन का वर्णन है, जो कि वाल्मीकि रामायण से साम्य रखता है। विण्टरनित्ज का विचार है कि प्रणेता वाल्मीकि का अनुसरण नहीं करता, अपितु राम की कथा के माध्यम से विश्व इतिहास में जैन-परम्परा को प्रतिपादित करना चाहता है।[२]

विमलसूरि ने रामायण की जिस परम्परा को प्रतिपादित किया, उसी को परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने अपनाया। 'पउम-चरियं' के आधार पर ६७७ ई० में जैनाचार्य रविषेण ने सर्वप्रथम संस्कृत में 'पद्म पुराण' लिखा। स्वयंभू ने अपभ्रंश में 'पउम चरिउ' की रचना की। राम विषयक यह कथा गुणभद्र कृत संस्कृत 'उत्तर पुराण', पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश 'महा पुराण' और हेमचन्द्र कृत संस्कृत 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित' में उपलब्ध है।

---

१. गुलाबचन्द्र चौधरी–वही, पृ० ३५-२३०

२. विण्टरनित्ज–वही, पृ० ४८६

पद्म पुराण की तिथि के विषय में उक्त पुराण में ही वर्णित है कि महावीर के निर्वाण के १२०३ वर्ष ६ माह बाद पद्ममुनि का चरित्र निबद्ध किया गया।[१] यदि महावीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद वि० सं० माना जाए तो इसकी रचना वि० सं० ७३३ अर्थात् ६७७ ई० में हुई।

पद्म पुराण में पद्म (राम) का चरित्र वर्णित है। इसमें रामायण की असम्भव प्रतीत होने वाली घटनाओं की बौद्धिक व्याख्या की गयी है। जैन धर्म में पद्म (राम), लक्ष्मण तथा रावण त्रिषष्टिशलाकापुरुषों में परिगणित हैं। जैन मान्यतानुसार प्रत्येक कल्प में तिरसठ महापुरुष होते हैं : चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र या बलदेव, नौ नारायण या वासुदेव तथा नौ प्रति नारायण या प्रति वासुदेव। इनमें से बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव समकालीन होते हैं। इनमें राम, लक्ष्मण तथा रावण क्रमशः अष्टम बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव हैं। अन्त में इन सभी को जैन दीक्षा में दीक्षित किया गया है।[२] रामायण की अतिमानवीय घटनाओं का विश्लेषण करके राम को जिन-दीक्षा दिलाकर मोक्ष प्राप्ति कराना पद्म पुराण की रचना का प्रमुख उद्देश्य है। इसीलिए श्रेणिक ने प्रचलित रामायण की घटनाओं के विषय में अपने संदेह को गौतम गणधर के सम्मुख पूर्व-पक्ष में रखा, जिसका समाधान उत्तर-पक्ष में गौतम के द्वारा सम्पन्न हुआ तथा राक्षसों, वानरों आदि की समस्याओं का बुद्धिसंगत समाधान सामने आया। पद्म पुराण में राम-कथा को तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न किया गया है।[३]

पद्म पुराण के आधार पर राम विषयक अधोलिखित पुराण लिखे गये हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में वे पुराण सम्मिलित हैं, जिन्हें स्पष्टतया 'पुराण' नाम दिया गया है और द्वितीय वर्ग में वे ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जिनको पुराण न कह कर 'चरित' या 'चरित्र' की संज्ञा प्रदत्त है।

---

१. पद्म १२३।१८२

२. रमाकान्त शुक्ल पद्म पुराण और रामचरितमानस, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ३३

३. वही, पृ० ३५

१. पुराण नामधारी ग्रन्थ :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	पद्म पुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५–१६वीं शती
२.	,, (रामदेव पुराण)	जिनदास	१६वीं शती
३.	,,	सोमदेव	सं० १६५६
४.	,, (राम पुराण)	धर्मकीर्ति	सं० १६६६
५.	,,	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
६.	,,	चन्द्रसागर	——
७.	,,	श्रीचन्द्र	——

२. चरित या चरित्र नामधारी ग्रन्थ :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	सीता चरित्र	भुवनतुंगसूरि	——
२.	राम लक्ष्मण चरित्र	,,	——
३.	पद्म महाकाव्य	शुभवर्धनगणि	——
४.	रामचरित्र	पद्मनाथ	——
५.	पद्म पुराण पंजिका	प्रभाचन्द्र या श्रीचन्द्र	——
६.	सीता चरित्र	——	(अप्रकाशित)
७.	,,	शान्तिसूरि	——
८.	,,	ब्रह्मनेमिदत्त	——
९.	,,	अमरदास	——

[ब] महाभारत विषयक पुराण : महाभारत की कथा पर आधारित जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित संस्कृत का हरिवंश पुराण इस प्रकार का सर्वप्रथम पुराण है। ये जिनसेन आचार्य आदि पुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य से पृथक् हैं। हरिवंश पुराण की तिथि शक सं० ७०५ (७८३ ई०) मानी गयी है। हरिवंश पुराणकार ने अपने ग्रन्थ का आधार गुरु परम्परा वर्णित किया है।

हरिवंश पुराण में मुख्यतः २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र-लेखन अभीष्ट है, परन्तु प्रसंगोपात अन्य कथानक भी इसमें उल्लिखित हैं। नेमिनाथ के साथ नारायण और बलभद्र पद के धारक श्रीकृष्ण और राम का भी चरित्र वर्णित है। इस प्रकार

पाण्डवों एवं कौरवों का चरित्र सुन्दरता से अभिहित है। इसमें श्रीकृष्ण के प्रद्युम्न का भी चरित्र सुन्दर ढंग से निरूपित है।

हरिवंश पुराण पर आधारित महाभारत विषयक अधोलिखित पुराण और चरित्र ग्रन्थों की रचना हुई थी :

१. पुराण नामधारी ग्रन्थ :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	पाण्डव पुराण (अपभ्रंश)	यशःकीर्ति	सं० १४९७
२.	हरिवंश पुराण (,,)	,, ,,	सं०१५०७
३.	,,	जयानन्द	——
४.	हरिवंश पुराण	सकलकीर्ति	सं० १५२०
५.	,, (अपभ्रंश)	श्रुतकीर्ति	सं० १५५२
६.	,, ,,	कवि रइधू	१५-१६वीं शती
७.	,,	कवि रामचन्द्र	सं० १५६० से पूर्व
८.	पाण्डव पुराण	,,	,,
९.	,,	शुभचन्द्र	सं० १६०८
१०.	,,	वादिचन्द्र	सं० १६५४
११.	,,	श्री भूषण	सं० १६५७
१२.	शान्तिनाथ पुराण	,,	१६५७ (लगभग)
१३.	हरिवंश पुराण	,,	सं० १६७५
१४.	,,	धर्मकीर्ति	सं० १६७१
१५.	,,	जयसागर	——
१६.	,,	जयानन्द	——
१७.	,,	गंगरस	——
१८.	,, (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	——
१९.	,, (,,)	चतुर्मुख देव	(अनुपलब्ध)

२. चरित्र या चरित नामधारी ग्रन्थ :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	पाण्डव-चरित	देवभद्र सूरि	सं० १२७०
२.	पाण्डव-चरित्र	देवविजय गणि	सं० १६६०
३.	,, (हरिवंश पुराण)	शुभवर्धन गणि	——
४.	पाण्डव-चरित्र (लघुपाण्डव चरित्र)	अज्ञात	——

[स] त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयकपुराण : जैन परम्परा में सर्व मान्य तिरसठ शलाकापुरुष–चौबीस तीर्थंकर [ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दनाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्र प्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अमरनाथ, मल्लिनाथ, सुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और महावीर][1], बारह चक्रवर्ती [भरत, सगर, सनत्कुमार, मघवा, शान्ति, कुन्थु अर, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त][2], नौ बलदेव [विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दीषेण, नन्दिमित्र, राम, पद्म][3], नौ नारायण [त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुष पुण्डरीक, दत्त (पुरुष दत्त), नारायण (लक्ष्मण), कृष्ण][4], तथा नौ प्रतिनारायण [अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रहरण, रावण, जरासंध][5]—हैं। हुंडावसर्पिणी काल में अट्ठावन् शलाकापुरुष का उल्लेख है। नौ नारद [भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नरकमुख, अधोमुख],[6] बारह रुद्र [भीमावलि, जितशत्रु, रुद्र, वैश्वानर, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजितंधर, अजिननाभि, पीठ, सात्यकि पुत्र, बल][7], चौदह कुलकर

१. पद्म ५।२१२–२१६, ६।१८५–१८६, २०।१८–३०; हरिवंश ६०–१४२–१६३; महा २०।३६–६०; ७६।४७६–४१८०

२. पद्म ५।२२२–२२३; महा २०।१२४–२०४, ३६।१–२२०, ७६।२८२–२८८; हरिवंश ६०।२८६-२८७, ६०।५६३-५६५,

३. पद्म २०।२०५–२४२; हरिवंश ६०।२६०; महा ७६।४८५–४८६,

४. पद्म २०।२०५–२२८; हरिवंश ६०।२८८–२८६; महा ६८।६६६–६७७, ५७।६०–६४, ७१।१२४–१२८

५. पद्म २०।२४२–२४८; हरिवंश ६०।२६१–२६२,

६. हरिवंश ६०।५४८

७. वही ६०।५३४–५३६,

[प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित, नाभिराय][1]; चौबीस कामदेव, [बाहुबलि आदि चौबीस कामदेवों का निर्देश मात्र हुआ है][2] आदि को मिलाने से १६९ शलाकापुरुषों का उल्लेख मिलता है ।[3] इनके जीवन चरित्र के आधार पर पुराणों की रचना की गयी है, जिसमें संस्कृत का महा पुराण सर्वप्रथम माना जाता है । महा पुराण के दो भाग हैं–आदि पुराण और उत्तर पुराण । भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित आदि पुराण के दो खण्ड—इनमें प्रथम खण्ड में एक से पच्चीस तथा दूसरे खण्ड में छब्बीस से सैंतालिस पर्व—हैं । उत्तर पुराण में अड़तालिस से तिहत्तर पर्व हैं । आदि पुराण के एक से बयालिस पर्व तथा तैंतालिस पर्व के तीन श्लोक जिनसेन और इसके बाद के चौथे श्लोक से तिहत्तर पर्व तक जिनसेन के शिष्य गुणभद्र द्वारा प्रणीत हैं ।

महा पुराण की तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, तथापि महा पुराण के अध्ययन तथा तत्कालीन ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आदि पुराण एवं उत्तर पुराण की रचना क्रमशः ९वीं एवं १०वीं शती में हुई थी । जिनसेन वीरसेन स्वामी के शिष्य थे । उन्होंने समस्त शलाकापुरुषों का चरित्र लिखने की इच्छा से महा पुराण की रचना प्रारम्भ की थी । परन्तु वे मात्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं भरत का ही वर्णन कर सके । अन्य शलाकापुरुषों का वर्णन उनके शिष्य गुणभद्र ने अत्यन्त संक्षेप में किया है ।

आदि पुराण पुराण काल के संधिकाल की रचना है । अतः यह न केवल पुराण ग्रन्थ है, अपितु काव्य-ग्रन्थ है, काव्यग्रन्थ ही नहीं महाकाव्य भी है । यह संस्कृत साहित्य का अनुपम रत्न है । ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसका इसमें प्रतिपादन न किया गया हो । महा पुराण में ही वर्णित है कि यह पुराण, महाकाव्य, धर्मकथा, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आचार-शास्त्र और युद्ध की श्रेष्ठ व्यवस्था-सूचक महान् इतिहास है ।[4]

---

१. पद्म ३।७५–८८; हरिवंश ७।१२५–१७०, २५५।२७०; महा ७०।४६३–४६६; (महा पुराण में ऋषभ एवं भरत की गणना कुलकरों में करने से इनकी संख्या सोलह हो गयी है)

२. तिलोयपण्णत्ति ४/१४७२,

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग–४, वाराणसी १९७३, पृ० ८–२६

४. महा, प्रस्तावना, पृ० २८

आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत का ही वर्णन हो पाया है। उत्तर पुराण में गुणभद्र द्वारा द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ सहित तेइस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, तथा नौ प्रति-नारायण और जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों के कथानक वर्णित हैं। आचार्य जिनसेन ने जिस रीति से प्रथम तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती भरत का वर्णन किया है, यदि वे जीवित रहते और उसी रीति से अन्य कथा-नायकों का वर्णन करते तो यह महा पुराण संसार के समस्त पुराणों तथा काव्यों से बृहत्काय होता।[1] महा पुराण के आधार पर त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक अधोलिखित पुराण एवं चरित्र नामधारी ग्रन्थों की रचना हुई है :

१. पुराण नामधारी ग्रन्थ :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	महापुराण (त्रिषष्टि महा पुराण या त्रिषष्टिशलाका पुराण)	मुनि मल्लिषेण	शक सं० ९६९ सं० ११०४
२.	पुराण-सार	श्रीचन्द्र	सं० १०८०
३.	,,	अज्ञात	——
४.	,,	सकलकीर्ति	——
५.	महा पुराण	पुष्पदन्त	९६५ ई०
६.	पुराणसार संग्रह	दामनन्दि	११वीं से १३वीं शती के मध्य
७.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	हेमचन्द्र	सं० १२१६–१२२८
८.	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	आशाधर	सं० १२९२
९.	आदि पुराण	सकलकीर्ति	सं० १५२०
१०.	उत्तर पुराण	,,	,,
११.	आदि पुराण (कन्नड़)	कवि पंप	——
१२.	,,	भट्टाकर चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
१३.	कर्णामृत पुराण	केशवसेन	१६८८
१४.	लघुमहापुराण या लघुत्रिषष्टिलक्षण महापुराण	चन्द्र मुनि	——

१. महा, प्रस्तावना, पृ० २६, ४०

२. चरित्र या चरित नामधारी ग्रन्थ :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	आशाधर	सं० १२९२
२.	राममल्लाभ्युदय	उपाध्याय पद्मसुन्दर	——
३.	चउप्पन्नमहापुरिसचरिय	विमलमति या शीलाचार्य	सं० ९२५
४.	कहावलि	भद्रेश्वरसूरि	सं० १२४८
५.	चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (प्राकृत)	आम्र	सं० ११९०
६.	चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्त-चरितानि	अमरचन्द्रसूरि	१२३८ ई०
७.	महापुरुषचरित	मेरुतुंग	१३०६ ई०
८.	लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	मेघविजय उपाध्याय	१८वीं शती
९.	लघुत्रिषष्टि	सोमप्रभ	——
१०.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र	विमलसूरि	——
११.	,, ,, ,,	वज्रसेन	——
१२.	त्रिषष्टिशलाकापंचाशिका	कल्याण विजय के शिष्य	——
१३.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषविचार	अज्ञात	——

[द] तिरसठशलाकापुरुषों के स्वतंत्र पुराण : रामायण, महाभारत, कथाओं तथा तिरसठशलाकापुरुषों के पौराणिक महापुराणों या महाकाव्यों और उनके संक्षिप्त रूपों के पश्चात् स्वतंत्र रूप से तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों आदि के जीवनचरित भी बहुत लिखे गये। १०वीं से १८वीं शती ई० तक ये रचनाएँ निर्बाधगति से लिखी जाती रहीं। १२वीं और १३वीं शती ई० में ये रचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी गयीं, परन्तु आगे की शताब्दियों में भी इनका क्रम चलता रहा। महा पुराण में ऐसी रचनाओं को पुराण की संज्ञा दी गयी है।[1] तीर्थंकरों में सर्वाधिक रचनाएँ शान्तिनाथ पर हैं। द्वितीय स्थान पर २२वें नेमि तथा २३वें पार्श्वनाथ हैं। तृतीय क्रम में आदि जिन वृषभ, अष्टम चन्द्रप्रभ और अन्तिम तीर्थंकर पर चरित-काव्य प्रणीत हुए। वैसे भी तीर्थंकरों और अन्य महापुरुषों पर चरित्र ग्रन्थ लिखे जाने के छुटपुट उल्लेख मिलते हैं। ये रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश में लिखी गयी हैं। ये रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होती

---

१. महा, १।२२-२३

हैं, जिनका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। इनमें कतिपय महत्त्वपूर्ण 'पुराण' नामधारी पुराणों का उल्लेख निम्नवत् किया जा रहा है :

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम	रचना-काल
१.	वर्धमान पुराण	जिनसेन	तीसरी शती
२.	शान्तिनाथ पुराण	असग कवि	१०वीं शती
३.	महावीर पुराण	,,	९१० ई०
४.	चामुण्ड पुराण (कन्नड़)	चामुण्डराय	शक सं० ९८०
५.	पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९९९ ई०
६.	अनन्तनाथ पुराण	श्री जन्नाचार्य	सं० १२०९
७.	महावीर पुराण	भट्टारकसकलकीर्ति	१५वीं शती
८.	मल्लिनाथ पुराण	,,	,,
९.	शान्तिनाथ पुराण	भट्टारकश्रीभूषण	सं० १६५९
१०.	पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५–१६वीं शती
११.	जयकुमार पुराण	ब्र० कामराज	सं० १५५५
१२.	नेमिनाथ पुराण	ब्र० नेमिदत्त	सं० १५७५
१३.	पार्श्वनाथ पुराण	वादिचन्द्र	सं० १६६८
१४.	कर्णामृत पुराण	केशवसेन	सं० १६८८
१५.	पद्मनाभ पुराण	भट्टारकशुभचन्द्र	१७वीं शती
१६.	अजित पुराण	अरुणमणि	सं० १७१६
१७.	चन्द्रप्रभ पुराण	कवि अगासदेव	——
१८.	धर्मनाथ पुराण (कन्नड़)	कवि बाहुबलि	——
१९.	मल्लिनाथ पुराण (,,)	कवि नागचन्द्र	——
२०.	मुनिसुव्रत पुराण	ब्रह्म कृष्णदास	——
२१.	,,	भट्टाकर सुरेन्द्रकीर्ति	——
२२.	वागर्थ संग्रह पुराण	कवि परमेष्ठी	——
२३.	श्री पुराण	भट्टारक गुणभद्र	——

[घ] जैन पुराणों का रचना-काल

जब पारम्परिक पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था, उस समय उनके अनुकरण एवं साम्प्रदायिक प्रेरणा एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए जैनाचार्यों ने

पुराणों की रचना की। जैनाचार्यों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ सर्वप्रथम जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में ही जैन साहित्य का निर्माण किया। इसलिए समय-समय पर परिवर्तित परिस्थिति में जैन पुराणों की रचना हुई। पारम्परिक पुराणों का रचना काल अज्ञात है। किन्तु, जैन पुराणों के रचनाकाल तथा रचनाकारों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। इससे विभिन्न पुराणों की तिथि निर्धारण करने में सुविधा होती है।

जैन धर्म के प्रारम्भिक साहित्य प्राकृत में हैं। साधारण लोगों की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। इसी लिए जैनाचार्यों ने प्रारम्भ में प्राकृत में जैन पुराणों की रचना की है। प्राकृत के बाद जब संस्कृत भाषा का अधिक प्रभाव बढ़ा तो जैन विद्वान् इस क्षेत्र में भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने बड़ी संख्या में संस्कृत में पुराणों का प्रणयन किया। इसके उपरान्त जब अपभ्रंश भाषा लोकप्रिय हो गयी तो जैनाचार्यों ने अपभ्रंश में रचना की। इसके साथ ही साथ जैनों ने क्षेत्रीय आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये क्षेत्रीय भाषाओं में भी पुराणों का सृजन किया।

जैन पुराणों की रचना विभिन्न कालों में हुई है। प्राकृत (महाराष्ट्री) जैन पुराणों का रचना काल छठी शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक, संस्कृत पुराणों का समय सातवीं शती से अट्ठारहवीं शती तक और अपभ्रंश पुराणों की तिथि दशवीं शती से सोलहवीं शती है। प्रायः ये सभी जैन पुराण प्राकृत, संस्कृत या अपभ्रंश में से किसी एक ही भाषा में हैं, तथापि किसी-किसी प्राकृत रचना में कहीं-कहीं पर संस्कृत व अपभ्रंश के शब्द मिलते हैं और अपभ्रंश रचना में संस्कृत व प्राकृत एवं देशी भाषाओं के शब्द यत्र-तत्र मिलते हैं। इस प्रकार सभी जैन पुराणों का रचना काल लगभग छठी शती से अट्ठारहवीं शती तक निर्धारित किया गया है।[1]

आलोचित जैन पुराणों—पद्म पुराण, हरिवंश पुराण तथा महा पुराण (आदि पुराण तथा उत्तर पुराण)—की रचना तिथि सातवीं शती ई० से दशवीं शती ई० के मध्य है। इसलिये प्रस्तुत शोध की सीमा सातवीं शती ई० से दशवीं शती ई० है।

[ङ] जैन पुराणों की विशेषताएँ : पुराणकारों ने पुराणों को अपने-अपने काल के विश्वकोष बनाने का प्रयत्न किया है। उसमें न केवल कथानक मात्र हैं, अपितु प्रसंगानुसार धर्म व नीति के अतिरिक्त नाना कलाओं और विज्ञान का भी परिचय विस्तार के साथ प्रस्तुत है।

१. के० ऋषभ चन्द्र—वही, पृष्ठ ७२-७३

जैन पुराणों की कथावस्तु रामायण, महाभारत तथा तिरसठशलाकापुरुषों के जीवन-चरित के आधार पर निरूपित है। इसके अतिरिक्त अन्य धार्मिक पुरुषों के जीवन-चरित्र भी वर्णित हैं। जैन इतिहास द्वारा इन जीवन-चरित्रों का आदि स्रोत जैन-परम्परा में ही ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इनका उद्गम जैनागमों, भाष्यों और प्राचीन पुराणों में उपलब्ध है। चूँकि उक्त ग्रन्थों के पात्र जनसाधारण को मान्य थे, इसलिए इन कथाओं के माध्यम से जैनाचार्यों ने अपने धर्मोपदेश को सामान्य जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है।

जैन पुराणों में कथारस गौण और धर्म-भाव प्रधान है। जैन विद्वानों ने इस बात पर बल दिया है कि कर्म प्रधान है और कर्मानुसार लोगों को उसका फल प्राप्त होता है। जैन पुराणों में जहाँ एक ओर मूल कथा मिलती है, वहीं दूसरी ओर कथाओं को आगे बढ़ाने एवं उपदेश को समझाने के लिये अवान्तर कथाओं का भी वर्णन मिलता है।

इन पुराणों में सामान्यतः एक ही रचना-विन्यास मिलता है। चूँकि ये पुराण जनसाधारण को ध्यान में रखकर निर्मित किये गये थे इसलिये इनकी भाषा ऐसी है जिसको सभी पढ़ एवं समझ सकें। भाषा पूर्णतः सरल और प्रवाहमयी है। जैन पुराणों में पौराणिक तथा काव्यात्मक शैली का ऐसा सम्मिश्रण हो गया है जो कि पारम्परिक पुराणों में बहुत कम मिलता है। इन पुराणों में यह बात भी देखने को मिलती है कि इनमें अलौकिक तथा अप्राकृतिक तत्त्वों की प्रधानता नहीं है। जैन पुराणों में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप तथा अन्वय (सम्बन्ध) —ये आठ पुराण के विषय हैं ?[१]

आलोचित जैन पुराणों में अग्रांकित विशेषताएँ सामान्यतः सभी में मिलती हैं—प्रारम्भ में तीनों लोक, काल-चक्र तथा कुलकरों का प्रादुर्भाव वर्णित है। तदनन्तर जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र में वंश विस्तार करके वहाँ पर तीर्थों की स्थापना की गयी है। इसके बाद सम्बन्धित पुरुष का चरित्र-चित्रण किया गया है। जैन पुराणों में उनके पूर्व भवों का वर्णन उपलब्ध है। पूर्व-भव की कथाओं के अतिरिक्त प्रसंगानुसार अवान्तर कथाएँ और लोक-कथाओं का भी चित्रण उपलभ्य है। जैन पुराणों में कथाओं के साथ जैनाचार्यों के उपदेश भी मिलते हैं, जो कि कहीं पर संक्षिप्त

---

१. लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोऽन्वयम्।
पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि॥ महा ४।३

और कहीं पर विस्तृत हैं। उनमें जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन, सत्कर्मप्रवृत्ति तथा असत्कर्मनिवृत्ति, संयम, तप, त्याग, वैराग्य, ध्यान, योग, कर्म-सिद्धान्त की प्रबलता के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकरों की नगरी, माता-पिता का वैभव, कर्म, जन्म अतिशय, क्रीड़ा, शिक्षा, दीक्षा, तपस्या, प्रव्रज्या, परिषह उपसर्ग, केवल ज्ञान प्राप्ति, समवसरण, धर्मोपदेश, विहार, निर्वाह, इतिहास आदि का वर्णन संक्षेप या विस्तार के साथ मिलता है। सांस्कृतिक दृष्टि से इन तत्त्वों में भाषातत्त्व का विकास सामान्य जीवन का चित्रण तथा रीति-रिवाज के दर्शन होते हैं।[१]

जैन धर्म ने यद्यपि वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड का विरोध किया, किन्तु आगे चलकर जैन धर्म में भी ब्राह्मण आचार, व्रत, धर्म, संस्कार इत्यादि कितने ही धार्मिक कृत्य अपना लिये गये।[२]

पारम्परिक पुराणों में देश व काल दोनों ही दृष्टिकोण से अनिश्चितता पायी जाती है, किन्तु जैन पुराणों में काल निर्देश की प्रवृत्ति प्रायः अधिक स्पष्ट है और जैन पुराणों के प्रमुख रचयिता एवं उनके रचना काल का स्पष्ट उल्लेख भी है।

जैन मान्यताओं के अनुसार आचार्यों द्वारा वर्णित होने से जैन पुराण प्रमाण-भूत हैं।[३] इसी लिए महा पुराण में ही वर्णित है कि जो पुराण का अर्थ है वही धर्म का अर्थ होता है। वस्तुतः पुराण को पाँच प्रकार का वर्णित किया है– क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाएँ।[४] जैन पुराणों में चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष–पर बल दिया गया है और उन्हीं के कथन एवं श्रवण का उपदेश दिया गया है।[५] पुराण को पुण्य, मंगल, आयु, यशवर्धक, श्रेष्ठ और स्वर्ग-प्रदायक बताया गया है।[६] जैन पुराणों की पूजा से सुख, शान्ति, आरोग्य, मंगल की प्राप्ति और विघ्न विनाशक वर्णित है।[७] जैन पुराणों के अनुशीलन से

१. हरिवंश १।७१-७२ तथा के० ऋषभ चन्द्र–वही, पृ० ७२-७३
२. हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ८५-१२६
३. महा १।२०४
४. स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधाः विदुः।
क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम् ।। महा २।३८
५. महा ५४।७; पाण्डव १।४१
६. वही १।२०५
७. वही १।२०६

बुरे स्वप्न तथा अमंगल का नाश होकर अभीष्ट फल की प्राप्ति बतायी गयी है।[१] इसी लिए जैनाचार्यों ने जैन पुराणों के श्रवण एवं कथन पर विशेषतः बल दिया है।[२]

जिस प्रकार का विभाग एवं निर्धारित संख्या पारम्परिक पुराणों तथा उपपुराणों में प्राप्य है, वैसा जैन पुराणों में अप्राप्य है, परन्तु जो भी जैन पुराण साहित्य विद्यमान है, वह अपने ढंग का निराला एवं अनूठा है। जहाँ अन्य पुराणकार इतिवृत्त की यथार्थता को सुरक्षित नहीं रख सके हैं, वहाँ जैन पुराणकारों ने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है। इसलिए आज के निष्पक्ष विद्वानों का यह स्पष्टतः मत है कि हमें प्राक्कालीन भारतीय परिस्थिति को जानने के लिए जैन पुराणों एवं उनके कथा ग्रन्थों से जो साहाय्य उपलब्ध है वह अन्य पुराणों से नहीं। इतिहास का संचित भण्डार जैन पुराणों में मिलता है।[३]

[च] प्रस्तुत अनुसंधान की पृष्ठभूमि एवं योजना : स्पष्ट है कि जैन पुराणों के प्रणयन का सूत्रपात साम्प्रदायिक आनन्द तथा आवश्यकताओं की प्रेरणा में हुआ था। ऊपर यह वर्णित है कि पुराण शब्द की जो व्याख्या पारम्परिक पुराण देते हैं लगभग वही व्याख्या जैन पुराणों में भी प्राप्य है। इस प्रकार जैन पुराणों की रचना की मौलिक प्रेरणा पारम्परिक पुराणों के लोकप्रियता एवं अत्यधिक प्रचलन के कारण मिली थी, किन्तु यह समानता मूल में दिखायी देती है। लेकिन विस्तार की दृष्टि से जैन पुराण अपने सम्प्रदाय के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने ग्रन्थों में निःसृत किये हैं।

पारम्परिक पुराणों का यह उद्देश्य था कि जटिल और दुरूह धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को सरल भाषा एवं शैली द्वारा जनसाधारण में प्रचलित किया जाये। जैन पुराणों का भी यही उद्देश्य प्रदर्शित होता है। 'पुराण' शब्द का प्रयोग इन्होंने मात्र आकर्षण के लिए प्रयुक्त किया था—ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः इनके वर्णनों में जैन धर्म और दर्शन के दुरूह सिद्धान्त सरल शैली में पिरोये गये हैं। इनके कथानकों, वर्णनों एवं विवरणों में धार्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों के अतिरिक्त ऐसे अन्य सांस्कृतिक तत्त्व भी मिल जाते हैं, जिसके आधार पर तत्कालीन भारतीय जीवन की सांस्कृतिक रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

---

१. महा १।२०७

२. हरिवंश १।७०

३. फूलचन्द्र—जैन पुराण साहित्य, श्रमण, १९५३ वर्ष ४, अंक ७-८, पृष्ठ ३६ तथा महा, प्रस्तावना, पृ० २०

जैसा कि उपर्युक्त अनुच्छेदों में उल्लेख किया गया है कि गुप्तोत्तर काल में जैन पुराणों की संरचना की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसमें किसी विशेष सीमा एवं निश्चित विराम के लिये अवकाश नहीं था। पुराणनामधारी अनेक जैन ग्रन्थ प्रकाशन एवं प्रचलन में आये। कुछेक ग्रन्थों को पुराण संज्ञा द्वारा अभिहित नहीं किया गया है। इन अनेक ग्रन्थों में कतिपय पहले के हैं और कुछ बाद के। कुछ के रचना काल की अवधि सातवीं से दसवीं शती ई० का अन्तर्वर्ती काल है। अन्य पुराणों का काल इस अवधि के उपरान्त निर्धारित होता है। ऐसी स्थिति में इन दीर्घकालिक रचित पुराणों में मात्र उन्हीं पुराणों को समीक्षा का विषय बनाना उचित है जो भारतीय इतिहास और संस्कृति के उस स्तर के अन्तर्गत आते हैं, जिसे सातवीं से दसवीं शती ई० का कहा जाता है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के गठन में इस अवधि का बड़ा ही महत्त्व है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनय विषयक गतिशीलता में इस कालावधि का विशेष योगदान रहा है। इस अवधि की मूलभूत प्रथाएँ एवं परम्पराएँ परिवर्धन एवं संशोधन का विषय बनी थीं। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध की योजना में केवल उन्हीं जैन पुराणों के स्थलों को समीक्षा का विषय बनाया गया है, जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है और जो अपेक्षाकृत अन्य जैन पुराणों के पूर्ववर्ती हैं। जैसाकि विवेचित अध्यायों की योजना एवं परिशीलन से स्पष्ट हो जायेगा कि इन पुराणों के स्थल भारत के तत्कालीन सांस्कृतिक इतिहास का संतोषजनक कलेवर निर्मित कर सकते हैं। हमारे आलोचित जैन पुराण मूलतः तीन हैं। प्रथम, रविषेण कृत पद्म पुराण, इसकी तिथि वि० सं० ७३३ अर्थात् ६७७ ई०, द्वितीय, जिनसेन द्वारा विरचित हरिवंश पुराण, जिसकी तिथि शक सं० ७०५ अर्थात् ७८३ ई० है और तृतीय, महा पुराण है। महा पुराण के दो भाग हैं—आदि पुराण और उत्तर पुराण। आदि पुराण के दो खण्ड हैं—प्रथम खण्ड में एक से पच्चीस और द्वितीय खण्ड में छब्बीस से सैंतालिस पर्व हैं। जिनसेन ने एक से बयालिस पर्व एवं तिरालिसवें पर्व के तीन श्लोकों की रचना की है। इसके द्वितीय भाग उत्तर पुराण को जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने (तिरालिसवें पर्व के चौथे श्लोक से तिहत्तर पर्व तक) लिखा है। आदि पुराण और उत्तर पुराण मिलकर महा पुराण बनते हैं। जिनसेन का समय सातवीं शती ई० का अन्तिम भाग और गुणभद्र का समय दसवीं शती ई० का प्रथम भाग है। यह सुविदित एवं सुसम्मत है कि हमारे आलोचित जैन पुराणों के विषयवस्तु को अपनाकर अनेक उत्तरवर्ती जैन पुराणों का सृजन हुआ है। हमारे आलोचित पुराण अपने क्षेत्र के प्राचीन तथा आधारभूत पुराण हैं। इस दृष्टि में आलोच्य पुराण स्रोतभूत एवं प्रमुख हैं और इस कोटि के अनुवर्ती पुराण केवल अंगीभूत ठहरते हैं। इनकी प्राचीनता इसलिए भी

सिद्ध हो जाती है कि इनकी भाषा शुद्ध संस्कृत है, जबकि कुछ अन्य जैन पुराण प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखे गये हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल संस्कृत में ही लिखे हुए—पद्म पुराण, हरिवंश पुराण तथा महा पुराण—जैन पुराणों को ही आलोचना का विषय बनाया गया है। उक्त पुराणों के आधार पर जो सामग्री उपलब्ध है, उसे अग्रलिखित अध्यायों में विभाजित किया गया है, जिससे तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है।

२

सामाजिक व्यवस्था

•

सामाजिक जीवन की दृष्टि से जैन पुराणों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। एक ओर इस सामग्री से मानव-सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक स्थिति की जानकारी पारम्परिक वर्णन के रूप में सुलभ होती है, दूसरी ओर मानव-सभ्यता और सामाजिक जीवन के विकास के विभिन्न चरणों का स्पष्टतः ज्ञान उपलब्ध होता है। इसके साथ ही साथ जैन पुराणकारों ने सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में धार्मिक मान्यताओं को भी यथास्थान अभिव्यक्त किया है। प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत उक्त सामग्री का विवेचन प्रस्तुत है।

[क] प्रारम्भिक स्वरूप एवं कुलकर परम्परा

१. भोगभूमि, कर्मभूमि तथा कुलकर परम्परा : जैन परम्परानुसार सृष्टि के आरम्भ में भोगभूमि थी। उसके समाप्त होने के बाद कर्मभूमि प्रारम्भ हुआ। भोगभूमि में जीवन पूर्णरूपेण भोगमय था। भोगभूमि में सभी वस्तुएँ

विभिन्न प्रकार के कल्पवृक्षों[1]—मद्याङ्ग, तूर्याङ्ग, विभूषाङ्ग, स्रगङ्ग (माल्याङ्ग), ज्योतिर्ङ्ग, दीपाङ्ग, गृहाङ्ग, भोजनाङ्ग, पात्राङ्ग तथा वस्त्राङ्ग—से प्राप्त होती थीं। ये चिरकाल तक भोगों को जीवनपर्यन्त भोगकर स्वर्ग जाते थे। इस युग में यौगलिक व्यवस्था थी। एक युगल जन्म लेता और वही अन्य युगल को जन्म देने के बाद समाप्त हो जाता था। इस प्रकार के अनेक युगल थे। कालान्तर में क्रम से कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे। उसी युग में क्रमशः चौदह कुलकर उत्पन्न हुए। जैन पुराणों में इनका वर्णन अधोलिखित है—प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमाङ्कर, क्षेमन्धर, सीमङ्कर, सीमन्धर, विपुलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित तथा नाभिराज।[2]

जैन मान्यतानुसार कुलकर एक सामाजिक संस्थापक थे। कुलकरों का भोग एवं त्याग के समन्वित जीवन को प्रतिपादित करना, जीवन मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता एवं नियमितता प्रदान करना, मनुष्य के नैतिक कर्मों का संकेत करना, क्रियाकलापों को नियन्त्रित करने के लिए अनुशासन की स्थापना करना, सामाजिक प्राणी के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना, कार्य-प्रणाली का मार्ग-दर्शन करना, शान्ति एवं संतुलन का प्रतिपादन करना, आजीविका, रीति, रिवाज एवं सामाजिक अर्हताओं की प्राप्ति का प्रतिपादन करना, सामाजिक गठन एवं सामूहिक क्रियाओं का नियन्त्रण करना तथा सामाजिक कल्याण करना; प्रमुख उद्देश्य था।[3]

जैन पुराणों के अनुसार स्त्री पुरुष के युग्म साथ-साथ उत्पन्न होते एवं एक साथ रह कर भोगों का उपभोग करते हुए आयु के अन्त में साथ ही साथ मृत्यु को

---

१. मद्यतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः।
भोजनापत्रवस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः॥ महा ३।३९; पद्म ३।६१

२. पद्म ३।३०-८८; हरिवंश ७।१०६-१७०; महा ३।२२-१६३
हरिवंश पुराण में अन्यत्र चौदह कुलकरों के नाम भिन्न-भिन्न प्राप्य हैं-कनक, कनकप्रभ, कनकराज, कनकध्वज, कनकपुङ्गव, नलिन, नलिनप्रभ, नलिनराज, नलिनध्वज नलिपुंगव, पद्मप्रभ, पद्मराज, पद्मध्वज और पद्मपुङ्गव (हरिवंश ६०।५५४-५५७)। महा पुराण के उत्तर पुराण में जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने सोलह कुलकर बताया है, जिनमें से हरिवंशपुराण के उक्त चौदह कुलकरों के अतिरिक्त पद्म और महापद्म को भी सोलह कुलकरों में सम्मिलित किया है (महा ७६।४६३-४६६)।

३. पद्म ३।३०-८८; हरिवंश ७।१०६-१७०, महा ३।२२-१६३

प्राप्त करते थे। इसे समीक्षा और विचार-विमर्श का विषय बनाया जा सकता है। ऐसी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि जैन पुराणों के उक्त स्त्री-पुरुष का युग्म (युगल) एक ही शरीर में, आधा स्त्री और पुरुष का रहा होगा, जो साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त करते थे। यह प्रभाव वैदिक धर्म का था। इस कथन की पुष्टि हेतु जैनेतर धर्मों में भी साक्ष्य मिलता है। वैदिक देवताओं में 'अश्विनीकुमार' का उल्लेख हुआ है। इनके एक ही शरीर में अश्विनी और कुमार देवता थे जिसे अश्विनीकुमार कहा गया है। पारम्परिक पुराणों में 'अर्द्धनारीश्वर' का भी वर्णन उपलब्ध है।

एक ही शरीर में आधा भाग पुरुष एवं आधा भाग स्त्री का हो सकता है। सम्भवतेया युग्म की यह अत्यन्त प्राचीन परम्परा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में किसी न किसी रूप में सुरक्षित मिल जाती है। हरिवंश पुराण में वर्णित है कि तेरहवें कुलकर प्रसेनजित के पूर्व युगल उत्पन्न होते थे। सर्वप्रथम मरुदेव ने अयुग्म—एक सन्तान प्रसेनजित को उत्पन्न किया।[1] हरिवंश पुराण का उक्त कथन सत्यता के अधिक निकट है। सम्भवतः यह कथन उसी विचार को द्योतित करता है, जैसी सम्भावना पूर्व व्यक्त की जा चुकी है।

यहाँ पर यह कहना असमीचीन न होगा कि जैन सिद्धान्तानुसार एक शरीर में एक ही आत्मा होती है। केवल वनस्पति-जीवों में सम्प्रतिष्ठित जीवों के शरीर के आश्रित अन्य जीव भी होते हैं। जैनों के अनेकात्मो-सिद्धान्त के कारण यौगलिक की समस्या का समाधान नहीं होता। यौगलिक कौन थे? इनकी उत्पत्ति और विकास कैसे हुआ? मानव की उत्पत्ति से इनका क्या सम्बन्ध था? क्या इनसे कोई नयी परम्परा प्रतिपादित होती है? समाज में इनका क्या स्थान था? इन प्रश्नों पर भविष्य में शोध की आवश्यकता है।

जैन पुराणों के कुलकरों को जैनेतर वैदिक धर्म के मन्वन्तरों (मनुओं) से समीकृत किया जा सकता है। ब्राह्मण धर्म में चौदह मन्वन्तर (मनुओं) का उल्लेख मिलता है। जिनमें से सात धर्म (सुगति) मनु तथा सात अधर्म (कुगति) मनु थे।[2] महा पुराण में भी इसी स्थिति का उल्लेख हुआ है। पहले पूर्ववर्ती सात

---

१. एकमेवासृजत्पुत्रं प्रसेनजितमग्र सः।
युग्मसृष्टेरिहैवोर्ध्वंपितो व्यपनिनीषया॥ हरिवंश ७।१६६

२. भागवत पुराण २।७।३६

कुलकरों के समय भोगभूमि की स्थिति थी, जिसमें माता-पिता संतान का सुख नहीं देख पाते थे और दूसरे उत्तरवर्ती सात कुलकरों के समय भोगभूमि एवं कर्मभूमि की स्थिति थी, जिसमें माता-पिता उनकी व्यवस्था के लिये चिन्तित होते थे।[1] महा पुराण में ही कुलकर को मनु कथित है। इनको प्रजा के जीवन के उपाय जानने से मनु, आर्य पुरुषों को कुल की भाँति इकट्ठा रहने का उपदेश देने से कुलकर, अनेक वंश स्थापित करने से कुलधर और युग के आदि में होने से युगादिपुरुष कहा गया है।[2] जैन धर्म में नाभिराज अन्तिम कुलकर या मनु थे। उन्होंने पूरी व्यवस्था को प्रतिपादित कर मनुष्यों को संयमित एवं अनुशासित रहने का उपदेश दिया था। उन्होंने बिना बोये उत्पन्न हुए धान्य, वृक्षों के फलों तथा इक्षुरस आदि क्षुधा शान्त करने का तथा मिट्टी का बर्तन बना कर उससे कार्य करने को कहा। इसी समय कर्मभूमि का आविर्भाव हुआ। इसी कर्मभूमि में कर्म के आधार पर फल की व्यवस्था प्रतिपादित किया। इसी समय नागरीय तथा कौटुम्बिकी व्यवस्था के साथ कृषि-कर्म भी प्रारम्भ हो गया था। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प जैसी कलाओं का जन्म भी इसी समय हुआ। जैन धर्म में इसी युग को 'कर्मभूमि' कहा गया है।[3]

२. कुल (परिवार) की महत्ता : प्राचीन सामाजिक व्यवस्था और संतुलन की प्रक्रिया के मूल में कुल अथवा परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रायः सभी संस्कृतियों और सभ्य देशों में प्रारम्भ से रहा है। इसका संकेत आलोचित जैन पुराणों में भी उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, महापुराण में कुल अथवा परिवार के नियामक के रूप में पिता को प्रतिष्ठित करते हुए उसे 'वंश-शुद्धि' का कारण माना गया है।[4] परम्परा के अनुसार भारतीय समाज के व्यवस्थापक मनु तथा मनु सम्बन्धी शृंखला में अन्य व्यवस्थापक माने गये हैं, जिन्हें पुराण 'कुलकर' की संज्ञा प्रदान करते हैं और उन्हें पिता के पद पर आसीन करते हैं।[5]

---

१. महा ३।६३-१६३, ३।२१०
२. वही ३।२११-२१२
३. वही ३।१६१-२०६; भागचन्द्र भास्कर—जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, नागपुर १६७७, पृ० ५
४. पितुरन्वयशुद्धिर्यातत्कुलं परिभाष्यते। महा ३६।८५
५. पद्म ३।८८

इस सन्दर्भ में महा पुराण ने कुलाचार का प्रसंग देते हुए इस बात पर बल दिया है कि कुल की मर्यादा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उसके सदस्यों पर है और यदि इस मर्यादा में किसी प्रकार का व्यवधान हुआ अथवा आचार की रक्षा नहीं हुई तो समस्त सम्पन्न क्रियायें विनाश को प्राप्त होती हैं।[1] आचार्य वीरसेन ने धवला-टीका में गोत्र, कुल, वंश तथा संतान को एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।[2]

जैन पुराणों में कुल की शुद्धि की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है और इस प्रकार वर्णित है कि यह तभी सम्भव है जबकि द्विज केवल कुल-स्त्री का सेवन करें और यह भी उल्लिखित है कि कुलाचार उसी स्थिति में निर्दोष रहता है, जबकि 'गोत्र-शुद्धि' की क्रिया साथ-साथ चलती है। इसी लिए कुलाङ्गनाएँ अपने पति के अनुरूप चलती थीं और पति को मर्यादित होने पर बल दिया गया है। यही कारण है कि पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक कहे गये हैं।[3] पं० फूलचन्द्र शास्त्री के कथनानुसार जैन धर्म में गोत्र का सम्बन्ध वर्ण-व्यवस्था के साथ न होकर प्राणी के जीवन से सम्बद्ध है और उसकी व्याप्ति चारों गतियों के जीवन में देखी जाती है।[4]

जैन पुराणों के उक्त निर्देश आधुनिक समाजशास्त्रीय विचारों के अधिकांशतः समस्तरीय हैं। इनके अनुसार परिवार वह प्राथमिक माध्यम है जो वैयक्तिक आचरण को सामाजिक-परिधि में ढालता है।[5] डॉ० पन्थारी नाथ प्रभु के मतानुसार समाज की व्यवस्था करने वाले और उसके प्रारम्भिक विचारकों ने भी परिवार को मानव-जीवन की व्यवस्था में उच्च स्थान दिया है।[6] जो नैतिक और सामाजिक क्रियाएँ परिवार में सम्पन्न होती हैं उनका सहज प्रभाव समाज पर पड़ता है और एतदनुसार ही समाज की गतिविधि का नियमन अथवा संचालन भी होता रहता है। समाजशास्त्री एफ० इंगेल्स के अनुसार परिवार वह सामाजिक इकाई है जिसमें युग-युगान्तर की परम्पराओं, भावनाओं तथा व्यवहार विषयक प्रथाओं का समावेश होता रहता है और परिवार के ही माध्यम से इन सभी तत्त्वों का उसके सदस्यों पर स्वाभाविक

१. महा ४०।१८१
२. द्रष्टव्य, फूलचन्द्र—वर्ण, जाति और धर्म, वाराणसी, १९६३, पृ० १४३
३. पद्म ८।११; हरिवंश १७।१६; महा, ६।५९
४. फूलचन्द्र—वही, पृ० १२३
५. आर० एम० मेक्लवर तथा सी० एच० पेज—सोसाइटी, लंदन, १९६२, अध्याय २
६. प्रभु—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन्, बम्बई, १९५४, पृ० १२५

प्रभाव पड़ता रहता है।[1] डॉ० पन्थारी नाथ प्रभु के मतानुसार यद्यपि आधुनिक युग में शैक्षणिक, आर्थिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं और इन परिवर्तनों के मूल में अन्य सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की प्रेरणा रही है, तथापि सामाजिक संरचना में आज के युग में भी परिवार के योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।[2] धर्मशास्त्रों में वर्णित पारिवारिक-शुद्धता की उदात्तता की तुलना किसी सीमा तक चीनी पारिवारिक जीवन के आदर्शों से कर सकते हैं।[3]

३. कुल (परिवार) का स्वरूप एवं संघटन : जैन पुराणों की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय संयुक्त-परिवार प्रणाली प्रचलित थी। उनके अनुसार परिवार वह संस्था है, जिसमें पति-पत्नी के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची सभी को आवश्यक और उचित स्थान उपलब्ध था।[4] ये जैन पुराणगत विचार यथार्थता के निकट इसलिए माने जा सकते हैं क्योंकि इनके समर्थक तत्कालीन अभिलेखीय-प्रमाण भी प्राप्य हैं। उदाहरणार्थ, मध्य भारत से उपलब्ध एक अभिलेख में स्पष्टतः उल्लिखित है कि कायस्थ रत्नसिंह के परिवार में पत्नी, एक पुत्र, दो बहू, पौत्र, एक पौत्री के अतिरिक्त अनेक अन्य सम्बन्धी भी विद्यमान थे।[5]

जैन पुराणों में दाम्पत्य-जीवन में यौन-सम्बन्ध ही आधारभूत नहीं था, अपितु धार्मिक और सामाजिक कार्यों पर सर्वाधिक बल दिया गया था, जो सुख-सम्पन्न जीवन के लिए आवश्यक माना जाता था।[6] जैन पुराणों की दृष्टि में पति और पत्नी दोनों ही परिवार के महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में मान्य थे। इसी लिए पद्म पुराण और महा पुराण के रचयिताओं ने पत्नी एवं पति को एक दूसरे का

---

१. इंगेल्स–द ओरिजिन ऑफ द फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी ऐण्ड द स्टेट, मास्को, १९५२, पृ० ९६

२. प्रभु–वही, पृ० १२५

३. ओल्गा लंग–चाइनिज़ फेमिली ऐण्ड सोसाइटी, लंदन १९४६, पृ० ९

४. पद्म ३१।२६-२७; हरिवंश ५०।९७; तुलनीय-अर्थशास्त्र २।१।१९-३४

५. मिराशी–इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ द कलचुरि चेदि इरा, नं० ९३, पंक्ति ११-१७ द्रष्टव्य, यादव–सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद १९७३ पृ० ६३

६. महा ६।५८-६३

आदर-सत्कार करने का निर्देश दिया है।[1] पारिवारिक कलह को रोकना दोनों का ही कर्त्तव्य था। कलह का कारण कभी तो पत्नी होती थी और कभी पति। परन्तु दोनों ही स्थितियों में सौमनस्य और सामञ्जस्य स्थापित करना उनका धर्म था।[2]

प्रसंगतः यहाँ उल्लेखनीय है कि प्राचीन संस्कृतियों में अन्यत्र भी संयुक्त परिवार के होने की सूचना उपलब्ध है। रोमन कानूनों से प्रतीत होता है कि पिता संयुक्त परिवार का स्वामी होता था।[3] अतएव वह परिवार के अन्य सदस्यों पर नियंत्रण भी रखता था।[4] किन्तु जैसा कि जाली के मतानुसार उत्तरकालीन स्तरों पर पिता की निरंकुशता पर नियंत्रण लाने की चेष्टा की गयी और इस चेष्टा का उद्देश्य था मात्र पारिवारिक संतुलन।[5]

प्रस्तुत विवेचन के संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जैन पुराणों के रचना-काल में संयुक्त परिवार की संस्था के विरुद्ध कुछेक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं।[6] किन्तु जैन पुराण इस प्रकार का स्पष्ट निर्देश नहीं देते हैं। अपितु जैसा कि अग्रिम अनुच्छेदों में वर्णन किया जायेगा कि इस प्रवृत्ति की आंशिक झलक अवश्य मिलता है।

सामान्यतया जैन पुराण सामाजिक व्यवस्था के आदर्श से प्रेरित थे। वे संयुक्त परिवार के पक्ष में चलते थे। पिता का कर्त्तव्य था कि वह गार्हस्थ्य उत्तर-दायित्व से मुक्त होने के पूर्व अपने वंश के अनुवर्ती संरक्षक पुत्र को सुयोग्य बनाये।[7] वह उसकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करता था। न केवल अध्यात्म के क्षेत्र में, अपितु पुत्र को लौकिक विद्याओं की शिक्षा उपलब्ध करने में भी वह तत्पर रहता था। इस संदर्भ में महा पुराण ने अर्थशास्त्र, संगीतशास्त्र, लक्षणशास्त्र, आयुर्वेद,

---

१. पद्म ६७।१५५; महा १६।६४-६५
२. पद्म ६६।४०-४१; महा १६।६४-६५ तुलनीय—आवश्यकचूर्णी, पृ० ५२६
३. जाली—आउट लाइन्स ऑफ एन हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू लॉ ऑफ पार्टिशन, इन्हेरीटेंस ऐण्ड एडाप्शन, कलकत्ता, १६८५, ८१-८३
४. पी० एम० एस० ऐयर—इवोल्युशन ऑफ हिन्दू मारल आइडियल्स, कलकत्ता, १६३५, पृ० ४२
५. जाली—वही, पृ० ८३
६. वही
७. महा ४।१३६-१४०

धनुर्वेद, अश्वविद्या, रत्नपरीक्षा, शस्त्रविद्या आदि विषयों पर विशेष बल दिया है।[1] जैन पुराणों ने पुत्र की उत्पत्ति पुण्य के प्रभाव से मानी है।[2] महा पुराण में पुत्र के लिए 'कुलभूषण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि तत्कालीन भारत के क्षेत्रीय विषमताओं, परम्पराओं तथा प्रथाओं का जैन पुराणों के वर्णनों पर प्रभाव पड़ा है अथवा नहीं ? इन पुराणों के रचनाकाल में भारतीय समाज की गतिविधि का नियमन जीमूतवाहन एवं विज्ञानेश्वर जैसे व्यवस्थापक कर रहे थे, जिन्हें क्रमशः आर्य और द्राविड़ प्रथाओं का प्रतिनिधि माना जाता है। जे०डी०एच० डैरेट के मतानुसार जीमूतवाहन ने पिता को पारिवारिक संस्था एवं सम्पत्ति का निर्विरोध स्वामी स्वीकार किया है और विज्ञानेश्वर ने उसे केवल प्रबन्धक माना है। यही कारण है कि विज्ञानेश्वर ने यह भी व्यवस्था की है कि पुत्र पिता के जीवन काल में ही अपनी सम्पत्ति का विभाजन कर सकता था।[4] जैन पुराणों में से महा पुराण में वर्णित है कि विवाहोपरान्त वर्णलाभ क्रिया (संस्कार) द्वारा योग्य पुत्र अपना परिवार पृथक् बनाते थे और पिता से अपनी सम्पत्ति का विभाजन भी करवाते थे।[5] किन्तु यहाँ पर विचारणीय है कि महा पुराण का उक्त उल्लेख द्राविड़ परम्परा का द्योतक है अथवा नहीं ? क्योंकि जैसा कि हम पूर्व ही संकेत कर चुके हैं कि विज्ञानेश्वर द्राविड़ प्रथाओं के प्रतिनिधि माने गये हैं। महा पुराण के उक्त संदर्भ से ज्ञात होता है कि पुराणकार ने जैन धर्म में प्राचीन द्राविड़ परम्परा का भी समावेश किया है।

द्वितीय विचारणीय प्रश्न यह है कि परिवार में पुत्री को कैसा स्थान दिया गया था ? तत्कालीन जैनेतर ग्रन्थों से विदित होता है कि इनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उदाहरणार्थ; कथासरित्सागर के अनुसार पारिवारिक जीवन में पुत्रियाँ अवांछनीय थीं।[6] किन्तु जैन पुराणों में इसके विपरीत वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ; महा पुराण में जहाँ पिता के लिए पुत्रों को विभिन्न प्रकार की विद्याओं

---

१. महा १६।१०५-१२५
२. हरिवंश ८।१०४, २१।८-६; महा ५४।४६; पद्म ८।१५७
३. महा ५४।६३
४. डैरेट—रिलिजन, लॉ ऐण्ड स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लन्दन, १६६८, पृ० ४११
५. महा ३८।१३८-१४१
६. कथासरित्सागर २८।६

एवं कलाओं की शिक्षा उपलब्ध कराना वांछनीय माना है, वहीं पुत्रियों को भी उक्त विद्याओं को और इनमें विशेषतया अक्षर विद्या तथा अंकविद्या सिखाने का निर्देश दिया है।[1] हरिवंश पुराण में कन्याओं को शास्त्रों में पारंगत तथा प्रतियोगिता में विजयी दिखाया गया है।[2] उसी प्रकार जैन सूत्रों में भी वर्णन प्राप्य है कि पिता ईश्वर के तुल्य है और इस प्रसंग में इनका निर्देश है कि प्रातःकाल उठकर न केवल पुत्र, अपितु पुत्रियाँ भी पिता की चरण-वन्दना करें।[3]

४. पारिवारिक परिधि : आयाम एवं सीमा : प्राचीन भारतीय समाज के जिज्ञासु आधुनिक चिन्तकों ने इस प्रश्न पर भी विचार करने का प्रयास किया है कि पारिवारिक परिधि का संकोच अथवा विस्तार किस सीमा तक था? जाली ने कृत्यकल्पतरु, मिताक्षरा और दायभाग के प्रसंगों एवं विधि निषेधों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि तत्कालीन पारिवारिक परिधि संकुचित नहीं थी।[4] जैन पुराणों के विवरण इनके समानान्तर चलते हैं। महा पुराण में स्त्रियों के लिए शत-पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद,[5] भरत के सौ पुत्रों का उल्लेख[6], मरुदेवी के सौ पुत्रों का प्रसंग, वज्रसंघ को अपने अट्ठानवे पुत्रों का पिता होना[7] कल्पना का अतिरञ्जन अवश्य है, किन्तु इनसे व्यंजना यही निकलती है कि इनका मन्तव्य पारिवारिक परिधि के विस्तार से है। इस प्रकार की सूचनाएँ अन्य प्राचीन संस्कृतियों के साक्ष्यों से भी प्राप्य हैं, जिसमें प्राचीन चीन के आदर्शों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।[8]

---

१. महा १६।१०५-११७; पद्म १५।२०, २४।५

२. हरिवंश २१।१३३

३. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० १६

४. जाली—वही, पृ० ८१, ८३, १६८

५. सुखं प्रसूष्व पुत्राणां शतमित्यधिकोत्सवः। महा १५।४५

६. महा ३७।२१

७. वही ८।४६

८. एन०सी० सेनगुप्ता—इवोल्युशन ऑफ ऐंशेण्ट इण्डियन लॉ, कलकत्ता, १९५३, पृ० २१०

[ख] वर्ण-व्यवस्था

१. **वर्ण-व्यवस्था और जैन मान्यता :** जैन पुराणकालीन समाज छोटे-छोटे वर्गों में बँटा हुआ था। आदर्श रूप में उन दिनों भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक मान्यताएँ प्रचलित थीं। वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक मान्यताओं का प्रभाव सामाजिक जीवन के रग-रग में इस प्रकार प्रवाहित था कि इस व्यवस्था का घोर-विरोध करने वाले जैन धर्म के अनुयायी भी इनके प्रभाव से अछूते न रह सके। दक्षिण भारत में यह प्रभाव सर्वाधिक पड़ा। इसका प्रभाव वहाँ उत्पन्न होने वाले जैनाचार्यों के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। आचार्य जिनसेन ने उन सभी वैदिक नियमोपनियमों का जैनीकरण कर उन पर जैन धर्म की छाप लगा दी थी। जिन्हें वैदिक प्रभाव से प्रभावित होने के उपरान्त भी जैन समाज मानने लगा था।[1] जैनाचार्य ने वैदिक साहित्य तथा सामाजिक वातावरण के प्रभाव के कारण अनेक वैदिक मान्यताओं एवं विचारों का जैनीकरण करने का प्रयत्न किया। मूल में जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था तथा उसके आधार पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता था। सैद्धान्तिक ग्रन्थों में सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी मन्तव्यों का वर्णन नहीं है। पौराणिक अनुश्रुति भी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था का आधार नहीं मानती। अनुश्रुति के अनुसार सभ्यता के प्रारम्भिक चरण (कर्मभूमि) में ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प तथा वाणिज्य का उपदेश दिया। उसी आधार पर सामाजिक व्यवस्था निर्मित हुई। लोगों ने स्वेच्छा से अपना-अपना कार्य धारण कर लिया और कोई कार्य छोटा-बड़ा नहीं समझा गया। इसी तरह किसी कार्य के करने में धर्म ने भी व्यवधान उपस्थित नहीं किया। कालान्तर के साहित्य में यह अनुश्रुति तो सुरक्षित रही, तथापि उसके साथ में वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा। सातवीं शती के जयसिंहनन्दि ने चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की लौकिक तथा श्रौत-स्मार्त्त मान्यताओं और परम्पराओं का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। पद्म पुराण के रचयिता रविषेणाचार्य (६७६ ई०) ने पूर्वोक्त अनुश्रुति तो सुरक्षित रखी, किन्तु उसके साथ वर्णों का सम्बन्ध संयुक्त कर दिया। हरिवंश पुराण में जिनसेन (७८३ ई०) ने रविषेणाचार्य के कथन को ही अन्य शब्दों में दोहराया है। उक्त आचार्यों द्वारा इस प्रकार की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन करते रहने के बाद भी उसके

---

१. गोकुल चन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर १९६७, पृ० ५९

साथ चातुर्वर्ण्य का सम्बन्ध जुड़ गया और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन और श्रौत-स्मार्त परम्पराएँ जैन समाज और जैन चिन्तकों को प्रभावित करती गयीं। एक शताब्दी व्यतीत होते-होते यह प्रभाव जैन जनमानस में इस तरह पैठ गया कि नवीं शती में जिनसेन ने उन सब मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया और उन पर जैन धर्म की मुहर भी लगा दी। महा पुराण में पूर्वोक्त अनुश्रुति को सुरक्षित रखने के बाद भी ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति चार वर्णों के पृथक्-पृथक् कार्य, उनके सामाजिक एवं धार्मिक अधिकार, चार आश्रमों और संस्कारों (तिरपन गर्भान्वय, अड़तालीस दीक्षान्वय एवं आठ कर्त्रन्वय क्रियाओं) का विस्तारशः वर्णन किया है।[1]

२. **वर्ण-व्यवस्था और उसका स्वरूप :** वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जैन पुराणों में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्य होती है, जिनका उल्लेख निम्नांकित दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है :

१. पुराणकारों ने वर्ण-व्यवस्था विषयक मान्यताओं को निबद्ध किया है।

२. श्रौत और स्मार्त परम्परा में वर्णित वर्ण-व्यवस्था विषयक मान्यताओं का भी समावेश किया है।

३. पुराणकाल में सामाजिक जीवन में वर्ण-व्यवस्था की क्या स्थिति थी, इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

४. श्रौत-स्मार्त परम्परा में मान्य वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्तों का प्रभाव जैन धर्मानुयायियों पर किस प्रकार हुआ और उसके परिणामस्वरूप उन मान्यताओं का पुराणकारों ने किस प्रकार जैनीकरण किया; इस सम्बन्ध में भी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

जैन पुराणों में उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण तत्कालीन अन्य साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

जैन पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि काल में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। लोग इच्छानुकूल व्यवसाय किया करते थे। किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। पद्म पुराण तथा हरिवंश पुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव ने सुख-समृद्धि के लिए समाज में सुव्यवस्था लाने की चेष्टा की थी और इस व्यवस्था के फलस्वरूप

---

१. गोकुल चन्द्र जैन—वही, पृ० ६८-७०

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये तीन वर्ण उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने जिन पुरुषों को विपत्तिग्रस्त मनुष्यों के रक्षार्थ नियुक्त किया था, वे अपने गुणों के कारण लोक में 'क्षत्रिय' नाम से प्रसिद्ध हुए; जिनको वाणिज्य, खेती एवं पशु-पालन आदि के व्यवसाय में लगाया था, वे लोक में 'वैश्य' कहलाये। जो नीच कर्म करते थे तथा शास्त्र से दूर भागते थे, उन्हें 'शूद्र' की संज्ञा प्रदान की गयी।[1] महा पुराण में भी उक्त विचार व्यक्त किया गया है।[2] परन्तु इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे 'क्षत्रिय' हुए; जो खेती, वाणिज्य एवं पशुपालन आदि के द्वारा जीविका करते थे वे 'वैश्य' कहलाये और जो उन (क्षत्रिय एवं वैश्य) की सेवा-शुश्रूषा करते थे; उन्हें 'शूद्र' की संज्ञा दी गयी।[3] ऐसी सम्भावना है कि उस समय भाड़े के सैनिकों की अत्यधिक आवश्यकता थी और यह क्षत्रियों की उत्पत्ति को द्योतित करता है।

उक्त पुराणों में क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं पर जैन पुराणों के वर्णन वैदिक परम्परा से प्रभावित पारम्परिक धर्मशास्त्र एवं पुराणों के सर्वथा अनुकूल हैं अर्थात् ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य तथा पैर से शूद्र—इन चार वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[4] महा पुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव ने अपनी दोनों भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की सृष्टि की, क्योंकि हाथों के हथियार से वे निर्बलों की सबलों से रक्षा करते थे, इसलिए वे क्षत्रिय कहलाये। अपने उरुओं से यात्रा दिखलाकर वैश्यों की रचना की, क्योंकि वे जल, स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा कर व्यापार द्वारा आजीविका चलाते थे। सदैव नीच वृत्ति में तत्पर रहने के कारण शूद्रों की रचना पैर से किया क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा-शुश्रूषा करना शूद्रों का कर्म था। ऋषभदेव के पुत्र भरत मुख से शास्त्रों का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों का सृजन करेंगे।[5] जैन

---

१. पद्म ३।२५६-२५८; हरिवंश ९।३९

२. महा १६।१८३

३. वही १६।१८४-१८५

४. ऋग्वेद १०।९०।१२; महाभारत, पूना, १९३२, अध्याय ३९६ श्लोक ५-६; मनुस्मृति १।३१; एस० एन० राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद १९६८, पृ० १५२

५. महा १६।२४३-२४६; पद्म ५।१९४

पुराणों में ब्राह्मणों की उत्पत्ति के विषय में उल्लिखित है कि चक्रवर्ती भरत ने एक बार अपने यहाँ दानादि के लिए श्रावकों को आमंत्रित किया। राजभवन के आँगन में हरी-हरी घास उगी थी। जीवहत्या के भय से जो व्रती श्रावक भरत के पास नहीं गये और बाहर खड़े रहे; उन्हें उन्होंने ब्राह्मण घोषित किया।[1] यहाँ उल्लेखनीय है कि वर्णन विषयक उक्त समता के होते हुए भी जैन सम्प्रदाय के मत में इनका कर्ममूलक सिद्धान्त अधिक मान्य था। यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के विभाजन का आधार मूलतः कर्म ही माना है।[2] इसी निर्देश को अधिक स्पष्ट करते हुए पद्म पुराण में वर्णित है कि कोई भी जाति निन्दनीय नहीं है। वस्तुतः कल्याण का कारण गुण है। यदि चाण्डाल भी व्रत में रत है, तो वह भी ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।[3] यही विचार गुणभद्र ने व्यक्त किया है कि मनुष्यों में जाति कृत भेद नहीं होता है।[4]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जैन पुराणों के रचना काल में विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जो अराजकता उत्पन्न हुई थी और जिसके फलस्वरूप सामाजिक संतुलन आघात-प्रतिघात का विषय बन रहा था[5], उनके कारण जैन आचार्यों को भी विभिन्न वर्णों के निर्धारित आजीविका में आबद्ध एवं सीमित होने के लिए विवश होना पड़ा था। महा पुराण के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों को अपने-अपने वर्णानुसार निर्धारित आजीविका के अतिरिक्त अन्य आजीविका को ग्रहण

---

१. महा ३८।७-२०; हरिवंश ११।१०५-१०७; पद्म ५।१९५

२. उत्तराध्ययन सूत्र २५।३३

३. न जातिगर्हिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवो ब्राह्मणं विदुः॥ पद्म ११।२०३
तुलनीय—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता ४।१३
महाभारत, शान्तिपर्व १८९।४-५; वराङ्गचरितम् २५।११

४. नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां···। महा ७४।४९२

५. मत्स्य पुराण, पृ० ३४५; राजतरंगिणी १।३१२-३१७; मन्दसोर शिलास्तम्भ लेख (फ्लीट—सी० आई० आई०, भाग ३, पृ० १४६, १।३); जी० आर० शर्मा—एक्सवेशन्स ऐट कौशाम्बी, पृ० ४६–५४; देवी भागवत ४।८।३१; हर्षचरित, अध्याय ३; द्रष्टव्य, यादव—सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, १९७३, पृ० ४-५

करने का निषेध है।[१] इसी कथन को और स्पष्ट करते हुए महा पुराण में अन्य प्रसंग में वर्णित है कि प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, किन्तु कालान्तर में चार वर्णों में विभक्त वर्ण-व्यवस्था प्रकाश में आयी।[२] प्रसंगानन्तर में महा पुराण तथा पद्म पुराण ने वर्ण विभाजन का आधार औचित्य-सापेक्ष माना है। इनके कथनानुसार व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायोचित रीति से धनोपार्जन करने से वैश्य और इनसे विपरीत वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाने लगे।[३]

जैन पुराणों के रचना काल में सामान्यतया वर्ण-व्यवस्था का ह्रास हो रहा था, जिसके निदर्शन साक्ष्य तत्कालीन अभिलेखों एवं ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। सातवीं-आठवीं शती के वर्मन् राजा वर्णाश्रम को सुधारने का प्रयास कर रहे थे।[४] आठवीं शती के एक गुर्जर प्रतिहार अभिलेख में इस प्रकार का उल्लेख आया है कि कलियुग के प्रभाव के कारण वर्णाश्रम-धर्म निर्धारित व्यवस्था से च्युत् हो रहा था।[५] नवीं शती ई० के सामाजिक स्वरूप का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने ऐसा अभिव्यञ्जित किया है कि वर्ण और आश्रम धर्मों में व्यवस्था का सर्वथा अभाव हो गया था।[६] तिलकमंजरी के प्रणेता धर्मपाल ने अपने युग के धर्मविप्लव का स्पष्ट उल्लेख किया है।[७] दशकुमारचरित में दण्डी ने चातुर्वर्ण को कलियुग में अव्यवस्थित वर्णित किया है।[८] ये सभी साक्ष्य तत्कालीन सामाजिक विपर्यय की ओर संकेत करते हैं।

इसके साथ ही साथ यह यथार्थ है कि गुप्तकाल-के बाद उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण से राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी

---

१. महा १६।१८७
२. वही ३८।४५
३. ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रान्यस्वृत्तिसंश्रयात्॥ महा ३८।४६;
पद्म ११।२०१-२०२
४. आर० बसाक—हिस्ट्री ऑफ नार्थ इस्टर्न इण्डिया, १९३४, पृ० ३१४
५. एपीग्राफिका इण्डिका; भाग २३, १९३५-३६; पृ० १५०
६. ब्रह्मसूत्र—शांकरभाष्यम्, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पृ० २७३
७. तिलकमंजरी, पृ० ३४८-४९
८. दशकुमारचरित्र, पृ० १६०

थी।[1] गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त तथा विदेशी आक्रमणों के सामान्तर 'चातुर्वर्ण' के सुदृढ़ीकरण और सशक्त बनाने की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, वह इस समयावधि में निरन्तर चलती रही। नालन्दा से उपलब्ध एक मुहर अभिलेख में मौखरि वंश के नरेश महाराज हरिवर्मा के विषय में वर्णित है कि उन्होंने अपने राज्य में वर्ण-व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण का प्रयास किया था।[2] सातवीं शती ई० के एक ताम्रपत्र अभिलेख में बलभी नरेश विषयक उल्लेखानुसार वर्णाश्रम को प्रतिष्ठित कर उन्होंने मनु का समस्तरीय सम्मान प्राप्त किया था।[3] आठवीं शती ई० के उड़ीसा से प्राप्त एक अभिलेख में उल्लेख है कि क्षेमङ्कर वर्ण और आश्रम के कर्त्तव्यों को व्यवस्थित करने में व्यस्त रहते थे।[4] ग्यारहवीं शती के धनपाल ने अपने ग्रन्थ तिलकमंजरी में सार्वभौम महामेघवाहन को वर्णाश्रम व्यवस्थित करते हुए प्रदर्शित किया है।[5] नागपुर के पाषाण-अभिलेख में मालवा नरेश लक्ष्मणदेव (सन् १०८०-११०४ ई०) को वैवस्वत मनु का पुत्र बताया है।[6] मानसोल्लास में सोमेश्वर राज्य की व्यवस्था को सुधारने के लिए 'वर्णाधिकारी, नामक पदाधिकारी' की नियुक्ति का वर्णन है।[7] इसी प्रकार दशकुमारचरित में दण्डी के कथनानुसार राजा पुष्पवर्मा ने मनु की व्यवस्था के अनुकूल चारों वर्णों को सुव्यवस्थित किया था।[8]

उक्त प्रसंगों के आलोक में कतिपय विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि जैन पुराणों के रचना काल में जाति-प्रथा विषयक जैनियों के विचार पारम्परिक हिन्दू-चिन्तकों के विचारों की अपेक्षा अधिक उदार थे अर्थात् उन्होंने जन्म की

---

१. मन्दसोर स्तम्भलेख (फ्लीट—सी० आई० आई०, भाग ३, पृ० १४६), १।३१, जी० आर० शर्मा—एक्सवेशन्स ऐट कौशाम्बी, इलाहाबाद, १९५७-५८, पृ० ४६,५४; देवी भागवत ४।८।३१; खोह ताम्रपत्र अभिलेख (गु० सं०२०६), महाराज संक्षोभ (फ्लीट—सी० आई० आई०, भाग ३, सं० २५), १।१०

२. एपीग्राफिका इण्डिका; भाग २१, पृ० ७४

३. कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड इंस्क्रिप्शन, नं० ५, पृ० ५०

४. एपीग्राफिका इण्डिका, भाग १५, पृ० ३

५. तिलकमंजरी, पृ० ११

६. एपीग्राफिका इण्डिका, भाग २, पृ० १९२

७. मानसोल्लास, भाग २, पृ० १०४

८. दशकुमारचरित, काले संस्करण, पृ० १८८

अपेक्षा गुण पर अधिक बल दिया था[1] और अन्य कुछ विद्वानों के मतानुसार इनमें अधिकांशतः उन्हीं विचारों की झाँकी मिलती है, जो पारम्परिक हिन्दू-चिन्तकों के विचार हैं।[2] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कहीं तत्कालीन जैन विचारकों के विधि-निषेधों में उदारता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वहाँ वे मूलतः जैन समाज के मौलिक प्रारम्भिक विचारों की उद्भावना करते हैं और जहाँ कहीं इनके विचारों में पृथक् पक्ष का परिचय प्राप्त होता है, वहाँ—जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं—तत्कालीन विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों का परिणाम माना जा सकता है।

३. वर्ण-व्यवस्था के नियामक उपादान : जैन महा पुराण के वर्णन से ज्ञात होता है कि जैन आचार्यों को यह मान्य था कि वर्ण सीमा में ही विवाह सम्पन्न करना एक ऐसा प्रतिबन्ध है, जिसके कारण वर्ण-व्यवस्था सुरक्षित रह सकती है और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक सन्तुलन भी व्यवस्थित रह सकता है।[3] प्रस्तुत जैन पुराण के उल्लेखों से यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि इसकी रचना काल में वर्ण-धर्म का व्यतिक्रम हो रहा था, लोग अपने से पृथक् वर्ण की आजीविका ग्रहण करने लगे थे और इसके अतिरिक्त इस व्यतिक्रम प्रधान प्रवृत्ति पर सामाजिक नियन्त्रण का यथोचित प्रभाव नहीं पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में राज्य की ओर से ऐसे कानून निर्मित किये गये, जिनके अनुसार अपनी आजीविका के प्रत्यागी व्यक्ति को दण्ड का भागी होना पड़ता था।[4] पद्म पुराण में भी कुल धर्म पर विशेष बल दिया गया है।[5] इस बात का उल्लेख पूर्व ही कर चुके हैं कि तत्कालीन अभिलेखों में कतिपय महत्वपूर्ण शासकों को वर्ण-व्यवस्था के नियमन का श्रेय प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त जैनेतर साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि पारम्परिक हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था के नियन्त्रणार्थ एक अन्य प्रवृत्ति क्रियाशील थी। इन्होंने पार्थिव वर्ण-व्यवस्था की एक अलौकिक एवं दैवी प्रतिच्छाया प्रदर्शित की, जिसमें अग्नि तथा बृहस्पति को ब्राह्मण

---

१. कथाकोष प्रकरण, पृ० १२०; द्रष्टव्य, यादव—वही, पृ० ८

२. के० पी० जैन—जैन एण्टीक्वटी, भाग १३,१९४७, अंक १

३. महा १६।२४७

४. स्वामिमां वृत्तिमुल्लङ्घ्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा॥ महा १६।२४८

५. पद्म २१।१५६, २२।२८

का; इन्द्र, वरुण एवं यम को क्षत्रिय का; वसु, विश्वदेव एवं मरुत को वैश्यों का और ऊषा को शूद्र का प्रतिनिधि प्रस्तावित किया है।[1]

४. विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति एवं कर्त्तव्य : जैन पुराणों के अध्ययन से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों की सामाजिक स्थिति एवं उनके कर्त्तव्यों पर प्रकाश पड़ता है। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव जैनाचार्यों पर भी पड़ा है। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। उक्त वर्णों के विषय में विस्तृत विवरण अधोलिखित अनुच्छेदों में किया गया है।

[अ] **ब्राह्मण :** जैन ग्रन्थों ने सामान्यतया ब्राह्मण के लिए द्विज और ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु प्रसंगतः इनमें विप्र, भूदेव, श्रोतिए, पुरोहित, देवभोगी, भौहूतिक, वाडव, उपाध्याय तथा त्रिवेदी जैसे शब्द भी प्राप्त होते हैं।[2] द्विज शब्द की इनकी परिभाषा पारम्परिक ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषा के समान चलती है। महा पुराण के अनुसार वह व्यक्ति द्विजन्मा (द्विज) है, जिसका जन्म एक बार माता के गर्भ से और दूसरी बार उसकी क्रिया (पारम्परिक ग्रन्थों में वर्णित संस्कार) से होता है। प्रस्तुत पुराण इस बात पर भी बल देता है कि जिसमें क्रिया और मंत्र दोनों का अभाव है, वह मात्र नामधारक द्विज है।[3] इस पुराण ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य पर बल देते हुए वर्णित किया है कि चारों वर्णों में मौलिक भेद इसलिए नहीं है कि गर्भधारण क्रिया सभी के प्रसंग में समान है। इनमें भेद का कारण वस्तुतः उनके निर्धारित कर्त्तव्य हैं, जिसे इस पुराण ने 'जातिकृत' भेद की संज्ञा प्रदत्त की है। इनमें स्वाभाविक भेद का अभाव है, जिसे आलोचित पुराण ने 'आकृति' भेद का अभिधान दिया है।[4] डॉ० जगदीश चन्द्र जैन के मतानुसार जैन सूत्रों में

---

१. काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, खण्ड १, पूना, १९७४, पृ० ४२; वायुपुराण ३०।६७; ब्रह्माण्ड पुराण २।१३।६५

२. गोकुल चन्द्र जैन—वही, पृ० ६०

३. द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः।
क्रिया मंत्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः॥ महा ३८।४८
द्विज के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आते हैं। मनु १०।४; याज्ञवल्क्य १।१०; वायु पुराण ५९।२१; ब्रह्माण्ड पुराण २।३२।२२

४. महा ३८।४७,७४।४९१-४९३

सामान्यतया ब्राह्मणों के प्रति अवहेलना प्रदर्शित की गयी है।[१] किन्तु पौराणिक वाङ्मय ने स्वभावतः समाज के सर्वांगीण स्वरूप का परिचय प्रस्तुत किया है। इसी लिए इस वाङ्मय के विशिष्ट ग्रन्थ महा पुराण में द्विजों की श्रेष्ठता को प्रकाश में लाते हुए उनके गौरवान्वित पद का प्रधान आधार ज्ञान माना है।[२] प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्राह्मण के लिए संस्कार, तपश्चरण तथा शास्त्राभ्यास को अनिवार्य माना गया है और यह कथित है कि तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से जिनका संस्कार नहीं हुआ है, वे जाति मात्र से भले ही द्विज हों, वस्तुतः द्विज कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।[३] ब्राह्मणों को वर्णोत्तम मानना जैन सम्प्रदाय को भी मान्य है। इसका समर्थन महा पुराण के एक अन्य प्रसंग से होता है। व्रत, मंत्र, संस्कार, क्षमा और शौच में तत्पर रहने वाले तथा संतोष एवं निर्दोष आचरणधारी द्विज व्यक्ति को सभी वर्णों में श्रेष्ठ कहा गया है।[४]

महा पुराण में वर्णित है कि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मंत्र, क्रियाओं के आश्रित और देवताओं के चिह्न यज्ञोपवीत के धारण करने तथा काम का विनाश करने से द्विजों की शुद्धी होती थी।[५] इसके अतिरिक्त यह भी वर्णित है कि ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ होने के कारण वह स्वतः दूसरों को शुद्ध करता था।[६] इसी पुराण में ब्राह्मणों के दस अधिकारों का उल्लेख भी उपलब्ध है—अतिबाल विद्या, कुलावधि, वर्णोत्तमत्व, पात्रत्व, सृष्ट्यधिकारिता, व्यवहारेशिता, अवध्यत्व, अदण्ड्यता, मानार्हता तथा प्रजा सम्बन्धान्तर।[७]

---

१. जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० २२४-२२५

२. महा ३९।१३०

३. ततः श्रुताभ्यामेवास्तो जातिसंस्कार इष्यते।
असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः॥ महा ३८।४७

४. महा ३९।१३१-१३२; तुलनीय, सूत्रकृतांग ९।१

५. श्रुतस्मृतपुरावृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता।
देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्द्विजन्मनाम्॥ महा ३९।१३९

६. वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु'''प्राप्नोत्यसंशयम्॥ महा ४०।१८२-१८४
तुलनीय, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।३; महाभारत, शान्ति ३४३।१३-१४, ६०।७-१२; वशिष्ठ ३०।२-५; मनुस्मृति ४।११७

७. महा ४०।१७५-१७६

उक्त उल्लेखों के आधार पर सामान्यतया यही निष्कर्ष निकलता है कि द्विज शब्द का प्रयोग करते हुए जैन पुराण इनके प्रति श्रद्धालु हैं।[1] किन्तु यह तथ्य विचार-विमर्श का प्रश्न बन जाता है कि वे श्रद्धेय द्विज कौन थे ? इस प्रश्न के उत्तर में ऐसी सहज सम्भावना की जा सकती है कि वस्तुतः इनकी श्रद्धा विषयक वे ब्राह्मण हैं, जो जैन मतावलम्बी थे। अन्यथा जैनेतर ब्राह्मणों के प्रति इनकी दृष्टि सिद्धान्ततः अनुदार ही थी।[2] जैन पुराणों के अनुसार ब्राह्मणत्व के आधारभूत तीन कारण हैं—तप, शास्त्र-ज्ञान तथा जाति। इन तीनों में प्रस्तुत ग्रन्थ ने तप को सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण माना है और यह भी उल्लिखित है कि सबसे बड़ी तपस्या अहिंसा व्रत है। इस महाव्रत के विषय में ऐसा कहा गया है कि वस्तुतः ब्राह्मण का यही लक्षण है। लम्बायमान शिखा ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक नहीं है। ध्यान वह अग्नि है जिससे ब्राह्मणत्व की सिद्धि होती है और उसका 'शान्त-दान्त-चित्त' ही मुक्ति का कारण बनती है।[3] पद्म पुराण के अनुसार ब्राह्मण वह व्यक्ति है जो ऋषभदेव रूपी ब्रह्मा का भक्त है।[4] इसके अतिरिक्त महा पुराण ने उन ब्राह्मणों की निन्दा की है जो इस ग्रन्थ के अनुसार कलियुग में उत्पन्न होकर जाति-विषयक अभिमान के कारण सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्ष-मार्ग में बाधक एवं विरोधी बनेंगे तथा धन की आशा से निम्न-कोटि के शास्त्रों के द्वारा लोगों को मोहित करते रहेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ ने ऐसे ब्राह्मणों को अधर्मी घोषित करते हुए पुनः कहा है कि ये लोग कलियुग में हिंसा को धर्म बतायेंगे। इसी पुराण ने इस प्रसंग में वेद की भी निन्दा की है और इसे हिंसा का प्रतीक बताया है। ऐसे ब्राह्मणों की वेद निर्धारित वेषभूषा (विशेषतया यज्ञोपवीत) को स्पष्टतया पाप का प्रतीक माना है और उन्हें धारण करने वाले ब्राह्मणों को धूर्त वर्णित किया है।[5] पद्मपुराण ने भी जैनमत द्वारा विहित—आरम्भ में विरत रहना, शील एवं क्रिया युक्त होना—आचरणों को न करने वाले ब्राह्मणों को केवल नाम मात्र का ब्राह्मण घोषित किया है।[6] इसी लिए महा पुराण ने ऐसे दुराचारी, पापी तथा

---

१. महा ४२।१६२
२. वही ४२।१७६-१६१
३. वही ३८।४३; पद्म १०६।८०-८१
४. पद्म ११।२०१
५. आयुष्मन् भक्ता·····सन्मार्गपरिपन्थिनः। महा ४१।४६-५३
६. पद्म १०६।८२, ४।११५-१२०

पशुबध करने वाले द्विजों को ब्राह्मण कहलाने के अधिकार से वंचित किया है।[१] पद्म पुराण ने उन द्विजों को ही ब्राह्मण की मान्यता प्रदान की है, जो महाव्रत रूपी चोटी, क्षमा रूपी यज्ञोपवीत, धर्म रूपी यज्ञ में हवन करते हैं एवं मुक्ति के लिए सिद्धि करने में तत्पर तथा शान्त हैं।[२]

उक्त अनुच्छेद में वर्णित ब्राह्मणों के अतिरिक्त जैन आचार्यों ने ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो वैदिक परम्परा के अनुयायी थे और जिनके कर्त्तव्य आदि का वर्णन जैन ग्रन्थों में प्राप्य होता है। उदाहरणार्थ, महा पुराण में ब्राह्मणों के अध्ययन, अध्यापन, दान तथा याज्ञिक क्रियाओं का भी वर्णन उपलब्ध है।[३] इसके अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थों में भी ब्राह्मणार्थ निर्धारित उन चौदह विद्याओं का उल्लेख मिलता है, जिनका वर्णन पारम्परिक धर्मशास्त्र तथा पुराण में उपलब्ध है। ये चौदह विद्याएँ इस प्रकार हैं : षटांग (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एवं कल्प), चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद), मीमांसा, न्याय, पुराण तथा धर्मशास्त्र।[४]

उक्त अनुच्छेदों में ब्राह्मण की स्थिति तथा कर्त्तव्यों के प्रसंग में जितने तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, वे तत्कालीन वस्तुस्थिति के परिचायक अवश्य हैं, किन्तु हरिवंश पुराण का एक स्थल पुनर्विचार का विषय अवश्य बन जाता है, जहाँ यह वर्णित है कि प्रवरक नामक ब्राह्मण कृषक था तथा स्वतः हल चलाकर अपना जीविकोपार्जन करता था।[५] प्राचीन भारतीय समाज के जिज्ञासु विद्वानों ने प्रस्तुत प्रश्न को गम्भीरता से ग्रहण किया है तथा जिन विशेष साक्ष्यों को उन्होंने प्रस्तावित किया है, वे हैं—मनुस्मृति, पराशरस्मृति एवं पराशरस्मृति के टीकाकार माधवाचार्य। मनुस्मृति के अनुसार कृषि-वृत्ति ब्राह्मण के लिए अपेक्षित नहीं है क्योंकि कर्षण कार्य से भूमिगत कीटाणुओं की हत्या होती है, किन्तु मनुस्मृतिकार ने यह भी स्पष्ट किया

---

१. महा ३९।१३३
२. पद्म १०९।८१-८२
३. महा १६।२४६
४. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० २२७
५. आसीत्प्रवरको नाम्ना ग्रामेऽत्रैव कृषीबलः।
विप्रः प्रकृष्य स क्षेत्रं महावर्षानिलार्दितः॥ हरिवंश ४३।११६

है कि आपात-काल में ब्राह्मण कृषि-कार्य सम्पन्न कर सकता है।[1] पराशरस्मृति (६०० से ६०० ई० के मध्य) ने कलियुग का वृतान्त देते हुए कृषि को ब्राह्मणों की आजीविका के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।[2] पराशरस्मृति के टीकाकार माधवाचार्य ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वर्णन किया है कि कृषि-वृत्ति—जो कि प्रारम्भ में ब्राह्मणों के लिए आपातकालीन वृत्ति थी, कलियुग में सामान्य-वृत्ति बन चुकी थी।[3]

यह उल्लेखनीय है कि उक्त टीकाकार माधवाचार्य ने अपनी टीका में 'कार्येत्' शब्द का प्रयोग किया है, न कि 'कुर्यात्'।[4] कार्येत् शब्द पर बल देते हुए डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव का कथन है कि ब्राह्मण स्वयं कृषि-कार्य नहीं करता था, अपितु कृषि-कार्य शूद्रों के माध्यम से करवाता था। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण का 'कर्षण-कार्य' से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, अपितु 'कृषि-वृत्ति' के साथ सम्बद्ध अवश्य हो जाता है।[5] किन्तु कूर्म पुराण (जो पूर्वमध्यकालीन रचना है) से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्पतः ब्राह्मण कर्षण कर सकता है।[6] ऐसी स्थिति में जैन हरिवंश पुराण और पारम्परिक कूर्म पुराण के वर्णन में पर्याप्त समानता प्रदर्शित होती है। सम्भवतः हरिवंश पुराण ने निन्दा और गर्हणा के लिए ब्राह्मण को कृषक और हलवाहक बताया है। क्योंकि जैसाकि मनुस्मृति के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि हल चलाने से जीव हिंसा होती थी और हिंसा-वृत्ति जैनमत के लिए मान्य नहीं थी, ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि ब्राह्मण कृषि-कार्य को शूद्रों से करवाता था, न कि स्वतः करता था।

[ब] क्षत्रिय : जैन पुराण क्षत्रिय वर्ण के लिये प्रायः 'क्षत्र' और 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग करते हैं।[7] किन्तु इनमें कहीं-कहीं 'अयोनिज' शब्द का भी उल्लेख

---

१. उद्धृत—कृत्यकल्पतरु के गृहस्थकाण्ड, पृ० १६१

२. पराशरस्मृति, आचारकाण्ड, २।१

३. बृहत्पराशर संहिता १।४

४. तैः सहितो विप्रः शुश्रूषकैः शूद्रः कृषिं कार्येत्।
पराशरस्मृति पर माधवाचार्य की टीका, आचारकाण्ड २।२

५. यादव, वही, पृ० १०

६. स्वयं वा कर्षणं कुर्यात्वाणिज्यं वा कुसीदकम्। आचारकाण्ड २।२
उद्धृत—यादव—वही, पृ० ८०, टिप्पणी १०५

७. पद्म ११।२०२; हरिवंश ६।३८; महा ४४।३०

'क्षत्रिय' शब्द के द्योतनार्थ हुआ है। 'अयोनिज' शब्द को समीक्षा का विषय बनाया जा सकता है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है, ऐसी जाति जिसकी उत्पत्ति मानवीय योनि से नहीं हुई है। सम्भवतः यह शब्द उस अग्निकुल के आख्यान को द्योतित करता है, जिसे राजपूतों की उत्पत्ति का कारण माना गया है। जैन पुराण स्पष्टतया उक्त आख्यान का उल्लेख नहीं करते हैं, प्रत्युत इसे प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, महा पुराण में वर्णित है कि क्षत्रियों की उत्पत्ति जिनेन्द्र देव से हुई है और इसी से वे 'अयोनिज' कहलाते हैं।[1]

प्राचीन क्षत्रिय जाति से पूर्वमध्यकालीन राजपूत जाति का रक्त-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है अथवा नहीं ? इस प्रश्न को कतिपय विद्वानों ने हाल ही में सुलझाने का प्रयास किया है। जेड० जी० एम० डैरेट ने राजपूतों को प्राचीन क्षत्रिय जाति से पृथक् करने का प्रयत्न किया है।[2] किन्तु डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव इस मत की श्रद्धेयता स्वीकार नहीं करते हैं।[3]

जैन पुराणों में क्षत्रिय जाति के लिए जो कर्त्तव्य विहित किये गये हैं, उनमें दो तत्त्वों का समन्वय दृष्टिगत होता है। प्रथमतः उनमें वही क्षत्रियोचित कर्त्तव्य वर्णित हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन क्षत्रियों के संदर्भ में अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध है। द्वितीय, इन क्षत्रियों के कर्त्तव्य गौरव में शौर्य और पराक्रम का बार-बार उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे राजपूतों की 'सिवैल्री' कहते हैं। अतएव ऐसी स्थिति में सामान्य निष्कर्ष यही निकलता है कि राजपूत पुराने क्षत्रियों से पृथक् नहीं थे। जैन पुराणों के अनुसार विनाश (क्षत्) से रक्षा (त्राण) करने से क्षत्रिय संज्ञा प्राप्त होती है।[4] उक्त पुराण में क्षत्रिय की आजीविका शस्त्र धारण करना वर्णित है।[5] पद्म पुराण में विपन्न व्यक्ति को क्षति न पहुँचाना, सोते हुए, बन्धन में पड़े हुए, विनम्र, भय-त्रस्त तथा दाँतों में तृण दबाये हुए योद्धा को न मारना क्षत्रिय का परम कर्त्तव्य निरूपित

---

१. दिव्यमूर्त्तेरुपुत्पद्य जिनादुत्पादयज्जिनान्।
रत्नत्रयं तु तद्योनिर्नृपास्तस्मादयोनिजाः ॥ महा ४२।१५

२. डैरेट—जे० इ० एस० एच० ओ०, भाग ७, १९६४, पृ० ७४

३. यादव—वही, पृ० ३२

४. क्षतात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्त्रोऽयं भरतेश्वरः। महा ४४।३०; पद्म ३।२५६

५. क्षत्रिया : शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् ॥ महा १६।१८४

है।[1] ये विशेषताएँ वस्तुतः राजपूत 'सिवैल्री' के अन्तर्गत आती हैं जिसका उल्लेख तत्कालीन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मिलता है—उदाहरणार्थ, राजतरंगिणी।[2]

इस संदर्भ में महा पुराण का एक स्थल विशेषतया विचारणीय है, जहाँ ब्रह्मा ऋषभदेव ने सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण की सृष्टि की थी।[3] आपाततः यह प्रसंग चातुर्वर्ण सृजन के पारम्परिक आख्यान के समरूप नहीं है, जहाँ ब्राह्मण को ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि माना गया है। यह सम्भावना की जा सकती है कि जैनी परम्परा का यह सम्प्रदायगत लक्षण है। किन्तु इसकी ऐतिहासिक व्याख्या अन्य ढंग से भी की जा सकती है। गुप्तों के पतन के उपरान्त यदि एक ओर राजनीतिक विप्लव के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे, तो दूसरी ओर समाज में ही सम्भ्रम की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हो रही थीं। ऐसी सम्भावना है कि जैन पुराणों के रचनाकाल में सार्वभौमसत्ता के स्थान पर सामन्तवादी विचारधाराएँ अधिक प्रबल हो रही थीं और राजस्थान एवं गुजरात जैसे क्षेत्रों में सामन्तों ने न केवल राजनीतिक दृष्टि से, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी अपना गौरव स्थापित किया था।[4] यह सम्भावित भी है कि महा पुराण द्वारा क्षत्रिय जाति की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार किया जाना इसी स्थिति की ओर संकेत करता है।

क्षत्रियों के संदर्भ में जैन पुराणों ने इनके अन्य कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। महा पुराण ने क्षत्रियों के पाँच—कुल-पालन, बुद्धि-पालन, आत्म-रक्षा, प्रजा-रक्षा तथा समज्जसत्त्व—धर्म (कर्त्तव्य) वर्णित किये हैं।[5] उक्त पुराण में ही क्षत्रियों के अन्य कर्त्तव्यों में न्यायोचित वृत्ति, धर्मानुसार धनोपार्जन करना, रक्षा करना, वृद्धि को प्राप्त करना तथा योग्य पात्र को दान देने का विधान वर्णित है।[6]

[स] वैश्य : वैश्यार्थ जैन पुराणों में वैश्य, सेठ, वणिक्, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह शब्द प्रयुक्त हुए हैं। श्रेष्ठि पद परिवार के सबसे वरिष्ठ व्यक्ति को दिया जाता था।[7]

---

१. पद्म ३।२४६, ७८।१२
२. राजतरंगिणी ७।३२५
३. आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोयं क्षत्रपूर्वकः। महा ४२।६
४. द्रष्टव्य, यादव—वही, पृ० ३४
५. महा ४२।४
६. वही ४२।१३
७. वही ४७।२१५

जैन पुराणों के प्रणयन काल में वैश्यों की सामाजिक स्थिति कैसी थी ? इस प्रश्न पर विचारार्थ 'सार्थवाह' शब्द उल्लेखनीय है। 'सार्थवाह' का अर्थ है 'उस टोली का नेता जो वाणिज्य और व्यापार के संदर्भ में देश-विदेश में भ्रमण करता था। उपर्युक्त कथन की पुष्टि जैन पुराणों से होता है कि वैश्य धनोपार्जन के लिए देश से बाहर जाया करते थे।[1] अन्य साक्ष्यों से भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत (विशेषतया गुजरात) के बनियों ने वाणिज्य और व्यापार के विकास में विशेष योगदान दिया था और वे इतने समृद्धवान् थे कि कुछेक तो सामन्त व्यवस्था में सम्मिलित हो गये थे।[2] उक्त पौराणिक संदर्भ वैश्यों की उत्थानपरक स्थिति की सूचना प्रदान करते हैं।

किन्तु इनकी स्थिति का एक अन्य पक्ष भी था। जैन पुराणों में स्पष्टतया वर्णित है कि वैश्यों की निर्धारित आजीविका व्यापार के अतिरिक्त कृषि और पशु-पालन भी था।[3] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि वाणिज्य, खेती, गोरक्षा आदि के व्यापार में रत लोग वैश्य होते हैं।[4] यह वर्णन यथार्थता के निकट कहाँ तक है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि जैसाकि इसके पूर्व वर्णन किया जा चुका है कि जैन पुराणों के रचना-काल में वैश्य प्रधानतया वाणिज्य से सम्बन्धित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पुराणों के वर्णन वैश्यों के अतीतकालीन कर्त्तव्यों की ओर संकेत करते हैं और इन वर्णनों को मात्र मौलिक आदर्शों का अवशेष माना जा सकता है। डॉ० यादव का विचार है कि पूर्वमध्यकाल में वाणिज्य और व्यापार की उन्नति के कारण वैश्यों की पूर्वनिर्धारित आजीविका में परिवर्तन आ गया था।[5] किन्तु तत्कालीन वैश्यों की स्थिति का स्वरूपांकन करने वाले आधुनिक जैन विद्वानों ने एक दूसरा ही तर्क प्रस्तुत किया है। इनकी समीक्षा के अनुसार वैश्यों ने कृषि और पशुपालन के कार्य को इसलिए छोड़ा था, क्योंकि इसमें हिंसा की सम्भावना अधिक रहती थी।[6]

---

१. पद्म ५५।६१, ८३।८०; हरिवंश २१।७८-८०; महा ७०।१५०
२. यादव—वही, पृ० ३८
३. महा १६।१८४; पद्म ४।२०२, ३।२५६; हरिवंश ९।३९
४. पद्म ३।२५७
५. यादव—वही, पृ० ३८
६. कैलाश चन्द्र जैन — प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, भोपाल, १९७१, पृ० ४१

[द] **शूद्र :** जैन पुराणों में शूद्रार्थ कारु, अकारु प्रेष्य, दास, अन्त्यज तथा शूद्र शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैन पुराणों के अनुसार जो नीच कर्म करते थे तथा शास्त्रों से दूर भागते थे, उन्हें 'शूद्र' कहा गया है।[1] महा पुराण में वर्णित है कि जो क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा करते थे, वे शूद्र कहलाते थे।[2] जैन पुराणों से शूद्रों के विभाजन पर भी प्रकाश पड़ता है। पद्म पुराण में शूद्रों के प्रेष्य, दास आदि भेद उपलब्ध हैं।[3] महा पुराण ने शूद्रों के मुख्यतः दो भेद वर्णित किये हैं :[4]

[क] **कारु शूद्र :** धोबी, नाई आदि कारु शूद्र थे।

[ख] **अकारु शूद्र :** कारु से भिन्न आचरण करने वाले अकारु होते थे। कारु शूद्र के भी स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से दो उपभेद होते थे :

१. **स्पृश्य कारु शूद्र** : जो स्पृश्य या छूने योग्य थे उन्हें स्पृश्य कारु शूद्र कहा गया है। उदाहरणार्थ, नाई, कुम्हार आदि।

२. **अस्पृश्य कारु शूद्र** : जो छूने योग्य नहीं होते थे, उन्हें अस्पृश्य कारु शूद्र कहा गया है। उदाहरणार्थ, चाण्डाल आदि।

जैनेतर ग्रन्थों में तक्षकार, तन्त्रवाय (जुलाहा), नापित, रजक एवं चर्मकार इन पाँच प्रकार के कारु शिल्पियों का उल्लेख मिलता है।[5]

डॉ० आर० एस० शर्मा का शूद्रों की स्थिति पर यह विचार है कि कालान्तर में शूद्रों ने कृषि, पशुपालन, शिल्प एवं व्यापार द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ कर वैश्यों के समीप आने लगे थे। जो खेत ब्राह्मण को उपलब्ध थे, उन पर वे शूद्रों द्वारा खेती करवाते थे।[6] जैन पुराणों के समय में शूद्रों की स्थिति सुधारने की चेष्टा की गई है।[7] जैन एवं बौद्ध धर्मों के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप शूद्रों को

---

१. ये तु श्रुताद् द्रुतिं प्राप्ता नीचकर्मविधायिनः।
शूद्रसज्ञामवापुस्ते भेदैः प्रेष्यादिभिस्तथा॥ पद्म ३।२८; हरिवंश ९।३९
तुलनीय—महाभारत, शान्तिपर्व ६०।२८-३५; उद्योगपर्व ४०।२८; भीष्मपर्व ४२।४४; मनुस्मृति १।९१

२. तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते·····। महा १६।१८५

३. पद्म ८।२५८

४. महा १६।१८५-१८६

५. याज्ञवल्क्य २।२४९, १।१८७; मनुस्मृति ५।१२८, १०।१२

६. आर० एस० शर्मा—वही, पृ० २८२

७. प्रेम सुमन जैन—कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, १९७५, पृ० १०७

हेय दृष्टि से देखा जाना कम हो गया था । कुछ तांत्रिक आचार्य स्वयं शूद्र थे ।[1]

[य] दास-प्रथा : प्राचीन विश्व की संस्कृतियों में दासों की स्थिति के संदर्भ में प्रायः उनकी दयनीय स्थिति की ही सूचना उपलब्ध है। मिस्री, सुमेरियन तथा यूनानी सभ्यताओं में इनके कटुतापूर्ण जीवन के साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[2] भारतीय संस्कृति के आदितम ग्रन्थ ऋग्वेद के वर्णनानुसार आर्य अपने विरोधी जाति को दास कहते थे ।[3] तैत्तिरीय संहिता (२।२।६।३), बृहदारण्योपनिषद् (४।४।२३), छान्दोग्योपनिषद् (७।२४।२), अर्थशास्त्र (३।१३), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।११), जैमिनी (६।७।६), मनुस्मृति (१।९१), महाभारत (२३३।४३) आदि प्राचीन ग्रन्थों में दासों का उल्लेख मिलता है ।

जैन पुराणों के रचना-काल में गृहपरिचारक अथवा गृहपरिचारिका दासों की ही कोटि में परिगणित किये जाते थे ।[4] कहीं तो इनमें दास-दासी[5] अथवा घटदासी[6] का स्पष्ट उल्लेख हुआ है और कहीं इन्हें धाय[7], दूती[8] तथा परिचारिका[9] शब्द से भी अभिहित किया गया है । जैसाकि लुडविग स्टनवारव का कथन है कि इस समयावधि में गृहपरिचारक भी दासों की भाँति अस्वाधीन स्थिति में विद्यमान थे ।[10] मनु ने सात प्रकार के दासों का वर्णन किया है—युद्ध में बन्दी बनाया गया

---

१. कैलाशचन्द्र—वही, पृ० ४; दशरथ शर्मा—राजस्थान थ्रू द ऐजेज, पृ० ४३५

२. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज, भाग १४ पृ० ७४, द्रष्टव्य, पी०वी० काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, खण्ड १, पृ० १८०
ब्रस्टेड—कन्वेस्ट ऑफ सिविलीजेशन, लन्दन, १९३४, पृ० ६१५

३. ऋग्वेद ८।१९।३६, ८।५६।३

४. हरिवंश ४३।२; महा २०।५६

५. वही, ८।५२

६. वही ३३।४७-५०

७. पद्म ६।३८१-४२२; महा १४।१६५, ४३।३३

८. हरिवंश ४३।२३; महा ७५।४९४-४९५

९. महा १६।११४-१२५

१०. लुडविग स्टनवारव—जुरिडिकल स्टडीज इन ऐंशेण्ट इण्डियन ला, दिल्ली, १९६५, पृ० ४७१ तथा आगे ।

(ध्वजाहृत), भोजन के बदले रखा हुआ (भुक्तदास), दासीपुत्र (गृहज), खरीदा हुआ (क्रीत), दूसरे के द्वारा दिया हुआ (दात्रिम), पूर्वजों से प्राप्त (पैतृक) और भुगतान के लिए बना हुआ (दण्डदास)।[1] पं० वासुदेव उपाध्याय के मतानुसार भृत्यों और दासों में इतना अन्तर था कि भृत्य नौकरी करते हुए भी स्वतंत्र थे और इस प्रकार वह जो कमाता था उसका अधिकारी वह स्वयं होता था। परन्तु दास परतंत्र होते थे तथा वे जो कुछ अर्जन करते थे, वह उनके स्वामी का होता था।[2]

दास प्रथा की सूचना जैन पुराणों से भी उपलब्ध होती है। महा पुराण के अनुसार सेवक का यह कर्त्तव्य था कि वह स्वामी के अनुसार चले तथा उसके मुट्ठियों से दिये हुए अन्न से जीवन निर्वाह करे।[3] पद्म पुराण की प्रवृत्ति इस संदर्भ में कुछ उदार प्रतीत होती है। इसके अनुसार सेवक को स्वामी के समीप भय-रहित होकर ऐसे वचन बोलना चाहिए, जो स्वामी के लिए हितकारी हो।[4] महा पुराण ने स्वामी के हितार्थ सेवक द्वारा आत्मोत्सर्ग किया जाना उसका उचित कर्त्तव्य माना है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि उदार हृदय स्वामी अपने सेवक का समुचित सम्मान भी करता था। इस ग्रन्थ का कथन है कि स्वामी द्वारा सत्कृत होने पर सेवक जितना संतुष्ट होता है, उतना प्रचुर मात्रा में धनराशि देने पर भी नहीं होता।[6] हरिवंश पुराण के अनुसार अपने-अपने नियोगों पर अच्छी तरह स्थिर रहना ही भृत्यों की स्वामी-सेवा है।[7] पद्म पुराण में वर्णित है कि संभ्रमदेव ने अपनी दासी के कूट तथा कार्पटिक नामक दो पुत्रों को जैन मन्दिर में नियुक्त किया था।[8] इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वामी का अपने दास या दासियों के बच्चों पर भी अधिकार रहता था।

---

१. ध्वजाहृतो भुक्तदासो गृहजः क्रीतदात्रिमो।
पौत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥ मनु ४८।१५

२. वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, इलाहाबाद, १९५२, पृ० २४०

३. महा ४४।१२५; तुलनीय—गौतम १०।६०-६१; मनुस्मृति १०।१२४-१२५

४. परमार्थो हि निर्भीकैरुपदेशोऽनुजीविभिः। पद्म ६६।३

५. महा ४४।२३४-२३५

६. वही ४२।१५७

७. भर्तृसेवा हि भृत्यानां स्वाधिकारेषु सुस्थितिः। हरिवंश ५९।२१

८. पद्म ५।१२२-१२३

ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि दासों का एक ऐसा वर्ग भी था जो स्वामी के परिवार का अंग नहीं था और इस कोटि के दास बेगार (विष्टि) के लिए बाध्य किये जाते थे।[1] इस सन्दर्भ में डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि दास और चर्मकार से बेगार लेने की प्रथा मौर्य काल से ही चली आ रही थी और आगे चलकर बेगार ही वैश्य तथा शूद्र की पृथक्ता का मापदण्ड बन गया।[2] प्राचीन समय में बेगार-प्रथा का प्रचलन था।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन पुराणों के रचनाकाल में दासों की स्थिति में सुधार लाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी, जिनके प्रमाण इन ग्रन्थों में अनेकत्र प्राप्त होते हैं। यह सुधारवादी दृष्टिकोण व्यवहार में कहाँ तक यथार्थ सिद्ध हुआ, यह कहना कठिन है। किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि ये पौराणिक विचार हमें रोमन संस्कृति के उस स्तर का स्मरण दिलाते हैं, जबकि दासों की दशा को उन्नत करने का प्रयास किया गया था।[4] पूर्व-मध्यकाल के साक्ष्यों की समीक्षा करने के उपरान्त डॉ० यादव इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दास-परिचारकों को वस्त्र-भोजनादि की समुचित व्यवस्था करना स्वामी का कर्त्तव्य था।[5]

आलोचित जैन पुराण बारम्बार सेवावृत्ति की निन्दा करते हैं। पद्म पुराण में इसे दुःख और निन्दा का विषय बताया गया है।[6] उक्त ग्रन्थ के अनुसार मनुष्य कुत्ते का जीवन व्यतीत करे, किन्तु सेवक की वृत्ति अपनाना उसके लिए उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से उसकी आत्मा निरन्तर दुःख का अनुभव करती है।[7] इसी पुराण में प्रसंगान्तर से वर्णित है कि मनुष्य को भृत्य का जीवन इसलिए नहीं स्वीकार

---

१. विष्टिदण्डकराणां च निबन्धो राजसाद्भवेत्। महा १६।१६८
२. आर० एस० शर्मा—शूद्राज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९५८, पृ० २८१-२८२
३. ज्ञानेन्द्र राय—फोर्सड लेबर इन ऐंशेण्ट ऐण्ड अर्ली मेडिवल इण्डिया, द इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू, भाग ३, अंक १, जुलाई १९७६, पृ० १६-५२
४. ग्रस्टेड—द कन्क्वेस्ट ऑफ सिविलीजेशन, लन्दन, १९५४, पृ० ६१५
५. यादव—वही, पृ० ७४
६. पद्म ९७।१४६
७. वही ९७।१४१

करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वस्तुतः वह अपनी शक्ति से वंचित होता ही है और इसके अतिरिक्त वह प्रकारान्तर से अपने मांस का विक्रय करता है[1] तथा उसकी तुलना कचड़ा-घर से की गयी है।[2] पुराणकार ने भृत्य-वृत्ति को सब प्रकार से निन्दनीय बताया है।[3]

[५] वर्णसंकर : उपजातियों का विश्लेषण : प्राचीन भारतीय समाज के जिज्ञासु अन्वेषक विद्वानों ने यह सुझाव रखा है कि सामाजिक संरचना के निश्चित चार स्तरों के अतिरिक्त प्रारम्भ में एक उपस्तर भी प्रकाश में आ रहा था, जिसके आविर्भाव की मूल प्रेरणा वर्णसंकर द्वारा उपलब्ध हुई। वर्णसंकर के पक्ष में प्रारम्भ में प्रारम्भिक धर्मशास्त्र एवं पुराण नहीं थे। इस मौलिक उद्भावना के अवशेष उत्तरकालीन जैनेतर ग्रन्थों में तो प्राप्य होते ही हैं, इसके अतिरिक्त तत्सम्बन्धित विवरण आलोचित पुराणों में भी उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, हरिवंश पुराण तथा महा पुराण में इस प्रकार का वर्णन प्राप्य है कि वर्णसंकरता को दूर करना राजा का कर्त्तव्य है और वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले लोग दण्ड के पात्र हैं।[4]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरकालीन सामाजिक संश्लिष्टता एवं नवीन आर्थिक गान्यताओं के फलस्वरूप बहुत-सी उपजातियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं, जिनके उल्लेख जैनेतर ग्रन्थों (बृहत्धर्म पुराण) में प्राप्त होते हैं जिन्हें आलोचना का विषय बनाया जा चुका है।[5]

जैन सम्प्रदाय में जाति-व्यवस्था को मान्यता प्राप्त नहीं थी। जैन आगमों में जाति-व्यवस्था की निन्दा की गयी है।[6] जैन पुराणों में से पद्म पुराण में जाति-

१. पद्म ६७।१४८
२. वही ६७।१४४
३. वही ८।१६२, ६७।१४०
४. हरिवंश १४।७; महा १६।२४८
५. बृहत्धर्म पुराण ३।१३; आर० सी० मजूमदार—हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग १, पृ० ५६७; रमेश चन्द्र हाज़रा—स्टडीज़ इन द उपपुराणाज़, भाग २, पृ० ४३७
६. उत्तराध्ययन १२।३७; आचारांग २ (३)। ४६

व्यवस्था को हतोत्साहित किया गया है।[1] जबकि महा पुराण ने जाति-व्यवस्था को मान्यता प्रदान की है। महा पुराण का प्रभाव उत्तरवर्ती जैन ग्रन्थों में मिलता है।[2]

उपजातियाँ : सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण : जैन पुराणों में जिन उपजातियों का उल्लेख हुआ है उन्हें दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम, जिनका आविर्भाव सामाजिक संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ था। द्वितीय, जो तत्कालीन विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप आविर्भूत हुए थे।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सामाजिक दृष्टि से निम्नवत् उपजातियाँ आती हैं; आवर्त्त[3], (म्लेच्छों की उपजाति), आरण्य[4] (जंगली योद्धाओं की जाति), चरट[5] (म्लेच्छों की उपजाति), चिलात[6], (म्लेच्छों की उपजाति), दिव्या[7] (धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित होने वाली जाति), पुलिन्द[8] (असभ्य एवं बर्बर जंगली जाति); म्लेच्छ[9], शबर।[10]

द्वितीय वर्ग में आर्थिक दृष्टिकोण से अग्रलिखित उपजातियाँ आती हैं: क्लारिन[11] (शराब द्वारा आजीविका चलाने वाली), कपाटजीवि[12] (बढ़ई), कुलाल[13] (कुम्भकार), कुविन्द[14] (जुलाहा), कैवर्त[15] (कहार), गोपाल[16] (अहीर या आभीर),

---

१. पद्म ११।१९५-२०२
२. फूल चन्द्र—वर्ण, जाति और धर्म, काशी, १९६३, पृ० १५९-१६४
३. महा ३२।७६
४. वही १६।१६१
५. वही १६।१६१
६. वही ३२।७६
७. वही ३९।१६८
८. पद्म ४१।३; महा १६।१६१
९. वही २७।५; वही ४१।६९
१०. वही ७।२९६, ३२।२९; महा १६।१६१
११. हरिवंश ३३।९०
१२. पद्म ९१।२४
१३. वही ५।२८७; महा २५।१२६
१४. महा ४।२६
१५. पद्म १४।२७
१६. वही ३४।६०; महा ४२।१३८

घोष[1] (अहीर), चाण्डाल[2], ताम्बूलिका[3] (तमोली), धीवर[4] (मछली बेचने वाली जाति), नट[5], नापित[6] (नाई), निषाद[7] (केवट), नैगम[8] (व्यापारियों की एक जाति), भील[9], माली[10] (मालाकार), मातंग[11] (जंगली शिकारी), मृगयोषित[12] (शिकारी), निराद[13], रजक[14] (धोबी), लासक[15] (नृत्य द्वारा आजीविका करने वाली जाति); लुब्धक[16] (पक्षिओं को बेचने वाली जाति), और व्याध[17] (भील) ।

---

१. पद्म ३३।५२; महा १६।१७६
२. महा ४२।३४२
३. पद्म ८०।१७८
४. वही ५८।६५; महा ७१।३२६
५. वही ६१।३६
६. महा १६।१८६
७. पद्म ८५।८०
८. महा १६।२४७
९. वही ६२।८७
१०. वही १७।१६७
११. पद्म २।४५; हरिवंश २५।५४
१२. महा ११।२०२
१३. हरिवंश ३५।६
१४. महा १६।१८५
१५. पद्म २।३६
१६. महा १६।१६१
१७. पद्म ८५।७६; महा ७०।१५६

[ग] आश्रम-व्यवस्था

सामान्यतया आश्रम शब्द की व्याख्या 'श्रम्' धातु के आधार पर की जाती है। 'आश्रम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः' अर्थात् ऐसी जीवन-पद्धति जिसमें मनुष्य 'श्रम्' करता हुआ अपने आपको समाज के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों के अनुकूल सक्षम बनाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनियों ने आश्रम-व्यवस्था को ब्राह्मण धर्म से उद्धृत किया है, तथापि इसमें संदेह नहीं है कि जैनोचित अनुशासन के अनुकूल उन्होंने इसमें संशोधन का भी प्रयास किया है। महा पुराण ने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जैनियों के चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। इसके साथ-साथ महा पुराण का यह भी कथन है कि उन आश्रमों में शुचिता आवश्यक है।[1] किन्तु, महा पुराण में यह भी वर्णित है कि अन्तर्भेदों के कारण इन आश्रमों के अनेक प्रकार बन जाते हैं।[2] पद्म पुराण में सागार और अनगार आश्रम का उल्लेख मिलता है।[3]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदायोचित विशिष्ट मान्यताओं के उपरान्त भी जैन मत को आश्रम-व्यवस्था स्वीकार है। भारतीय आश्रम-व्यवस्था के अनुशीलन करने वाले विद्वानों ने आपस्तम्बधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र, वशिष्ठधर्मसूत्र और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर यह स्वीकार किया है कि आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति के जीवन के विभिन्न स्तरों का प्रशिक्षण स्थल है तथा इसके अनुशासन की आधारशिला है।[4] डॉ० पन्यारी नाथ प्रभु के मतानुसार वस्तुतः इन चारों अवस्थाओं के माध्यम से मनुष्य अपना गन्तव्य निश्चित करता है और ये

१. चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते।
चातुराश्रम्यमन्येषां अविचारितसुन्दरम्॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानाम् उत्तरोत्तरशुद्धितः॥ महा ३९।१५१-१५२

२. महा ३९।१५३

३. पद्म ५।१९६

४. आपस्तम्बधर्मसूत्र २।९।२१।१; गौतम धर्मसूत्र ३।२; वशिष्ठधर्मसूत्र ७।१-२, द्रष्टव्य, पी०वी० काणे – हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, खण्ड १, पृ० ४१७-४१८

चारों अवस्थाएँ प्रशिक्षण की चार श्रेणियों के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं।[1]

उक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि आश्रमों की जो संख्या अथवा क्रम स्मार्त एवं पारम्परिक पुराणों में उपलब्ध है, वही जैन पुराणों को भी मान्य है। इसमें संदेह नहीं है कि भारतीय परम्परा में आश्रम-व्यवस्था बहुत प्राचीन है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है तथापि जैसाकि काणे का सुझाव है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास अथवा इनके समानार्थक शब्दों का प्रसंग वैदिक ग्रन्थों ने अनेक स्तरों पर किया है।[2] ऐसा भी सुझाव है कि उपनिषदों के काल तक आश्रमबोधक भावना की आधारशिला प्रतिष्ठित हो चुकी थी।[3] उत्तरवर्ती स्तरों पर विकसित आश्रम-व्यवस्था का मूल इन्हीं ग्रन्थों में ढूँढा जा सकता है। जैन पुराणों में आश्रम-व्यवस्था विषयक जो जानकारी मिलती है, उसका वर्णन निम्नांकित है।

१. ब्रह्मचर्याश्रम : महा पुराण में ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। बालक की आठ वर्ष की आयु में उपनीति-क्रिया (उपनयन संस्कार) सम्पन्न होती थी। इस क्रिया में बालक का केश-मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जीबन्धन (कटिप्रदेश में मूँज की रस्सी का बन्धन) किया जाता था। प्रस्तुत क्रिया में अनेक विधि-विधान सम्पन्न किये जाते थे। ब्रह्मचारी को अर्हन्तदेव की पूजा जिनालय में करनी पड़ती थी। मौञ्जी-बन्धन के अतिरिक्त उसे श्वेत दुपट्टा एवं धोती धारण करना पड़ता था। इसके उपरान्त उसे यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था, जिसे व्रत का प्रतीक माना जाता था। उसे भिक्षावृत्ति में नियुक्त किया जाता था तथा भिक्षावृत्ति से प्राप्त आहार का अग्रभाग वह अर्हन्तदेव को समर्पित करता था। इसके उपरान्त शेष भाग को वह स्वयं ग्रहण करता था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मचारी जिस मुञ्जा-मेखला और यज्ञोपवीत को धारण करता था उसे विशेष विधि से बनाते थे। यह मुञ्जा तीन लरों से बनती थी और इसे विशुद्धि

---

१. प्रभु—वही, पृ० ७८

२. द्रष्टव्य, काणे—वही, पृ० ४१८

३. द्रष्टव्य, रानाडे—ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासिफी, पृ० ६०-६१; प्रभु—वही, पृ० ८४; राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्काराज, पृ० २६२

४. महा ३८।१०४-१०८

का कारणभूत 'रत्नत्रय' का द्योतक मानते थे। यज्ञोपवीत सात लरों का बनता था और यह सप्तभंगीनय का प्रतीक था। इस क्रिया में ब्रह्मचारी का मुण्डन भी अनिवार्य था तथा इसे वचन, मन एवं कर्म की पवित्रता का कारण मानते थे। इसके अतिरिक्त इसी अवसर पर उसे अहिंसा व्रत धारण करने के लिए वचनबद्ध होना पड़ता था।[1] प्रस्तुत आश्रम में कुछ क्रियाएँ निषिद्ध मानी जाती थीं—जैसे वृक्ष की दातौन करना, पान खाना, अंजन लगाना, हल्दी से स्नान करना, पलंग पर सोना, दूसरे व्यक्ति के शरीर के साथ सम्पर्क इत्यादि। जो विशेष क्रियाएँ विधेय थीं, उनमें प्रतिदिन स्नान, शरीर की शुद्धता और पृथ्वी पर शयन जैसे कार्यों पर विशेष बल दिया गया है।[2]

प्रस्तुत आश्रम में ब्रह्मचारी का मूल कर्त्तव्य था, गुरु-मुख से श्रावकाचार पढ़ना और विनयपूर्वक आध्यात्मशास्त्र का अवलोकन करना। आचार एवं आध्यात्म विषयक शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त विद्वता एवं पाण्डित्य प्राप्ति हेतु अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी अपेक्षित था। इन शास्त्रों में व्याकरण शास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र एवं गणितशास्त्र का विशेष उल्लेख किया गया है।[3]

ब्रह्मचर्य आश्रम में 'गृहीत विशेष व्रत' और 'यावत् जीवन व्रत' दोनों का ही आचरण किया जाता था। 'गृहीत विशेष व्रत' (जिनमें वृक्ष की दातौन करना, पान खाना, हल्दी से स्नान करना, पलंग पर सोना, दूसरे व्यक्ति के शरीर से सम्पर्क आदि सम्मिलित थे) ब्रह्मचर्य आश्रम तक ही सीमित रहता था, किन्तु 'यावत् जीवन व्रत' ब्रह्मचर्य आश्रम के उपरान्त जीवनपर्यन्त चलते थे; जिनमें मधुत्याग, मांसत्याग, पाँच उदुम्बर फलों का त्याग और हिंसादि पाँच स्थूल पापों का त्याग आदि की प्रधानता थी।[4]

ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व व्यक्ति की 'व्रतावतरण क्रिया' सम्पन्न होती थी। प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि

---

१. महा ३८।१०६-११३
२. वही ३८।११५-११७
३. वही ३८।११७-१२०
४. वही ३८।१२१-१२२

बारह अथवा सोलह वर्ष की होती थी।[1] यहाँ यह विचारणीय है कि पूर्ववर्ती कालों में ब्रह्मचर्य की अवधि अपेक्षाकृत दीर्घ होती थी उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में इसकी सीमा २५ वर्ष निर्धारित है।[2] इस अवधि में संकोच का कारण क्या हो सकता है? स्पष्ट नहीं है। किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि जैनेतर पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों में भी समान निर्देश उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, तत्कालीन कुछेक पुराण एवं निबन्ध ग्रन्थ इस बात पर बल देते हैं कि कलियुग में ब्रह्मचर्य की अवधि विस्तृत होना अपेक्षित नहीं है।[3]

महा पुराण के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रसंग अन्य जैन पुराण भी देते हैं, यद्यपि उनमें महा पुराण की भाँति सविस्तार वर्णन प्राप्य नहीं होता है। उदाहरणार्थ, पद्म पुराण ने उन ब्रह्मचारियों को उत्कृष्ट एवं धर्म-प्राप्ति का अधिकारी माना है, जो दिगम्बर मुनियों की भावपूर्वक स्तुति करते हैं।[4] हरिवंश पुराण ने यज्ञोपवीत के केवल तीन लरों का उल्लेख करते हुए उन्हें सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का प्रतीक माना है। इसे धारण करने वाले नारद मुनि को असाधारण पाण्डित्य की शोभा माना है तथा उनके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[5]

२. **गृहस्थाश्रम** : ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का प्रथम सोपान विवाह है। अतएव महा पुराण में वर्णित है कि—गृहस्थों के लिए विवाह एक धर्म है, क्योंकि गृहस्थों को सन्तान की रक्षा में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।[6]

---

१. महा ३८।१२३

२. द्रष्टव्य, यादव—वही, पृ० १८

३. हाजरा—स्टडीज इन द उपपुराणाज, भाग २, पृ० ४६७ में उद्धृत आदित्य-पुराण; बृहन्नारदीयपुराण २२।१३,१५; कृत्यकल्पतरु के पृ० १६०; पर उद्धृत ब्रह्मपुराण; पराशर—माधवीय १।१३

४. पद्म ४।५०

५. हरिवंश ४२।५-६

६. देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि दारपरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम्॥ महा १५।६४
तुलनीय—तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम्। गौतम ३।३; मनुस्मृति ३।७७-७८

जैनेतर प्राचीन ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम के महत्त्व का उल्लेख मिलता है।[1] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि गृहस्थ-धर्म साक्षात् स्वर्गादि के अभ्युदय एवं परम्परा से मोक्ष का कारण है।[2] महा पुराण में गृहस्थ के विषय में वर्णित है—पूजा करने वाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं और दूसरों से भी कराता है, जो वेद एवं वेदांग के विस्तार को स्वयं पढ़ता है तथा दूसरों को पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथ्वी का स्पर्श करता है तथापि पृथ्वी सम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणों से इसी पर्याय में देव पर्याय को प्राप्त होता है, जिसके अणिमा अर्थात् छोटापन नहीं है, किन्तु महिमा है, जिसके गरिमा है परन्तु लघिमा नहीं है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओं के गुण विद्यमान हैं। उपर्युक्त गुणों से जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देवरूप हो रहा है और लोक को उल्लंघन करने वाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है। ऐसा भव्य गृहस्थ पृथ्वी पर पूजित होता है। सत्य, शौच, क्षमा और दम्भ आदि धर्म सम्बन्धी आचरणों से वह अपने में प्रशंसनीय देवत्व की सम्भावना करता है।[3] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि वे गृहस्थधर्म के सुख में लीन विवेकी श्रावक हो गये।[4] महा पुराण में गृहस्थों को वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्त्वम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह आदि शब्दों से सम्बोधित कर उनका सत्कार करते थे।[5] हरिवंश पुराण में गृहस्थ को धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ का सेवन करते हुए दिखाया गया है।[6] यही कारण है कि गृहस्थ अपनी स्त्री में संतोष रखते हैं, जिससे उनमें काम शुद्धि पायी जाती थी।[7] पद्म पुराण में गृहस्थ धर्म को मुनिधर्म का छोटा-भाई कहा गया है।[8] जैन पुराणों में

---

१. मनुस्मृति ६।८९-९०; विष्णुधर्मसूत्र ५९।२७-२९; वसिष्ठ ७।१७, ८।१४-१६; बौधायनधर्मसूत्र २।२।१; महाभारत, उद्योगपर्व ४०।२५; शान्तिपर्व २७०।६-७

२. हरिवंश १८।५१

३. महा ३९।१०३-१०७

४. पद्म १०९।१२५

५. वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्त्वमः।
निस्तारको ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः॥ महा ३८।१४७

६. हरिवंश ६४।८

७. महा ३९।३१

८. पद्म ३२।१४६

गृहस्थ धर्म के दान, शील, पूजा एवं पर्व के दिन उपवास कृत्यों का वर्णन है।[1] इसी मन्तव्य को पद्म पुराण में अन्य शब्दों में उद्धृत किया गया है—प्रयत्नपूर्वक सामयिक करना, प्रोषधोपवास धारण करना, अतिथिसंविभाग और आयु का क्षय उपस्थित होने पर सल्लेखना धारण करना—(धार्मिक मृत्यु)—ये चार शिक्षा व्रत हैं।[2] पद्म पुराण और महा पुराण में दिग्विरति, देशविरति एवं अनर्थदण्डविरति—ये तीन गुणव्रत हैं। कोई विद्वान् भोगोपभोग परिमाणव्रत को भी गुणव्रत कहते हैं और देशव्रत को शिक्षाव्रत में सम्मिलित करते हैं।[3] हरिवंश पुराण में दिशा, देश और अनर्थदण्डों से विरत होने को गुणव्रत कहते हैं।[4]

महा पुराण में वर्णित है कि जिनेन्द्र देव ने गृहस्थों के लिए ग्यारह स्थान (प्रतिमाएँ) बतलायी है : दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, दिवामैथुनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग।[5]

जैन पुराणों में अहिंसा पर बल दिया गया है, इसी लिए व्रती लोग हरे अंकुरों में जीव होने के कारण उनके वध की आशंका से हरे अंकुरों पर नहीं चलते हैं।[6] महा पुराण में गृहस्थों द्वारा असि, मषि आदि षट्कर्म करने पर हिंसा के दोष का प्रश्न उठाया है। यह मनुष्य उत्तमोत्तम भोग करता है[7] और बाद में मुनिदीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त करता था।[8]

महा पुराण में सद्गृहस्थ को विशुद्ध आचरण के साथ षट्कर्म करने का विधान है।[9] जैन पुराणों में गृहस्थों के बारह व्रतों का वर्णन प्राप्य है—पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत, इसके अतिरिक्त यथाशक्ति हजारों नियम धारण करने

१. महा ४१।१०४; हरिवंश १०।८
२. पद्म १४।१९९
३. महा १०।१६५; पद्म १४।१९८
४. हरिवंश १८।४६
५. महा १०।१५९–१६०
६. वही ३८।१७-१९
७. पद्म ९।२९६
८. वही ६।२९८
९. महा ३९।९९

पड़ते हैं।[1] जैन पुराणों के अनुसार पांच अणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—हैं, जिसें सूक्ष्मरीति से अर्थात् पूर्णरूप में (महाव्रत) धारण किये जावें तो मुनि का धर्म और यदि स्थूलरीति से धारण किये जावें तो गृहस्थ का धर्म है।[2]

आजीविका के छः कर्मों के करने से जो हिंसा का दोष लगता है उसके निवारणार्थ जैन धर्म में तीन मार्ग वर्णित हैं—पक्ष, चर्या एवं साधन। मैत्री, प्रमोद, कारूण्य, माध्यस्थ में वृद्धि एवं हिंसा का त्याग पक्ष है। देवता, मंत्र की सिद्धि, औषधि एवं भोजन बनाने में किसी जीव की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा तथा प्रतिज्ञा में प्रमाद से दोष लग जाने पर प्रायश्चित द्वारा उसकी शुद्धि करना और सब कुछ पुत्र को सौंपकर परित्याग करना गृहस्थ की चर्या है। आयु के अन्त में शरीर आहार एवं समस्त चेष्टाओं का त्याग कर ध्यान की शुद्धि से आत्मा को शुद्ध करना साधन है।[3] इस प्रकार न्यायमार्ग से अपने आत्मा के गुणों का उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त कर सद्गृहस्थ होता है।[4] जैन पुराणों में वर्णित है कि जो गृहस्थ अन्त समय सब प्रकार के आरम्भ का त्याग कर शरीर में भी निःस्पृह हो जाते हैं तथा समताभाव से मरण करते हैं, वे उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।[5] इसी को सल्लेखना कहते हैं।

पद्म पुराण और हरिवंश पुराण में गृहस्थों के नियमों की विवेचना की गयी है। गृहस्थाश्रमवासियों को मधु, मांस, शराब, जुआ, रात्रिभोजन और वेश्यासमागम से विरक्त होना ही नियम कहलाता है।[6] जैन ग्रन्थों में सूर्यास्त के बाद भोजन करने की अत्यधिक निन्दा की गयी है और ऐसे भोजन को अपवित्र पदार्थ की संज्ञा दी गयी है। इसी संदर्भ में पद्म पुराण में वर्णित है कि रात्रि में अमृत भी पीने का निषेध किया गया है। यदि रात्रि में कोई अमृत पीता है तो वह विष पीता है।[7]

---

१. पद्म १४।१८३; हरिवंश १८।४५, ५८।१४३; महा १०।१६२
२. महा १०।१६३; पद्म १४।१८०-१९९; हरिवंश १०।७
३. वही ३९।१४३-१४५
४. वही ३९।१२५
५. पद्म ४।४७; हरिवंश ५८।१५७
६. पद्म १४।२०२; हरिवंश ५८।१५७
७. पद्म १४।२७१-३०८, १०६।३२-३३

प्राचीन भारतीय संस्कृति में अतिथि का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अतिथियों की सेवा–सुश्रूषा आदि करना गृहस्थों का प्रधान कर्त्तव्य था। 'अतिथि' शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने किया है।[१] अतिथि उसे कहते हैं जो पूरे दिन नहीं रुकता है या एक रात्रि के लिए रुकता है।[२] जैनेतर ग्रन्थों में अतिथि के विषय में सविस्तार वर्णन हुआ है।[३]

हरिवंश पुराण में अतिथि की परिभाषा निरूपित करते हुए वर्णित है कि—जो संयम की वृद्धि के लिए निरन्तर भ्रमण करता रहता है वह अतिथि कहलाता है।[४] उसे शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधि से आहार आदि देना अतिथिसंविभाग व्रत है। अतिथिसंविभाग व्रत को भिक्षा, औषध, उपकरण और आवास के भेद से चार प्रकार का मानते हैं।[५]

जैन पुराणों में आतिथ्य-सत्कार पर विशेषतः बल दिया गया है। हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि अत्यधिक पुण्य के उदय होने पर ही अतिथि घर आते हैं।[६] अतिथि के आने पर सुगन्धित चन्दन, शुभ अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप, द्रव्य आदि द्वारा मनसा, वाचा एवं कर्मणा उन्हें नमस्कार करें।[७] हरिवंश पुराण में चान्द्रीचर्या (छोटे-बड़े सभी के घर जाने) का नियम अतिथि के लिए वर्णित है अर्थात् जैसे चन्द्रमा छोटे-बड़े सभी के यहाँ समान प्रकाश देता है, उसी प्रकार अतिथि को भी समान रूप से सभी के यहाँ जाना चाहिए।[८]

३. वानप्रस्थाश्रम : प्राचीन जैनेतर ग्रन्थों में वानप्रस्थ के अर्थ में

---

१. निरुक्त ४।५

२. मनुस्मृति ३।१०२; पराशर १।४२; मार्कण्डेय पुराण २५।२-६

३. ऋग्वेद ४।४।१०, ४।३३।७; अथर्ववेद ६।६; ऐतरेय ब्राह्मण २५।५; शतपथ ब्राह्मण २।१।४।२; कठोपनिषद् १।७।६

४. स संयमस्य वृद्ध्यर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः। हरिवंश ५८।१५८

५. हरिवंश ५८।१५८-१५९; तुलनीय—गौतम ५।२६-३४; आपस्तम्बधर्मसूत्र २।३।६।७-१५, मनुस्मृति ३।६६

६. हरिवंश १५।६

७. वही १५।१२

८. वही ६।१८०

'वैखानस' शब्द प्रयुक्त होता था।[1] जैन पुराणों में वानप्रस्थाश्रम के लिए परिव्राट्, नैष्ठिक, श्रावक शब्दों का प्रयोग हुआ है। महा पुराण में वर्णित है कि गृहस्थधर्म का पालन कर घर के निवास से विरक्त होते हुए पुरुष का जो दीक्षा ग्रहण करना है, उसे पारिव्रज्य कहते हैं।[2] इसी पुराण में आगे वर्णन आया है कि परिव्राट् का जो निर्वाण दीक्षा रूप भाव है, उसे पारिव्रज्य कहते हैं। इस पारिव्रज्य-क्रिया में ममत्व-भाव छोड़कर दिगम्बर रूप धारण करना पड़ता है।[3] पद्म पुराण में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया गया है कि जो परिग्रह को संसार का कारण समझकर उसे छोड़कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं, वे परिव्राजक कहलाते हैं। यथार्थ में मोक्षरहित निर्ग्रन्थ मुनि ही परिव्राजक हैं।[4] परिव्राजक की परिभाषा को निरूपित करते हुए महा पुराण में वर्णित है कि जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है, उसी को यथार्थ में पारिव्राजक कहते हैं।[5] इसी पुराण के अनुसार मोक्ष के अभिलाषी पुरुष की शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थ आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[6]

महा पुराण में पारिव्राजक की योग्यता के विषय में वर्णित है कि जिसका कुल एवं गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभाशाली है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने के योग्य माना गया है।[7] उक्त पुराण में पारिव्राजक के लक्षण का उल्लेख है कि जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीर की सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता,

---

१. ऋग्वेद ६।६६; तैत्तिरीयारण्यक १।२३; गौतम धर्मसूत्र ३।२; बौधायनधर्मसूत्र ३।६।१६
२. महा ३६।१५५
३. वही ३६।१५६; तुलनीय—वानप्रस्थ अवस्था में मनुष्य वन में कठोर नियमों का पालन करते हुए रहता है। याज्ञवल्क्य ३।४५
४. पद्म १०६।८६
५. महा ३६।१६६
६. वही ३६।१५७
७. वही ३६।१५८

वाहन, भाषा, आहार और सुख–ये जाति आदि २७ सूत्रपद कहलाते हैं, जिनके निर्माण होने से पारिव्रज्य का साक्षात् लक्षण प्रकट होता है।[1] ये लक्षण सामान्य पारिव्राजक में नहीं, अपितु तीर्थंकरों में प्राप्य थे। इन लक्षणों का कुछ अंश सामान्य पारिव्राजक में उपलब्ध होता था।

४. संन्यासाश्रम : जैन पुराणों में संन्यासी के लिए प्रायोपगमन, भिक्षुक-संज्ञक, मुनिदीक्षा नामों का उल्लेख मिलता है। संन्यास (मुनि) धर्म की विस्तृत विवेचना आगे किया गया है। महा पुराण में संन्यासाश्रम के विषय में अधोलिखित जानकारी प्राप्त होती है। मुनियों ने संन्यास का नाम प्रायोपगमन बतलाया है, जिसमें संसारी जीवों के रहने योग्य ग्राम-नगर आदि से हटकर किसी वन में जाना पड़े, उसे प्रायोपगमन कहते हैं।[2] प्रायोपगमन संन्यास में शरीर का न उपचार करते हैं और न दूसरे से उपचार कराते हैं। शरीर से ममत्व नहीं रखते। जैसे कोई शत्रु के मृतक शरीर को छोड़कर निराकुल होते हैं।[3]

मुनिमार्ग से च्युत होने तथा कर्मों की विशाल निर्जरा होने की इच्छा से संन्यासी को क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषधा, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कारपुरस्कार ये बाइस परिषह को सहन करना चाहिए।[4] क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिञ्चन और ब्रह्मचर्य दस धर्म संन्यासी को धारण करना चाहिए।[5]

सज्जन लोग तपस्या हेतु जंगल में जाया करते थे।[6] आयु के अन्त समय में राजा मुनि के पास संन्यास धारण करते थे।[7] प्रायोपगमन संन्यास के द्वारा धनपति नामक राजा ने जयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।[8] किसी पर्वत पर संयम

---

१. महा ३६।१६२-१६५
२. वही ११।६७
३. वही ११।६८
४. वही ११।१००-१०२
५. वही ११।१०३-१०४
६. वही ६३।२२८
७. वही ६३।२४६
८. वही ६५।६

धारण कर एक महीने तक प्रायोपगमन संन्यास धारण करने के बाद अन्त में शान्त परिणामों से शरीर छोड़कर अहमिन्द्र पद प्राप्त करते हैं।[1] महा पुराण के अनुसार इसमें मुनिदीक्षा सम्पन्न होती है और सांसारिक एवं कर्मबन्धन को तोड़ने का प्रयास किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन पुराणकारों ने यद्यपि पारम्परिक पुराणों एवं धर्मों की तरह आश्रम-व्यवस्था का श्रौत-स्मार्त-परम्परा सम्मत विवेचन नहीं किया है, तथापि प्रकारान्तर से चारों आश्रम का वर्णन किया है। जैन पुराणकारों का उक्त विवेचन विशेषतः इस बात की ओर भी इंगित करता है कि श्रौत-स्मार्त परम्परा में प्रत्येक आश्रम के लिए आयु का जो सीमांकन किया गया है, जैन पुराणकारों ने अनिवार्यतः आवश्यक नहीं माना है।

विशेषतः एक बात और ध्यान देने की है कि गृहस्थाश्रम का वर्णन करते हुए जैन पुराणकारों ने विवाह और संतानोत्पत्ति का स्पष्टतः उल्लेख किया है। पुराणकारों की इस दृष्टि का और स्पष्ट उदाहरण आगे जाकर सोमदेव के 'उपासकाध्ययन' तथा आशाधर के 'सागार धर्मामृत' में प्राप्त होता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन एवं अनुसंधान करते समय जैनों की इस महत्त्वपूर्ण सामग्री का उपयोग किया जाना चाहिए।

---

१. महा ६३।३३६-३३७

[घ] संस्कार [क्रिया]

[१] **'संस्कार' शब्द : व्युत्पत्ति एवं अर्थ :** 'संस्कार' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है : एक व्युत्पत्तिमूलक और दूसरा व्यवहारमूलक। जहाँ तक प्रथम व्याख्या का सम्बन्ध है, इस शब्द की निष्पत्ति 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु में 'घञ्' प्रत्यय से मानी गई है। 'संस्क्रियते अनेन इति संस्कारः'। इसका अर्थ है संस्करण या परिमार्जन अथवा शुद्धीकरण। मूलतः इसका तात्पर्य शुद्धीकरण से है, जिसका प्रयोग संस्कृत साहित्य में अनेक अर्थों में हुआ है, जैसे शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, स्मरणशक्ति, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक-विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता आदि अर्थों में हुआ है। कतिपय विद्वानों ने 'संस्कार' शब्द को लैटिन के 'सीरीमोनिया' (Caerimonia) और अंग्रेजी के 'सेरीमनी' (Ceremony) शब्दों का समस्तरीय माना है। 'संस्कार' शब्द का इन दोनों शब्दों में मौलिक समानता भले ही हो, किन्तु व्यापक अभिप्राय में इनमें पर्याप्त भिन्नता है। 'सीरीमोनिया' और 'सेरीमनी' शब्द सामान्यतः धार्मिक कृत्यों के द्योतक हैं। द्वितीय, व्यवहारमूलक व्याख्या की दृष्टि से 'संस्कार' शब्द इनसे पर्याप्त भिन्न है। इसका अभिप्राय नितान्त बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासनपरक अनुष्ठान, आडम्बर, निस्तत्त्व कर्मकाण्ड, राज्य के द्वारा निर्दिष्ट प्रचलनों, औपचारिकताओं तथा अनुशासनपरक व्यवहार से नहीं है। ऐसी स्थिति में संस्कार को उक्त दोनों शब्दों का समानार्थक नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत 'संस्कार' शब्द के तात्पर्य से न्यूनाधिक सीमा तक समता रखने वाला अंग्रेजी का 'सेक्रामेण्ट' (Sacrament) शब्द है, जिसका उद्देश्य है आन्तरिक शुचिता और जिसके विधि-विधान आन्तरिक शुचिता के दृश्यमान बाह्य प्रतीक माने जा सकते हैं।

सामान्यतया प्राचीन भारतीय आदर्श के व्यवस्थापकों ने 'संस्कार' का तात्पर्य ऐसी क्रिया से माना है, जिसके द्वारा व्यक्ति-विशेष की पात्रता सामाजिक गतिविधि के अनुकूल बनाई जाती थी, उदाहरणार्थ, जैमिनी-सूत्र (३।१।३) की व्याख्या में शबर ने संस्कार शब्द की व्याख्या करते हुए वर्णन किया है कि 'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'—संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है। इसी प्रकार कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में कहा है कि—'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते'—

संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं, जो योग्यता प्रदान करती हैं।[1]

[२] 'संस्कार' के प्रति जैन पुराणों का दृष्टिकोण : तात्पर्य एवं व्याख्या : प्रारम्भ काल में जैन धर्म में 'संस्कार' नहीं था। किन्तु श्रौत-स्मार्त ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के कारण महा पुराण में गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त सभी क्रियाओं (संस्कार) के विषय में विशद् वर्णन उपलब्ध है। इसके पूर्व अन्य किसी भी जैन ग्रन्थ में इस प्रकार का विस्तृत वर्णन प्राप्य नहीं होता है। यद्यपि आलोच्य जैन पुराणकार संस्कारों के विषय में भारतीय व्यवस्थापकों के सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल हैं, किन्तु युग-विशेष की परिवर्धित परिस्थितियों के कारण और विशेषतया साम्प्रदायिक आग्रह के फलस्वरूप इनके वर्णन अधिकांशतः भिन्न अवश्य ही पाये गये हैं। संस्कार के लिए जैन पुराणों में 'क्रिया' शब्द व्यवहृत हुआ है। ये 'क्रियाएँ' या 'संस्कार' व्यक्ति के निजी जीवन से सम्बद्ध रहती हैं। गर्भाधान से निर्वाण पर्यन्त जो क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, उन्हें ही संस्कार समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त गर्भ से मरणपर्यन्त जो क्रियाएँ अन्य लोगों ने कही हैं, वे यथार्थ नहीं हैं।[2] महा पुराण के अनुसार जीवों का जन्म दो प्रकार का है—शरीर-जन्म तथा संस्कार-जन्म। 'शरीर-जन्म' में प्रथम शरीर का क्षय हो जाने पर दूसरे पर्याय में अन्य शरीर की प्राप्ति होती है और 'संस्कार-जन्म' में संस्कार के योग से आत्मलाभ प्राप्त पुरुष को द्विजत्व की प्राप्ति होती है।[3] जन्म के समान मृत्यु भी दो प्रकार का कथित है—शरीर-मृत्यु और संस्कार-मृत्यु। आयु के अन्त में शरीर त्यागने को 'शरीर-मृत्यु' एवं व्रती पुरुषों द्वारा पापों के परित्याग करने को 'संस्कार-मृत्यु' कहते हैं।[4]

'संस्कार' की महत्ता प्रदर्शित करते हुए वर्णित है कि जो भी व्यक्ति आलस्य-रहित यथाविधि संस्कारों (क्रियाओं) का सम्पादन करते हैं, उन्हें परमधाम एवं उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। संसार के भवबन्धन, जन्म, वृद्धावस्था एवं मृत्यु से उन्हें मुक्ति मिलती है। ऐसे पुरुष श्रेष्ठ जाति में जन्म ग्रहण कर सद्गृहस्थ एवं परिव्रज्या को व्यतीत कर स्वर्ग में इन्द्र की लक्ष्मी प्राप्त करते हैं। स्वर्ग से च्युत होने पर क्रमशः

---

१. काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, खण्ड १, पृ० १६०; राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, वाराणसी, १९६६, पृ० १७-१८
२. महा ३९।२५
३. वही ३९।११९–१२१
४. वही ३९।१२२

चक्रवर्ती तथा अर्हन्त पद के बाद निर्वाण को प्राप्त करते हैं।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कार को सम्पन्न करने पर क्रमशः अभ्युदय की उपलब्धि होती है।

[३] संस्कारों के भेद-भेदान्तर : जहाँ तक संस्कारों के प्रकारों एवं भेद-भेदान्तर का प्रश्न है, इनकी संख्या के विषय में भारतीय परम्परा निश्चित नहीं है। उदाहरणार्थ, गौतम, शंख और भिताक्षरा ने ४०; वैखानस ने १८ शरीर के एवं २२ यज्ञों के; अंगिरा ने २५ तथा व्यास ने षोड्स संस्कारों का उल्लेख किया है। कुछ व्यवस्थापक इनकी संख्या के विषय में मौन हैं। यद्यपि कुछ संस्कारों का उल्लेख इन्होंने अवश्य किया है, किन्तु आधुनिक समीक्षकों का ऐसा विचार है कि लोक-प्रचलित सर्वमान्य संस्कारों की संख्या सोलह है।[2]

जहाँ तक जैनाचार्यों का प्रश्न है, उन्होंने संस्कारों (क्रियाओं) को प्रधानतया तीन वर्गों में विभक्त किया है—(अ) गर्भान्वय क्रिया, (ब) दीक्षान्वय क्रिया तथा (स) कर्त्रन्वय क्रिया। अन्त्येष्टि क्रिया को इन प्रकारों में कहीं सम्मिलित नहीं किया गया है, अपितु इसका उल्लेख पृथक्तः हुआ है।

[अ] गर्भान्वय क्रिया : महा पुराण में गर्भान्वय क्रिया के अन्तर्गत अधो-लिखित तिरपन क्रियाओं का उल्लेख मिलता है, जो कि गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यन्त हैं। इसके साथ यह भी वर्णित है कि भव्य पुरुषों को सदा उनका पालन करना चाहिए और द्विजों की विधि के अनुसार इन क्रियाओं को करनी चाहिए।[3] ये क्रियायें सम्यग्दर्शन की शुद्धता को धारण करने वाले जीवों की होती हैं।[4]

१. **आधान क्रिया** : जैनेतर ग्रन्थ पूर्वमीमांसा में वर्णित है कि जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। गौतम के अनुसार इसके दो अन्य नाम भी हैं—गर्भालम्भन तथा गर्भाधान।[5]

---

१. महा ३९।२०८-२११
२. काणे—वही, पृ० १९३–१९४; राजबली पाण्डेय—वही, पृ० २६
३. अति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गर्भादिकाः सदा।
भव्यात्मभिरनुष्ठेयाः त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात्॥
यथोक्त विधिनैताः स्युः अनुष्ठेया द्विजन्मभिः॥ महा ३८।३१०–३११
४. महा ६३।३०३
५. राजबली पाण्डेय—वही, पृ० ५९

महा पुराण के अनुसार पत्नी के रजस्वला होने पर जब वह चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हो जाती है तब उसे आगे कर अर्हन्तदेव की पूजा के द्वारा, मंत्रपूर्वक जो संस्कार (क्रिया) किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते हैं।[1] आधान आदि क्रियाओं में सर्वप्रथम तीन छत्र, तीन चक्र तथा तीन अग्नियाँ स्थापित करनी चाहिए। वेदि के मध्य विधिपूर्वक जिन-देव की प्रतिमा को स्थापित कर उनकी पूजा करनी चाहिए।[2]

महा पुराण में इस अनुष्ठान में पीठिका, जाति, निस्तारक, ऋषि, सुरेन्द्र, परमराजादि तथा परमेष्ठी से सम्बन्धित मन्त्रों का यथाविधि विनियोग करने का विधान है।[3] गर्भाधान के समय 'सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव' आदि मंत्रों का विनियोग करना चाहिए।[4] इस प्रकार के अनुष्ठान को यथाविधि सम्पन्न कर पति-पत्नी को विषयानुराग में विरत होकर केवल सन्तान की कामना से सम्भोग में प्रवृत्त होना चाहिए।[5] जैनेतर साक्ष्यों के अनुसार भी इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य उत्तम सन्तानों की प्राप्ति से रहा है।[6]

---

१. आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः।
पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया॥ महा ३८।७०
तुलनीय—बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।२१; आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१३।१; शांखायनगृह्यसूत्र १।१८–१९; पारस्करगृह्यसूत्र १।११; मनुस्मृति ३।२; याज्ञवल्क्य १।७९

२. महा ४०।३-४, ३८।७१–७५; तुलनीय—अथर्ववेद ३।२३।२

३. वही ४०।५-७६

४. वही ४०।९२–९५,
विष्णुर्योनिं जपेत्सूक्तं योनिं स्पृष्ट्वा त्रिभिर्व्रती।
गर्भाधानस्याकरणादस्यां जातस्तु दुष्यति॥
तुलनीय—वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृष्ठ १७५ पर उद्धृत; राजबली पाण्डेय—वही, पृ० ६९

५. महा ३८।७६

६. एस० एन० राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८, पृ० २१७–२१८

२. **प्रीति क्रिया** : 'प्रिय' धातु से 'ति' प्रत्यय होने से 'प्रीति' शब्द निर्मित हुआ है। इसका अर्थ तर्पण या इच्छा है। गर्भाधान के बाद तीसरे महीने में प्रीति नामक क्रिया सम्पादित होती है। सन्तुष्ट हुए द्विज लोग इसे करते हैं। इस क्रिया में भी गर्भाधान के समान जिनेन्द्रदेव की पूजा का विधान है। अपने घर के दरवाजे पर तोरण बाँधकर दो पूर्ण कलशों की स्थापना विहित है। उस दिन से लेकर गृहस्थों को प्रतिदिन अपने वैभव के अनुसार घंटा और नगाड़ा बजवाना चाहिए।[1] गर्भिणी पत्नी के मनोविनोदार्थ महा पुराण में अनेक उपाय वर्णित हैं जिनमें जल-क्रीड़ा, वनविहार, कथा, गोष्ठी आदि हैं।[2] इस क्रिया में 'त्रैलोकनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्न-स्वामी भव' मंत्रों का विनियोग करते हैं।[3] वैदिक सीमन्तोन्नयन संस्कार[4] की तुलना प्रीति क्रिया से की जा सकती है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य गर्भसंरक्षण एवं स्त्री को प्रसन्न करना है।

३. **सुप्रीति क्रिया** : गर्भाधान के पाँचवें माह में प्रसन्न हुए उत्तम श्रावकों द्वारा सुप्रीति क्रिया सम्पन्न की जाती थी। इस क्रिया में भी मंत्र और क्रियाओं के ज्ञाता श्रावकों को अग्नि तथा देवता को साक्षी कर पूर्व कथित सभी विधियों को सम्पन्न करना चाहिए।[4] सुप्रीति क्रिया के विशेष मंत्र इस प्रकार हैं—'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव।'[5] वैदिक पुंसवन-संस्कार[6] के समान यह क्रिया है।

४. **धृति क्रिया** : 'धृञ्' धातु भाव अर्थ में 'ति' प्रत्यय होने से 'धृति' शब्द धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गर्भ के सातवें मास में समावृत तथा अविकल-

---

१. महा ३८।७७–७९
२. वही १२।१८७
३. वही ४०।९६
४. आश्वलायन १४।१–९; शांखायन १।२२; बौधायन १।१०; गोभिल २।७।१–१२; पारस्कर १।१५
५. महा ३८।८०–८१
६. वही ४०।९७–१००
७. आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१३।२–७; वैखानस ३।११; आपस्तम्बगृह्यसूत्र १४।१०

चित्त गृहस्थों को गर्भ की वृद्धि के लिए पूर्व क्रियाओं के समान धृति क्रिया करनी चाहिए।[1] धृति क्रिया के विशेष मंत्र ये हैं—'सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव'।[2] जिस प्रकार गर्भ-रक्षा के निमित्त वैदिक प्रस्थान में पशुबलि[3] विहित है, उसी प्रकार जैन आचार्यों ने धृति क्रिया का विधान किया है।

५. मोद क्रिया : नवें मास के निकट होने पर द्विजों द्वारा गर्भ की पुष्टि हेतु मोद क्रिया की जाती है। इस क्रिया में श्रेष्ठ द्विजों को गर्भिणी के शरीर पर गात्रिका-बन्ध करना चाहिए अर्थात् अभिमन्त्रित बीजाक्षर लिखना, मंगलमय आभूषणादि पहनाना, रक्षा के लिए के कंकणसूत्र आदि बाँधना चाहिए।[4] मोद क्रिया का विधायक मंत्र यह है—'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिककल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौराज्यकल्याणभावी भव महाराजकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव।'[5] वैदिक सोष्यन्तीकर्म[6] का जैनियों ने मोद क्रिया में अनुहरण किया है।

६. प्रियोद्भव क्रिया (जातकर्म विधि) : सन्तान के उत्पन्न हो जाने पर प्रियोद्भव (जातकर्म) नाम की क्रिया की जाती है। यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण कर विधिपूर्वक करने का विधान है।[7] प्रियोद्भव क्रिया में भगवान् के पूजन के बाद इन विशेष मंत्रों के पढ़ने का विधान है—'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा'।[8] जन्म के बाद पिता बालक को

---

१. महा ३८।८२
२. वही ४०।१०१; तुलनीय—ऋग्वेद १०।६।१-३; तैत्तिरीय संहिता ४।१।५।११
३. वशिष्ठ, द्रष्टव्य, संस्कार प्रकाश, पृ० १७८
४. महा ३७।८३–८४
५. वही ४०।१०२–१०७
६. बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।२३; आपस्तम्बगृह्यसूत्र १४।१३–१५; पारस्करगृह्यसूत्र १।१६
७. महा ३८।८५; हरिवंश ८।१०५; तुलनीय—तैत्तिरीय संहिता २।२।५।३–४; जैमिनि ४।३।३८; बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।२; विष्णु पुराण ३।१०।१–५
८. महा ४०।१०८–१०९

आशीर्वाद देकर उसके समस्त अंशों का स्पर्श करे और उसमें नाना संकल्प करे। उसके जरायु पटल को नाभि की नाल के साथ-साथ किसी पवित्र जमीन को खोदकर मंत्र पढ़ते हुए गाड़ देना चाहिए। 'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा—' मंत्र से अभिमंत्रित कर उस भूमि में जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकार के रत्नों के नीचे वह गर्भ का मल रख देना चाहिए। तदुपरान्त गरम जल से माता को स्नान कराना चाहिए। संतान के जन्म के तीसरे दिन 'अनन्तज्ञानदर्शी भव' मंत्र पढ़कर पुत्र को गोदी में उठाकर आकाश दिखाने तथा यथाशक्ति दान देने का उल्लेख उपलब्ध है।[1]

७. **नामकर्म क्रिया :** संतान उत्पन्न होने के बारह दिनों के बाद नामकर्म क्रिया का विधान है। माता, पिता तथा संतान के मंगलकारक एवं सुखदायक दिन को यह क्रिया करने का विधान है। इस क्रिया में अपने वैभव के अनुसार अर्हन्तदेव, ऋषियों की पूजा तथा द्विजों का सत्कार करना अनिवार्य है। संतान का नाम वंश-वर्धक होना चाहिए। जैनियों के अनुसार 'घटपत्र-विधि' का प्रयोग कर अर्हन्तदेव के १००८ नामों में से कोई नाम (सन्तान का) रखना प्रशस्त माना गया है।[2] नामकर्म क्रिया का विशेष मंत्र इस प्रकार है—'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्र-नामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव।'[3] आचार्य गुणभद्र के अनुसार नामकर्म क्रिया अन्नप्राशन क्रिया के बाद भी की जा सकती है।[4]

८. **बहिर्यान क्रिया :** सन्तान-जन्म के दो-चार माह बाद किसी दिन शुभवेला में तुरही आदि मंगलवाद्यों को बजाते हुए पहली बार उसे प्रसूतिगृह से बाहर ले जाने का नियम है, इसे बहिर्यान क्रिया कहते हैं। जिस दिन यह क्रिया की जाय उसी दिन से माता या धाय की गोद में बैठे हुए शिशु का प्रसूतिगृह से बाहर ले जाना शास्त्र सम्मत है। इस क्रिया को करते समय बालक को भाई-बन्धु

---

१. महा ४०।१९०–१३१

२. वही ३८।८७-८९; तुलनीय–आपस्तम्बगृह्यसूत्र १५।८-११; आश्वलायनगृहसूत्र १।१५।४-१०; बौधायनगृह्यसूत्र २।१।२३-३१; वैखानस ३।१९; पारस्करगृहसूत्र १।१७; विष्णुपुराण ३।१०।८; ज्ञातव्य है कि 'घटपत्रविधि' आधुनिक युग में प्रचलित लाटरी के समान रही होगी।

३. महा ४०।१३२-१३३

४. वही ७५।२५०

आदि से उपहारस्वरूप प्राप्त धन एकत्र कर कालान्तर में पिता के धन का उत्तराधिकार प्राप्त करने के समय उसे देने का नियम है।[1] बहिर्यान क्रिया का विशेष मंत्र इस प्रकार है—'उपनयननिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव'।[2]

९. **निषद्या क्रिया** : इस क्रिया में बालक को मंगलकारक आसन पर बैठाया जाता है। इस आसन के समीप मंगल-कलश की स्थापना की जाती है। निषद्या क्रिया में सिद्ध भगवान् की पूजा आदि सभी विधियाँ पूर्ववत् विहित हैं। इस क्रिया के कारण बालक भविष्य में निरन्तर दिव्य आसनों पर आसीन होने की योग्यता का अर्जन करता है।[3] निषद्या क्रिया में विनियुक्त मन्त्र इस प्रकार हैं—'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव'।[4]

१०. **अन्न प्राशन क्रिया** : जन्म के सात-आठ मास पश्चात् बालक को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है, इसे अन्नप्राशन क्रिया कहा जाता है। अन्नप्राशन क्रिया के पूर्व अर्हन्त की पूजा का विधान है।[5] अन्नप्राशन क्रिया का विशेष मंत्र इस प्रकार है 'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव'।[6]

११. **व्युष्टि क्रिया (वर्ष वर्धन)** : 'वि' पूर्वक 'उष्' धातु से 'ति' प्रत्यय से व्युष्टि शब्द बना, जो विशेष रूप से जलने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. महा ३८।६०-६२;
तुलनीय—गोभिल २।७।१-७; खादिर २।३।१-५; काठगृह्यसूत्र ३७-३८

२. महा ४०।१३५-१३६, तुलनीय—पारस्करगृह्यसूत्र १।१७; बौधायनगृह्यसूत्र १।१२

३. वही ३८।६३-६४

४. वही ४०।१४०

५. वही ३८।६५; तुलनीय—आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१६।१-२; शांखायनगृह्यसूत्र १-२७; आपस्तम्बगृह्यसूत्र १६।१-२; मनु २।३४; याज्ञवल्क्य १।१२

६. महा ४०।१४१-१४२

सन्तान के जन्म के एक वर्ष पूर्ण हो जाने पर व्युष्टि क्रिया की जाती है। इसका अन्य नाम शास्त्रानुसार 'वर्ष वर्धन' है। इसमें भी पूर्ववत् जिनेन्द्र की पूजा तथा दान देने का विधान है। वर्ष वर्धन के अवसर पर निखिल इष्ट-बन्धुओं को सादर निमंत्रित कर भोजन कराने का नियम भी है।[1] इस क्रिया का विशिष्ट मंत्र यह है—'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-वर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परम-राज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव।[2]

१२. केशवाप क्रिया (चूड़ाकर्म क्रिया) : केशवाप का अभिप्राय है मुण्डन। किसी शुभ दिन में देव तथा गुरु की पूजा इस क्रिया में अनिवार्य है। सर्वप्रथम शिशु के केशों को सुगन्धित जल से भिगोया जाता है। पूजित हुए अवशिष्ट अक्षत को केशों पर रखने का नियम है। तदनन्तर स्वकुल की रीति के अनुसार क्षौर-कर्म किया जाता है। इसी समय शिखा रखने का भी विधान है। मुण्डन होने के बाद शुद्ध जल से बालक को स्नान कराकर उसके शरीर को विविध सुगन्धित द्रव्यों से अनुलिप्त कर अलंकरणों से अलंकृत किया जाता है। सुस्नात, गन्धानुलिप्त तथा समलंकृत शिशु मुनियों एवं सभी को नमस्कार करता है। उस बालक को भाई-बन्धु आशीर्वाद भी देते हैं। इस क्रिया में पुण्याहमंगल किया जाता है और यह चौल क्रिया के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रिया में समागत लोग सहर्ष प्रवृत्त होते हैं।[3] इस क्रिया का विशेष मंत्र यह है—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारकेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव।[4]

---

१. महा ३८।६६–७६; तुलनीय—गोभिलगृह्यसूत्र २।८।१६–२०; शांखायनगृह्यसूत्र १।२५।१०–११; बौधायनगृह्यसूत्र ३।७।१-२

२. महा ४०।१४३–१४६

३. केशवापस्तु केशानां शुभेऽह्नि व्यपरोपणम्।

× × ×

क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा॥ महा ३८।६८।१०१;
तुलनीय—आश्वलायनगृह्यसूत्र १७।१–१८; आपस्तम्बगृह्यसूत्र १६।३–१८; पारस्करगृह्यसूत्र १।२; हिरण्यकेशिनगृह्यसूत्र २।१६।१–१५; मनु २।३५

४. महा ४०।१४७–१५१

१३. लिपिसंख्यान क्रिया : अनेक शास्त्राचार्यों ने इस संस्कार को विद्यारम्भ, अक्षरारम्भ, अक्षरस्वीकरण, अक्षरलेखन आदि नामों से सम्बोधित किया है।[1] बालक के जन्म के पाँचवें वर्ष में अक्षर-ज्ञान कराने की विधि सम्पन्न करने की व्यवस्था है। इस क्रिया में भी अपने वैभव के अनुसार पूजा आदि का विधान है और अध्ययन कराने में कुलव्रती गृहस्थ को ही उस बालक के अध्यापक पद पर नियुक्त करना चाहिए।[2] इस क्रिया का विशेष मंत्र इस प्रकार है—'शब्दपारगामी भव, अर्थ-पारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव'[3] अर्थशास्त्र रघुवंश, उत्तररामचरित, कादम्बरी, अपरार्क, मार्कण्डेय पुराण, संस्कारप्रकाश एवं संस्काररत्नमाला में विद्यारम्भ-संस्कार का वर्णन उपलब्ध है।[4]

१४. उपनीति-क्रिया या उपनयन-संस्कार : 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से 'अन्' प्रत्यय होकर 'उपनयन' शब्द बनता है। गुरु के समीप शिष्य को लाना उपनीति अर्थात् गुरु के समीप लाया हुआ शिष्य। उपनयन संस्कार के बाद बालक आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाता है।

[१] समय : महा पुराण के अनुसार संस्कार के पूर्व सभी जन्म से ब्राह्मण होते हैं, किन्तु व्रतों से संस्कृत होने से द्विजन्म गुण से युक्त होने के कारण द्विज कहलाते हैं।[5] महा पुराण में वर्णित है कि गर्भ के आठवें वर्ष में बालक की उपनीति (उपनयन) क्रिया होती है। इसमें केश-मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जीबन्धन की क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। सर्वप्रथम बालक का जिनालय में अर्हन्तदेव की पूजा के उपरान्त मौञ्जीबन्धन का विधान है। तदनन्तर ब्रह्मचारी को शिखाधारी, धवल उत्तरीय तथा धौत वस्त्र से सज्जित, विकृत वेष रहित व्रत के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत

---

१. राजबली पाण्डेय—वही, पृ० १३७
२. महा ३८।१०२-१०३
३. वही ४०।१५२; तुलनीय—'श्रीगणेशायनमः, सरस्वत्यैनमः, गृहदेवताभ्योनमः, लक्ष्मीनारायणभ्यां नमः, ऊँ नमः सिद्धाय।' राजबली पाण्डेय—वही, पृ० १४१-१४२
४. पी० वी० काणे—वही, पृ० २६६-२६७
५. महा ४०।१५६; तुलनीय—गौतमधर्मसूत्र १।२

को धारण कराया जाता है।[1]

जैनेतर ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के उपनयन के लिए क्रमशः ८, ११ एवं १२ वर्ष की आयु का विधान है। ऐसा सम्भव न होने पर विशेष परिस्थिति में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के लिए क्रमशः १६, २२ एवं २४ वर्ष की आयु की भी व्यवस्था मिलती है।[2]

[२] **नियम :** उपनीति क्रिया के विशेष मंत्र इस प्रकार हैं—'परमनिस्तारकलिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेन्द्रलिंगभागी भव, परमराज्यलिंगभागी भव, परमार्हन्त्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभागी भव।'[3] इस मंत्र से बालक को विधिवत् अभिमंत्रित करके अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतों से युक्त गुरु की साक्षीपूर्वक विधिवत् संस्कार करना चाहिए। तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययन पढ़ाकर और चारित्र के योग्य उसका नाम रखकर अतिबल विद्या आदि का नियोग रूप से उपदेश देवें। फिर बालक सिद्ध भगवान् की पूजा करके अपने आचार्य की पूजा करे। इस अवसर पर बालक को अपनी जाति या कुटुम्ब के लोगों के घर में प्रवेश कर भिक्षा माँगने का विधान है और इस भिक्षा से जो कुछ अर्थ का लाभ हो उसे आदर सहित उपाध्याय को समर्पित कर दे। बालक को विद्या अध्ययन काल में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने का विधान है।[4]

---

१. महा ३८।१०४–१०६, ४०।१५६–१५८

२ गौतमधर्मसूत्र १।६–१४; वशिष्ठधर्मसूत्र ११।४६–५४; ७१।७३; आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१६।१–६; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।३।१–८, १।१।२।३८; आपस्तम्बगृह्यसूत्र ११।१५–१६; बौधायनगृह्यसूत्र २।५।७–१३; हिरण्यकेशिन् १।२।६; मनु २।४२

३. महा ४०।१५३–१५५; जैनेतर ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञोपवीत धारण करने के पूर्व इस मंत्र को पढ़ने का विधान है—
यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
बौधायनगृह्यसूत्र २।५।७

४. महा ४०।१६०–१६४, ३८।१०७–१०८;
तुलनीय—आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२२।७–८ एवं १७; बौधायनगृह्यसूत्र २।५।४३–५५; मनु २।१०८; गौतम २।१७; जैनेतर ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य छात्रों के लिए क्रमशः सात, तीन एवं दो घरों से भिक्षा माँगना अनिवार्य था। —कौशिकगृह्यसूत्र १।२२।६–७

[३] **यज्ञोपवीत** : यद्यपि जैनाचार्य यज्ञोपवीत को नहीं मानते थे, तथापि यज्ञोपवीत के विषय में उनके ग्रन्थों से जो सामग्री उपलब्ध होती है, उससे तत्कालीन समाज में यज्ञोपवीत की महत्ता प्रतिपादित होती है। इन्हीं का विवेचन आगे किया गया है।

(i) **व्युत्पत्ति एवं अर्थ** : 'यज्ञस्य उपवीतम् इति यज्ञोपवीत' विग्रह से षष्ठी-तत्पुरुष समास होकर यह निर्मित हुआ। इसका तात्पर्य है यज्ञ का अधिकार दिलाने वाला सूत्र। प्राचीन काल में धार्मिक अनुष्ठान करने के पूर्व यज्ञोपवीत संस्कार होना आवश्यक था।

(ii) **स्वरूप एवं प्रकार** : यज्ञोपवीत का उल्लेख न केवल प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है, अपितु पुरातात्त्विक उत्खननों से भी बहुत साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। देवगढ़ से यज्ञोपवीतधारी मूर्ति मिली है।[1] यज्ञोपवीत के मुख्य रूप से तीन प्रकार हैं : (अ) तीन लर, (ब) सात लर, एवं (स) ग्यारह लर।

(अ) तीन लर के यज्ञोपवीत के दो उप भेद हैं : द्रव्यसूत्र एवं भावसूत्र। तीन लर के यज्ञोपवीत को द्रव्यसूत्र से सम्बोधित किया गया है और इसके धारण करने से हृदय में उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य रूपी गुणों से बना हुआ विचार भाव-सूत्र है।[2]

(ब) सात लरों का यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक माना जाता है।[3]

(स) जिन भगवान् की ग्यारह प्रतिमाओं के अनुहरण में ग्यारह लरों का यज्ञोपवीत एक-एक प्रतिमा के व्रत के चिह्न-स्वरूप होता है।[4]

(iii) **योग्यता** : महा पुराण में यज्ञोपवीत धारणार्थ योग्यता निश्चित की गयी है। असि, मसि, कृषि, शिल्प एवं वाणिज्य आदि षट्कर्मों द्वारा योग्यतानुसार अपनी आजीविका करने वाला द्विज ही यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी होता

---

१. भाग चन्द्र जैन—देवगढ़ की जैनकला, नई दिल्ली, १९७४, पृ० १३६

२. महा ३९।९४–९५, ३९।५९–१६७; हरिवंश ४२।५; तुलनीय—बौधायनधर्मसूत्र १।५।५

३. महा ३८।११२

४. वही ३८।२१–२२, ४१।३१

है।[1] जिसके कुल में दोष लग गया हो वह राजा की अनुमति से कुल-शुद्ध करके यज्ञोपवीत धारण कर सकता है। यदि उसके पूर्वज यज्ञोपवीत धारण करते होंगे तभी ऐसी शिथिलता दी जा सकती है।[2] नृत्य करना, गायन करना आदि विद्या एवं शिल्प से आजीविका करने वाले तथा अयोग्यकुल में उत्पन्न हुए व्यक्ति यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी नहीं हैं।[3] यदि ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ व्रती व्यक्ति यज्ञोपवीत धारण करने की इच्छा करता है, तो उसे संन्यासमरण पर्यन्त तक एक ही धोती पहननी होती है।[4]

(iv) **नियम** : यज्ञोपवीतधारी को महा पुराण में नियम से रहने को निर्देशित किया गया है। उसे निरामिष भोजन, विवाहिता कुलस्त्री का सेवन, आरम्भिकी हिंसा का त्याग करना होता है।[5] समीचीन मार्ग से भ्रष्ट होने वाले व्यक्ति का यज्ञोपवीत पाप का सूत्र होता है।[6] पापाचरण करने वालों का यज्ञोपवीत पाप चिह्न बताया गया है।[7]

१५. **व्रतचर्या क्रिया** : ब्रह्मचर्य व्रत के योग्य कमर में मौञ्जीबन्धन, जाँघ में सफेद धोती, वक्षस्थल पर यज्ञोपवीत और शिरस्त्व मुण्डन—इन चिह्नों को धारण करने वाले बालक की व्रतचर्या क्रिया होती है। प्रायः इस प्रकार बढ़े हुए स्थूल हिंसा का त्याग आदि व्रत उसे धारण करने का विधान है। ब्रह्मचारी को कठोर व्रत तब तक धारण करना चाहिए, जब तक समस्त विद्याएँ समाप्त न हो जाएँ। ब्रह्मचारी को गुरु के मुख से श्रावकाचार, आध्यात्मशास्त्र, व्याकरण, न्याय, अर्थशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र, गणितशास्त्र आदि विषयों को पढ़ने की व्यवस्था है।[8]

---

१. महा ४०।१६७
२. वही ४०।१६८–१६९
३. वही ४०।१७०
४. वही ४०।१७१
५. वही ४०।१७२
६. वही २९।११८
७. वही ४१।५३
८. वही ३८।१०९–१२०, ४०।१६५–१७३; तुलनीय—शतपथब्राह्मण ११।५।४।१–१७; आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२२।२; पारस्करगृह्यसूत्र २।३; काठकगृह्यसूत्र ४१।१७; गौतम २।१०–४०; मनु २।४९–२४९

१६. व्रतावतरण क्रिया : समस्त विद्याओं का अध्ययन कर लेने वाले ब्रह्मचारी की व्रतावतरण क्रिया होती है। इस क्रिया में साधारण व्रतों का पालन किया जाता है, परन्तु अध्ययन के समय जो विशेष व्रत की व्यवस्था है, उसका परित्याग किया जाता है। इस क्रिया के उपरान्त उसके मधु, मांस, पाँच उदुम्बर फल और हिंसा आदि पाँच स्थूल पापों का त्याग—ये जीवनपर्यन्त रहने वाले व्रत रह जाते हैं। यह व्रतावतरण क्रिया गुरु की साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र की पूजा कर बारह या सोलह वर्ष बाद करने की व्यवस्था है। पहले द्विजों का सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है। व्रतावतरण के बाद गुरु की आज्ञा से वस्त्र, आभूषण, माला आदि का ग्रहण किया जाता है। इसके बाद वह अपनी आजीविका ग्रहण करता है। परन्तु जब तक आगे की क्रिया सम्पन्न नहीं होती है, तब तक काम परित्याग रूप महाव्रत का पालन करता है।[1]

१७. विवाह क्रिया : विवाह क्रिया का विस्तृत अध्ययन आगामी पृष्ठों पर पृथक से प्रस्तुत किया गया है।

१८. वर्णलाभ क्रिया : अपने धर्म का उल्लंघन न करने के लिए विवाहित गृहस्थ की वर्णलाभ क्रिया की जाती है। पिता के घर में रहकर वह (गृहस्थ) स्वतन्त्र नहीं होता है, इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु वर्णलाभ क्रिया की जाती है। पिता द्वारा पृथक् से धन एवं मकान पाकर स्वतन्त्र आजीविका करने को वर्णलाभ कहते हैं। इस क्रिया के समय भी पूर्व की भाँति सिद्ध प्रतिमाओं का पूजन कर, पिता एवं अन्य श्रावकों को साक्षी कर उनके सम्मुख पिता पुत्र को धनार्पण करता है और इस प्रकार कहता है कि—'यह धन लेकर तुम अपने इस घर में पृथक् से रहो। तुम्हें दान, पूजा आदि समस्त क्रियाएँ गृहस्थ-धर्म के समान करते रहना चाहिए। जिस प्रकार हमारे पिता के द्वारा दिये हुए धन से मैंने यश और धर्म का अर्जन किया है, उसी प्रकार तुम भी यश और धन का अर्जन करो।' इस प्रकार पुत्र को समझाकर पिता उसे वर्णलाभ क्रिया में नियुक्त करता है और सदाचार का पालन करता हुआ, वह पिता के धर्म का पालन करने के लिए समर्थ होता है।[2]

---

१. महा ३८।१२१–१२६; तुलनीय—ऋग्वेद १।१५२।१, १०।१२८।१; हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १।६–१३; बौधायनगृह्यसूत्र १।१४; पारस्करगृह्यसूत्र २।६; गोभिलगृह्यसूत्र ३।४–५; आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।६।६–७, ३।८।६; बौधायनगृह्यपरिभाषा १।१४।१; गोभिल ३।४।२३–३४

२. महा ३८।१३५–१४१

१९. **कुलचर्या क्रिया** : वर्णलाभ क्रिया के पश्चात् पूजा, दान, निर्दोष आजीविका, आर्य पुरुषों के छः कार्य आदि कुलचर्या क्रिया के लक्षण हैं, जिनका पालन किया जाता था। जैनाचार्य जिनसेन ने इसे कुलधर्म वर्णित किया है।[1]

२०. **गृहीशिता क्रिया** : कुलचर्या के उपरान्त वह पुरुष धर्म में दृढ़ता को धारण करता हुआ गृहस्थाचार्य रूप गृहीशिता क्रिया सम्पन्न करता है, जो अन्य गृहस्थों में न पायी जावे ऐसी शुभवृत्ति, क्रिया, मंत्र, वर्णोत्तमता, शास्त्रज्ञान तथा चारित्रिक गुण आदि गृहीश में होनी चाहिए। वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति तथा मानार्क इत्यादि उपाधियों से उसका सम्मान किया जाता था।[2]

२१. **प्रशान्ति क्रिया** : वह गृहस्थाचार्य अपनी गृहस्थी के भार को समर्थ योग्य पुत्र को सौंप देता है और स्वयं उत्तम शान्ति का आश्रय लेता है। विषयों में आसक्त न होना, नित्य स्वाध्याय करने में तत्पर रहना तथा नाना प्रकार के उपवासादि करते रहना प्रशान्ति क्रिया कहलाती है।[3]

२२. **गृहत्याग क्रिया** : गृहस्थाश्रम में स्वतः को कृतार्थ मानता हुआ, जब वह गृहत्याग करने के लिए उद्यत होता है, तब गृहत्याग क्रिया की विधि की जाती है। इस क्रिया में सर्वप्रथम सिद्ध भगवान् का पूजन कर समस्त इष्ट जनों को बुलाकर और पुनः उनको साक्षीपूर्वक पुत्र के लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग करते हैं। गृहत्याग करते समय वह जेष्ठ पुत्र को बुलाकर उसको यह उपदेश देता है कि—'हे पुत्र ! तुम कुलक्रम का पालन करना और धन का तीन भागों में विभाजन कर इसका सदुपयोग करना। धन का एक भाग धर्म-कार्य में, दूसरा भाग गृहकार्य में तथा तीसरा भाग पुत्र-पुत्रियों में समानतः बाँटना। तुम मेरी सब सन्तानों का पालन करना तथा तुम शास्त्र, सदाचार क्रिया, मंत्र और विधि के ज्ञाता हो। इसलिए आलस्यरहित होकर देव और गुरुओं की पूजा करते हुए अपने कुलधर्म का पालन करना।' इस प्रकार जेष्ठ पुत्र को उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए अपना घर छोड़ देता है।[4]

---

१. महा. ३८।१४२–१४३
२. वही ३८।१४४–१४७
३. वही ३८।१४८–१४९
४. वही ३८।१५०–१५६

२३. **दीक्षाद्य क्रिया** : जो गृहत्यागी सम्यक् द्रष्टा, प्रशान्त, गृहस्थों का स्वामी तथा एक वस्त्रधारी होता है, उसके दीक्षाग्रहण करने के पूर्व जो आचरण किये जाते हैं, उन आचरणों या क्रियाओं के समूह को द्विज की दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं।[1]

२४. **जिनरूपता क्रिया** : वस्त्रादि का परित्याग कर जिन-दीक्षा के इच्छुक पुरुष का दिगम्बर रूप ग्रहण करना जिनरूपता क्रिया कहलाती है। कातर आत्मा वाले 'जिन-रूप' धारण नहीं कर सकते, इसे केवल धीर-वीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं।[2]

२५. **मौनाध्ययनवृत्तत्व क्रिया** : दीक्षोपरान्त तथा पारण-विधि में प्रवृत्त साधु का शास्त्र की समाप्तिपर्यन्त जो मौन रहकर अध्ययन करने में प्रवृत्ति होती है, उसे मौनाध्ययनवृत्तत्व क्रिया कहते हैं। मौन धारण करने वाले, विनय युक्त आत्मा वाले, मन-वचन-काय से शुद्ध साधु को गुरु से समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने की व्यवस्था है। क्योंकि इस विधि से भव्य जीवों के द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोक में उनकी योग्यता बढ़ाता है और परलोक में प्रसन्न रखता है।[3]

२६. **तीर्थकृद्भावना क्रिया** : समस्त आचार शास्त्र एवं अन्य शास्त्रों के अध्ययनोपरान्त श्रुतज्ञान प्राप्त कर विशुद्ध आचरण वाले साधु जिस तीर्थंकर पद की सम्यक् दर्शन आदि सोलह भावनाओं का अभ्यास करते हैं, उसे तीर्थकृद्भावना क्रिया कहा गया है।[4]

२७. **गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया** : तदनन्तर समस्त विधाओं का ज्ञान प्राप्त कर जितेन्द्रीय साधु अपने गुरु की कृपा से गुरु-पद प्राप्त करता है, जो कि शास्त्र-सम्मत है। गुरु-पद प्राप्त करने के लिए साधु में—ज्ञानी, विज्ञानी, गुरु को प्रिय, विनयी तथा धर्मात्मा के गुण का होना आवश्यक है। इसे गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया कहते हैं।[5]

---

१. महा ३८।१५७–१५८
२. वही ३८।१५९–१६०
३. वही ३८।१६१–१६३
४. वही ३८।१६४–१६५
५. वही ३८।१६६–१६७

२८. गणोपग्रह क्रिया : सदाचारी एवं गण (मुनि संघ) पोषक द्वारा कृत क्रियाओं को महर्षियों ने गणोपग्रह क्रिया मानी है। वह मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं को समीचीन मार्ग में लगाता; अच्छी तरह संघ का पोषण करता, दीक्षा देता, धर्म का प्रतिपादन करता, सदाचार को प्रेरित करता, दुराचारियों को दूर हटाता तथा अपने अपराध का प्रायश्चित्त करता है। इस प्रकार वह गण की रक्षा करता है।[१]

२९. स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया : इस प्रकार संघ का पालन करता हुआ वह अपने गुरु के स्थान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। कालान्तर में वह समस्त विद्याओं को पढ़ने वाले तथा मुनियों द्वारा समादृत शिष्य के ऊपर अपना भार सौंप देता है। गुरु की अनुमति से वह शिष्य भी गुरु के स्थान पर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणों का स्वयं पालन करता है तथा समस्त संघ को पालन कराता है। महा पुराण में इसे स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया कहा गया है।[२]

३०. निःसंगत्वात्मभावना क्रिया : इस प्रकार सुयोग्य शिष्य पर समस्त भार सौंपकर कभी दुःखी न होने वाला वह साधु अकेला इस भावना से विहार करता था कि 'मेरी आत्मा सब प्रकार के परिग्रह से रहित है'।[३]

३१. योगनिर्वाण संप्राप्ति क्रिया : अपने आत्मा का संस्कार कर सल्लेखना-धारणार्थ उद्यत और सब प्रकार से आत्मा की शुद्धि करने वाला पुरुष योग निर्वाण क्रिया को प्राप्त होता है। योग नाम ध्यान का है, उसके लिए जो संवेगपूर्वक प्रयत्न किया जाता है, उस परमतप को योगनिर्वाण संप्राप्ति कहते हैं। जो नित्य और अनन्त सुख का स्थान है, ऐसे लोक के अग्रभाग (मोक्ष स्थान) में मन लगाकर उस योगी को योग (ध्यान) की सिद्धि के लिए योगनिर्वाण क्रिया की भावना करने का विधान है।[४]

३२. योगनिर्वाणसाधन क्रिया : समस्त आहार और शरीर को छोड़ता हुआ वह योगिराज योगनिर्वाण साधनार्थ उद्यत होता है। इस योग का नाम समाधिका है। इस समाधि के द्वारा चित्त को जो आनन्द होता है उसे निर्वाण कहते हैं, चूँकि योग-निर्वाण इष्ट पदार्थों का साधन है, इसलिए इसे योगनिर्वाणसाधन कहते हैं।[५]

---

१. महा ३८।१६८-१७१
२. वही ३८।१७२-१७४
३. वही ३८।१७५-१७७
४. महा ३८।१७८-१८५
५. वही ३८।१८६-१८९

३३. इन्द्रोपपाद क्रिया : योगों का समाधानकर अर्थात् मन-वचन-काय को स्थिर कर, जिसने प्राणों का परित्याग किया है ऐसा साधु पुण्य के आगे-आगे चलने पर इन्द्रोपपाद क्रिया को प्राप्त होता है। वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्रपद में उत्पन्न हुआ हूँ।[1]

३४. इन्द्राभिषेक क्रिया : पर्याप्तक होते ही जिसे अपने जन्म का ज्ञान हो गया है, ऐसे इन्द्र का फिर श्रेष्ठ देवगण इन्द्राभिषेक करते हैं।[2]

३५. विधिदान क्रिया : नम्रीभूत हुए इन उत्तमोत्तम देवों को अपने-अपने पद पर नियुक्त करता हुआ, वह इन्द्र विधिदान क्रिया में प्रवृत्त होता है।[3]

३६. सुखोदय क्रिया : अपने-अपने विमानों की शुद्धि देने से संतुष्ट हुए देवों से घिरा हुआ वह पुण्यात्मा इन्द्र चिरकाल तक देवों के सुखों का अनुभव करता है।[4]

३७. इन्द्रत्याग क्रिया : इन्द्र अपनी आयु शेष होने पर देवताओं को उपदेश देकर इन्द्रपद त्याग से दुःखी नहीं होता है। इस तरह जो स्वर्ग के भोगों का त्याग करता है, वह इन्द्रत्याग क्रिया होती है। धीरवीर पुरुष स्वर्ग के ऐश्वर्य को बिना किसी कष्ट के छोड़ देते है।[5]

३८. इन्द्रावतार क्रिया : जो इन्द्र आयु के अन्त में अर्हन्त देव का पूजन कर स्वर्ग से अवतार लेना चाहता है, उसके आगे की अवतार क्रिया वर्णित है। मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष के इच्छुक इन्द्र को शुभ सोलह स्वप्न द्वारा अगले माहात्म्य का ज्ञान हुआ। इस तरह स्वर्गावतार क्रिया को इन्द्र प्राप्त करता है।[6]

३९. हिरण्योत्कृष्टजन्मता क्रिया : वे माता महादेवी के श्री आदि देवियों के द्वारा शुद्ध किये हुए रत्नमय गर्भागार के समान गर्भ में अवतार लेते हैं। गर्भ में आने पर विभिन्न सम्पदाओं आदि से सूचित हो जाता है। गर्भ में भी तीन ज्ञान को धारण करते हैं तथा हिरण्य (सुवर्ण) वर्षा से उत्कृष्टता सूचित होने से हिरण्योत्कृष्टजन्म क्रिया सार्थक होती है।[7]

४०. मन्दराभिषेक क्रिया : जन्म के अनन्तर आये हुए इन्द्रों के द्वारा

---

१. महा ३८।१९०-१९४
२. वही ३८।१९५-१९८
३. वही ३८।१९९
४. वही ३८।२००
५. महा ३८।२०३-२१३
६. वही ३८।२१४-२१६
७. वही ३८।२१७-२२४

मेरु पर्वत के मस्तक पर क्षीरसागर के पवित्र जल से भगवान् का जो अभिषेक किया जाता है, वह उन परमेष्ठी की मन्दराभिषेक क्रिया होती है।[1]

४१. **गुरुपूजन क्रिया :** स्वतन्त्र और स्वयंभू रहने वाले भगवान् के विद्याओं का उपदेश होता है। वे शिष्य भाव के बिना ही गुरु की पूजा को प्राप्त होते हैं। आप अशिक्षित होने पर भी सभी को मान्य हैं, इसलिए सभी उनकी पूजा करते हैं।[2]

४२. **यौवराज्य क्रिया :** कुमार काल आने पर उन्हें युवराज-पद प्राप्य होता है, उस समय महाप्रतापवान् उन भगवान् को राज्य पट्ट बाँधा जाता है तथा अभिषेक किया जाता है।[3]

४३. **स्वराज्य क्रिया :** समस्त राजाओं ने राजाधिराज के पद पर जिनका अभिषेक किया है और जो अन्य के शासन से मुक्त इस समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करते हैं, ऐसे उन भगवान् को स्वराज्य की प्राप्ति होती है।[4]

४४. **चक्रलाभ क्रिया :** निधियों और रत्नों की उपलब्धि पर उन्हें चक्र की प्राप्ति होती है, उस समय समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनका अभिषेक सहित पूजा करती है।[5]

४५. **दिशाञ्जय क्रिया :** चक्ररत्न को आगे कर समुद्रसहित समस्त पृथ्वी को जीतने वाले उन भगवान् का, जो दिशाओं को जीतने का उद्योग करता है, वह दिशाञ्जय क्रिया होती है।[6]

४६. **चक्राभिषेक क्रिया :** जब भगवान् दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगर में प्रवेश करने लगते हैं, तो चक्राभिषेक की क्रिया होती है।[7]

४७. **साम्राज्य क्रिया :** चक्राभिषेक के बाद साम्राज्य क्रिया होती है। इसमें राजाओं को शिक्षा दी जाती है। उनके धर्मसहित साम्राज्य क्रिया का पालन करने से वह जीव इहलोक और परलोक दोनों में ही समृद्धि को प्राप्त होता है।[8]

४८. **निष्क्रान्ति क्रिया :** बहुत दिनों तक पूजा और राजाओं का पालन करते हुए उन्हें किसी समय भेद-विज्ञान उत्पन्न होने पर दीक्षा ग्रहणार्थ उद्यम होते

---

१. महा ३८।२२७-२२८
२. वही ३८।२२९-२३०
३. वही ३८।२३१
४. वही ३८।२३२
५. महा ३८।२३३
६. वही ३८।२३४
७. वही ३८।२३५-२५२
८. वही ३८।२५३-२६५

हैं। इस क्रिया में भगवान् अभिक्रमण करते हैं तथा केश लोचना, पूजा आदि होती है।[1]

४९. योगसम्मह क्रिया : मोक्ष के इच्छुक उन भगवान् की योग सम्मह नामक क्रिया होती है। ध्यान और ज्ञान के संयोग को योग कहते हैं और उस योग से जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है, वह योगसम्मह कहलाता है।[2]

५०. आर्हन्त्य क्रिया : आठ प्रातिहार्य, अट्ठारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानों की पंक्तियाँ, कोट का घेरा और पताकाओं की पंक्ति इत्यादि अद्भुत विभूति को धारण करने वाले उन भगवान् के आर्हन्त्य नाम की यह एक भिन्न क्रिया है।[3]

५१. विहार क्रिया : धर्म-चक्र को आगे कर भगवान् के विहार को विहार क्रिया कहते हैं।[4]

५२. योगत्याग क्रिया : धर्ममार्ग के उपदेश द्वारा परोपकारार्थ जिन्होंने तीर्थ विहार किया है, ऐसे भगवान् की योगत्याग नामक क्रिया होती है। जिसमें विहार करना समाप्त होकर, सभाभूमि (समवसरण) विघटित होती है तथा योगनिरोध करने के लिए अपनी वृत्ति करने को योगत्याग क्रिया कहा गया है।[5]

५३. अग्रनिर्वृत्ति क्रिया : महा पुराण में वर्णित है कि जिनके समस्त योगों का निरोध हो चुका है, जो जिनों के स्वामी हैं, जिन्हें शील के ईश्वरत्व की अवस्था प्राप्त हुई है, जिनके अघातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, जो स्वभाव से उत्पन्न हुए ऊर्ध्वगति को प्राप्त हुए हैं और जो उत्कृष्ट मोक्षस्थान पर पहुँच गये हैं, ऐसे भगवान् की अग्रनिर्वृत्ति नाम की क्रिया मानी गयी है।[6]

[ब] दीक्षान्वय क्रिया : 'दीक्षायाः अन्वयनम् इति' तत्पुरुष समास से 'दीक्षान्वय' शब्द निर्मित होता है, जिसका तात्पर्य दीक्षा के अनुरूप क्रिया करने से है। इसका सम्बन्ध धार्मिक अभ्युदय से है। इन क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं धार्मिकता का विकास होता है और वह श्रावक या मुनिपद प्राप्त करता है। व्रतों का धारण (पालन) करना दीक्षा है। व्रत के दो भेद हैं : (१) महाव्रत—सभी प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग करना महाव्रत है। (२) अणुव्रत—स्थूल हिंसादि दोषों से

---

१. महा ३८।२६६-२६४
२. वही ३८।२६५-३००
३. वही ३८।३०२-३०३
४. महा ३८।३०४
५. वही ३८।३०५-३०६
६. वही ३८।३०८-३०६

निवृत्त होने को अणुव्रत कहते हैं। उन व्रतों को ग्रहण करने के लिए सम्मुख पुरुष की जो प्रवृत्ति है, उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली जो क्रियाएँ हैं, वे दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं।[1] मरण से लेकर निर्वाण पर्यन्त दीक्षान्वय क्रिया अड़तालिस (४८) प्रकार की वर्णित हैं। इसके सम्पादन से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] जो भव्य मनुष्य इन क्रियाओं को यथार्थतः जानकर पालन करता है, वह सुख के अधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।[3] अड़तालिस दीक्षान्वय क्रियाओं का वर्णन निम्नवत् है :

१ अवतार क्रिया : जब मिथ्यात्व से भ्रष्ट हुआ कोई भव्य पुरुष समीचीन मार्ग के ग्रहण करने के सम्मुख होता है, तब अवतार क्रिया की जाती है।[4] उस समय गुरु ही उसका पिता होता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। यह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्म द्वारा उस तत्त्व ज्ञान रूपी गर्भ में अवतरित होता है। इसकी यह क्रिया गर्भाधान क्रिया के सदृश्य मानी गयी है, क्योंकि जन्म की प्राप्ति दोनों ही क्रियाओं में नहीं है।[5]

२. वृत्तलाभ क्रिया : उसी गुरु के चरण कमलों को नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतों के समूह को प्राप्त होते हुए भव्य पुरुष की वृत्तलाभ नामक द्वितीय क्रिया होती है।[6]

३. स्थानलाभ क्रिया : उपवास करने वाले भव्य पुरुषों की स्थानलाभ क्रिया होती है। विधिपूर्वक जिनालय में जिनेन्द्र की पूजा कर गुरु की अनुमति से घर जाते हैं।[7]

४. गणग्रहण क्रिया : जब मिथ्या देवताओं को घर से बाहर निकालता है; तो उसकी गणग्रह नामक क्रिया होती है। पहले देवता का विसर्जन कर उनके स्थान पर अपने मत के देवता की स्थापना करते हैं।[8]

५. पूजाराध्य क्रिया : पूजा और उपवास रूप सम्पत्ति के साथ-साथ अंगों के अर्थ समूह को श्रवण करने वाले उस भव्य पुरुष की पूजाराध्य की क्रिया सम्पन्न होती है।[9]

---

१. महा ३६।३-५
२. वही ३६।१-२, ६३।३०४
३. वही ३६।८०
४. वही ३६।७
५. वही ३६।३४-३५
६. महा ३६।३६
७. वही ३६।३७-४४
८. वही ३६।४५-४८
९. वही ३६।४६

६. पुण्ययज्ञा क्रिया : सद्धर्मी पुरुष के साथ चौदह पूर्व विद्याओं का अर्थ सुनने वाली पुण्ययज्ञा नामक भिन्न प्रकार की क्रिया होती है।[1]

७. दृढ़चर्या क्रिया : अपने मत के शास्त्र समाप्त कर अन्य मत के ग्रन्थों या दूसरे विषयों को सुनने वाले उसके दृढ़चर्या नामक क्रिया होती है।[2]

८. उपयोगिता क्रिया : दृढ़व्रती को उपयोगिता क्रिया होती है। पूर्व के दिन उपवास के अन्त (रात्रि) में प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया कथित है।[3]

९. उपनीति क्रिया : शुद्ध एवं भव्य उत्कृष्ट पुरुषों के योग्य चिन्ह धारित रूप को उपनीति क्रिया कथित है। देवता और गुरु की साक्षीपूर्वक विधि के अनुसार अपने वेष, सदाचार और समय की रक्षा करना ही उपनीति क्रिया होती है। इसमें वेष, वृत्त और समय के पालन का विधान है।[4]

१०. व्रतचर्या क्रिया : यज्ञोपवीत से युक्त हुआ भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनों को अच्छी तरह उपासकाध्ययन के सूत्रों का अभ्यास कर व्रतचर्या क्रिया धारण करता है।[5]

११. व्रतावतरण क्रिया : समस्त विद्याओं के अध्ययनोपरान्त श्रावक जब उस गुरु के समीप सम्यक् विधि से आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसकी व्रतावरण नाम की क्रिया होती है।[6]

१२. विवाह क्रिया : जब वह भव्य पुरुष अपनी पत्नी को उत्तम व्रतों के योग्य श्रावक की दीक्षा से युक्त करता है तब इसे विवाह क्रिया की अविधा दी गई है। अपनी पत्नी के संस्कार का इच्छुक उस भव्य पुरुष का उसी स्त्री के साथ पुनः विवाह संस्कार होता है और उस संस्कार में सिद्ध भगवान् की पूजा आदि समस्त विधियाँ सम्पन्न की जाती है।[7]

१३. वर्णलाभ क्रिया : जिन्हें वर्णलाभ हो चुका है और जो अपने समान ही आजीविकाधारी ऐसे अन्य श्रावकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के अभिलाषी उस भव्य पुरुष की वर्णलाभ क्रिया होती है।[8]

---

१. महा ३९।५०
२. वही ३९।५१
३. वही ३९।५२
४. वही ३९।५३-५६
५. महा ३९।५७
६. वही ३९।५८
७. वही ३९।५९-६०
८. वही ३९।६१

१४. **कुलचर्या क्रिया :** आर्य पुरुषों के उपयुक्त देवपूजा आदि छः कार्यों में पूर्ण प्रवृत्ति रखना कुलचर्या कहलाती है।[१]

१५. **गृहीशिता क्रिया :** जो सम्यक्चारित्र एवं अध्ययन रूपी सम्पत्ति से परपुरुषों का उपकार करने में समर्थ है, जो प्रायश्चित्त की विधि का ज्ञाता है, श्रुति, स्मृति, पुराण का जानकार है, ऐसा भव्य गृहस्थाचार्य पद को प्राप्त होकर गृहीशिता क्रिया को धारण करता है।[२]

१६. **प्रशान्तता क्रिया :** नाना प्रकार की उपवास आदि भावनाओं को प्राप्त होने वाले उस भव्य के समान ही प्रशान्तता क्रिया मानी जाती है।[३]

१७. **गृहत्याग क्रिया :** जब वह घर-निवास से विरक्त होकर योग्य पुत्र को नीति के अनुसार शिक्षा देकर घर छोड़ देता है, तब उसकी गृहत्याग नामक क्रिया होती है।[४]

१८. **दीक्षाद्य क्रिया :** जो घर छोड़कर तपोवन में चला जाता है, ऐसे भव्य पुरुष का पूर्व की भाँति एक वस्त्र धारण करना दीक्षाद्य क्रिया होती है।[५]

१९. **जिनरूपता क्रिया :** जब गृहस्थ वस्त्र त्याग कर किसी योग्य आचरण वाले मुनिराज से दिगम्बर रूप धारण करता है, तब उसकी जिनरूपता क्रिया होती है।[६]

२० से ४८ तक की **अन्य क्रियायें :** उपर्युक्त क्रियाओं के अतिरिक्त जो अन्य क्रियाएँ शेष हैं, वे सभी गर्भान्वय क्रियाओं के सदृश्य की जाती हैं तथा प्रतिपाद्य हैं। इनमें और उनमें कोई भेद नहीं है। सभी के विधान एक समान हैं।[७]

[स] **कर्त्रन्वय क्रिया :** 'कर्तुः अन्वयः इति कर्त्रन्वय' तत्पुरुष समास से रिकार को रेफ आदेश होने पर 'कर्त्रन्वय' शब्द बनता है। इसका अर्थ कर्त्ता के अनुरूप क्रिया है। महा पुराण के अनुसार जैन धर्म के अन्तर्गत उन्हीं प्राणियों का कर्त्रन्वय क्रिया होने का विधान विहित है, जो संसार में अत्यल्प समय तक रहता है अर्थात् जिस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है, उसको इन क्रियाओं को करने का विधान है।[८] इसमें यह भी उल्लेख

---

१. महा ३९।७२
२. वही ३९।७३-७४
३. वही ३९।७५
४. वही ३९।७६
५. महा ३९।७७
६. वही ३९।७८
७. वही ३९।७९
८. वही ३९।८१

आया है कि सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्रज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, आर्हन्त्य एवं परिनिर्वृत्ति आदि सप्त क्रियाएँ कर्त्रन्वय क्रिया के अन्तर्गत आती हैं।[1] आगम के अनुसार उक्त सात कर्त्रन्वय क्रियाओं का पालन करने से योगियों को परम स्थान की प्राप्ति होती है।[2]

१. **सज्जाति क्रिया** : उत्तम वंश में विशुद्ध मनुष्य योनि में जन्म-ग्रहण करने पर जब वह दीक्षा-ग्रहण करने योग्य होता है तो उसकी सज्जाति क्रिया होती है। पिता के वंश की शुद्धि को कुल एवं माता के वंश की शुद्धि को जाति कहते हैं। कुल एवं जाति की शुद्धि को सज्जाति कहते हैं। सज्जाति से इष्ट पदार्थों की पूर्ति (प्राप्ति) होती है। जब भव्य जीव (बिना योनि के प्राप्त हुए) दिव्य ज्ञान रूपी गर्भ से उत्पन्न होने वाले उत्कृष्ट जन्म को प्राप्त करते हैं, तब सज्जाति क्रिया होती है।[3]

२. **सद्गृहित्व क्रिया** : सद्गृहस्थ होने के साथ ही आर्य पुरुष के करने योग्य छः कर्मों का पालन करता है, गृहस्थ अवस्था में करने योग्य विशुद्ध आचरण को ग्रहण करता है, अर्हन्त्य के कथित उन समस्त आचारों को आलस्य मुक्त होकर सम्पन्न करता है, जिसने जिनेन्द्रदेव से उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधरदेव ने जिसे शिक्षा दी है, ऐसा वह श्रेष्ठ द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज (आत्मतेज) को धारण करता है। द्विज को विशुद्ध होने तथा हिंसा से डरने का विधान है। हिंसा का आश्रय लेने वाले को चाण्डाल कहा गया है। जैनी ही वर्णोत्तम है। जैनियों को छः कर्म करने से हिंसा का दोष लग सकता है, तथापि इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान भी वर्णित है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक—ये चार आश्रम हैं, जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के गुणों के द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि करना सद्गृहित्व क्रिया के अन्तर्गत है।[4]

३. **पारिव्रज्य क्रिया** : गृहस्थ धर्म का पालन करने के उपरान्त विरक्त हुए पुरुष के दीक्षा-ग्रहण करने को पारिव्रज्य क्रिया कहा गया है। परिव्राट् का जो निर्वाण दीक्षा रूप भाव है उसे पारिव्रज्य नाम से सम्बोधित किया गया है। इस पारिव्रज्य में ममता भाव का त्याग कर दिगम्बर रूप ग्रहण करना होता है। शुभ दिन, लग्न आदि पर गुरु से दीक्षा प्राप्त करता है। मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकार की जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है, उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है। अनेक प्रकार के वचनों के जाल में निबद्ध तथा युक्ति से

---

१. महा ६३।३०५
२. वही ३९।२०७
३. महा ३८।८२-९८
४. वही ३९।९९-१५४

बाधित अन्य लोगों के पारिव्रज्य को छोड़कर इसी पारिव्रज्य को ग्रहण करने का विधान वर्णित है।[1]

४. **सुरेन्द्रता क्रिया :** पारिव्रज्य के फल का उदय होने से जो सुरेन्द्र पद की उपलब्धि होती है वही सुरेन्द्रता क्रिया हुई। इसका वर्णन पहले वर्णित है।[2]

५ **साम्राज्य क्रिया :** जिसमें चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों एवं रत्नों से उत्पन्न हुए भोगोपभोग रूपी सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त होती है, ऐसे चक्रवर्ती का बड़ा भारी राज्य साम्राज्य क्रिया कहलाती है।[3]

६. **आर्हन्त्य क्रिया :** अर्हत् परमेष्ठी का भाव अर्थात् कर्मरूप जो उत्कृष्ट कृत्य है, वह आर्हन्त्य क्रिया है। इस क्रिया में स्वर्गावतार आदि महाकल्याणक रूप सम्पदाओं की प्राप्ति होती है। स्वर्ग से अवतीर्ण हुए अर्हन्त्य परमेष्ठी की जो पञ्चकल्याणक रूप सम्पदाओं की उपलब्धि होती है, उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं। यह आर्हन्त्य क्रिया तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने वाली है।[4]

७. **परिनिर्वृत्ति क्रिया :** संसार के बन्धन से मुक्त हुए परमात्मा की जो अवस्था होती है, वह परिनिर्वृत्ति क्रिया कहलाती है; इसका अन्य नाम 'परं-निर्वाण' भी है। समस्त कर्म रूपी मल के विनष्ट होने से अन्तरात्मा की शुद्धि को ही सिद्धि कहते हैं। यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति रूप है, अभाव नहीं। इसके अतिरिक्त यह आदि गुणों के नाश-स्वरूप भी नहीं है।[5]

[द] **मृतक-संस्कार :** उपर्युक्त कृत्यों के अतिरिक्त मृतक संस्कार का उल्लेख जैन पुराणों में उपलब्ध है, परन्तु इसका समायोजन उक्त निर्धारित तीन वर्गों में न करके पृथक् रखा गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह रहा होगा कि मृतक-संस्कार अशुभ का द्योतक होता है। ऐसी स्थिति में इसे उनके साथ नहीं रखा गया है।

महा पुराण में दो प्रकार की मृत्यु का उल्लेख है : शरीर-मरण (आयु के अन्त में शरीर का त्याग) और संस्कार-मरण (व्रती पुरुषों का पापों का परित्याग)।[6] शरीर-मरण में ही मृतक-संस्कार की व्यवस्था की गई है।[7] जैन पुराणों में मृत-

---

१. महा ३६।१५५-२००
२. वही ३६।२०१
३. वही ३६।२०२
४. वही ३६।२०३-२०४
५. महा ३६।२०५-२०६
६. वही ३६।१२२
७. वही ५६।५८, ६८।७०३

शरीर को गाड़ने, जल-प्रवाह और अग्नि-दाह का उल्लेख है। समाज के गरीब वर्ग के लोग मृतक के मृतशरीर को जल में प्रवाहित करते थे, परन्तु समाज के सम्पन्न व्यक्ति दाह संस्कार करते थे।[1] जैन पुराणों में मृतक के अन्तिम संस्कार के स्थल को श्मशान कहा गया है। इसके साथ ही श्मशान के वीभत्स्य एवं भयंकर दृश्य का वर्णन उपलब्ध है।[2] जैन आगमों में शव को पशुपक्षियों को खाने हेतु खुले स्थान में छोड़ने का उल्लेख है।[3] अन्य स्थल पर शव के गाड़ने का वर्णन मिलता है।[4] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि मृत्यु होने पर मृतक के घर में संगीत, मंगल, उत्सव, पूजन आदि नहीं होते।[5]

जैन पुराणों में वर्णित है कि मृतक के शरीर पर आत्मीय-जन कपूर, अगुरु, गौशीर्ष, चन्दन, उबटन आदि लगाते थे तथा स्नान कराते थे। आत्मीय-जनों द्वारा रोने का भी उल्लेख मिलता है।[6] पद्म पुराण में वर्णन आया है कि पति के मृत्यु पर स्त्रियाँ अपने हाथ की चूड़ियाँ तोड़ देती थीं।[7] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि सामान्यतया मृतक को जल देने की परम्परा नहीं थी, तथापि आत्मीय-जनों द्वारा मृतकात्मा की शान्ति हेतु जल देने का भी विधान विहित है।[8] पद्म पुराण में मृत्यूपरान्त लोकाचार के अनुसार क्रियाओं को सम्पादित करने का विधान है।[9] जैन आगमों में मरणोपरान्त नीहरण, व्यंतराधिष्ठित, परिष्ठापन आदि क्रियाओं के करने का उल्लेख है। इसके साथ ही मृतकों के श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन कराने की भी व्यवस्था थी।[10]

---

१. पद्म ७८।२,८, ११८।१२३; हरिवंश ६३।५६, ७२; महा ७५।२२७
२. वही १०६।६३-६५; महा ७५।२२७
३. महानिशीथ, पृ० २५
४. बृहत्कल्पभाष्य ३।४८२४
५. पद्म ११६।४०-४२
६. वही ७८।८; हरिवंश ६३।५५
७. वही ७८।६
८. हरिवंश ६३।५२; तुलनीय—बृहत्कल्पभाष्य ३।४८२४
९. लोकाचारानुकूलत्वाच्चक्रे प्रेतक्रियाविधिम्। पद्म ४६।६; तुलनीय—विपाकसूत्र २, पृ० २४
१०. जगदीश चन्द्र जैन—प्राचीन जैन साहित्य में मृतक कर्म, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, कलकत्ता, १९६१, पृ० २३२-२३४

[ङ] विवाह

१. **विवाह का महत्त्व :** विवाह निखिल सामाजिक संस्थाओं का मूलाधार है। स्वाभाविक तथा सार्वजनिक स्थिति के कारण जैन पुराणों ने भी विवाह को एक महत्त्वपूर्ण कृत्य के रूप में स्वीकार किया है। जैन पुराणों के अनुसार गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेशार्थ वर-वधू सम्यक् जीवन व्यतीत करने, सन्तानों की रक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए विवाह-सूत्र में बँधते थे। भोगभूमि काल में स्त्री-पुरुषों का युगल साथ-साथ उत्पन्न होता था, साथ ही साथ भोग भोगने के उपरान्त केवल एक युगल को जन्म देकर साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त करते थे।[१] सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के लिए तथा वंश-विस्तारार्थ सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। इसी लिए महा पुराण में इस बात पर बल दिया गया है कि पुत्रहीन मनुष्य की गति नहीं होती अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह कथन वेद विहित है।[२] महा पुराण में वर्णित है कि विवाह क्रिया गृहस्थों का धर्म है और सन्तान-रक्षा गृहस्थों का प्रधान कार्य है। क्योंकि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है और सन्तति के उच्छेद होने से धर्म का उच्छेद होता है।[३]

विवाह के महत्त्व एवं प्रचलन की सूचना जैनेतर साक्ष्यों से भी प्राप्य होती है। उदाहरणार्थ, कालिदास ने धर्म, अर्थ एवं काम को विवाह का मुख्य उद्देश्य माना है।[४] पारम्परिक विष्णु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में सपत्नीक गृहस्थ को ही महान् फल, दान तथा अभिषेक का अधिकारी वर्णित किया है।[५]

२. **विवाह के प्रकार एवं भेद :** प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा में विवाह के निर्धारित आठ प्रकार—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच—सुविदित हैं।[६] इन आठ प्रकारों के क्रमबद्ध उल्लेख जैन पुराणों में

१. पद्म ३।५१; महा ६५।७८
२. महा ६५।७९
३. वही १५।६२-६४
४. गायत्री वर्मा—कालिदास के ग्रन्थ : तत्कालीन संस्कृति, वाराणसी, १९६३, पृ० ८१
५. एस० एन० राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८, पृ० २२२
६. आश्वलायनगृह्यसूत्र १।६; बौधायनधर्मसूत्र १।११; गौतम ४।६-१३; याज्ञवल्क्य १।५६-६१; कौटिल्य ३।१।५; मनु ३।२१; विष्णुस्मृति २४।१७-१८; विष्णु पुराण ३।१०।२४; विष्णुधर्मोत्तर पुराण २४।१८-१९

प्राप्त नहीं होते हैं। अतएव यह निश्चित करना कठिन है कि इनमें किस विधि को किस सीमा तक मान्यता मिली थी। जैन आगमों के सम्बन्ध में डॉ० जगदीश चन्द्र जैन का मत है कि जैन आगमों में विवाह के तीन प्रकार—माता-पिता द्वारा आयोजित, स्वयंवर तथा गान्धर्व–हैं।[1] पी० थामस के मतानुसार जैन धर्म में चार प्रकार के विवाह प्रचलित थे—माता-पिता द्वारा नियोजित, स्वयंवर, गान्धर्व तथा असुर।[2] आलोचित जैन पुराणों में प्रसंगतः जिन विवाहों के उल्लेख मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं : (i) स्वयंवर, (ii) गान्धर्व, (iii) परिवार द्वारा नियोजित, (iv) प्राजापत्य, (v) राक्षस।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन पुराणों के रचनाकाल में स्वयंवर को विवाह की पृथक् विधि मानने के संदर्भ में दो मत प्रचलित थे। धर्मशास्त्रीय सम्प्रदाय में स्वयंवर को पृथक्तः विवाह-विधि नहीं मानते थे, अपितु इसे गान्धर्व विवाह का ही अंग माना जाता था। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य-स्मृति (१।६१) में वीर-मित्रोदय ने यह स्पष्टतया कहा है कि स्वयंवर भी गान्धर्व विवाह है।[3] किन्तु दूसरी ओर स्थिति यह थी कि जैन सम्प्रदाय में स्वयंवर और गान्धर्व दोनों को पृथक्-पृथक् विवाह विधि के रूप में स्वीकार किया गया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय, परिस्थितिजन्य और सम्प्रदायगत वैशिष्ट्य एवं आग्रह के कारण विवाहों के प्रकार के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें समरूपता नहीं थी। न केवल जैन सम्प्रदाय में, अपितु ब्राह्मण सम्प्रदाय में भी विवाह के प्रकारों की संख्या को कम करने की परम्परा चल पड़ी थी। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड पुराण का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसके अनुसार विवाह की चार ही विधियाँ—कालकीत, क्रमक्रीत, स्वयंयुत तथा पितृदत्त–हैं।[4] ब्रह्माण्ड पुराण का यह स्थल लगभग हमारे आलोच्य पुराणों के समयावधि में आता है। क्योंकि पुराण समीक्षक के अनुसार ब्रह्माण्ड पुराण गुप्तोत्तर काल में संकलित हुआ था, जिसकी रचना का क्रम १००० ई० तक चलता है।[5] कालिदास ने विवाह के आठ प्रकारों में से केवल गान्धर्व,

---

१. जगदीश चन्द्र जैन–जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० २५३
२. पी० थामस–इण्डियन वीमेन थ्रू द एजेज, लन्दन, १९५४, पृ० १०७
३. काणे–हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० ५२३; एस० एन० राय–वही, पृ० २३२
४. ब्रह्माण्ड पुराण ४।१५।४
५. हाजरा–स्टडीज इन द पौराणिक रिकर्ड्स ऑफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टमस, पृ० १३९; एस० एस० राय—हिस्टोरिकल ऐण्ड कल्चरल स्टडीज़ इन द पुराणाज़, इलाहाबाद, १९७८, पृ० १९२

आसुर तथा प्राजापत्य विधियों का ही उल्लेख किया है।[१] जैनेतर अग्नि पुराण में देव प्रकार को छोड़कर केवल सात प्रकारों के विवाह का ही वर्णन उपलब्ध है।[२] अधोलिखित अनुच्छेदों में जैन पुराणों में उल्लिखित विवाह के प्रकारों की विवेचना प्रस्तुत है :

(i) स्वयंवर विवाह : जैन पुराणों के अनुसार स्वयंवर प्रथा के उद्भावक अकम्पन महाराज थे।[३] महा पुराण में स्वसम्प्रदाय विशिष्ट श्रुतियों एवं स्मृतियों की प्रामाणिकता पर बल देते हुए विवाह की सनातन विधि एवं परम्परा का उल्लेख उपलब्ध है।[४] महा पुराण का कथन है कि प्राचीन पुराणों में विवाह की सर्वोत्तम विधि स्वयंवर है।[५]

विद्वान् क्लरिसे बदेर के कथनानुसार स्वयंवर या पति चुनने का विशेषाधिकार क्षत्रिय कन्याओं को ही था।[६] इस मत में किञ्चित संशोधन किया जा सकता है। स्वयंवर प्रथा राजकन्या के लिए अपेक्षित मानी जाती थी और प्राचीन भारत में राजपद क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण भी अलंकृत करते थे। जैन पुराणों के अनुसार स्वयंवर का प्रचलन राजघरानों में था।[७] सम्भवतः समाज के धनी एवं सम्पन्न व्यक्ति में भी इस प्रथा का प्रचलन था।

स्वयंवर विधि विषयक वर्णन जैन पुराणों के अनुसार कन्या के विवाह योग्य हो जाने पर पिता उसके विवाह के लिए देश-विदेश में सूचना भेजता था। देश-विदेश के राजकुमार नव-निर्मित स्वयंवरशाला में बैठते थे। स्वयंवरशाला में कञ्चुकी के साथ कन्या प्रवेश करती थी और कञ्चुकी सभी राजकुमारों का परिचय कन्या को देता था। कन्या अपनी इच्छानुसार उन राजकुमारों में से एक को पति के रूप में वरण करती थी। तदनन्तर विवाह सम्पन्न होता था।[८] कन्या जिस पुरुष का वरण

---

१. भगवत शरण उपाध्याय—वही, पृ० २०६
२. एस० डी० ज्ञानी—अग्निपुराण : ए स्टडी, वाराणसी, १९६४, पृ० २४६
३. महा ४५।५४; पाण्डव ३।१४७
४. वही, ४४।३२
५. वही ४३।१९६
६. क्लरिसे बदेर—वीमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लंदन, १९२५, पृ० ३१
७. पद्म ११०।२; महा ६३।८
८. वही २४।८९-९०, १२१; हरिवंश ३१।४३-५५; महा ४३।५२-२७८, ६३।८; तुलनीय—ज्ञाताधर्मकथा १६, पृ० १७६-१८२; बृहत्कल्पभाष्य २।३४४६; गौतमधर्मसूत्र ४।१०; मनु ३।३२

करती थी, वही उसका पति होता था और ऐसी परिस्थिति में उसके बीच में व्यवधान डालना अनुचित था।[1] यदि कन्या को वर पसन्द नहीं आता था, तब स्वयंवर भंग कर दिया जाता था।[2] स्वयंवर में प्रारम्भ से अन्त तक का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कन्या पक्ष का होता था।[3]

(ii) **गान्धर्व विवाह** : जब युवक एवं युवती काम के वशीभूत होकर सम्भोग करते थे, तो उसे गान्धर्व विवाह की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ, राजा पाण्डु ने कुन्ती के साथ गान्धर्व विवाह किया था।[4] पद्म पुराण में वर्णित है कि गान्धर्व विवाह में प्रेम का प्रारम्भ कभी वर की ओर से होता है[5] तथा कभी कन्या की ओर से[6] और कभी-कभी दोनों ही ओर से होता है।[7]

जैनेतर मार्कण्डेय पुराण के अनुसार गान्धर्व विवाह केवल क्षत्रियों के लिए ही विहित था।[8] गान्धर्व विवाह में पिता की अभिरुचि गौण थी। यही कारण है कि उत्तरकालीन स्मृतिकारों ने स्वयंवर को भी गान्धर्व विवाह माना है।[9]

(iii) **परिवार द्वारा नियोजित विवाह**। कन्या के उपयुक्त वर के लिए अपने मित्र और मंत्री से परामर्श किया जाता था।[10] कन्या के माता-पिता कन्या के योग्य वर ढूंढ़ कर तथा विधि-विधान से विवाह सम्पन्न कर जामाता को यथाशक्ति धन आदि देकर मंगलाचारपूर्वक कन्या की विदाई करते थे।[11] पद्म पुराण के अनुसार

१. पद्म ६।७०, ६६।६१
२. हरिवंश ३१।३५
३. महा ६२।८२
४. पद्म ८।१०८; हरिवंश २६।६८, ४५।३७; तुलनीय—उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १४१; ज्ञाताधर्मकथा ८
५. पद्म ६३।१८
६. वही ८।१०१, १०७
७. वही ६।१६
८. बृजेन्द्र नाथ शर्मा—सोशल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, नई दिल्ली, १६७२, पृ० ५८
९. याज्ञवल्क्य स्मृति १।६१; काणे—वही, पृ० ५२३; एम० एन० राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० २३२
१०. पद्म १५।२५-२६
११. वही १०।१०; महा ४५।३४

सब सामग्री लेकर कन्या पक्ष वाले वर के घर जाकर विवाह सम्पन्न कराते थे।[1] इसी पुराण में अन्यत्र उल्लिखित है कि कभी-कभी कन्या के रूप पर आसक्त हो जाने पर वर स्वयं या उसका पिता कन्या के यहाँ जाकर कन्या की याचना करते थे।[2]

(iv) प्राजापत्य विवाह : इस विवाह को महा पुराण में विशेष महत्व दिया गया है। इसमें कन्या का विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न करने की व्यवस्था है।[3] जैन मान्यतानुसार अन्तिम कुलकर नाभिराय ने पाणिग्रहण की वर्तमान प्रथा चलाई थी। उन्होंने अपने पुत्र ऋषभदेव, जिसे जैनधर्म का प्रथम तीर्थंकर माना गया है, का विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किया था।[4]

(v) राक्षस विवाह : पी० थामस के मतानुसार जैन धर्म में राक्षस और पैशाच प्रकार के विवाहों को मान्यता प्रदान नहीं की गई है।[5] परन्तु यह मत अमान्य है। जैनी सम्प्रदाय विशिष्ट आदर्श की ओर संकेत अवश्य करते हैं, किन्तु यथार्थता यदि आलोचित ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में समग्रता की दृष्टि से देखा जाए तो स्थिति भिन्न दृष्टिगोचर होती है। जैन पुराणों में राक्षस विवाह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। कन्या को बलात् उसके परिवार वालों को मारकर हरण कर लेते थे और अपने यहाँ लाकर विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करते थे।[6]

३. विवाह विषयक नियम : जैन पुराणों के अध्ययन से तत्कालीन समाज में प्रचलित विवाह के नियमों एवं प्रतिबन्धों पर प्रकाश पड़ता है। इसका उल्लेख अधोलिखित है :

(i) सवर्ण विवाह (अनुलोम विवाह) : विवाह विषयक नियमों और उपनियमों की दृष्टि से जैन पुराणों में तथा इनसे इतर साक्ष्यों में जहाँ कहीं समानता दृष्टिगत होती है, उनमें सवर्ण विवाह विशेषतया उल्लेखनीय है। जैन सम्प्रदाय द्वारा सम्मत विधि-निषेध में कहीं तो ब्राह्मण परम्परा से समानता है और कहीं विषमता दिखाई देती है। धर्मशास्त्रीय ब्राह्मण-व्यवस्था में सवर्ण या अनुलोम विवाह

---

१. पद्म ८।७८–८०
२. वही १०।६; हरिवंश २१।२६
३. महा ७०।११५
४. गोकुल चन्द्र जैन–जैन संस्कृति और विवाह, गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ, आगरा, १९६४, पृ० २८३
५. पी० थामस–वही, पृ० १०८
६. हरिवंश ४२।९६, ४४।२३–२४; महा ३२।१८३, ६८।६००

मान्य था और प्रतिलोम विवाह को मान्यता प्रदान नहीं की गई है, जिसके स्पष्ट निर्देश गौतमधर्मसूत्र, वशिष्ठधर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।[1]

उक्त परम्परा जैन पुराणों के विचार के अधिक सन्निकट है। महा पुराण में सवर्ण विवाह का उल्लेख करते हुए, उस विकल्प विधि की ओर भी संकेत है, जिसके अनुसार चारों वर्णों को अपने वर्ण में ही विवाह का विधान था। विशेष परिस्थिति में क्रम से अपने नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करने की छूट थी।[2]

एतदर्थ-जैन पुराणों में उल्लिखित दो स्थल विशेषतः ध्यातव्य है, जो अनुलोम-विधि की मान्यता की ओर स्पष्टतया संकेत करते हैं। प्रतिलोम विवाह के निदर्शक प्रमाण इन पुराणों में नहीं उपलब्ध हैं। दूसरी ओर स्थिति यह है कि धर्मशास्त्रों की भाँति ही जैनेतर पुराण ग्रन्थ असगोत्र, असप्रवर और असपिण्ड विवाह के पक्ष में कदापि नहीं हैं। किन्तु जैन परम्परा के नियामक आगमों तथा जैन पुराणों से यह विदित होता है कि इस कोटि के विवाहों का प्रचलन तत्कालीन समाज में अवश्य था। उदाहरणार्थ, भाई-बहन, मामा, बुआ, मौसी की लड़की, सौतेली माता, देवर, मामा-फूफा, ममेरी बहन आदि के साथ विवाह का उल्लेख प्राप्य है।[3] पद्म पुराण में शिष्य द्वारा गुरु पुत्री के साथ भी विवाह का उल्लेख मिलता है।[4] इसी पुराण में गुरु के यहाँ साथ-साथ पढ़ते हुए शिष्य-शिष्या आपस में विवाह करते थे।[5] सामान्यतया वैदिक धर्म में उक्त विवाह करना निषिद्ध था।[6] तथापि कतिपय स्मृतिकारों ने प्रायश्चित्त सहित इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी थी।[7]

न्यूनाधिक अंशों में उक्त जैन परम्परा के भेद का कारण स्थानीय भिन्नता थी। क्योंकि जैसा कि महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने स्पष्ट किया है कि 'मातुल-

---

१. एस० एन० राय–वही, पृ० २२७

२. महा १६।२४७

३. जगदीश चन्द्र जैन–वही, पृ० २६५–२६६; पद्म ८।३७३, ६५।३१; हरिवंश ३३।२१, ६।१८; महा ७।१०६, १०।१४३, ७३।१०५; तुलनीय–चकलदार–सोसल लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया–स्टडीज़ इन वात्स्यायनन्स कामसूत्र, पृ० १३३

४. पद्म २६।६-१३

५. वही २५।५४

६. बौधायनधर्मसूत्र १।१६-२६; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।७।२१।८

७. आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।११।६; मनु ११।१७२-१७३

कुल' में विवाह का प्रचलन दाक्षिणात्यों में था।[1] जैन पुराणों के सम्बन्धित स्थल विन्ध्य प्रान्तर के दक्षिणी भाग सम्भवतः सौराष्ट्र क्षेत्र के आस-पास लिखे गये थे।

(ii) **एकपत्नीव्रत और बहुविवाह** : सामान्यतया भारतीय आदर्श में 'एकपत्नीव्रत' को प्रोत्साहन मिला है। किन्तु विषम एवं विशेष परिस्थितियों में बहुविवाह को भी मान्यता मिली थी। परन्तु ऐसी स्थिति कम ही अवस्थाओं में सम्भावित थी। उदाहरणार्थ, आपस्तम्बधर्मसूत्र में वर्णित है कि पुरुष उसी दशा में द्वितीय विवाह कर सकता था जबकि उसकी पत्नी बन्ध्या अथवा अधार्मिक हो।[2] इसके अतिरिक्त 'एकपत्नीव्रत' का नियम राजपरिवार को आबद्ध्य नहीं कर सकता था। उदाहरणार्थ, भास द्वारा रचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' नामक नाटक में उदयन की सपत्नियों की ईर्ष्या की ओर संकेतात्मक चित्रण मिलता है।[3] कालिदास के शाकुन्तल में राजाओं के बहुपत्नीत्व का उल्लेख प्राप्य होता है।[4] अन्य जैनेतर साक्ष्यों से भी बहुविवाह के उल्लेख उपलब्ध हैं।[5]

महा पुराण में राजाओं तथा समाज के धनी एवं सम्पन्न लोगों की कई पत्नियों का उल्लेख आया है।[6] पद्म पुराण में वर्णित है कि लक्ष्मण की १६,००० रानियाँ तथा आठ पटरानियाँ थीं।[7] राम की ८,००० रानियाँ एवं चार पटरानियाँ[8] तथा रावण की १८,००० रानियाँ थीं।[9] महा पुराण में भरत की ९६,००० रानियों का वर्णन है।[10] इन अतिशयोक्तियों की पृष्ठभूमि में राजाओं के बहुपत्नीत्व-परम्परा का सन्निधान निर्विवादतः माना जा सकता है। पद्म पुराण में परस्त्री त्याग पर बल दिया गया है।[11]

हमारे आलोचित जैन पुराणों के प्रणयन काल में यह परम्परा विशेषतः प्रचलित थी कि राजकुल में बहुविवाह एक लोकप्रिय परम्परा थी। तत्कालीन नरेशों के अनेक

---

१. स्वमातुल सुतां प्राप्य दक्षिणात्यस्ते तुस्यति।
अन्ये तु सव्यलीकेन मनसा तत्र कुर्वते॥ तन्त्रवार्तिक, पृ० २०४

२. आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।११।१२-१३

३. स्वप्नवासवदत्तं, अंक ३

४. बहुबल्लभाः राजानः श्रूयन्ते। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ३

५. ऋग्वेद १०।८५।२६; शतपथब्राह्मण १३।४।१६; महाभारत, आदि पर्व १६०।३६, विष्णु पुराण १।१५।१०३-१०५; वायु पुराण ६३।४०-४२; ब्राह्मण पुराण २।३७।४२-४४; मत्स्य पुराण ५।१०-१२

६. महा १५।६६, ६८।१६६

७. पद्म ५८।६६, ६४।१७-१८

८. पद्म ६४।२४-२५

९. पद्म ५६।१७

१०. महा ३७।३४–३६

११. पद्म १२।१२४

अन्तःपुर होते थे, जिनका सम्बन्ध अनेक रानियों से था। राजकुल के अतिरिक्त यह प्रथा अन्य सम्पन्न परिवारों में भी प्रचलित थी।[1] इस प्रथा का एक मात्र कारण राजाओं की विलासिता को माना जा सकता है। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में हर्ष नामक राजा के विलासोचित क्रिया-कलापों का उल्लेख करते हुए उसके निरर्थक एवं निर्बन्ध्य प्रयासों की ओर संकेत किया है। इसकी सामाजिक प्रतिक्रिया के परिणाम में तत्कालीन शासक उपहास के विषय बन चुके थे। उदाहरणार्थ, दशवीं शती के अरबी लेखक इब्न खुर्दद्ब ने भारतीय नरेशों के विलासप्रियता की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि वे अपनी विलासिता को धर्म-सम्मत मानते थे।[2]

४. **विवाहार्थ वर-कन्या की आयु :** वैदिक, उत्तर वैदिक, रामायण एवं महाभारत में युवावस्था में विवाह होने का उल्लेख उपलब्ध है। सूत्रों, स्मृतियों एवं टीकाकारों ने कन्या के लिए विवाह योग्य आयु कम बतलायी है।[3] जैन सूत्रों में विवाह की आयु कम थी।[4] अलबेरुनी के अनुसार ११वीं शती में हिन्दुओं में विवाह की आयु कम हो गयी थी। ब्राह्मण वर की सामान्य आयु १२ वर्ष थी। क्षेमेन्द्र ने बाल विधवा का उल्लेख किया है। ढाका संग्रहालय से प्राक् मुस्लिम काल की स्थापत्य कलाकृतियों के आधार पर कन्या के विवाह की आयु १३-१४ वर्ष कथित है।[5]

जैन पुराणों के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि वर-कन्या का विवाह बड़े होने पर किया जाता था। उपर्युक्त विवेचित विवाह प्रकारों एवं विवरणों के आलोक में ऐसी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि उनका विवाह अल्पायु में नहीं होता था।

५. **वर-कन्या के गुण एवं लक्षण :** भारतीय आदर्श के अनुसार समान स्थिति वालों में ही विवाह करना अपेक्षित है। इस परम्परा की निर्देशिका जो

१. बी० एन० एस० यादव–वही, पृ० ६८–६९
२. यादव–वही, पृ० १२३; हबीब–हिन्दुस्तानी पत्रिका, वर्ष १९३१, पृ० २७३
३. प्रीतिप्रभा गोयल–हिन्दू विवाह मीमांसा, बीरुन्दा, १९७६, पृ० ९३–१०५; कृष्ण देव उपाध्याय–हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, वाराणसी, १९७४, पृ० १२१; शकुन्तल राव शास्त्री–वीमेन इन द सेक्रेड लाज, पृ० १७५
४. पिण्डनिर्युक्ति टीका ५०९
५. यादव–वही, पृ० ७०

धर्मशास्त्रीय[1] वारिधारा चली आ रही थी, उसका सम्यक् निर्वाह यदि एक ओर जैनेतर पूर्वकालीन पौराणिक-सम्प्रदाय[2] ने स्वीकार किया था, तो दूसरी ओर जैन पुराणों ने इनके पारम्परिक मन्तव्य से प्रेरणा प्राप्त किया था।[3] जैन पुराणों में वर के कुल, शील, धन, रूप, समानता, बल, अवस्था, देश और विद्यागम इन नौ गुणों पर विशेष बल दिया है।[4] महा पुराण में वर्णित है कि कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, वय, विनय, विभव, बन्धु एवं सम्पत्ति आदि गुण श्रेष्ठ वर में उपलब्ध होते हैं।[5] जैन पुराणों में वर की उच्च कुलीनता पर विशेष बल दिया गया है।[6] पद्म पुराण में श्रेष्ठ कन्या को विनयी, सुन्दर, चेष्टायुक्त वर्णित किया है।[7] महा पुराण में वर्णित है कि यदि कन्या में अच्छे लक्षण नहीं होते हैं, तब उसे कोई पुरुष ग्रहण नहीं करता और ऐसी परिस्थिति में उसे मृत्युपर्यन्त पिता के घर में रहना पड़ता है।[8] जैन आगमों में विवाहार्थ कन्या का वर के अनुरूप वय, लावण्य, रूप, यौवन तथा समान कुल में उत्पन्न होने पर बल दिया है।[9]

यह उल्लेखनीय है कि उक्त लक्षणों के सुनिरीक्षण का प्रधान उद्देश्य दाम्पत्य-जीवन को सुखद बनाना और सामाजिक व्यवस्था के मूलाधार गार्हस्थ्य एवं पारिवारिक-जीवन को संतुलित बनाना रहा होगा। यह परम्परा भारतीय जीवन में प्रारम्भ से चलती आ रही थी। इसके प्रमाण पूर्वकालीन सूत्र एवं स्मृति ग्रन्थों से ही मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ, आश्वलायनगृह्यसूत्र में उसी कन्या के साथ विवाह अपेक्षित माना गया है, जो बुद्धि, रूप, शील और स्वास्थ्य से सम्पन्न हो।[10]

---

१. मनुस्मृति ३।७
२. विष्णु पुराण ३।१२।२२, ४।१।६२, १।१५।६४; वायु पुराण ५४।११२, १०७।४-५; मत्स्य पुराण १५४।४१५, २२७।१८
३. महा ४३।१६१
४. पद्म १०१।१४, ८।६; महा ६२।६४, ४३।१८६; पाण्डव ४।२४
५. मन्दोदर्याः कुलं रूपं सौन्दर्यं विक्रमो नयः।
विनयो विभवो बन्धुः सम्पदन्ये च ये स्तुताः॥ महा ६७।२२१; पद्म ६।४१; तुलनीय–यम (स्मृति चन्द्रिका १, पृ० ७८); आपस्तम्बगृह्यसूत्र ३।२०; बृहत्पराशर (सम्पादित जीवानन्द), पृ० ११८
६. पद्म १०१।१४-१५, ६।४६; महा ७।१६६; तुलनीय–आश्वलायनगृह्यसूत्र १।५।१
७. पद्म १७।५३, ६।४२; तुलनीय–शतपथब्राह्मण १।२।५।१६; भारद्वाजगृह्यसूत्र १।११; मानवगृह्यसूत्र १।७।६–७; लौगाक्षिगृह्यसूत्र १५।४-७; गौतम ४।१; मनु ३।४, १०; वायु पुराण ३३।७; विष्णु पुराण ३।१०।१६-२४; मत्स्य पुराण २२७।१५
८. महा ६८।१६५
९. ज्ञाताधर्म १।१; भगवतीशतक ११।११
१०. आश्वलायनगृह्यसूत्र १।५।३

६. **दहेज प्रथा :** दहेज के लिए 'प्रीतिदान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैन पुराणों से ज्ञात होता है कि दहेज के रूप में पिता वर को धन देता था और दान-दहेज देने पर विवाह सम्पन्न होता था।[1] महा पुराण एवं पाण्डव पुराण में वर्णित है कि चक्रवर्ती राजा अपनी पुत्री को दहेज के रूप में हाथी, घोड़े, पियादे, रत्न, देश एवं कोष, कुल परम्परा में चला आया बहुत-सा धन आदि देते थे।[2] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि दहेज प्रथा समाज में प्रचलित थी और लोग अपनी यथाशक्ति दहेज देते थे।

७. **विवाह विधि :** जैन आगमों में मँगनी या तिलक जैसी कोई परम्परा का उल्लेख नहीं प्राप्य है। वस्तुतः पाणिग्रहण के निश्चयार्थ समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के समक्ष केवल एक श्रीफल के आदान-प्रदान को ही पर्याप्त माना गया था।[3] आलोचित जैन पुराणों में विवाह-संस्कार का वर्णन मिलता है। महा पुराण में वर्णित है कि शिष्ट-जन एवं ज्योतिषियों के निर्देशानुसार उत्तम एवं शुभ मुहूर्त्त, तिथि, करण, नक्षत्र तथा योग में कन्यादान का विधान विहित है।[4] विवाह किसी तीर्थस्थान या सिद्ध प्रतिमाओं को सम्मुख रख कर सम्पन्न करते थे। विवाह के समय विशेष उत्सव मनाये जाते थे, जिनमें वाद्य-संगीत की प्रधानता थी। आवास-स्थल को सुसज्जित किया जाता था।[5] इस अवसर पर सज्जनों एवं बन्धु-बान्धवों का समागम होता था।[6] कुलांगनाएँ आशीर्वाद के लिए अक्षत का प्रयोग करती थीं। अभिषेक के उपरान्त वर-कन्या को यथाशक्ति सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनाते तथा प्रसाधन कराते थे। अभिषेक के बाद वे पूर्व दिशा में सिद्ध भगवान् की पूजा करके तीन अग्नियों का पूजन करते थे। विवाह के समय वर-कन्या शृङ्गार करते थे।[7] पाणिग्रहण के बाद वर-वधू

---

१. पद्म ३८।६-१०, १०।११; महा ४५।३-४

२. महा ८।३६; पाण्डव ८।६७; तुलनीय—उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८८; उपासकदशा ४, पृ० ६१; रामायण १।७४-४

३. धनिराम जैन-संस्कृति और विवाह, श्रमण, वर्ष १३, अंक ४, फरवरी १९६२, पृ० १७-१८

४. महा ७।२२१, ४३।१९१; तुलनीय—ज्ञाताधर्मकथा १।१; भगवतीशतक ११।११; निशीथ चूर्णी ३।१६८६

५. महा ७।२२२, ४३।२६३, ३८।१२८-१२९, ७।२४६-२४८; तुलनीय—उत्तराध्ययनसूत्र २२।९-१०

६. महा ४३।१८३

७. महा ७।२१०-२३०; पाण्डव ३।२२०

को मनोहर चैत्यालय में ले जाकर अर्हन्तदेव की पूजा कराते थे।[1] विवाह के दूसरे दिन वर-वधू महापूत चैत्यालय (घर के बाहर जिन मन्दिर) जाते थे।[2] विवाह के दिन से वर-वधू देव एवं अग्नि की साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत रहते थे।[3] प्रसंगतः यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा में केवल तीन रात्रि के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करते थे।[4] कालिदास इक्ष्वाकु-वंशीय राजाओं के विवाह का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पत्ति माना है, न कि काम प्रेरित काम वासना की पूर्ति।[5] इस संदर्भ में जैनाचार्यों ने गार्हस्थ्य जीवन में ब्रह्मचर्य-व्रत के निर्वाह पर बार-बार बल दिया है तथा समागम क्रिया के लिए काल विषयक नियम और सीमा की ओर पुनः-पुनः संकेत भी किया है।

पद्म पुराण के अनुसार विवाहोपरान्त वर-वधू स्व-विवेकानुसार स्थान पर जाकर विवाह का प्रथम आनन्द (हनीमून) मनाते हैं।[6] पाणिग्रहणोपरान्त वर-वधू के लिए जो अन्य क्रियाएँ विहित थीं, उनमें देशाटन (विशेषतः तीर्थस्थल का दर्शन) लोकप्रिय माना जाता था। तदुपरान्त वर-वधू वैभवपूर्वक घर लौटते थे। निर्धारित वेला में काम-वासना से निरपेक्ष केवल सन्तानोत्पत्ति को लक्ष्य में रखकर वर-वधू का समागम स्पृहणीय माना जाता था।[7] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों ने सृष्टि को अनवरत चलाने के लिए ही सन्तानोत्पत्ति को प्रधान लक्ष्य माना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम-वासना को गौण स्थान पर रखा है। वैसे जैन धर्म विशेष रूप से निवृत्ति प्रधान धर्म है और ब्रह्मचर्य पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

---

१. पद्म ८।८०; महा ४३।२६३
२. महा ७।२७१
३. वही ३८।१३१
४. बौधायनधर्मसूत्र १।५।१६-१७; आपस्तम्बधर्मसूत्र ८।८-१०
५. प्रजायै गृह्यमेधिनाम्.....। रघुवंश, प्रथम सर्ग
६. पद्म ६।५६
७. महा ३८।१२७-१३४

[च] पुरुषार्थ

भारतीय धर्मों में—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों को महत्त्वपूर्ण माना गया है।[१] यदि इन पुरुषार्थों को व्यक्ति परस्पर अविरोधपूर्वक सेवन करता है, तो उसके व्यक्तित्व का विकास सहज रूप से सम्भव हो सकता है और अन्त में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास रूप मोक्ष पुरुषार्थ को वह उपलब्ध कर सकता है।

जैन पुराणकारों ने अपने पुराणों में चारों पुरुषार्थों का वर्णन किया है। यद्यपि यह सत्य है कि धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ का जितना विस्तारशः विवेचन जैन पुराणकारों ने किया है, उतने विस्तार के साथ अर्थ और काम पुरुषार्थ का विवेचन नहीं किया गया है। किन्तु जैन पुराणों में इन पुरुषार्थों का जो वर्णन प्राप्य होता है, उससे ज्ञात होता है कि पुराणकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए चारों पुरुषार्थों को आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में जैन पुराणों के संदर्भ में पुराणकारों की दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है।

वैयक्तिक-जीवन को शुद्ध करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। पुरुषार्थ के माध्यम से मनुष्य का जीवन सुधरता है, इससे समाज के स्थान पर व्यक्ति लाभान्वित होता है। जीवन में चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं, उनमें से प्रथम तीन—धर्म, अर्थ एवं काम—त्रिवर्ग[२] ही सार्थक या साधक हैं। चतुर्थ (मोक्ष) पुरुषार्थ साध्य है। त्रिवर्ग के सम्पन्न होने से चतुर्थ स्वतः पूर्ण हो जाता है।

१. धर्म : जैन पुराणों में धर्म का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि इस संसार में कुछ भी सारपूर्ण नहीं है, एक धर्म ही सारपूर्ण है, जो सब प्राणियों का महाबन्धु है।[३] धर्म ही महाहितकारी है। असीम फलदायी धर्म की जड़ें बहुत गहरी हैं। धर्म से मनुष्य इष्ट वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। इस लोक में धर्म अत्यन्त पूज्य है। इसलिए जो धार्मिक हैं, वे लोक में विद्वान् होते हैं।[४] अन्यत्र महापुराण में धर्म की सब प्रकार से रक्षा करने पर बल दिया गया है। धर्म की रक्षा होने पर इससे चर और अचर जगत की रक्षा हो जाती है।[५] इसी पुराण में अन्य प्रसंग में वर्णित है कि धर्म ही पापों से रक्षक, मनोवान्छित फलदायक, परलोक में कल्याणकारी एवं इह लोक में आनन्ददायक है।[६]

---

१. पद्म २७।२६
२. वही २७।२३
३. वही ७८।३४; महा २।३१-४०
४. पद्म ८५।२१-२२
५. महा ४०।१६८
६. वही ४२।११६

पद्म पुराण में वर्णित है कि 'धरतीति धर्मः' अर्थात् जो धारण करे वह धर्म है। क्योंकि अच्छी तरह आचारित किया हुआ धर्म दुर्गति में पड़े हुए जीव को धारण कर लेता है। इसलिए वह धर्म कहलाता है।[1] धर्म सुखोत्पत्ति का कारण है और अधर्म दुःखोत्पत्ति का। ऐसा समझकर धर्म की सेवा करनी चाहिए।[2] महा पुराण में उल्लिखित है कि जो शिष्यों को कुगति से पृथक् कर उत्तम स्थान में पहुँचा दे, सत्पुरुष उसे ही धर्म कहते हैं। धर्म के मुख्य चार भेद वर्णित हैं—सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र्य तथा सम्यक्तप।[3] पद्म पुराण में पाँच समितियाँ, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, बाह्य तप तथा अन्तः तप को धर्म कहा गया है।[4] पद्म पुराण में अणुव्रत तथा महाव्रत के भेद से धर्म दो प्रकार का वर्णित है[5] और हरिवंश पुराण में अणुव्रत, शीलव्रत तथा गुणव्रत को धर्म कहा गया है।[6] महा पुराण में अहिंसा को धर्म का लक्षण कथित है।[7]

२. **अर्थ** : आलोचित जैन पुराणों में धर्ममूलक अर्थवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि इस संसार में द्रव्य आदि के लोभ से भाई आदि में वैरभाव उत्पन्न हो जाता है। इसका मूल कारण योनि सम्बन्ध न होकर अर्थ है।[8] महाराज भरत को आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, जो अर्थ पुरुषार्थ का फल है।[9] जैन धर्म निवृत्तिमूलक होते हुए भी सांसारिक जीवन के लिए प्रवृत्त को स्वीकार करता है। इसी लिए उसने—अर्जन, रक्षण, वर्धन तथा व्यय—इन चारों उपायों से धन संचय करने को कहा है।[10] इस प्रकार जैन पुराणों में अर्थ पुरुषार्थ में न्यायपूर्वक अर्थ संचय करने को कहा गया है।

३. **काम** : धर्म एवं अर्थ के उपरान्त काम पुरुषार्थ का क्रम आता है। यद्यपि जैनी धर्म में ब्रह्मचर्य व्रत पर विशेष बल दिया गया है, तथापि सामाजिक जीवन के लिए काम पुरुषार्थ को स्वीकार किया है। महा पुराण में वर्णित है कि इन्द्रियों के विषय में अनुरागी मनुष्यों को जो मानसिक तृप्ति होती है उसे काम कहते हैं।[11] जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष कटु औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम ज्वर से

---

१. पद्म १४।१०३–१०५
२. पद्म १४।३१०
३. महा ४७।३०२–३०३
४. पद्म १४।१०७–१३६
५. पद्म ११।३७
६. हरिवंश ४५।८६
७. महा ४१।५२
८. पद्म ५८।६८
९. महा २४।३, २४।६
१०. वही ५१।७
११. वही ५१।६

संतप्त पुरुष स्त्री रूप औषधि का सेवन करता है।[1] कामातुर की स्थिति का वर्णन करते हुए पद्म पुराण में उल्लिखित है कि सूर्य शरीर के बाहरी चमड़े को जलाता है। इतने पर भी सूर्य अस्त हो जाता है, परन्तु काम कभी अस्त नहीं होता है।[2] इसी लिए काम से ग्रसित मनुष्य न सुनता है, न सूंघता है, न देखता है, न अन्य का स्पर्श जानता है, न डरता है और न लज्जित होता है।[3] वस्तुतः काम सेवन से कभी संतोष नहीं होता है।[4] महा पुराण के अनुसार कामी व्यक्ति अपनी बहन आदि का भी विवेक नहीं रख पाता है।[5]

४. **मोक्ष :** महा पुराण में वर्णित है कि धर्म, अर्थ एवं काम के सम्यक् निर्वाह से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही जीवन का लक्ष्य होता है। विषयभोग में लिप्त रहने से विनाश होता है। इसलिए इसका त्याग करना चाहिए।[6] इसी पुराण में वर्णित है कि अर्थ और काम से संसार की वृद्धि होने से सुख नहीं मिलता। धर्म में भी पाप की सम्भावना से सुख नहीं है। पापरहित मुनिधर्म श्रेष्ठ है। इसी से सुख प्राप्ति होती है और मोक्ष मिलता है।[7] हरिवंश पुराण में मुनिधर्म को साक्षात् मोक्ष का कारण माना है।[8] महा पुराण में वर्णित है कि जिससे जीवों के स्वर्ग आदि का अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही धर्म है अर्थात् धर्म से ही मोक्ष मिलता है।[9] हरिवंश पुराण में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र्य को मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया गया है। इसलिए इनसे बढ़कर दूसरा मोक्ष का कारण, न है और न होगा। यही सबका सार वर्णित है।[10]

५. **पुरुषार्थ का समन्वय** : उपर्युक्त अनुच्छेदों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये चारों पुरुषार्थ पृथक्-पृथक् हैं, तथापि इन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। पुराणों द्वारा इनमें आपस में सामाञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। सम्यक् रूप से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) की उपलब्धि पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी लिए हमारे आचार्यों ने त्रिवर्ग में पहले सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) की प्राप्ति से सभी मनोरथ उपलब्ध होते हैं।[11]

---

१. महा ११।१६६
२. पद्म २८।४५
३. पद्म ३६।२०८; महा ७।१६७
४. महा ८।३
५. पद्म ३६।१७०
६. महा ८।६१–७८
७. महा ५१।१०–११
८. हरिवंश १८।५१
९. महा १।१२०
१०. हरिवंश १०।१५८–१५९
११. हरिवंश ९।३४, १७।१; महा ५१।८, ५३।५, ६३।२५५

इस प्रकार धर्म से पुण्य, पुण्य से अर्थ और अर्थ से काम अभिलषित भोगों की प्राप्ति होती है। पुण्य के बिना अर्थ और काम नहीं मिल सकते।[१] इसी बात को अन्य प्रकार से व्यक्त किया गया है कि धर्म एक वृक्ष है, अर्थ उसका फल है तथा काम फलों का रस है। इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं। त्रिवर्ग की प्राप्ति का मूल कारण धर्म है।[२] धर्म से ही अर्थ, काम एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है। धर्म ही काम तथा अर्थ का उत्पत्ति स्थान है।[३] महा पुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्म है, पुत्र-प्राप्ति काम का फल है और चक्र का प्रकट होना अर्थफल की प्राप्ति है। ये त्रिवर्ग पुरुषार्थ उनको प्राप्त हुए थे।[४]

महा पुराण के अनुसार उक्त पुरुषार्थों को सज्जन अनुकूल मानते हैं और दुर्जन उनकी निन्दा करते हुए उनको प्रतिकूल मानते हैं।[५] परन्तु इन पुरुषार्थों से लोगों का वैयक्तिक जीवन निखरता है, जिससे समाज का कल्याण होता है। हमारे जीवन के लिए पुरुषार्थ बहुत ही उपयोगी है।

---

१. महा ४८।७
२. वही २।३२
३. वही २।३१
४. वही २४।६
५. वही ४४।३३४

[छ] स्त्री-दशा

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे आलोचित जैन पुराणों के रचना-काल में समाज में स्त्रियों की दशा गिरी हुई थी। जैनेतर तत्कालीन प्रचलित मान्यतानुसार स्त्रियाँ नैतिक और आध्यात्मिक पतन का कारण मानी गई थीं। पारम्परिक मान्यता के अनुसार उन्हें निर्बल और निष्क्रिय नैतिक कलिकर्म का प्रतीक माना जाता था।[१] नैतिक और आध्यात्मिक अक्षु से पृथक् होकर यदि धार्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि वे आलोच्य काल के बहुत पूर्व ही उपनयन संस्कार के लिए अनुपयुक्त मानी जाती थीं। ऐसी परिस्थिति में उन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा जाता था और उनकी स्थिति दिन प्रतिदिन गिरती गई।[२]

हमारे आलोचित पुराणों से ज्ञात होता है कि जैन सम्प्रदाय ने उनकी स्थिति में सुधार लाने की चेष्टा की थी। जैसा कि संस्कार विषयक अध्याय में विवेचित कर चुके हैं। जैन पुराणों ने स्त्रियों के लिए भी उपनयन संस्कार को एक अपेक्षित क्रिया बतायी है। यथार्थता तो यह है कि आलोच्य पुराणों के रचना काल में दो विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। एक ने स्त्रियों की अवनत-स्थिति का अंकन किया है तो दूसरे ने उनकी उन्नत स्थिति की ओर संकेत किया है। यह उल्लेखनीय है कि दूसरी विचारधारा का समाहार न केवल आलोचित ग्रन्थों में ही है, अपितु तांत्रिक साहित्य में भी उनकी उन्नतिशील दशा का चित्रण है। तांत्रिक विचारधारा के अनुसार स्त्रियाँ दैवी शक्ति की स्रोत मानी जाती थीं।[३]

इस द्वैधी विचारधारा के अतिरिक्त एक तृतीय विचारधारा भी पल्लवित हो रही थी, जिसका सम्बन्ध तत्कालीन शासक-परिवार से था अथवा उसका सम्बन्ध बौद्ध परम्परा से भी माना जा सकता है। राजतरंगिणी में सुगन्धा और दिद्दा के विषय में कथित है कि वे सफल एवं कुशल शासन संचालिका थीं। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में छुद्दा और शिल्ला नामक वीरांगनाओं का उल्लेख मिलता है।[४]

१. स्त्रियों की सामान्य-स्थिति : प्राचीन काल के पितृ-प्रधान संस्कृतियों के समाज में कन्या का जन्म अप्रसन्नता का कारण होता था। इसलिए वहाँ

---

१. यादव–वही, पृ० ७१; प्रबोध १।२७
२. अल्तेकर–द पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस, १९३८, पृ० ४२९
३. यादव–वही, पृ० ७१
४. यादव–वही, पृ० ७१-७२

पुत्री की अपेक्षा पुत्र को विशेष स्थान दिया गया था तथा पुत्र को परिवार की स्थायी सम्पत्ति समझा जाता था।[१] कालान्तर में परिस्थितियों में परिवर्तन आया। हमारे आलोचित जैन पुराणों में स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इनके अनुशीलन से उस समय की स्त्रियों की सामान्य स्थिति का ज्ञान प्राप्य होता है। महा पुराण के अनुसार स्त्रियों की स्थिति इतनी गिर गयी थी कि उन्हें महत्त्व-पूर्ण कार्यों से पृथक् रखा जाता था।[२] पद्म पुराण में पत्नी को पति के अधीन परतन्त्र रखा गया था, जिससे पति के इच्छा के विपरीत वह कोई कार्य नहीं कर सकती थी।[३] यही कारण है कि महा पुराण में स्त्रियों को मोक्ष का अधिकारी नहीं माना गया है।[४] पद्म पुराण में वर्णित है कि उन्हीं स्त्रियों को स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है जो पातिव्रत का पालन करतीं थीं।[५] महा पुराण में केवल व्रत, शील आदि सत्क्रियाओं वाली स्त्रियों को ही पवित्र माना गया है तथा इसके विपरीत स्त्रियों को अशुद्धता की श्रेणी में रखा गया है।[६] महा पुराण में उल्लिखित है कि पुरुष पर-स्त्री की प्राप्ति के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता था। आवश्यकता पड़ने पर वह उसका अपहरण भी करता था। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुणभद्र ने स्त्री-हरण को सभी पापों में सबसे बड़ा पाप कहा है।[७] इसी लिए उन्होंने परस्त्री को अयोग्य, अनाथ, विनाश का कारण, पाप एवं दुःख का संचायक बता कर परस्त्री से प्रेम करने का निषेध किया है।[८] पद्म पुराणकार ने तो पर स्त्री को माता कह कर समाज में आदर्श स्थापित किया था।[९] इतने प्रतिबन्ध के विपरीत यदि कोई व्यक्ति परस्त्री के साथ प्रेम (गमन) करता था तो हरिवंश पुराण में उसके अंग-भंग के दण्ड की भी व्यवस्था मिलती है।[१०]

१. अल्तेकर-पोजीशन ऑफ द वीमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बनारस, १९३८, पृ० ३
२. महा ६८।७१
३. पद्म १६।२८
४. महा ४३।१११
५. पद्म ८०।१४७
६. महा ७२।९२
७. वही ६८।११७
८. वही ६८।४९०
९. परस्त्री मातृवद्……। पद्म ७।१३९
१०. हरिवंश ४३।१८०-१८१

२. स्त्रियों को संरक्षण : स्त्रियाँ स्वभाव से भीरु होती हैं[१], जिसके कारण पुरुष उसे मारता-पीटता है। जैनाचार्यों ने इस अत्याचार के विरोध में आवाज उठायी और यह व्यवस्था किया कि जो स्त्रियों को मारेगा वह निन्दित समझा जायेगा।[२] रविषेणाचार्य ने कहा है कि पुरुषों द्वारा स्त्रियों के शोषण की इतिश्री यहीं पर नहीं होती, अपितु वह कुछ दीनारों में स्त्रियों को बेचता भी था।[३] इन अत्याचारों के विरोध में जैनाचार्यों ने स्त्रियों को संरक्षण दिया। इसके लिए उन्होंने व्यवस्था दिया है कि पिता, भर्त्ता और पुत्र स्त्रियों को प्रत्येक अवस्था में संरक्षण प्रदान करेंगे।[४] जैन सूत्रों में वर्णित है कि स्त्रियों की रक्षा कौमार्यावस्था में पिता, यौवनावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं।[५] इसी तथ्य का उल्लेख जैनेतर ग्रन्थों में भी हुआ है।[६]

३. स्त्रियों के गुण : जैन पुराणों के अध्ययन से स्त्रियों के गुणों पर प्रकाश पड़ता है। स्त्रियों का सर्वप्रधान गुण पातिव्रतधर्म है, जिसके प्रभाव से वे स्वर्ग की अधिकारिणी हो जाती हैं।[७] पद्म पुराण में वर्णित है कि पतिव्रता स्त्री के शरीर को चाहे छेद डालो या भेद डालो या काट डालो, परन्तु वह अपने भर्त्ता के सिवाय अन्य पुरुष को मन में भी नहीं ला सकती।[८] स्त्रियाँ स्वभाव से मुग्धा होती हैं[९], उनमें सदाचार का होना आवश्यक है।[१०] वस्तुतः स्त्रियों का शील ही आभूषण

---

१. पद्म ७३।६५

२. हरिवंश १९।१६; पद्म १५।१७३

३. दीनारे पञ्चभिः काञ्चित् काञ्चीगुणसमन्विताम्।
हस्ते निज मनुष्यस्य व्यक्रीणात्क्रीडनोद्यतः॥ पद्म ७१।६४

४. जनको भर्त्ता पुत्रः स्त्रीणामेतावदेव रक्षानिमित्तम्॥ वही ७८।९१

५. जायापितिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी संयवसा॥ व्यवहारभाष्य ३।२३३

६. पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ मनु ९।३; गौतम १८।१; वशिष्ठ ५।१,३; बौधायन २।२।५२; महाभारत, अनुशासन पर्व २०।२१; नारद (दायभाग २८-३०)

७. महा १७।१६९; पद्म ८०।१४७

८. पद्म ४६।८४

९. स्त्रीणां स्वभावमुग्धा·····। पद्म १२।१३६; तुलनीय—औपपातिक सूत्र ३८, पृ० १६७-१६८

१०. पद्म ८०।१५४

है। वे प्राण देकर भी शील की रक्षा करती हैं।[1] पद्म पुराण में स्त्रियों को स्वभाव से मृदु बताया गया है।[2] जैन पुराणों में स्त्रियों के शील के माहात्म्य की प्रशंसा की गयी है और वे देवता से भी नहीं डरती हैं।[3] स्त्रियों में लज्जा स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है।[4] महा पुराण में स्त्री के रूप, लावण्य, कान्ति, श्री, द्युति, मति और विभूति आदि गुणों का वर्णन उपलब्ध है।[5] सती पतिव्रता स्त्री का एक ही पति होता है।[6] इसी पुराण में सतीत्व प्रशंसनीय माना गया है। पति के कुरूप, बीमार, दरिद्र, दुष्ट, दुर्व्यवहारी होने पर भी पतिव्रता स्त्रियाँ चक्रवर्ती राजा से भी सम्बन्ध नहीं रखती हैं। यदि कोई पुरुष बलात् भोग की इच्छा करता है तो कुलवती स्त्रियाँ दृष्टि से विषसर्प की भाँति उसे भस्म कर सकती हैं। इसी लिए कथित है कि समुद्रसहित पृथ्वी उठायी जा सकती है, परन्तु सतीत्व भ्रष्ट नहीं किया जा सकता।[7]

४. स्त्रियों के दुर्गुण : जैनाचार्यों ने जहाँ एक ओर स्त्रियों के गुणों की प्रशंसा की है, वहीं दूसरी ओर उनके दुर्गुणों का भी सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया है। महा पुराण में वर्णित है कि स्त्रियाँ कुलीनता, अवस्था, रूप, विद्या, चारित्र, वंश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कान्ति, इहलोक, परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्राह्य, अग्राह्य, दया, लज्जा, हानि, वृद्धि, गुण और दोष को कुछ भी नहीं गिनती।[8] पद्म पुराण के अनुसार स्त्रियाँ प्रकृति से भीरु होती हैं।[9] हरिवंश पुराण में स्त्रियों को अकृतज्ञ कथित है।[10] महा पुराण में स्त्रियों के दोषों के विषय में यहाँ तक कहा

---

१. विनश्यति न मे शीलं कुलशैलानुकारि तत्। महा ६८।२२३

२. मृदुचित्ताः स्वाभावेन भवन्ति किल योषितः। पद्म १५।११२

३. महा ४७।२६६; पाण्डव १७।२६३

४. पद्म ८।३५

५. महा १२।१२

६. वही ६२।४१

७. वही ६८।१७५-१६०, तुलनीय—दशवैकालिकचूर्णी १, पृ० ४६

८. आभिजात्यं वयो रूपं विद्यां वृत्तं यशः श्रियम्।
विभुत्वं विक्रमं क्रान्तिमैहिकं पारलौकिकम्॥
प्रीतिमप्रीतिमादेयम् अनादेयम् कृपां त्रपाम्।
हानिबृद्धिं गुणान् दोषान् गणयन्ति न योषितः॥ महा ४३।१०१-१०२;
तुलनीय—उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ६३; भगवती आराधना ६३८।१००२

९. पद्म ७३।६५; तुलनीय—ऋग्वेद १०।६५।१५; शतपथब्राह्मण ११।५।१।६

१०. ……अकृतज्ञा हि योषितः। हरिवंश २१।७०

गया है कि—दोषों को पूछना ही क्या है ? वे तो स्त्री स्वरूप ही हैं या दोषों की उत्पत्ति स्त्रियों में है अथवा दोषों से स्त्रियों की उत्पत्ति होती है । इस बात का निश्चय इस संसार में किसी को नहीं हुआ है ।[१] पद्म पुराण में वर्णित है कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही कुटिल होती हैं, इसी लिए उनका चित्त पर पुरुष में लगा रहता है ।[२] यही कारण है कि सब स्त्रियों में सदाचार नहीं पाया जाता ।[३] इसी पुराण में वर्णित है कि संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे खोटी स्त्रियाँ नहीं कर सकती हों। यहाँ तक कि वे अपने पुत्र के साथ व्यभिचार भी कर सकती हैं ।[४] जैन आगम के अनुसार स्त्रियाँ पुरुषों को आठ प्रकार से बाँधती हैं—रोना, हँसना, बोलना, एक तरफ हटना, भ्रूभंग करना, गन्ध, रस तथा स्पर्श ।[५] इसी लिए महा पुराण में वर्णित है कि कमल के पत्ते के ऊपर पानी के समान स्त्रियों का चित्त किसी पुरुष पर स्थिर नहीं रहता ।[६] स्त्रियाँ लालची होती हैं, इसी कारण उनकी लोलुप्तता को धिक्कारा गया है ।[७] स्त्रियों की इच्छाएँ दूषित होती है, जिससे उनके चारों ओर विषम विष भरा रहता है ।[८] स्त्रियाँ इतनी अधिक ठग होती हैं कि वे इन्द्रसहित बृहस्पत्ति को भी ठग लेती हैं, इसी कारण उन्हें मायाचार की जननी कहा गया है ।[९] स्त्रियाँ दोष स्वरूप और चंचल स्वभाव की होती हैं ।[१०] महा पुराण में वर्णित है कि

---

१. दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः ।
तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥ महा ४३।१०६

२. स्वभावाद्वनिता जिह्म विशेषादन्यचेतसः । पद्म ११०।३१;
तुलनीय—मनु २।२१३-२१४; उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८३; महाभारत, अनुशासनपर्व ४८।३७-३८

३. पद्म ८०।१५४; तुलनीय—महाभारत, अनुशासनपर्व, १६।४३

४. अकार्यमवशिष्टं यत्तन्नास्तीह कुयोषितम् ।
मुक्त्वा पुत्राभिलाषित्वमेतदप्येतया वृत्तम् ॥ महा ७२।६१;
तुलनीय—मनु ६।१४-१५; आवश्यकचूर्णी २, पृ० ८१, १७०; बृहत्कल्पभाष्य ४।५२२०-५२२३, कथासरित्सागर, जिल्द ७, पृ० ११६

५. अनुत्तरनिकाय ३।८, पृ० ३०६

६. अम्भो वाम्भोजपत्रेषु चित्तं तासां न केषुचित् । महा ७२।६३

७. ·····धिक् तासां वृद्धगृध्नुताम् । महा ४३।१०३

८. योषितां दूषितेच्छानां विश्वतो विषमं विषम् । महा ४३।१०४

९. महा ४३।१०७

१०. वही ४३।१११

स्त्रियाँ स्वभावतः चंचल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी होती हैं। पुरुषों को स्त्रियों की बातों पर विश्वास न कर विचारपूर्वक कार्य करने पर बल दिया गया है। वासना के आवेश में आकर नारियाँ धर्म का परित्याग भी कर देती हैं।[1] स्त्रियाँ दोषों की माताएँ एवं सर्पिणी के समान हैं।[2] स्त्रियाँ उत्पत्ति मात्र से विषकन्या और अनार्य होती हैं।[3] पाण्डव पुराण के अनुसार स्त्रियाँ अपने कुल को गिराती हैं।[4]

५. विभिन्न रूपों में स्त्रियों की स्थिति : आलोचित जैन पुराणों के अध्ययन से स्त्रियों की स्थिति का विभिन्न रूपों में अधोलिखित प्रकार से विवेचित किया जा रहा है :

(i) कन्या (ii) पत्नी (iii) माता (iv) विधवा
(v) वीराङ्गना (vi) सेविका (vii) वेश्या

(i) **कन्या** : जैन पुराण के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि कन्या का जन्म माता-पिता के लिए अभिशाप न होकर प्रीति का कारण होता है।[5] महा पुराण में वर्णित है कि माता-पिता अपनी कन्याओं का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, एवं देखभाल पुत्रों के समान ही किया करते थे।[6] यही कारण है कि जैन महा पुराण में कन्या की महत्ता प्रदर्शित करते हुए वर्णित है कि कन्यारत्न से श्रेष्ठ अन्य कोई रत्न नहीं है।[7] जैनेतर मत्स्य पुराण में शील सम्पन्न कन्या को दस पुत्रों के समान माना गया है।[8]

---

१. महा ४३।१००-११३
२. वही ७१।२३७-२३८
३. वही ७१।२४१; तुलनीय—अंगुत्तरनिकाय २।२, पृ० ४९८ में स्त्रियों को अतिक्रोधी, प्रतिशोधी, घोरविषी, द्विजिह्वी तथा मित्रद्रोही कहा गया है।
४. पाण्डव ७।२४८
५. महा ६।८३; पद्म ८।७ तुलनीय—कालिदास की कृतियों में कन्या को सम्मान-पूर्ण स्थान प्राप्त है। कुमारसम्भव में कन्या को कुल का प्राण कहा गया है। भगवतशरण उपाध्याय—गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, वाराणसी १९६९, पृ० २२१
६. महा १६।९८
७. कन्यारत्नात् परं नान्यद् इत्यताहः प्रभृत्यतः। महा ४३।२३८
८. दशपुत्रसमा कन्या या न स्याच्छोक्तवर्जिता। मत्स्य पुराण १५४।१५७

पद्म पुराण से स्पष्ट है कि निर्दोष, विनय को धारण करने वाली सुन्दर और उत्तम चेष्टाओं से युक्त घर की लड़की सबको प्रिय होती है।[1] जैन पुराणों के कथनानुसार शैशव की आधार शिला पर जीवन का स्वरूप निर्मित होता है। बच्चों का लालन-पालन के साथ ही शिक्षा द्वारा उनका मानसिक स्तर ऊँचा उठाते थे। लड़के और लड़कियों को साथ ही साथ शिक्षा दी जाती थी। लड़कियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है।[2] लड़कियाँ गणित, वाङ्मय (व्याकरण, छन्द एवं अलंकार शास्त्र) आदि समस्त विद्याएँ और कलाएँ गुरु या पिता के आग्रह से प्राप्त करती थीं।[3]

जैनेतर साक्ष्यों से कन्याओं की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। लड़कियों को दो भागों में बाँट सकते हैं—ब्रह्मवादिन—ये आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर सिद्धान्त दर्शन आदि का अध्ययन किया करती थीं और सद्योदवाहा—इस प्रकार की लड़कियाँ अपने जीवन के लिए आवश्यक शिक्षा ग्रहण कर विवाह करती थीं।[4] नवीं शती ई० में स्त्रियों की शिक्षा राजपरिवार, कर्मचारी, धनी तथा नर्तकी परिवारों तक सीमित रह गया। इसका दृष्टान्त तत्कालीन संस्कृत के नाटकों में मिलता है। सन् १००० ई० के आस-पास ३० प्रतिशत से अधिक पुरुष और १० प्रतिशत से कम स्त्रियाँ शिक्षित थीं। संगीत, नृत्य एवं चित्रकला का ज्ञान लड़कियों को प्रारम्भ काल से कराया जाता था। शासक वर्गीय लड़कियाँ सैनिक एवं प्रशासनिक शिक्षाएँ ग्रहण करती थीं।[5]

महा पुराण के अनुसार बालाएँ जब तक कन्या-व्रत में रहती हैं, तब तक अन्य का नाम भूल से भी नहीं लेतीं।[6] पाण्डव पुराण में वर्णित है कि कुलीन कन्या पति का स्वयं वरण नहीं करतीं।[7] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि कन्याएँ पिता की आज्ञानुसार चलती हैं।[8] इसी लिए पिता की आज्ञा के बिना शिक्षा की समाप्ति और

१. पद्म १७।५३
२. महा १६।१०२; पद्म ६४।६१
३. वही १६।१०५-११७; वही १५।२०, २४।५; तुलनीय—रामायण १५।४८
४. अल्तेकर—वही, पृ० १३
५. अल्तेकर—वही पृ० २१–२५
६. महा ४६।१३
७. पाण्डव ७।८६
८. वही ७।१६१

कलाओंके सीखने के उपरान्त पिता को अपनी कन्याओं के विवाह की चिन्ता होती है। माताएँ तो कन्याओं के शरीर-रक्षा करने में उपयुक्त होती हैं और उनको दान देने में पिता ही उपयुक्त होते हैं।[1] उक्त पुराण में उल्लिखित है कि कन्या के विवाह योग्य होने पर माता-पिता उसके विवाह के लिए चिन्तित होते हैं।[2] युवावस्था में कन्याओं का विवाह पिता उनके योग्य वर से करता है।[3] इसके अतिरिक्त बालाएँ स्वयं वर का चयन कर स्वयंवर पद्धति द्वारा विवाह करती थीं।[4] जैन पुराणों के अनुसार कुछ कन्याएँ गान्धर्व विवाह भी करती थीं।[5] कन्या के माता-पिता योग्य वर ढूंढकर मंत्र सहित विधिवत कन्या का विवाह कर उसको दक्षिणा आदि प्रदान कर विदा करते थे।[6] पद्म पुराण में कन्या के विदाई का करुणापूर्ण दृश्य चित्रित है।[7] हरिवंश पुराण में वर्णित है कि कभी-कभी कन्याओं को बलपूर्वक अपहरण कर लाते थे और अपने यहाँ उनका विधिपूर्वक विवाह करते थे।[8] जैन पुराणों के अनुसार कतिपय कुमारी कन्याएँ वैराग्यवश परिव्राजिका की दीक्षा ग्रहण कर लेती थीं।[9] विदुषी कन्याओं का विवाह शास्त्रार्थ में विजित पुरुष के साथ किया जाता था।[10]

कन्याओं को सम्पत्ति का अधिकार : प्रारम्भिक काल में स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार था। वे अपनी पृथक् सम्पत्ति रख सकती थीं, जिसे स्त्रीधन से सम्बोधित किया गया है। स्त्रीधन को मिताक्षरा और दायभाग में विवेचित किया गया है। दायभाग स्त्रीधन के अन्तर्गत आता है, क्योंकि स्त्रियों को स्वेच्छा से उनके सम्बन्धी उपहार आदि (सौदायिक) देते थे। उस पर स्त्रियों का पूर्णतः अधिकार

१. पद्म ८।१०
२. वही ८।६
३. वही १५।२४
४. महा ६३।८; पद्म २४।१२१; तुलनीय—ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। विष्णु पुराण ४।१३।१४
५. पद्म ८।१०८; हरिवंश ४५।३७
६. महा ७५।३४, पद्म १०।६-११
७. पद्म ८।८
८. हरिवंश ४४।२३—२४
९. पद्म २१।१३३; महा २४।१७६-१७७
१०. वही २३।१०

रहता था। किसी सीमा तक परिवार की सम्पत्ति में भी उन्हें सीमित अधिकार प्रदान किया गया था।[1] महा पुराण में वर्णित है कि पिता की सम्पत्ति में पुत्र के समान पुत्रियाँ भी बराबर भाग की अधिकारी होती थीं।[2] जैनेतर साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पुत्राभाव में ही पिता के धन पर पुत्री का स्वत्व सम्भव था।[3]

जहाँ तक हमारे आलोचित ग्रन्थों का सम्बन्ध है, प्रस्तुत प्रश्न पर महा पुराण द्वारा प्रकाश पड़ता है। इसके विवरणानुसार पिता की सम्पत्ति पर पुत्र के समान पुत्री का भी अधिकार होता था। प्रस्तुत विवरण का स्वरूप इतना सामान्य है कि यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि जैनाचार्यों के मत में तत्कालीन प्रचलित परम्परा के लिए सम्मत 'स्त्रीधन' को किस सीमा तक मान्यता प्रदत्त की गयी थी। तथापि यह नितान्त असम्भाव्य है कि महा पुराण के विवरण का तात्पर्य स्त्रीधन से ही है।

(ii) पत्नी : मूलतः निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक इन दो धाराओं द्वारा भारतीय संस्कृति का नियमन हुआ है। निवृत्तिपरक जीवन में स्त्री अथवा पत्नी की अनिवार्यता भी नहीं थी और वस्तुतः इन्हें हेय दृष्टि से भी देखा गया है। किन्तु प्रवृत्तिप्रधान जीवन की प्रधान प्रतिष्ठा पत्नी में थी, जो गार्हस्थ्य जीवन की कर्त्री और नियामिका मानी जाती थी। पद्म पुराण में पत्नी के लिए 'भाम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[4]

पद्म पुराण में विवाहोपरान्त वर-वधू के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर संयमित जीवन पर विशेष बल दिया गया है। वर-गृहागमन पर वधू अपने मुख पर घूँघट रखती थी,[5] जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ मुख पर घूँघट रखती थीं और पर्दा-प्रथा का प्रचलन था। महा पुराण के अनुसार सुन्दर स्त्री विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकार से चरण रखने वाली, रसिका (रसीली) एवं सालंकारा होकर अपने पति का अनुरञ्जन करती थी।[6] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि कुलाङ्गनाएँ अपने पति के अभिप्राय का अनुकरण करती थीं।[7] उक्त पुराण

---

१. याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा २।१४३, ११५, १२३, १२४, १३५, प्रभावकचरित, पृ० ३३७-३८

२. पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः। महा ३८।१५४; तुलनीय—कात्यायन ९२१-२७

३. एस० एन० राय—वही, पृ० २६८

४. पद्म २४।१०१

५. वही ८।६९

६. महा ४३।४३

७. पद्म ८।११

में अन्यत्र वर्णित है कि पत्नी अपने पति को कुमार्गी होने से बचाती है। उदाहरणार्थ, मन्दोदरी ने अपने पति रावण को कुमार्ग के परित्याग के लिए बहुत समझाया था।[1] महा पुराण में पति-पत्नी के संयोग-क्रिया का रोचक वर्णन उपलब्ध है।[2] जैनेतर ग्रन्थ रामायण के अनुसार पिता, भ्राता एवं पुत्र उसे सीमित आनन्द देते हैं, परन्तु पति पत्नी को अपार आनन्द देता है।[3] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि स्त्री तभी तक मर्यादित है जब तक स्वामी मर्यादा में रहता है।[4] महा पुराण में विवाहिता नारी को घूमने-फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।[5] स्त्री की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए उक्त पुराण में कथित है कि पति से ही पत्नी की शोभा नहीं होती है, अपितु पति भी पत्नी से शोभित होता है।[6] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि उस समय ऐसी साध्वी महिलाएँ थीं जो कि पर-पुरुष के सम्मुख होकर बात नहीं करती थीं, अपितु मध्य में तृण रखकर परोक्ष रूप में बात करती थीं।[7] इस प्रकार की स्त्रियों को सब प्रकार के आचारों का ज्ञान होता था।[8] पतिव्रता स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्म के रक्षार्थ अपने प्राणों की आहुति दे देती थीं।[9] जैनेतर ग्रन्थों के अनुसार पत्नी का सब आनन्द उसके पति में केन्द्रित होता था।[10]

यद्यपि जैन धर्म में मद्यपान निषिद्ध था, तथापि महा पुराण में स्त्री-पुरुष दोनों द्वारा मद्यपान का उल्लेख प्राप्य है। महा पुराण में वर्णित है कि नारियाँ मद्य-पान करती थीं। श्राविकाएँ मद्यपान नहीं करती थीं। कामोद्दिपनार्थ पति-पत्नी मदिरा पीते थे। कोई स्त्री ईर्ष्यावश सपत्नियों को अधिक मदिरा पिला देती थीं।[11] परन्तु सर्वत्र सपत्नी के प्रति ईर्ष्या का भाव परिलक्षित नहीं होता है। हरिवंश पुराण में हमें सपत्नी (सौत) के आने पर प्रसन्नता का दृष्टान्त भी मिलता है।[12] वस्तुतः पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए जैनाचार्यों ने सौहार्दपूर्ण वातावरण निर्मित करने का प्रयास किया था। पद्म पुराण में पत्नी को पति का

---

१. पद्म ७३।५१-५२
२. महा ३५।१५८-२३७
३. रामायण २।४०।३
४. हरिवंश १७।१६
५. महा ४।७६
६. महा ६।५६
७. पद्म ४६।११
८. वही ५३।१२८
९. वही ४६।८४
१०. रामायण २।३७।३०, २।२७।१६; ब्रह्मवैवर्त पुराण ३५।११६; कुमारसम्भव ६।८६; रघुवंश ६।१७; मत्स्य पुराण १५४।१६६; वायु पुराण ७०।६७; ब्रह्माण्डपुराण ३।८।६४
११. महा ४४।२८६-२६२
१२. हरिवंश ४४।१७

बान्धव और शरण कथित है।[1] इसी पुराण में पिता, पति एवं पुत्र को कुलवती स्त्रियों का आधार वर्णित किया गया है।[2]

आदि-काल से नारियों में धार्मिक प्रवृत्ति रही है। उस समय वे सभी धार्मिक कृत्य पुरुष के सहयोग से करती थीं। जैन एवं बौद्ध आगमों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि नारियों को न केवल गृहस्थाश्रम में पुरुषों के समान धर्माचरण करने का अधिकार प्राप्त था, अपितु भिक्षुणी बनने में उन पर संघ की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था।[3]

(iii) माता : माता का समाज में सर्वोच्च स्थान है। पुत्र का जन्म देने से स्त्री का मान बढ़ जाता है और लोग उसकी प्रशस्ति करते हैं। वैदिककालीन पिता दस पुत्रों की कामना करता है। स्मृति काल में यही पिता आठ पुत्रों की कामना करता है।[4] मनु के मतानुसार माता का स्थान पिता की अपेक्षा सहस्र गुणा उच्चतर है।[5] यही कारण है कि उन्होंने पतित माता को भी देवकोटि में रखा है।[6]

वैदिक परम्परा के पुराणों में माता को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।[7] जैन पुराणों में माता अत्यधिक श्रद्धेय थी तथा समाज में उसे विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया था।[8] पद्म पुराण में वर्णित है कि यथार्थ में इस संसार में माता ही सर्वश्रेष्ठ बन्धु है।[9] यद्यपि कन्या विषयक युक्ति में अन्तर्विरोध है तथापि स्त्रियों का समाज में प्रतिष्ठित स्थान था। पद्म पुराण में माता की महत्ता का वर्णन करती हुई इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी का कथन है कि हे माता ! तू तीनों लोकों की कल्याण-

---

१. पद्म ३०।१६६
२. पिता नाथोऽथवा पुत्रः कुलस्त्रीणां त्रयी गतिः। पद्म ३१।१७७
३. कोमल चन्द्र जैन—जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, १९६७, पृ० १८३
४. अल्तेकर—वही, पृ० ११८
५. मनु २।१४५
६. वही ११।६०
७. एस० एन० राय—वही, पृ० २६३
८. पद्म १०१।३७
९. वही ८०।७०

कारिणी माता है, तू ही मंगलकारणी है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्यवती है और तू ही यशस्विनी है।[1] उक्त पुराण में वर्णित है कि संसार में वह मनुष्य अत्यधिक पुण्यात्मा है, जो माता की विनय में तत्पर रहता है तथा किंकरभाव से उसकी सेवा करता है।[2]

महा पुराण के अनुसार सन्तानोत्पत्ति न होने पर कुल का नाश होता है और स्त्री को मुक्ति नहीं मिलती।[3] उक्त पुराण में पुत्रोत्पत्ति का विशेष महत्त्व वर्णित है। यही कारण है कि संसार में साधारण से साधारण मनुष्य के लिए पुत्र का जन्म भी हर्ष का कारण है।[4] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि वस्तुतः स्त्रियाँ संसार की लता के समान हैं। यदि पुरुष के पुत्र नहीं हुआ तो इस पापी मनुष्य के लिए पुत्रहीन पापिनी स्त्रियों से क्या प्रयोजन है?[5] पद्म पुराण में पुत्र से बढ़कर प्रीति का और दूसरा स्थान नहीं है।[6] महा पुराण के अनुसार कन्या उत्पन्न होने पर परिवार में शोक छा जाता था।[7] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि यदि किसी के पुत्र नहीं हुआ तो जिस घर में वह स्त्री प्रवेश करती है और जिस घर में उत्पन्न हुई है, उन दोनों ही घरों में शोक छाया रहता है। यदि भाग्यहीन होने से कोई बन्ध्या हुई तो उसका गौरव नहीं रहता।[8]

महा पुराण में यह उल्लिखित है कि गर्भिणी स्त्री का विशेष ध्यान रखा जाता था। दोहला (दौर्हृद) को पूर्ण करना पति का परम कर्त्तव्य माना जाता था।[9] जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा और कथा आदि द्वारा गर्भिणी का मनोविनोद किया जाता था।[10] इस प्रकार दोहला पूर्ण होने पर उसका समस्त शरीर पुष्ट होता है और अकथनीय कान्ति एवं दीप्ति धारण करती थी।[11] हरिवंश पुराण के अनुसार गर्भिणी स्त्रियों को दीक्षा-ग्रहण करने पर प्रतिबन्ध था। वे बच्चे के जन्म के बाद ही दीक्षा ले सकती थीं।[12] महा पुराण का 'अन्तर्वन्ती' शब्द गर्भिणी के लिए प्रयुक्त होने पर उसका महत्त्व बढ़ जाता है।[13] पाण्डव पुराण में गर्भिणी की स्थिति का सुन्दर चित्रण उपलब्ध है।

---

१. महा १३।३०; तुलनीय—गौतम २।५६; मनु २।१४५; वशिष्ठ धर्मसूत्र १३।४८
२. पद्म ८१।७६
३. महा ६८।१७३
४. वही ५६।२०
५. वही ५४।४४
६. पद्म ८।१५७
७. महा ६८।१७०
८. महा ६८।१६६
९. वही १५।१३७, ७०।३४३
१०. वही १२।१८७,
११. पद्म ७।११
१२. हरिवंश १८।१२०
१३. अन्तर्वन्तीमथाभ्यर्णे नवमे मासि सुन्दरम्। महा १२।२१२

गर्भिणी का मस्तक दुःखना, चक्कर आना, वमन होना, मुख सफेद होना, उदर की त्रिवली नष्ट होना, पेट कठिन होना, अल्प भाषण, सुन्दर आँख, मृत्तिका भक्षण, स्तन सुन्दर, उन्नत पुट होना प्रमुख लक्षण हैं।[१]

जैन पुराणों में वर्णित है कि सन्तानोत्पत्ति से माता का हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण हो जाता है और स्तन से दूध झरने लगता है।[२] महा पुराण के अनुसार माता के लिए पुत्र सर्वाधिक स्नेहपात्र होता है।[३] उससे बढ़कर प्रीति का और दूसरा स्थान नहीं है।[४] महा पुराण में वर्णित है कि उत्तम संतान प्रसवा स्त्रियाँ अपने पति को आनन्दित करती हैं। उतना आनन्द लक्ष्मी भी नहीं दे सकती। उत्तम लताओं के समान उत्तम पुत्र प्रसवणी स्त्रियाँ प्रिय होती हैं।[५] जैनेतर ग्रन्थ महाभारत के अनुसार पुत्र अपनी माता को अपने पिता से अधिक मानता है। पुत्र अपनी माता को नहीं छोड़ सकता, भले ही उसकी माता को सामाजिक एवं धार्मिक बहिष्कार क्यों न प्राप्त हो।[६]

जैनाचार्यों ने माताओं के पुत्र-प्रेम को पति के प्रेम से अधिक उच्च स्थान प्रदत्त किया है। पद्म पुराण में वर्णित है कि पति पर स्त्रियों का प्रेम विचलित भी हो सकता है, परन्तु अपने दूध से पुष्ट किये हुए पुत्रों पर वात्सल्य कभी विचलित नहीं होता।[७] महा पुराण में उल्लिखित है कि माता को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर परमानन्द की प्राप्ति होती है।[८] संसार में माता को पुत्र वियोग से बढ़कर कोई अन्य वियोग नहीं होता। पद्म पुराण में वर्णित है कि पुत्र वियोग में माता को न आहार में, न शयन में, न दिन में और न रात्रि में थोड़ा भी आनन्द उपलब्ध होता है। वह पुत्र वियोग में कुररी के समान रुदन करती रहती है तथा अत्यन्त विह्वल होकर दोनों हाथों से छाती और सिर पीटती रहती है।[९] उक्त पुराण में आगे कथित है कि पुत्र

---

१. पाण्डव ७।२३८ २४२, ८।१२४-१२५
२. पद्म ८५।१२७; हरिवंश ३५।६०-६२
३. वही १७।३६०
४. वही ८।१५७
५. महा ४३।१३२
६. महाभारत १।२११।६
७. पद्म १०७।६२
८. महा १५।७३-७४; ७।२०५
९. पद्म ८१।७२-७३

वियोगिनी निरन्तर उद्विग्न रहती है, नेत्र आँसुओं से परिपूर्ण रहते हैं, नव प्रसूता गाय के समान पुत्र से मिलने के लिए व्याकुल रहती है, पुत्र के प्रति स्नेह प्रकट करने को लालायित रहती है और घोर शोक-सागर में डूबी रहती है।[1] पुत्र वियोग में माताओं के बाल बिखरे रहते हैं तथा पृथ्वी पर लोटती रहती हैं।[2]

आजकल के आधुनिक वातावरण में माताएँ अपने बच्चों को अपना दूध नहीं पिलातीं, उसी तरह महा पुराण के रचना काल में सम्भ्रान्त परिवारों की माताएँ भी अपने बच्चों को अपना दूध नहीं पिलाती थीं, अपितु धायें अपना दूध बच्चों को पिलाती थीं।[3]

(iv) विधवा : विगत (मर गया) है धव (पति) जिसका ऐसी स्त्री विधवा हुई। 'विधवा' शब्द बहुव्रीहि समास है। महा पुराण में विधवा को परिभाषित करते हुए वर्णित है कि विधवा उस स्त्री को कहते हैं, जिसका पति मर गया हो, अनाथ हो तथा बलहीन हो।[4] उक्त पुराण में उल्लिखित है कि विधवा को घोर दुःख झेलना पड़ता है। मांगलिक कार्यों में विधवाओं का निषेध रहता है।[5] पद्म पुराण के अनुसार पति के मरने पर स्त्रियाँ अपने हाथों की चूड़ियाँ स्वतः फोड़ लेती हैं।[6] महा पुराण में वर्णित है कि कभी-कभी पति के मरने पर स्त्रियाँ तलवार से आत्म-हत्या कर लेती थीं।[7] कुछ स्त्रियाँ पति के मरने पर दुःख को समेट कर अवशेष जीवन को व्रतोपवास, पूजा-अर्चना द्वारा जिन व्रत धारण कर जिनेन्द्र की सेवा द्वारा अपना परलोक सिद्ध करती थीं और सुख साधनों का परित्याग कर सादगी का जीवन व्यतीत करती थीं।[8] विधवा स्त्रियाँ कोई भी आभूषण नहीं धारण करती हैं।[9] आलोचित जैन पुराणों के उक्त कथन की पुष्टि जैनेतर पुराणों से भी होती है।[10]

---

१. पद्म ८१।३-४
२. वही ८१।६६
३. महा १४।१६५
४. वही ४३।६८; तुलनीय—ऋग्वेद १।८७।३
५. वही ६८।१७१-१७२
६. पद्म ७८।६
७. महा ७५।६३
८. वही ७१।३६२, ६।५५-५७; तुलनीय—कात्यायन ६२६-६२७, पराशर ४।३१
९. वही ६८।२२५; वृद्धहारीत ११।२०५-२१०
१०. एस० एन० राय—वही, पृ० २८१

डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के मतानुसार पति की मृत्यु पर विधवा को सम्पत्ति नहीं मिलती। वह सम्पत्ति उसके पुत्रों को उपलब्ध होती है। इसके साथ ही पुत्र का यह उत्तरदायित्व होता था कि वह अपने माता की रक्षा अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त करते रहें।[1] लक्ष्मी नारायण भारतीय ने जैनधर्म में विधवाओं को सम्पत्ति का अधिकारी माना है,[2] परन्तु यह मत अमान्य है।

जैनेतर मार्कण्डेय पुराण विधवा के पुनर्विवाह का विरोध करता है।[3] जब कि कई धर्मशास्त्रों ने नियोग प्रथा का उल्लेख किया है।[4] वायु पुराण में नियोग प्रथा का उल्लेख प्राप्य है।[5] वात्स्यायन ने विधवा के पुनर्विवाह के लिए 'पुनर्भू' शब्द का प्रयोग किया है।[6] शूद्र विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह सामान्यतया होता था।[7] जैनागम में विधवाओं के विवाह का उल्लेख उपलब्ध है।[8]

(v) **वीराङ्गना** : भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही वीर स्त्रियों, माताओं, बहनों एवं प्रेयसियों की प्रशंसा की गई है। उनके अदम्य साहस एवं त्याग के कारण इस देश को नयी दिशा मिली है। जब-जब देश पर संकट आया है, वे देश की रक्षा में अपना सर्वस्व न्यौछावर करती रहीं। पद्म पुराण के अनुसार ऐसी स्त्रियाँ अपने प्राण-पति को युद्ध में भेजकर नवीन घाव बड़े गौरव से देखना चाहती थीं, क्योंकि उनके पति के शरीर के घाव पुराने पड़ गये थे।[9] वे अपने पति से विजय की

---

१. अल्तेकर—वही, पृ० ११६

२. लक्ष्मी नारायण भारतीय—जैन धर्म और नारी, श्रमण, वर्ष १८, अंक ३, जनवरी १९६७, पृ० ६

३. एम० वाई० देसाई—ऐंशेण्ट इण्डियन सोसाइटी, रेलिजन ऐण्ड माइथालोजी एज डिपेक्टेड इन द मार्कण्डेय पुराण, बड़ौदा, १९६८, पृ० ४५

४. गौतम १८।४-१४; महानिशीथ, पृ० २४; वशिष्ठधर्मसूत्र १७।५६-६५; बौधायनधर्मसूत्र २।२।१७; मनु ९।५९-६१; याज्ञवल्क्य १।६८-६९; नारद (स्त्रीपुंस ८०।१०१) १२।९७; कौटिल्य ३।६, १।१७; महाभारत, अनुशासनपर्व ४४।५२-५३ पराशरस्मृति ४।२८

५. पाटिल—कल्चरल हिस्ट्री फ्राम द वायु पुराण, दिल्ली, १९७३, पृ० ४५-४६

६. चकलदर—स्टडीज इन द कामसूत्र, दिल्ली, १९७६, पृ० १८२

७. बृजेन्द्र नाथ शर्मा—सोशल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ६९

८. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृष्ठ १८१-१८३

९. पद्म ५७।१२-१३

आशा करती थीं। पराजित पति को वे तिरस्कृत करती थीं, क्योंकि पड़ोसी योद्धाओं के पराजय पर उनकी पत्नियों को भी वे पसन्द नहीं करती थीं, अतः स्वपति के पराजय को वे सहन नहीं कर पाती थीं।[1] वीर पत्नियों के त्याग की पूर्णाहुति यहीं पर समाप्त नहीं होती, अपितु वे युद्ध में जाते समय अपने पतियों से कहती थीं कि हे नाथ! यदि संग्राम में घायल होकर आप पीछे आयेंगे तो मुझे बड़ा अपयश होगा और उस अपयश के सुनने मात्र से ही मैं प्राण त्याग दूँगी। क्योंकि इससे मुझे वीर किंकरों की गर्वीली पत्नियाँ धिक्कारेंगी। इससे बढ़कर कष्ट की और बात क्या होगी।[2]

वीराङ्गनाओं की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए जैनेतर साक्ष्य से भी प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध होती है। दशवीं-ग्यारहवीं शती में सुगन्धा एवं दिद्दा रानियाँ कुशल प्रशासक थीं। राजतरंगिणी से चुद्दा जैसी वीराङ्गनाओं पर प्रकाश पड़ता है। 'पृथ्वी-राजविजय' से ज्ञात होता है कि राजा सोमेश्वर ने अपनी मृत्यु के समय अपनी रानी कर्पूरीदेवी को अपने पुत्र पृथ्वीराज तृतीय की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया था। गुजरात की नेकिदेवी ने ११७८ ई० में मोहम्मद गोरी के आक्रमण का सामना किया था। मेवाड़ के राजा समरसिंह की विधवा पत्नी कुमारदेवी ने कुतुबुद्दीन के आक्रमण का सामना (११९५ ई०) किया था।[3]

(vi) सेविका : आलोचित जैन पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में सेविकाएँ थीं, जिनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। सेविकाएँ कुल-परम्परा के अनुसार होती थीं।[4] आलोच्य पुराणों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इन्हें अध्ययन की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) सामान्य धात्री : धात्री का समाज में महत्त्व प्रायः मातृवत् था। महा पुराण में वर्णित है कि राजपरिवारों एवं समाज के सम्पन्न व्यक्तियों के बच्चों के लालन-पालन का पूरा उत्तरदायित्व 'धात्री' या 'धाय' के ऊपर रहता था। रानी तो मात्र शिशु को जन्म देती थी।[5] जैन पुराणों में धात्री के सामान्य कार्यों में बच्चे को स्नान कराना, वस्त्राभूषण पहनाना, दूध पिलाना, शरीर में तेल-काजल आदि लगाना

१. पद्म ५७।११
२. वही ५७।४-५
३. यादव—वही, पृ० ७१-७२
४. एतत्कुलक्रमायाता भृत्याः···। पद्म १७।३४१
५. महा ४३।३३

और बच्चों को क्रीड़ा कराना मुख्य था।[1]

(ब) दासी : घरेलू काम करने के लिए दासी होती थीं।[2] सामान्यतः इनकी तीन श्रेणियाँ थीं—प्रथम, वे स्त्रियाँ जो गरीबी या अन्य परिस्थितिवश किसी के यहाँ नौकरी कर लेती थीं। ऐसी दासियों को मासान्त में वेतन दिया जाता था। द्वितीय, कुछ दासियाँ क्रीत होती थीं। इन्हें केवल भोजन एवं वस्त्र दिया जाता था।[3] तृतीय, युद्ध के समय विजित देश से लायी गयी स्त्रियों को दासी बनाया जाता था। ये दासियाँ राजाओं के व्यक्तिगत कार्यों की देख-रेख करती थीं और वे अन्तःपुर में रहती थीं।[4] पद्म पुराण में वर्णित है कि जो स्त्रियाँ बेची जाती थीं, उन्हें समाज के धनी एवं सम्पन्न व्यक्ति क्रय कर लेते थे।[5] हरिवंश पुराण में इन दासियों में से नदी, कुआँ, तालाब आदि से जल भरने के कारण उन्हें 'घट-दासी' या 'पनिहारिन' कहा गया है।[6]

(स) परिचारिका : इस वर्ग की सेविकाएँ नायक-नायिकाओं को मिलाने, शृङ्गार आदि करने, मनोविनोद करने, समाचार देने, रूठने पर मिलाने का काम करती थीं।[7] बौद्ध और जैन आगमों में चार प्रकार की दासियों का उल्लेख उपलब्ध है। १. आमायदासी (घरदासी या गेहदासी)—परिवार की दासी के कुक्षि से उत्पन्न सन्तान पर भी वैधानिक रूप से उसके स्वामी का अधिकार रहता था। २. क्रीतदासी-क्रय की हुई दासी। ३. स्वतः दासत्व को प्राप्त दासी—प्रतिकूल एवं विषम परिस्थिति में दासी वृत्ति स्वीकार करने पर होता था। ४. भयदासी—युद्ध में विजित देश से लायी गयी स्त्रियों को दासी बनाया जाता था।[8]

आलोचित जैन पुराणों के रचना काल के अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस समय सेविका (दासी) वृत्ति प्रचलित थी। नारद स्मृति, बृहस्पतिस्मृति,

---

१. पद्म ६।३८१-४२२, २२।१४-१८; महा १४।१६५
२. महा २०।५६; हरिवंश ४३।२
३. पद्म ७१।६४
४. हरिवंश ८।५२
५. पद्म २६।३५
६. हरिवंश ३३।४७–५०
७. वही ४३।२३; महा ७५।४६४-४६५
८. कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन, अमृतसर, १६६७; पृ० १३६

विज्ञानेश्वर, लेखपद्धति आदि ने दासी वृत्ति का उल्लेख किया है ।[1]

(vii) **वेश्या** : वेशम् अर्हति या सा वेश्या अर्थात् जो वेश को प्रतिक्षण बदलती रहे वह वेश्या कहलाती है । भाव अर्थ में—किसी व्यक्ति विशेष को अनुकूल बनाने के लिए वेश बदलती है । समाज में वेश्याओं का अपना पृथक् स्थान था । यही कारण है कि सभी आचार्यों की दृष्टि उनकी ओर गयी । उनके लिए प्रशंसामूलक पद्य बनाये गये । हरिवंश में वर्णित है कि साकेत नगर में बुद्धिसेना वेश्या इतनी सुन्दर थी कि जिस पर मुग्ध होकर मुनि विचित्र मती ने मुनि पद का त्याग कर दिया था ।[2] उस समय राजकुमारों को व्यावहारिक शिक्षा वेश्याएँ प्रदान करती थीं, जिसे राजकुमार को ग्रहण करना अनिवार्य था ।

वेश्याओं के दो वर्ग थे—गीत नृत्य द्वारा आजीविकोपार्जन और अपना शरीर बेचकर जीविकार्जन करने वाली । प्रथम, जो वेश्याएँ नृत्य-गीत द्वारा आजीविका चलाती थीं उन्हें वारांगना कहा गया है । ये मांगलिक शुभावसरों पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करती थीं । विवाह, उत्सव, जन्म, राज्याभिषेक आदि शुभावसरों पर वारांगनों को विशेष रूप से बुलाया जाता था । वे शुभ की प्रतीक थीं और समाज में उनका सम्मानपूर्ण स्थान था ।[3] जैनेतर साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि वे वेश्याएँ नृत्य-गीत आदि कला सम्बन्धी कौशल से सुशोभित, सौन्दर्य की परम सीमा और यौवन की नूतन प्रतीक थीं ।[4] डॉ० नेमि चन्द्र जैन ने देवदासियों को ही वाराङ्गनाएँ कहा है ।[5] परन्तु यह मत अमान्य है, क्योंकि देवदासियाँ मन्दिर में भगवान् की मूर्ति के सामने ही नृत्य-गायन किया करती थीं न कि सार्वजनिक स्थानों पर । उनका प्रयोजन धार्मिक और आन्तरिक अभ्युदय की प्राप्ति था, धनार्जन नहीं । डॉ० यू० एन० घोषाल ने चाऊ-जू-क्वा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि गुजरात के ४,००० मन्दिरों में २०,००० देवदासियाँ रहती थीं ।[6]

---

१. ए० बी० पाण्डे—पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० ४२४; असरफ—लाइफ ऐण्ड कण्डीशन ऑफ द पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० १८६, काणे—वही, पृ० १८६, आर० एस० शर्मा—इण्डियन फियुडलिज्म—पृ० ६०, ए० के० मजूमदार—चालुक्याज़ ऑफ गुजरात, पृ० ३४५—३४६, यादव—वही, पृ० ७३-७४

२. हरिवंश २७।१०१

३. मंगलोद्गानमातेनः··· रणन्नूपुरमेखलम् । महा ७।२४३-२४४; हरिवंश २१।४२

४. रघुवंश ३।१६; मेघदूत ३५, कामसूत्र १।३२०-३२१

५. नेमिचन्द्र जैन—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १८४

६. बृजेन्द्र नाथ शर्मा—वही, पृ० ७४

द्वितीय प्रकार की वेश्याएँ शरीर बेचकर जीवन निर्वाह करती थीं। इनके विषय में हरिवंश पुराण में वर्णित है कि उन्हें देखकर मुनि भी भ्रष्ट हो जाते थे।[1] पद्म पुराण में निरूपित है कि वेश्या और कुलटा स्त्रियों की सेविकाएँ उनके लिए पुरुष का प्रबन्ध करती थीं।[2] उक्त पुराण में उल्लिखित है कि वेश्याओं के यहाँ 'विट' रहते थे जिन्हें हिजड़ा कहा जा सकता है।[3] महा पुराण में वर्णित है कि नदी के समान वेश्याएँ विशिष्ट पाप के सहित, ग्राहवती (धन संचय करने वाली), कुटिलवृत्ति (मायाचारिणी), अलक्ष्य (विषयी मनुष्यों द्वारा वशीभूत) सर्वभोग्या (ऊँच-नीच मनुष्यों द्वारा भोग्य योग्य), विचित्रा (अनेक वर्ण की), एवं निम्नगा (नीच पुरुषों की ओर जाने वाली) होती थीं।[4] जैन पुराणों के अनुसार वेश्या जुआ आदि छल विद्या से पुरुषों को फँसा कर स्वगृह में रखती थीं और पुरुषों से धन चूसती थीं। धनवान ही वेश्या के मित्र होते थे। जिस प्रकार लोग रसहीन ईख के छिलके को छोड़ देते है, वैसे ही धनरहित मनुष्य को वेश्या छोड़ देती हैं।[5] इसी लिए समराइच्चकहा में धन को वेश्याओं का पति कहा गया है।[6] वेश्याओं को धनी, राजा, राजा के सम्बन्धी एवं सम्पन्न व्यक्ति धन एवं आभूषण आदि देते थे।[7] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि वेश्याएँ मद्यशाला में मद्य-क्रय भी किया करती थीं।[8] पद्म पुराण में गणिकाओं का उल्लेख हुआ है।[9] वेश्याओं पर विश्वास न करने की सलाह जैन सूत्रों में उपलब्ध है।[10] हरिवंश पुराण के अनुसार वेश्याओं का भी

---

१. हरिवंश २७।१०१; तुलनीय–मृच्छकटिक अंक १
२. वेश्यायाः कुलटानां किं कुर्वन्ति परिचारिकाः। पद्म १७।१०
३. पद्म २।४३
४. महा ४।७३
५. हरिवंश २१।५६-६६; महा ५०।४८; तुलनीय–मृच्छकटिक, अंक ४
६. झिनकू यादव–समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९७७, पृ० १४१
७. महा ४६।३००-३०८, तुलनीय–याज्ञवल्क्य २।२९२; मत्स्यपुराण २२७।१४४-१४५
८. हरिवंश ३३।१९
९. पद्म ८।१६२
१०. आचारांगचूर्णी २, पृ० ९७; सूत्रकृतांगटीका ४।१।२४; तुलनीय–मनुस्मृति ४।८५

विवाह होता था और उनका भी परिवार होता था। वसन्तसेना वेश्या अपनी माँ के घर से आकर सास की सेवा करती थी तथा अणुव्रतों से विभूषित हो गई थी। जिससे प्रसन्न होकर उसके पति ने उसे स्वीकार किया था।[1] वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में कहा है कि वेश्याएँ सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा विविध कलाओं में पारंगत होती थीं।[2]

६. बहुपत्नी प्रथा : आलोचित जैन पुराणों के समय में समाज में एक से अधिक पत्नी रखने का उल्लेख प्राप्य है। परन्तु धनी, सम्पन्न एवं राजघरानों में ही इसका प्रचलन था। जैनागमों के परिशीलन से राजा के यहाँ तीन प्रकार के अन्तःपुरों का उल्लेख उपलब्ध है—जीर्ण अन्तःपुर (वृद्धा स्त्रियों के लिए), नव अन्तःपुर (नवयुवती परिभोग्य स्त्रियों के लिए) तथा कन्या अन्तःपुर।[3] राजकुलों में अन्तःपुरों की व्यवस्था हेतु कञ्चुकी होते थे।[4] कन्याओं के अन्तःपुरों में द्वार-पालियाँ होती थीं।[5] जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय राजाओं के पास बहुत-सी रानियाँ होती थीं, जिन्हें वे अपने अन्तःपुर में रखते थे। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में आठ पटरानियाँ थी, भरत के पास ९६,००० रानियाँ थीं, लक्ष्मण के पास १६,००० रानियाँ तथा आठ पटरानियाँ थीं, राम के पास ८,००० रानियाँ एवं चार पटरानियाँ थीं, रावण के पास १८,००० रानियाँ थीं।[6] ये वर्णन आख्यानात्मक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, तथापि राजाओं के पास एक से अधिक रानियाँ होती थीं। पी० टामस का विचार है कि इन स्त्रियों को राजा लोग विवाह कर, क्रय कर अथवा पकड़वा कर अपने राजमहल के अन्तःपुर में रखते थे।[7]

स्त्रियों में सपत्नी के प्रति ईर्ष्या एवं कलह का होना स्वाभाविक था। इस-लिए उनमें स्वभाव, मुख, वचन, काय एवं मन की अपेक्षा कुटिलता बनी रहती थी।[8]

१. हरिवंश २१।१७६; तुलनीय—मृच्छकटिक, अंक ३
२. चकलकार—वही, पृ० १९८
३. निशीथचूर्णी ९।१५१३ की चूर्णी; औपपातिकसूत्र ९, पृ० २५
४. पद्म २९।४१
५. वही २८।८
६. महा १५।६९, ३७।३४-३६; हरिवंश ४४।५०, पद्म ५८।६९, ९४।१७-१८
७. पी० टामस—इण्डियन वीमेन थ्रू द एजेज, लन्दन, १९६४, पृ० ११६
८. महा ६८।१९९

महा पुराण में वर्णित है कि वे ईर्ष्यावश मद्यपान के समय सपत्नियों को अधिक मदिरा पिला देती थीं, जिससे पति के साथ रमण में केवल वह ही सम्मिलित हो सके।[1] परन्तु कभी-कभी सपत्नी (सौत) के प्रति सौहार्द्रता का भी उदाहरण प्राप्य है।[2] इसी लिए क्लीरसे बदेर के मतानुसार समाज में दूसरी पत्नी का वही स्थान होता था जो कि पहली पत्नी का था।[3]

बहुपत्नीत्व को समाप्त करने के लिए जैनाचार्यों ने बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने व्यवस्था दिया कि राजा को 'एकपत्नी व्रती' होना चाहिए, जिससे प्रजा उसका अनुकरण कर सके।[4] बाद के जैनाचार्यों ने भी इस प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न करते रहे। शुभचन्द्र ने विक्रम संवत १६०८ में पाण्डव पुराण की रचना की थी। उन्होंने उसमें यह उल्लेख किया है कि सौत होने पर जो व्यक्ति अपनी कन्या को देता है, वह अपनी कन्या को कुएँ में ढकेल देने के समान कार्य करता है।[5] इस प्रथा का उल्लेख विवाह अध्याय में भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्ट वर्ग ने इस प्रथा को मान्यता नहीं दी थी।

७. पर्दा प्रथा : जैन पुराणों के अवलोकन से पर्दा प्रथा का ज्ञान होता है। पद्म पुराण में वर्णित है कि वधू का वर के गृह में प्रवेश होने पर वह अपने मुख पर घूँघट रखती थी।[6] महा पुराण में स्त्रियों को घूँघट रखे हुए चित्रित किया गया है।[7] जैनसूत्रों में यवनिका (जवणिया) शब्द व्यवहृत है। किन्तु इसका तात्पर्य घूँघट (पर्दा) के लिए ज्ञात नहीं होता है।[8] जैनेतर पुराणों में पर्दा प्रथा के प्रचलन और अप्रचलन दोनों ही प्रकार के स्थल प्राप्य है।[9]

एक ओर हम देखते हैं कि महाकाव्यों में राजपरिवार की स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं, इसका उद्देश्य यह था कि रानियों को सामान्य लोग सामान्य रूप से न देख सकें।

---

१. महा ४४।२६२
२. हरिवंश ४४।१७
३. क्लीरसे बदेर—वीमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लंदन, १६२५, पृ० ५१
४. महा ६२।४१
५. सोन्धकूपे क्षिपेत्पुत्री सापत्न्येयं ददीत यः। पाण्डव ७।६५
६. पद्म ८।७०
७. महा ४३।४३
८. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० २७१-२७२
९. एस० एन० राय—वही, पृ० २८४-२८७

भास ने अपने प्रतिमा नाटक में सीता को घूँघट धारण किये हुये प्रदर्शित किया है। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के राजदरबार में भेजते समय घूँघट डालकर कुलीनता पर प्रकाश डाला है। वसन्तसेना (वेश्या) जैसे ही वधू-पद प्राप्त करती है, वैसे ही अपना मुख ढँक लेती है। दूसरी ओर दृष्टि डालने पर ऐसा ज्ञात होता है कि सातवीं शती ई० के चीनी-यात्री युवान-च्वांग ने पर्दा प्रथा का कोई उल्लेख नहीं किया है। हर्ष के दरबार में उसकी बहन, राज्यश्री बिना पर्दे के आयी थी, परन्तु राज्यश्री वर के सामने मुंह ढँक कर आयी थी। राजतरंगिणी में भी कहीं पर पर्दा प्रथा दृष्टिगत नहीं है। दसवीं शती के अरब यात्री अबू जैद ने दरबार में बिना पर्दे की स्त्रियों का उल्लेख किया है। पर्दा प्रथा १००० ई० तक कुछ राजपरिवारों तक ही सीमित था। कथासरित्सागर में पर्दा प्रथा का उल्लेख अनुपलब्ध है। वस्तुतः हिन्दुओं में पर्दा प्रथा का प्रचलन मुसलमानों के आगमन से सम्यक् रूप से प्रारम्भ होता है।[1]

८. पत्नी त्याग या तलाक प्रथा :—डॉ० अल्तेकर के अनुसार उस समय तलाक प्रथा नहीं था।[2] किन्तु जैन पुराणों के अधोलिखित उद्धरणों से ज्ञात होता है कि आलोचित पुराणों के समय तलाक प्रथा का प्रचलन था। जैनाचार्यों ने समाज को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए पति-पत्नी में पारस्परिक सौहार्द्रता का आदर्श प्रतिष्ठापित किया है। स्त्रियों के पातिव्रत के पालन पर विशेष बल दिया है। परन्तु यह आदर्श सर्वत्र कार्य रूप में क्रियान्वित नहीं हो पाता था। महा पुराण में वर्णित है कि पति-पत्नी में वैमनस्य के परिणामस्वरूप कभी-कभी पत्नी पर-पुरुष के साथ रमण करती थी।[3] इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप वह अपने पति की हत्या भी कराती थी।[4] यदि पति को पत्नी के विषय में यह ज्ञात हो जाता था कि उसका किसी पुरुष से अनुचित सम्बन्ध है, तब वह उसे घर से निकाल देता था।[5] पद्म पुराण के अनुसार पति-त्यक्ता पत्नी अपने माता-पिता के घर में रहती थी।[6] समाज में हमें इस प्रकार का भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जब पति का पत्नी से सम्बन्ध नहीं

१. अल्तेकर—वही, पृ० १६७-२०८ तथा भगवत शरण उपाध्याय—गुप्त काल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १६६६, पृ० २१६-२२०
२. अल्तेकर—वही, पृ० ६७
३. महा ७२।६३
४. वही ७१।२२६-२२८
५. वही ४७।२०३-२०६
६. पद्म १६।६

होता था, तब सास आदि उसे घोर कष्ट पहुँचाती थीं।[१] महा पुराण में उल्लिखित है कि पतित्यक्ता स्त्री चाहे वह चक्रवर्ती की पुत्री ही क्यों न हो उसे अपार कष्ट सहना पड़ता था।[२]

६. सती प्रथा : 'अस्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय होने से स्त्रीत्व विवक्षा में 'ईकार' प्रत्यय हुआ तथा 'अस्' के अकार का लोप होने से 'सती' शब्द बना। इसका अर्थ है जो स्त्री अपनी सत्ता को नित्य स्थिर रखे वह सती है अर्थात् जिसने पति के साथ अपने शरीर को भस्म कर लिया है। जैन पुराणों के परिशीलन से सती प्रथा का प्रचलन ज्ञात होता है। महा पुराण में निरूपित है कि पति के युद्धस्थल में वीरगति प्राप्त करने पर पत्नियाँ जौहर-व्रत का पालन करती थीं अर्थात् उनके मृत शरीर के साथ चिता में भस्म हो जाती थीं।[३] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि पति के मरने पर कभी-कभी पत्नियाँ आत्म-हत्या भी करती थीं।[४] हमारे आलोचित जैन पुराणों के साक्ष्य पारम्परिक पुराणों के समस्तरीय हैं। इन पुराणों में सती होने वाली स्त्रियों के उदाहरण उपलब्ध हैं।[५] जैन सूत्रों में सती प्रथा के बहुत कम उदाहरण प्राप्य हैं।[६]

सती प्रथा के प्रचलन का प्रमाण पुरातात्त्विक अन्वेषणों से ज्ञात होता है। एरण के अभिलेख में गोपराज की पत्नी का गुणगान हुआ है, जिसने मृत पति का अग्नि-राशि में अनुगमन किया था।[७] चंगुनारायण के स्तम्भ लेख के अनुसार नृप-पत्नी राज्यवती, पुत्र-वात्सल्य की उपेक्षा कर दिवंगत पति के साथ सती हुई थी।[८] अहिच्छत्र के उत्खनन से ८५० से ११०० ई० के मध्य सती प्रथा के प्रचलन का उल्लेख मिलता है।[९]

---

१. पद्म १७।६६
२. महा ६८।१६७-१६८
३. वही ४४।२६६-३०२
४. वही ७५।६३
५. एस० एन० राय—वही, पृ० २८२-२८३
६. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० २७१
७. कार्पस इंसक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग ३, पृ० ६३
८. वही, भूमिका, पृ० ६५
९. वी० एस० अग्रवाल—ऐंशेण्ट इण्डिया, १९४७-४८, नं० ४, पृ० १७८

ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों एवं महाकाव्यों में सती प्रथा का प्रचलन अनुपलब्ध है। प्रथम ऐतिहासिक हिन्दू सेनापति केतु की मृत्यु पर उसकी पत्नी द्वारा सती होने का उदाहरण प्राप्य है। क्षत्रियों में सती प्रथा का प्रचलन ४०० ई० में हो गया था। पराशर, अग्नि पुराण, वात्स्यायन, कालिदास, शूद्रक, भास आदि ने सती के विषय में उल्लेख किया है। मनु, मेधातिथि, बाण, देवण भट्ट ने सती प्रथा का विरोध किया है। उत्तरी भारत एवं कश्मीर में ७०० से ११०० ई० तक सती प्रथा का अत्यधिक प्रचलन था। अरब व्यापारी सुलेमान १००० ई० में दक्षिण भारत के दकन प्रदेश में आया था। उसके अनुसार यहाँ पर सती प्रथा बहुत कम प्रचलित थी। सुदूर दक्षिण में १००० ई० में ही पल्लव, पाण्ड्य के राजपरिवारों में सती के उदाहरण अनुपलब्ध हैं। राजपूताना—जो मध्यकाल में सती प्रथा के लिए प्रसिद्ध था—से सबसे प्रारम्भिक सती पत्थर ८३८ ई० के पूर्व का नहीं मिलता। जोधपुर में ९५० ई० के बाद यह प्रथा प्रारम्भ होती है। उत्तरी भारत में सती प्रथा १००० ई० तक बहुत कम प्रचलित थी।[1]

वात्स्यायन ने कामसूत्र में पति के मरने पर पत्नी के लिए 'अनुमरण' शब्द का प्रयोग किया है, जो 'सहमरण' का समानार्थी है। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि स्त्री उसी चिता पर जलती थी या अन्य चिता पर।[2] क्षेमेन्द्र का कथन है कि बच्ची विधवा के भी पुनर्विवाह पर रोक लगा दी गयी थी। बारहवीं शती के देवण भट्ट के अनुसार पुनर्विवाह का निषेध किया गया था, जो संकुचित प्रवृत्ति का द्योतक है। परन्तु समाज के निम्नवर्ग में पुनर्विवाह होता था। राजतरंगिणी के अनुसार चन्द्रापीड़ की माता ने पुनर्विवाह किया था। परन्तु त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित के अनुसार इस प्रकार के विवाह रूढ़िवादी उच्च वर्ग में नहीं होते थे।[3]

---

१. अल्तेकर—वही, पृ० १३६-१५३; भगवत शरण उपाध्याय—वही, पृ० २१८
२. चकलदर—वही, पृ० १८४
३. यादव—वही, पृ० ७०-७२

[ज] भोजन-पान (आहार)

जैन पुराण अहिंसा प्रधान जैन संस्कृति की पृष्ठभूमि पर प्रणीत हैं। इसलिए स्वभावतः जैन पुराणकारों ने भोजन-पान की शुद्धता एवं सात्त्विकता पर विशेष बल दिया है। भोजन-पान शरीर के सम्पोषणार्थ अपेक्षित हैं, किन्तु इसके लिए भक्ष्याभक्ष्य का विवेक अनिवार्य है।

जैन पुराणों में भोजन-पान विषयक जो विधान उपलब्ध हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि उनके प्रणेताओं ने शाकाहार पर पूर्णतः बल दिया है। यही कारण है कि जहाँ भी मांसाहार के उल्लेख हैं, वहाँ उसे सामाजिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से गर्हित बताया गया है।

१. **भोजन (आहार) के नियम निर्देश :** हरिवंश पुराण एवं महा पुराण में दस प्रकार के भोगों—भाजन, भोजन, शय्या, सेवा, वाहन, आसन, निधि, रत्न, नगर एवं नाट्य—का वर्णन उपलब्ध है।[१] महा पुराण में आहार-पदार्थों को शुद्ध माना गया है।[२] आहार विषयक नियम यह था कि स्नानान्तर उच्चासन पर बैठ कर भोजन ग्रहण करना चाहिए।[३]

अहिंसा प्रधान धर्म होने के कारण जैन पुराणों में शाकाहार पर अधिक बल दिया गया है। जहाँ मांसाहार के उल्लेख उपलब्ध हैं, वहाँ सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से इसे गर्हित एवं निन्दित माना गया है।[४] यद्यपि कतिपय प्रसंगों (विवाहोत्सव) में मांसाहार प्रचलित था।[५] पद्म पुराण में दिन में रवि-रश्मि से प्रकाशित सुपवित्र, मनोहर, पुण्य एवं आरोग्यवर्धक आहार ग्रहण करने की प्रशंसा की गयी है।[६] इसी पुराण में अहिंसा की रक्षा के उद्देश्य से ही रात्रि समय में भोजन ग्रहण करने का

---

१. भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम्।
निधि रत्नपुरम् नाट्यं भोगस्तस्य दशाङ्गकाः ॥हरिवंश ११।१३१; महा ५४।११९

२. महा २०।८६

३. वही २०।२१, २०।८६; पद्म ५३।१३९

४. पद्म १४।२६६

५. हरिवंश ५५।८६

६. रविरश्मिकृतोद्योतं सुपवित्रं मनोहरम्।
पुण्यवर्धनमारोग्यं दिवाभुक्तं प्रशस्यते ॥ पद्म ५३।१४१

निषेध किया गया है।[1] जैनेतर ग्रन्थों में अति प्रातः, अर्धरात्रि एवं संधि-काल में आहार ग्रहण करना वर्जित है।[2] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि पूर्व देश का सुगन्धित भात, पाञ्चालदेशीय मूंग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिमी देश की गायों का तपाया हुआ घी तथा कलिङ्गी गायों का मधुर दूध उचित आहार है।[3] हरिवंश पुराण में भोजन करने के बाद मुंह धोने, गन्ध लेप करने तथा भोजनोपरान्त सुपारी एवं इलायची युक्त ताम्बूल खाने का उल्लेख मिलता है।[4]

२. **भोजन (आहार) के स्वरूप एवं प्रकार :** जैन सूत्रों में चार प्रकार के आहार वर्णित हैं—अशन, पान, खाद्य, तथा स्वाद्य।[5] पद्म पुराण के अनुसार भोज्य पदार्थों के पाँच प्रकार—भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य तथा चूष्य—हैं।[6]

(i) **भक्ष्य :** जिन पदार्थों को स्वादार्थ खाया जाता है उन्हें भक्ष्य कहते हैं। इसके कृत्रिम एवं अकृत्रिम दो उपभेद हैं।

(ii) **भोज्य :** उन पदार्थों को कहते हैं, जिनका प्रयोग क्षुधा निवारणार्थ होता है। इसके मुख्य (रोटी आदि) एवं साधक (दाल-शाक आदि) दो उपभेद हैं।

(iii) **पेय :** वे पदार्थ हैं जिनका पान किया जाता है। शीतयोग (शर्बत), जल तथा मद्य के भेदानुसार पेय तीन प्रकार के होते हैं।

(iv) **लेह्य :** इसके अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं जिन्हें चाट कर स्वाद का आनन्द लिया जाता है, जैसे चटनी आदि।

(v) **चूष्य :** इसके अन्तर्गत उन पदार्थों की गणना की जाती है जिनका रसास्वादन चूसकर करते हैं, जैसे ईख आदि।

उक्त सभी पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञान को आस्वाद्य विज्ञान कहते हैं। इनके पाचन (पचना), छेदन (तोड़ना), उष्णत्वकरण (गरम करना) तथा शीतत्वकरण (ठण्ढा करना) आदि भेद हैं।[7] महा पुराण एवं हरिवंश पुराण में (i) अशन (भात,

---

१. पद्म १४।२७२-२७३, १०६।३२-३३
२. मनु ४।५५-६२; विष्णुधर्मसूत्र ६८।४८
३. हरिवंश १८।१६१
४. वही ३६।२७-२८
५. जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १६३-१६४
६. पद्म २४।५३-५५
७. वही २४।५६

दाल, रोटी आदि), (ii) पानक (दूध तथा जल आदि पेय पदार्थ), (iii) खाद्य (खाने योग्य पदार्थ लड्डू आदि) एवं (iv) स्वाद्य (पान-सुपारी आदि स्वाद वाले पदार्थ) आदि चार प्रकार के आहार वर्णित हैं।[1] महा पुराण के अन्तर्गत भोज्य-सामग्री का अन्य वर्गीकरण खाद्य, स्वाद्य तथा भोज्य वर्णित किया गया है।[2]

जैन पुराणों में रस को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। कटु (कड़वा), अम्ल (खट्टा), तिक्त (तीखा या चटपटा), मधुर (मीठा), कषाय (कसैला) एवं लवण (खारा) आदि षड्रसों का उल्लेख जैन पुराणों में उपलब्ध हैं।[3] पद्म पुराण में भी पंचरसों—कसैला, मधुर, चटपटा, कड़ुवा तथा खट्टा—का वर्णन प्राप्य है।[4]

३. भोजन निर्माण कला : पद्म पुराण में सुगन्धित भोजन निर्माण कला के अंग—योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुण-दोष तथा कौशल—आदि का वर्णन है।[5] इनका सविस्तार वर्णन अग्रलिखित है :[6]

(i) **योनिद्रव्य :** इससे तगर आदि सुगन्धित पदार्थ निर्मित किये जाते हैं।

(ii) **अधिष्ठान :** इसके अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं, जिनके निर्माण में धूपबत्ती का आश्रय लेते हैं।

(iii) **रस :** इसमें कसैला, मधुर, चटपटा, कड़ुवा एवं अम्लादि पंचरस होते हैं, जिनकी मात्रा सुगन्धित द्रव्यानुसार निर्धारित करना पड़ता है।

(iv) **वीर्य :** पदार्थों की उष्णता या शीतलता को ही वीर्य कहते हैं।

(v) **कल्पना :** अनुकूल एवं प्रतिकूल पदार्थों को मिश्रित करना ही कल्पना है।

(vi) **परिकर्म :** वह क्रिया है जिससे पदार्थों को शोधते या धोते हैं।

---

१. अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यम् चान्नं चतुर्विधम्। महा ६।४६; हरिवंश ७।८५

२. महा २०।२४

३. कट्वाम्लतिक्तमधुरकषायलवणा रसाः। महा ६।५६, हरिवंश ७।८५; पद्म ५३।१३६

४. कषायो मधुरातिक्तः कटुकाम्लश्च कीर्तितः।
रस पञ्चविधो यस्य निहारेण विनिश्चयः॥ पद्म २४।४६

५. योनिद्रव्यमधिष्ठानं रसो वीर्यं च कल्पना।
परिकर्म गुणा दोषा युक्तिरेषातु कौशलम्॥ पद्म २४।४७

६. पद्म २४।४८-५१

(vii) **गुण-दोष** : पदार्थों के गुण-दोष का ज्ञान ही गुण-दोष विज्ञान कहलाता है।

(viii) **कौशल** : परकीय तथा स्वकीय वस्तु की विशिष्टता का ज्ञान होना ही कौशल है।

४. **निषिद्ध भोजन (आहार)** : जैन पुराणों में कतिपय आहारों के निषेध का वर्णन प्राप्य है। जैन शास्त्रानुसार शंकित, अभिहृत, उद्दिष्ट एवं क्रय-क्रीत आदि प्रकार के आहारों का किसी भी स्थिति में न ग्रहण करने का विधान है।[1] महा पुराण में मांसाहारी व्यक्ति को सर्वघाती सम्बोधित कर मांसाहार का निषेध किया गया है।[2] इसी प्रकार का उल्लेख अन्य स्थल पर आया है कि रक्तपान और मांसाहार से मनुष्य अधोमुख (नीचामुख) होकर नरकगामी होता है।[3] मधु एवं मांस भक्षक ब्राह्मण को अधर्मी कहने से पूर्व कथित पदार्थों का निषेध ध्वनित होता है।[4] आर्य पुरुषों के मद्यपान का निषेध महा पुराण में उपलब्ध है।[5] यद्यपि मांसाहार का निषेध होने पर भी वे गुप्ततः मांसाहारी थे। पशुमांस अनुपलब्ध होने पर महामांस (नरमांस) के भक्षण का उल्लेख पद्म पुराण में प्राप्य है।[6] महा पुराण के अनुसार मसाला युक्त कड़वी तुमड़ी का आहार ग्रहण करने से मृत्यु होने का उल्लेख है, अर्थात् कड़वी तुमड़ी विषैली होती है।[7]

५. **भोजन सामग्री या खाद्यान्न** : जैन पुराणों में निम्नलिखित अन्नों का उल्लेख उपलब्ध है :

नीवार[8] : यह वन में स्वतः उत्पन्न होने वाला निकृष्ट प्रकार का चावल है। इसे आधुनिक काल में तिन्नी का चावल भी सम्बोधित करते हैं। इसकी गणना फलाहार में होती है।

---

१. शङ्कताभिहृतोद्दिष्ट क्रयक्रीतादि लक्षणम्।
सूत्रे निषिद्धमाहारं नेच्छन्प्राणात्ययेऽपिते॥ महा ३४।१९९
२. महा ३९।२६; तुलनीय—गरुड़ पुराण १।१०५-१५७
३. अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात् पलाशनात्। महा ४४।१४६;
तुलनीय—उपनिषद् ८।१५।१; भागवत पुराण ७।१५।७-८
४. महा ४१।५१
५. वही ६।३७
६. पद्म २२।१३७-१४०
७. महा ७१।२७५
८. वही ३।१८६; तुलनीय—अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक २, पृ० ३५; अंक ४, पृ० ६५; रघुवंश १।५०

अक्षत[1] : अखण्ड चावल को अक्षत कहते हैं।

व्रीहि[2] : वर्षा ऋतु में उत्पादित चावल को व्रीहि कहा गया है। प्राचीन भारत में यह अत्यधिक प्रसिद्ध था।

तण्डुल[3] : यह छिलका पृथक् किया हुआ चावल है।

शालि[4] : इसकी पौध लगाकर रोपाई करते हैं। यह हेमन्त ऋतु में पक कर तैयार होता है।

कलम[5] : यह चावल पतला, सुगन्धित एवं स्वादिष्ट होता है।

सामा[6] : यह भी बिना बोये, बिना प्रयास के वनों में उत्पन्न होने वाला निर्धनों एवं ऋषियों का खाद्यान्न है।

साठी[7] : यह चावल वर्षा ऋतु में साठ दिन में पक कर तैयार हो जाता है।

श्यामाक[8] : यह विशिष्ट प्रकार का धान्य है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में इसका प्रयोग किया है।[9]

कोदो (कोद्रव)[10] : यह साँवा जाति का मोटा चावल है। इसका प्रयोग प्रायः निर्धन व्यक्ति ही करते हैं।

यव[11] : प्रारम्भ में इसका प्रयोग सामान्य अन्न के लिए किया जाता था, किन्तु बाद में यह जौ के लिए रूढ़ि बन गया है। मांगलिक अवसरों पर इसका प्रयोग होता है। प्राचीन भारत का यह विशिष्ट अन्न है।

गोधूम[12] : उत्तरी भारत का यह प्रमुख खाद्यान्न है। पश्चिमी भारत में इसकी अत्यधिक उपज होती है।

राजमाष[13] : एक विशेष प्रकार की उड़द है। इसे बर्बटी या अलसान्द्र या रोंसा भी कहते हैं। दाल की दृष्टि से यह उत्तम अन्न है।

---

१. महा ११।१३५
२. वही ३।१८६, तुलनीय—सिद्धान्त कौमुदी प्रकरण २।३।४६
३. वही ३७।६७
४. वही ४।६०; पद्म ५३।१३५
५. वही ३।१८६
६. वही ३।१८६
७. वही ३।१८६
८. वही ३।१८६
९. अभिज्ञान शाकुन्तल ४।१४
१०. महा ३।१८६; पद्म १३।६८
११. महा ३।१८६
१२. महा ३।१८६; पद्म २।६,१०२।१०६
१३. वही ३।१८७; वही २।८

आढ़की[1] : यह अरहर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सर्वसाधारण में दाल के रूप में इसका प्रयोग होता है।

मुद्ग[2] : इसे मूंग कहते हैं। यह सम्पूर्ण भारत में उपलब्ध दाल है।

मसूर[3] : इसकी परिगणना दलहनों में होती है। मनुष्य इसका उपयोग भी करते हैं, साथ ही पशुओं को भी खाने के लिए दिया जाता है।

तिल : महा पुराण में तिल[4] का उल्लेख साठी, चावल कलम, नीवार के साथ हुआ है। जैनेतर वायु पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण में भी व्रीहि, यव, गोधूम के साथ तिल का वर्णन उपलब्ध है।[5] इन्हीं पुराणों द्वारा यह भी स्पष्ट होता है कि सूरा एवं आस में भी तिलचूर्ण का प्रयोग होता था।[6]

माष[7] : उड़द का अन्य नाम माष है। यह अत्यन्त उपयोगी एवं पौष्टिक दाल है। महा पुराण में इसका वर्णन खाद्यान्नों के साथ हुआ है। पद्म पुराण में भी इसका उल्लेख है।[8]

चना : महा पुराण में चना के लिए चना[9] शब्द प्रयुक्त हुआ है। विशेषतः यह उत्तर भारत का खाद्यान्न है। इससे विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ निर्मित किये जाते हैं।

निष्पाव : खाद्यान्नों के साथ निष्पाव[10] का भी उल्लेख महा पुराण में उपलब्ध है। इसे मोठ भी कहते हैं तथा दाल के रूप में प्रयोग करते हैं।

बरका : मटर के लिए बरका[11] शब्द का प्रयोग महा पुराण में हुआ है। इसको बटाने भी कहते हैं।

त्रिपुट[12] : इसके लिए हिन्दी में तेवरा शब्द प्रयुक्त हुआ है।

---

१. महा ३।१८७
२. वही ३।१८७; पद्म २।७
३. वही ३।१८७
४. वही ३।१८६-१८७
५. वायु ८।१४३-१४६; ब्रह्माण्ड २।७।१४२-१४६
६. वही ६६।२८७; वही ३।७।४०६
७. महा ३।१८७
८. पद्म ३३।४७
९. महा ३।१८७
१०. महा ३।१८७
११. वही ३।१८६
१२. वही ३।१८८

कुलित्थ[1] : यह कुलथी नामक विशेषान्न है।

कङ्गव[2] : कांगनी संज्ञक विशेष अन्न को कङ्गव कहते हैं।

अतस्य[3] : यह वर्तमान अलसी है। इसे अतीसी भी कहते हैं। यह खाद्य एवं तैल दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है।

सर्षप[4] : सरसों के अर्थ में सर्षप का प्रयोग हुआ है। इसका तेल प्रयोग में आता है।

कोशीपुट[5] : मूंग की भाँति इसका भी प्रयोग होता है।

शस्य[6] : यह धान है जो स्वतः उत्पन्न होता था।

६. **तैयार भोजन सामग्री या पक्वान्न** :—महा पुराण में कादम्बिक (हलवाई) का उल्लेख होने से विभिन्न प्रकार के मधुरान्न का प्रचलन होना स्वाभाविक था।[7] भारत में प्राचीनकाल से पकवान शब्द व्यवहृत होता रहा है। इसे मधुरान्न की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसका विवरण निम्नवत् है :

अपूप[8] : प्राचीन भारत का प्रसिद्ध पक्वान्न अपूप या पूआ है। गेहूँ के आटे में चीनी और पानी मिलाकर घी में मन्द-मन्द आँच में पके हुए मालपुए ही अपूप हैं। यह अनेक भाँति के बनाये जाते हैं। गुड़ मिलाकर निर्मित अपूप को गुड़ापूप कहते तिलापूप बनाने के लिए चावल के आटे में तिल मिलाते हैं। इनकी समता तथा हैं आजकल के अनरसे से होती है। भ्रष्टा-अपूप आधुनिक काल के नानखटाई या खौरी है। आज के बिस्कुट के पूर्वज चीनी मिश्रित 'भ्रष्टा-अपूप' ही थे। चूर्णिन-अपूप गुझिया। है इसके अन्दर कसार या आटा भरकर निर्मित करते हैं।[9]

---

१. महा ३।१८८
२. वही ३।१८६
३. वही ३।१८७
४. वही ३।१८७
५. पद्म २।७
६. वही ३।२३५
७. महा ८।२३४
८. पद्म, ३४।१३; महा ८।२३६-२३७
९. भंमि चन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १६६-१६७

व्यञ्जन[1] : व्यञ्जन यनान्नं रुचिमापद्यते तद्धिघृतशाकसूपादिः' अर्थात् जिन पदार्थों के साथ खाने से या मिलाने से खाद्य रुचिकर अथवा स्वाद उत्पन्न होता है, वे—दाल, दधि, घृत एवं शाक आदि—**पदार्थ** व्यञ्जन कहलाते हैं। महा पुराण में कई स्थलों पर व्यञ्जन के व्यवहृत होने का उल्लेख उपलब्ध है।[2]

महाकल्याण भोजन[3] : चक्रवर्ती राजा और सम्पन्न व्यक्ति ही इसका उपयोग करते थे। यह खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय सभी भाँति के अद्भुत भोजन का सम्मिश्रण है। इसके सेवन से तृप्ति और पुष्टि दोनों ही मिलती है।

अमृतगर्भ मोदक[4] : इसे अनेक प्रकार के अत्यन्त गरिष्ठ, सुगन्धित, स्वादिष्ट एवं रुचिकर पदार्थों से राजाओं एवं धनी व्यक्तियों के उपयोग के लिए बनाया जाता था।

सूप[5] : पकाये हुए फल, दाल आदि के रस को सूप कहते हैं।

सर्पिगुड़पयोमिश्रशाल्योदन[6] : यह गुड़, घृत एवं दूध मिश्रित शाली चावल का अत्यन्त रुचिकर भात होता था।

अमृतकल्पखाद्य[7] : यह धनाढ्य सम्पन्न व्यक्तियों एवं राजाओं का खाद्य पदार्थ था। इसमें अनेक प्रकार के सुस्वाद्य मसालों का प्रयोग होता था। इसका स्वाद मन को सुखकर एवं प्रिय था।

पायस[8] : प्राचीन काल से ही खीर का विशेष महत्त्व रहा है। उत्तम सुगन्ध, रस एवं रूप युक्त खीर तैयार किया जाता था।

शर्करामोदक[9] : शक्कर से बने हुए लड्डू को कहते हैं।

खण्डमोदक[10] : यह खांड से निर्मित लड्डू होता है।

---

१. पद्म ५३।१३६
२. नेमी चन्द्र शास्त्री—वही, पृ० १६७
३. महा ३८।१८७
४. वही ३७।१८८
५. वही १२।२४३; पद्म ५३।१३५
६. महा ४६।३१३
७. वही ३७।१६८
८. पद्म १२१।१६-१७; हरिवंश १६।६१
९. वही ३४।१४
१०. वही ३४।१४

कर्करा[1] : यह एक प्रकार की मिश्री है, जो खाने में मीठी होती है। इससे विभिन्न प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं।

पूरिका[2] : आटा और घी से बनी पूड़ियाँ ही पूरिका कहलाती हैं।

गुड़पूर्णिकापूरिका[3] : यह आटा, गुड़ एवं घी द्वारा तैयार की गयी पुड़ियाँ हैं।

शष्कुली[4] : यह एक प्रकार की कचौड़ी है, जिसका निर्माण गूँथे आटे में मसाले तथा घी के योग से होता है।

घनबन्ध[5] : घेवर को ही घनबन्ध कहते हैं। यह विशेष प्रकार का पकवान्न है।

अम्लिका (कढ़ी)[6] : यह बेसन से निर्मित खाद्य पदार्थ है।

७. शाक निर्मित भोजन : फल एवं पत्ता आदि के भोज्य पदार्थ का इसके अन्तर्गत वर्णन मिलता है।[7] मेथिक[8] (मेथी), शाल्मली[9] (सेम), पनस[10] (कटहल), चिल्लमृत[11] (ककड़ी) तथा कूष्माण्ड[12] (काशीफल) का उल्लेख पद्म पुराण में प्राप्य है।

८. दूध निर्मित पदार्थ[13] : दूध का प्रयोग भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित है। दूध से निर्मित पदार्थों में लेह्य[14] (रबड़ी), घी[15] दही[16] आदि का उल्लेख जैन पुराणों में उपलब्ध है।

९. भोजन में प्रयुक्त अन्य पदार्थ : आहार के साथ प्रयुक्त होने वाले अन्य उपभोग्य पदार्थों में हरिद्र[17] (हल्दी), जीरा[18], सरसों[19], धनिया[20], मिर्ची[21]; लवंग[22]

---

१. पद्म १२०।२३
२. वही ३४।१४; १२०।२३
३. वही ३४।१४
४. वही ३४।१४
५. वही ३४।१३
६. महा ६५।१५६
७. पद्म ५६।१५
८. वही ४२।२०
९. वही ४२।२१
१०. वही ५३।१६७
११. वही ८०।१५४
१२. वही ८०।१५४
१३. वही २।४, ५३।१३७
१४. वही ५३।१३७
१५. वही ८०।७७
१६. वही ५३।१३७
१७. महा २६।६१
१८. वही ३।१८७; पद्म २।६
१९. वही ३।१८७
२०. वही ३।१८७
२१. वही ३०।२१-२२
२२. वही १६।६६; पद्म ६।६२

(लौंग), ताम्बूल[1], एला[2] (इलायची), पीथ[3] (दूध सहित मक्खन) की चर्चा जैन पुराणों में वर्णित है।

१०. भोजनशाला में प्रयुक्त पात्र : भोजन-पात्र स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, कमलदल, पलाशदल का होता था।[4] लोहे एवं मिट्टी के पात्र में भोजन करने का निषेध है।[5] जैन पुराणों के अनुसार निम्नलिखित पात्र प्रयुक्त होते थे :

पिठर[6] (बटलोई या मटका), स्थाली[7] (थाली), चषक[8] (प्याला या कटोरा), सूर्प[9] (अनाज से कूड़ा-करकट साफ करने का पात्र), कलश[10] (जल भरने का घड़ा), भृंगार[11] (झारी या सागर), घट[12] (घड़ा), उष्ट्रिका[13] (कटाह, कड़ाहा, कड़ाही), पार्थिवघट[14] (मिट्टी का घड़ा), करक[15] (करवा), स्वर्ण कुम्भ[16], वरत्रा[17] (मजबूत रस्सी), शुक्ति आकृतिपात्र[18] (विशिष्ट पात्र), कुण्ड[19] (पत्थर का कठौता)। इसके अतिरिक्त मिट्टी, बाँस तथा पलाश के पत्तों से सब प्रकार के बर्तन तथा उपयोगी सामान निर्मित होते थे।[20] स्थाली[21] (हण्ड) (भोजन बनाने का विशाल पात्र) का उल्लेख है। भोजन निर्माता हेतु सूपकार[22] शब्द व्यवहृत है। कर्करिका[23]

---

१. महा ५।१२६, २६।६१; हरिवंश ३६।२८
२. वही २६।६६-१००; पद्म ४२।१६; हरिवंश ३६।२८
३. वही २७।२६
४. व्यास ३।६७-६८
५. हारीत, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२२ में उद्धृत
६. पद्म ३३।१८०; महा ५।७२
७. वही १२०।२१, ५३।१३४; महा ३।२०४, ६।४७; हरिवंश ७।८६
८. वही ७३।१३७; महा ६।४७; हरिवंश ७।८६
९. वही ३३।१८०
१०. वही ८८।३०, १२०।२४; महा १३।११६
११. वही ६।४७
१२. वही ३३।१८०
१३. महा १०।४४
१४. वही ३५।१२६
१५. वही ६।४७
१६. वही ४३।२१०
१७. वही ३५।१४६
१८. वही ६।४७
१९. वही २६।४६
२०. पद्म ४१।११
२१. महा ३७।६७
२२. वही ६५।१५६; ७१।२७१
२३. हरिवंश १५।११

(जल रखने का झारी जैसा पात्र) एवं चालिनि[1] (चलनी-आटा चालने हेतु) का उल्लेख है। महा पुराण में वर्णित है कि अन्तिम कुलकर नाभिराज ने प्रारम्भ में मिट्टी का पात्र बना कर दिया और इसी प्रकार पात्र बनाने का उपदेश दिया।[2] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि लोग प्रारम्भ में मिट्टी के बर्तन का ही प्रयोग करते थे, उसके बाद अन्य धातुओं का प्रयोग हुआ।

११. फलाहार : जैन पुराणों में वृक्षों से प्राप्त फलों का वर्णन निम्नवत् है :

जम्बु[3] (जामुन), विभीतक[4] (बहेड़ा), अक्षोट[5] (अखरोट), नारिंग[6] (नारंगी), एला[7] (इलायची), स्पन्दनविल्व[8] (तेंदू), चिरबिल्व[9] (बेल), कर्कन्धू[10] (बेर), कुवलीफल[11] (बदरीफल), रसदार बेल[12], पिण्ड खर्जूर[13] (खजूर), दाड़िम[14] (अनार), मातुलिङ्गी[15] (बिजौरा), द्राक्षा[16] (दाख), नारिकेल[17] (नारियल), आमलक[18] (आंवला), नीप[19] कपित्थ[20] (कैथा), कदली[21] (केला), पूग[22] (सुपारी), कंकोल[23], लवङ्ग[24] (लौंग), इंगुद[25] (इंगुदी वृक्ष विशेष), आम्र[26] (आम), खर्जूर[27] (खजूर); पनस[28] (कटहल), लकुच[29] (बड़हल). मोच[30] (विशिष्ट केला), क्रमुक[31] (सुपारी विशेष)।

---

१. महा १।१३६
२. वही ३।२०४
३. पद्म ३।४८; महा १७।२५२
४. वही ४२।११
५. वही ४२।११
६. वही ४२।१६
७. वही ४२।१६; हरिवंश ३६।२८
८. वही ४२।२०
९. वही ६६।४८
१०. वही ६६।४८
११. महा ३।३०, ६।७२
१२. पद्म ४१।२६
१३. वही २।१६
१४. वही २।१६; महा १७।२५२
१५. वही २।१७; वही १७।२५२
१६. वही २।१८
१७. वही २।१५; महा १७।२५२, ३०।१३
१८. वही ६।६१
१९. वही ६।६१
२०. वही ६।६१
२१. वही ६।६१; महा १६।२५२
२२. वही ६।६२; महा ३०।१३; हरिवंश ३६।२८
२३. वही ६।६२
२४. वही ६।६२; महा २६।६६
२५. वही ४१।२६
२६. वही ४१।२६; महा १७।२५२
२७. वही ४१।२६
२८. महा १७।२५२
२९. वही १७।२५२
३०. वही १७।२५२
३१. वही १७।२५२

१२. **पेय पदार्थ** : अन्नाहार और फलाहार के अतिरिक्त कुछ पेय पदार्थ भी आहार के रूप में प्रयोग में आते थे। जैन पुराणों में भी विभिन्न पेय पदार्थों का विवरण निम्नांकित है :

(i) **सुरा**[1] : इसका अन्य नाम मदिरा भी है। प्राचीन काल में भारतीय समाज में मदिरा का प्रचलन था। स्त्री-पुरुष दोनों ही इसका सेवन करते थे।

(ii) **मैरेय**[2] : यह सुवासित एवं अधिक मादकता उत्पन्न करने वाली मदिरा होती थी।

(iii) **सीधु**[3] : यह राब या गुड़ से निर्मित मदिरा है। इसकी गणना उत्तम प्रकार की मदिराओं में होती थी।

(iv) **अरिष्ट**[4] : यह द्राक्षा, गुड़ एवं जड़ी-बूटियों द्वारा निर्मित मदिरा है। इसमें मादकता नहीं होती थी।

(v) **आसव**[5] : चावल, द्राक्षा, गुड़ आदि को सड़ाकर आसव निर्मित करते थे। यह स्वास्थ्यवर्धक होता था।

(vi) **नारिकेलासव**[6] : नारियल से बनी हुई मदिरा को नारिकेलासव कहते हैं। यह मदिरा अन्य मदिराओं से अत्यधिक मादक होती थी।

(vii) **नारिकेलरस**[7] : नारियल के रस को नारिकेल रस कहते हैं। इसके रसपान का उल्लेख उपलब्ध है।

(viii) **अमृत**[8] : रसायन के समान रसीले पदार्थ को अमृत कहते थे। यह एक प्रकार का पेय पदार्थ होता था।

(ix) **पुण्ड्रेक्षुरस**[9] : पौंडा (पुण्ड्र) नामक गन्ने के रस को पुण्ड्रेक्षुरस कहते हैं। यह बंगाल में उत्पन्न होता है।

(x) **ईख का रस** : इक्षु का रस छः रसों से युक्त था। पहले यह स्वतः निकलता था। बाद में यन्त्र से पेरकर निकालते थे।[10]

---

१. महा ३६।८७
२. वही ६।३७
३. वही ६।३७
४. वही ६।३७
५. वही ६।३७
६. महा ३०।२५
७. वही ३०।२०
८. महा ३७।१८६
९. वही २०।१०१, २।४
१०. पद्म ३।२३३–२३४

प्राचीन काल में मद्य-पान का प्रचलन था। समृद्ध एवं सामान्य परिवार में इसे विलासिता का मापदण्ड माना गया है।[1] हरिवंश पुराण में पिष्ट, किण्व आदि मद्य निर्माण के साधनों का उल्लेख उपलब्ध है।[2] बृहत्कल्पभाष्य में मद्य को स्वास्थ्य तथा दीप्ति का कारण माना गया है।[3] जैन सूत्रों में चन्द्रप्रभा, मणिशल्यका, वरसीधु, वरवारुणी, आसव, मेरक; मधु, रिष्टाभ, जम्बूफल कलिका, दुग्धजाति, प्रसन्ना, तल्लक, शतायु, खर्जूरसार, मृद्वीकासार, कापिशायन, सुपक्व और इक्षुसार नामक मदिराओं का वर्णन उपलब्ध है।[4] मद्य का उपयोग विवाह, उत्सव एवं कामशालाओं में होता था। वेश्याओं के यहाँ मद्य का विशेषतया प्रयोग होता था।[5] पद्म पुराण में अपनी पत्नी के साथ मद्यपान करके आनन्द मनाने का वर्णन प्राप्य है।[6] अखण्ड मद्य-पान कर पत्नी के दोहलापूर्ण करने का दृष्टान्त मिलता है।[7] मद्यप की मद्यपान की अवस्था का सुन्दर चित्रण जैन ग्रन्थों में उल्लिखित है। मद्यप (शराबी) असम्बद्ध गीत गाते, लड़खड़ाते पैरों से नृत्य करते थे, केश बिखरे रहते थे, आभूषण अस्त-व्यस्त रहते थे। कण्ठों में जंगली पुष्पों की माला धारण करते थे। नेत्र इधर-उधर घुमाते थे।[8]

अधिकांश व्यक्ति मदिरा का सेवन नहीं करते थे। महा पुराण में वर्णित है कि विरहणी स्त्रियाँ कामाग्नि की जलन को मद्य का जलन समझकर मदिरा का परित्याग कर देती थीं।[9] इसी प्रकार प्रेमिकाएँ अपने प्रेम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए श्राविकाओं की भाँति मद्य का दूर से ही त्याग करती थीं।[10] आर्य-पुरुषों को मद्यपान का निषेध किया गया है।[11]

---

१. रामायण २।६१।५१; अर्थशास्त्र २।२५।४२-३६; महाभारत, आदिपर्व १७७।१०; धम्मपद अट्ठकथा ३, पृ० १००; सुरापानजातक १, पृ० ४७१
२. हरिवंश ६१।३५; तुलनीय—जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १६८-१६६
३. बृहत्कल्पभाष्य ५।६५३५
४. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १६६-२००
५. बृहत्कल्पभाष्य ३१।१६
६. पद्म ७३।१३६; वही १४।२१
७. बृहत्कल्पभाष्य १४।१५
८. वही ६१।५१-५३
९. महा ४४।२८८
१०. वही ४४।२६०; तुलनीय—कल्पसूत्र ६।१७, निशीथचूर्णी पीठिका १३१
११. वही १।३६

[झ] वस्त्र एवं वेशभूषा

१. **प्रस्ताविक :** प्राचीन काल में प्रचलित वस्त्र एवं वेशभूषा का ज्ञान साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के माध्यम से उपलब्ध होता है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र एवं वेशभूषाएँ प्रचलित हैं। स्त्री, पुरुष, बच्चे, साधु संन्यासी भिक्षु आदि के वस्त्र एवं वेशभूषाओं में विभिन्नता मिलती है। ग्रामीण, नगरीय, जंगलीय, पर्वतीय, तटवर्तीय इत्यादि क्षेत्रों के निवासियों के रहन-सहन एवं वेशभूषा में भी पर्याप्त अन्तर था। आलोच्य जैन पुराणों के रचनाकाल में सामान्यतः अधोलिखित वस्त्रों के प्रचलन का ज्ञान उपलब्ध होता है ––कार्पासिक (सूतीवस्त्र), और्ण (ऊनी वस्त्र), कीटज (सिल्क), रेशम, मखमल के वस्त्र, चर्म (चमड़े) के वस्त्र, बल्कल (वृक्षों की छालों के वस्त्र), पत्र (वृक्षों के पत्तों के वस्त्र) तथा धातु निर्मित वस्त्र। इन सभी प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख हमारे आलोचित जैन पुराणों में किसी न किसी रूप में हुआ है। आधुनिक युग में प्रचलित रासायनिक वस्त्रों का प्रचलन उस समय नहीं था।

२. **सामान्य विशेषताएँ :** जैन साधु एवं साध्वियों की वेशभूषा में हम जैन धर्म के विकसित रूप का अवलोकन करते हैं। प्रारम्भ में वे मोटे एवं रूक्ष वस्त्र केवल सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए धारण करते थे, परन्तु शनैः-शनैः भारतीय संस्कृति की विशेषता के प्रभाव से तपः प्रधान जैन धर्म भी अछूता नहीं रह सका और उसे भी अपने वस्त्र सम्बन्धी कठोर नियमों को शिथिल करना ही पड़ा।[1] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों के लिए वस्त्रों का निषेध है। साधु-साध्वियाँ अपने गुह्यांग के आवरणार्थ वस्त्रों का प्रयोग करते थे। महा पुराण में जहाँ मनोज्ञ वेशभूषा पर अधिक बल दिया गया है वहीं विभिन्न शुभ अवसरों पर वेशभूषा की महत्ता भी प्रतिपादित की गयी है।[2] वस्त्रों को सुगन्धित करने के लिए पटवास चूर्ण का भी प्रयोग करते थे।[3] पद्म पुराण के अनुसार वस्त्रों के सुरक्षार्थ उसे पाटल में रखते थे।[4] वस्त्रों पर सूती एवं रेशमी धागों से कढ़ाई भी किया जाता था। विभिन्न प्रकार के रंगों से रँग कर रंगीन वस्त्र निर्मित किये जाते थे। सूत से नाना प्रकार के उपकरणों का निर्माण करते थे। इस प्रकार की कला का पद्म पुराण में उल्लेख उपलब्ध है।[5]

---

१. मोती चन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सं० २००७, भूमिका, पृ० २०
२. महा ५।२७६, १७।२११
३. वही १४।८८
४. पद्म २७।३२
५. वही २४।५८-५९

३. प्रकार एवं स्वरूप : पुरुषों द्वारा धार्य प्रधान वस्त्र उत्तरीय एवं अधोवस्त्र का उल्लेख पद्म पुराण में उपलब्ध है।[1] हरिवंश पुराण में वस्त्रों को पाट, चीन एवं दुकूल नाम से तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है।[2] आलोचित जैन पुराणों में अधोलिखित वस्त्रों एवं वेषभूषाओं का विस्तारशः वर्णन उपलब्ध है :

अंशुक[3] : निशीथ चूर्णी में उल्लिखित है कि अंशुक में तारबीन का काम होता था। अलंकारों में जरदोजी का काम एवं उनमें स्वर्ण के तार से चित्र-विचित्र नक्काशियाँ निर्मित की जाती थीं।[4] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य[5] की टीका में यह कोमल एवं चमकीला रेशमी वस्त्र वर्णित किया गया है। समराइच्चकहा[6] एवं आचारांग[7] में अंशुक का उल्लेख प्राप्य है। मोतीचन्द्र के कथनानुसार यह चन्द्रकिरण एवं श्वेत कमल के सदृश्य होता था।[8] बाण ने अंशुक को अत्यन्त स्वच्छ एवं झीनावस्त्र स्वीकार किया है।[9] वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह उत्तरीय वस्त्र था जिसके ऊपर कसीदा द्वारा अनेक भाँति के फूल निर्मित किये जाते थे।[10] रंगभेदानुसार अंशुक कई प्रकार के होते थे—जैसे, नीलांशुक, रक्तांशुक आदि।[11] इसी प्रकार विनावट के आधार पर इसके भेद—एकांशुक, अध्यांशुक, द्वयांशुक तथा त्रयांशुक आदि हैं।[12] अंशुक वस्त्रों के अधोलिखित उपभेद मिलते हैं :

(i) शुकच्छायांशुक[13] : यह सुआ पंखी यर्थात् हलके हरे रंग का महीन रेशमी वस्त्र था।

---

१. पद्म ४५।६७
२. हरिवंश ७।८७
३. पद्म ३।१६८; महा, १०।१८१, १५।२३
४. निशीथ ४, पृ० ४६७
५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य ४।३६-६१
६. समराइच्चकहा १, पृ० ७४
७. आचारांग २, ५, १, ३
८. मोती चन्द्र—वही, पृ० ५५
९. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्ष चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७८
१०. पद्म ३।१६८
११. महा १०।१८१, ११।१३३, १२।३०, १५।२३
१२. मोती चन्द्र—वही, पृ० ५५
१३. महा ६।५३

(ii) **स्तनांशुक**[1] : यह 'अंगिया' की भाँति का वस्त्र होता था। यह रेशमी वस्त्र का टुकड़ा होता था, जिसको स्तन पर सामने से ले जाकर पीछे पीठ पर गाँठ बाँधी जाती थी। कालान्तर में इसे स्तन-पट्ट भी कहा गया है। इसका प्रमाण गुप्त-कालीन चित्रों में स्तन-पट्ट धारण किये हुए स्त्रियों के चित्रण से उपलब्ध होता है।[2]

(iii) **उज्ज्वलांशुक**[3] : इस प्रकार के रेशमी वस्त्र को स्त्रियाँ साड़ी की भाँति धारण करती थीं।

(iv) **सदंशुक**[4] : यह स्वच्छ, श्वेत, सूक्ष्म एवं स्निग्ध रेशमी वस्त्र होता था। तीर्थंकर भी इसको धारण करते थे।

(v) **पटांशुक**[5] : महीन, धवल एवं सादे रेशमी वस्त्र की संज्ञा पटांशुक थी।[6] समराइच्चकहा में इसको पटवास वर्णित किया गया है।[7] यह सूती एवं सस्ता वस्त्र था। इसकी अपेक्षा पटांशुक बहुमूल्य वस्त्र था।

क्षौम[8] : यह अत्यन्त महीन एवं सुन्दर वस्त्र था। यह अलसी की छाल-तन्तु से निर्मित होता था।[9] वासुदेव शरण अग्रवाल के विचारानुसार यह असम एवं बंगाल में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[10] काशी और पुण्ड्रदेश का क्षौम प्रसिद्ध था।[11]

कंचुक[12] : इसकी साम्यता चोली या अंगिया से कर सकते हैं। गान्धार कला में स्त्रियों को साड़ी के ऊपर या नीचे कंचुक धारण किये हुए प्रदर्शित किया गया

---

१. महा ८।८, १२।१७६
२. मोती चन्द्र—वही, पृ० २३
३. महा ७।१४२
४. वही १६।२३४
५. वही ११।४४; पद्म ३।१२२
६. मोती चन्द्र—वही, पृ० ६५
७. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६
८. महा १२।१७३
९. मोती चन्द्र—वही, पृ० ५
१०. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६
११. मोती चन्द्र—वही, पृ० ६
१२. पद्म २।४६

है। यह लम्बा एवं कसा हुआ होता था। इस पर सिलवटें पड़ी रहती थीं।[1] स्त्रियाँ कंचुक धारण करती थीं। नागार्जुनीकोण्डा और अमरावती की कला में कंचुक का चित्रण उपलब्ध है।[2]

चीनपट[3] : निशीथ में उल्लिखित है कि बहुत पतले रेशमी वस्त्र या चीन निर्मित रेशमी वस्त्र को चीनांशुक या चीनपट कहते हैं।[4] प्रथम शती ई० पू० में भारतीय वणिक् मध्य एशिया में व्यापार करते थे और वहाँ से वे चीनी-रेशमी वस्त्र का भी व्यापार करते थे।[5] बृहत्कल्पभाष्य में इसका वर्णन चीन के महीन रेशमी वस्त्र के रूप में उपलब्ध है।[6]

प्रावार[7] : वर्तमान कालीन दुशाले से इसकी साम्यता परिलक्षित होती है। हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में 'राजाच्छादनाः प्रावराः' का प्रयोग किया है।[8] इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजाओं के ओढ़ने-बिछाने योग्य ऊनी या रेशमी वस्त्र हेतु प्रावार (चादर) शब्द प्रचलित था। निशीथ में नीलगाय के चर्म से निर्मित चादरार्थ प्रावार शब्द प्रयुक्त हुआ है।[9] अमरकोश में दुप्पट्टे एवं चादर हेतु पाँच शब्द —प्रावार, उत्तरासंग, बृहतिका, संव्यान और उत्तरीय—उपलब्ध हैं।[10]

उष्णीष[11] : उष्णीष शब्द का प्रयोग पगड़ी या साफा के अर्थ में सर्वप्रथम अथर्ववेद में हुआ है। इसका प्रचलन वैदिक काल में हो चुका था। शतपथब्राह्मण में

---

१. मोती चन्द्र—वही, पृ० १०६-११०
२. सिद्धेश्वरी नारायण राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० २६६
३. महा ६।४८; हरिवंश ७।८७, ११।१२१
४. निशीथ ४७, पृ० ४६७; तुलनीय—आचारांग २।१४।६; भगवतीसूत्र ६।३३।६
५. सर आरल स्टाइन—एशिया मेजदा हर्थ एनिवर्सरी, वाल्यूम १६२३, पृ० ३६८-३७२
६. बृहत्कल्पसूत्र ४।३६।६२
७ महा ६।४८; आचारांग २।५।१-८
८. हेमचन्द्र का व्याकरण ३।४।४१
९. निशीथ ४७, पृ० ४६७
१०. अमरकोश २।६।११७-११८
११. महा १०।१७८

वर्णित है कि यज्ञ के अवसर पर यजमान उष्णीष धारण करते थे।[1] रघुवंश में अलकवेष्ठत, शिरसवेष्ठत, शिरस्त्रजाल शब्द उष्णीषार्थ प्रयुक्त हुए हैं। मिथुन मूर्ति में पुरुषाकृति उष्णीष धारण किये शृंगार-सज्जित अवस्था में एक स्थल पर नागार्जुनीय-कोण्डा कला में अंकित है।[2]

चीवर[3] : यह बौद्ध भिक्षुओं का परिधान है। प्रारम्भिक ब्रह्मचारी एवं श्रमण चीवर धारण करते थे।[4] यह पीतवर्ग के रेशमी वस्त्र से निर्मित किया जाता था।[5] मोती चन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' में बौद्ध-भिक्षुओं के प्रयोगार्थ तीन वस्त्रों का उल्लेख किया है—(i) संघाटी—कमर में लपेटने की दोहरी लुंगी, (ii) अंतर वासक—ऊपरी भाग ढकने का वस्त्र और (iii) उत्तरासंग—चादर।[6]

परिधान[7] : यह एक प्रकार का अधोवस्त्र होता था। परिधान शब्द से धोती का बोध होता है।

कम्बल[8] : कम्बल का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में उपलब्ध है।[9] इसका प्रयोग सभी लोग करते थे। इसका प्रयोग रथ के पर्दे के निर्माण में भी होता था।[10] ह्वेनसांग के अनुसार यह भेंड़-बकरी के ऊन से निर्मित और मुलायम एवं सुन्दर होता था।[11]

रंग-बिरंगे कपड़े[12] : विभिन्न प्रकार के रंगीन वस्त्रों के प्रयोग का प्रचलन था।

---

१. मोती चन्द्र—वही, पृ० १६
२. सिद्धेश्वरी नारायण राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० २६७
३. महा १।१४; हरिवंश ६।११५; महावग्ग ८।६।१४ में खोम, कप्पासिका, कोसेय्य, साण तथा भंग नामक चीवरों का उल्लेख है।
४. हेमचन्द्र का व्याकरण ३।३।३
५. वही ३।४।४
६. मोती चन्द्र—वही, पृ० ३५
७. महा ६।४८
८. वही ४७।७६; हरिवंश ११।१२१
९. अथर्ववेद १४।२।६६-६७
१०. हेमचन्द्र का व्याकरण ६।२।१३२
११. वाटर्स—आन युवान च्वांग १, पृ० १४८
१२. हरिवंश ११।१२१

उपसंव्यान[1] : यह शब्द धोती का बोधक है। अमरकोश में धोती के पर्यायार्थक चार शब्द—अन्तरीय, उपसंव्यान, परिधान और अधोंशुक—उपलब्ध हैं।[2]

वल्कल[3] : वैदिक काल से इसका प्रयोग प्रचलित है। आश्रमवासी, तपसी एवं साधु वल्कल धारण करते थे।[4] मोती चन्द्र ने छाल के वस्त्र को वल्कल वर्णित किया है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए इस प्रकार के वस्त्र भी अविहित थे।[5] बाणभट्ट ने वल्कल वस्त्र का प्रयोग उत्तरीय और चादर के लिए किया है।[6] हर्षचरित में बाणभट्ट ने सावित्री को कल्पद्रुम की छाल-निर्मित वल्कल वस्त्र धारण किये हुए उल्लेख किया है।[7]

दुष्यकुटी या देवदूष्य[8] : इसका मुख्यतः प्रयोग तम्बू के निर्माणार्थ किया जाता था। इसके अतिरिक्त इससे चादर एवं तकिया भी निर्मित होता था। वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार स्तूप पर चढ़ाये जाने वाले बहुमूल्य वस्त्र देवदूष्य कहलाते थे।[9] भगवतीसूत्र में देवदूष्य को एक प्रकार का दैवी वस्त्र कथित है, जिसे भगवान् महावीर ने धारण किया था।[10]

दुकूल[11] : निशीथचूर्णी में वर्णित है कि दुकूल का निर्माण दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूटकर उसके रेशे से करते थे।[12] यह श्वेत रंग का सुन्दर एवं बहुमूल्य वस्त्र होता था। गौड़देश (बंगाल) में उत्पादित एक विशेष प्रकार के कपास से निर्मित

---

१. महा १३।७०
२. अमरकोश २।६।११७
३. महा १।७; पद्म ३।२६६; हरिवंश ६।११५
४ अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक १, १६ पृ० १३; कुमारसम्भव ६।६२, समराइच्चकहा ७, पृ० ६४५
५. मोती चन्द्र—वही, पृ० ३१
६. हर्षचरित १, पृ० ३४; कादम्बरी पृ० ३११, ३२३
७. वही, पृ० १०
८. महा ८।१६१, २७।२४, ३७।१५३
९. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० ७५
१०. भगवतीसूत्र १५।१।५४१
११. पद्म ७।१७१; हरिवंश ७।८७, ११।१२१; महा ६।६६ ६।२४, ११।२७,
१२. निशीथचूर्णी ७, पृ० १०-१२

दुकूल वस्त्र का वर्णन आचारांगसूत्रमें उपलब्ध है।[1] वासुदेव शरण अग्रवाल के विचारानुसार सम्भवतः कूल का तात्पर्य देशज या आदिम भाषा में कपड़ा से था, जिससे कोलिक (कोली) शब्द बना है। दोहरी चादर या थान के रूप में विक्रयार्थ आने के कारण यह द्विकूल या दुकूल नाम से सम्बोधित होने लगा।[2] बाण ने दुकूल से निर्मित उत्तरीय, साड़ियाँ, पलंगपोश, तकिया के गिलाफ आदि का उल्लेख किया है।[3]

कुशा के वस्त्र : साधु लोग अपने गुह्यांग के आवरणार्थ कुश, चीवर एवं वृक्षों की छालों को प्रयुक्त करते थे।[4] इससे यह ज्ञात होता है कि कुश को कूटकर वस्त्र निर्मित करते थे।

वासस्[5] : ऋग्वेद एवं कालान्तर के साहित्य में धारणीय वस्त्र हेतु वासस् शब्द प्रचलित था।[6] कपड़े के लिए वासस्, वसन एवं वस्त्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अमरकोश में कपड़े के छः पर्यायवाची शब्द—वस्त्र, आच्छादन, वास, चेल, वसन एवं अंशुक—प्राप्य हैं।[7]

कुसुम्भ[8] : यह लाल रंग का सूती और रेशमी वस्त्र होता था। सम्भवतः गरीब लोग सूती कुसुम्भ का प्रयोग करते थे और धनी लोग रेशमी वस्त्र का।

नेत्र[9] : नेत्र वृक्ष-विशेष की छाल से रेशमी वस्त्र निर्मित होता था। हरिवंश पुराण में इसके लिए 'महानेत्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[10] कालिदास ने सर्वप्रथम नेत्र का उल्लेख किया है।[11] बाणभट्ट ने कई स्थलों पर नेत्र-निर्मित वस्त्रों का चित्रांकन किया है।[12]

---

१. 'दुकूल' गौड विषय विशिष्टं कार्यासिकम्—आचारांग २।५।१३
२. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० ७६
३. वही, पृ० ७६
४. कुशचीवरवल्कलैः—हरिवंश ६।११५; पद्म ३।२६७
५. पद्म ३।२६३
६. मोती चन्द्र—वही, पृ० १५
७. अमरकोश २।६।२१५
८. महा ३।१८८
९. महा ४३।२११
१०. हरिवंश ११।१२१
११. रघुवंश ७।२६
१२. हर्षचरित, पृ० ३१, ७२; १४३

एणाजिना[1] : कृष्ण-मृगचर्म को एणाजिन सम्बोधित किया गया है। तापसी एवं वनवासी मृगचर्म का प्रयोग वस्त्र एवं आसन के लिए करते हैं।

उपानत्क[2] : उपानत्क शब्द से जूता का बोध होता है। महावग्ग[3] में जूते का वर्णन उपलब्ध है। यह रंग-बिरंगे एवं कई तल्ले के निर्मित किये जाते थे।

उत्तरीय[4] : इसका दुपट्टार्थ प्रयोग हुआ है। इसे कन्धे पर धारण करते थे।[5] अमरकोश में उत्तरीय को ओढ़ने वाला वस्त्र कहा गया है।[6]

अन्य प्रकार के वस्त्र : अन्य प्रकार के वस्त्रों का जैन पुराणों में वर्णन उपलब्ध है—प्रच्छदपट[7] (चादर,), परिकर[8] (कमरबन्द), गल्लक[9] (गद्दा), उपधान[10] (तकिया), लालरंग का साफा[11], वल्कल[12] (वृक्षों के पत्तों से निर्मित), चर्म-निर्मित[13] और पीताम्बर[14] आदि।

---

१. महा ३६।२८
२. वही ३६।१६३
३. महवग्ग ५।२।२, ५।१।२६
४. पद्म ३।१६८
५. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज ऑफ गुजरात, पृ० ३५६
६. अमरकोश २।६।११८
७. पद्म १६।२४०
८. वही ८।४२४; २७।३१
९. वही ७।१७२
१०. वही ७।१७२
११. वही २७।६७
१२. वही ३।२६६
१३. वही ३।२६६
१४. हरिवंश ४१।३३

[अ] आभूषण

आभूषण धारण करना समृद्धि एवं सुखी जीवन का द्योतक है। इसके अतिरिक्त वस्त्राभूषण से संस्कृति भी प्रभावित होती है। सिकदार के मतानुसार वस्त्र निर्माण-कला के आविष्कार के साथ-साथ आभूषण का भी प्रयोग भारतीय सभ्यता के विकास के साथ प्रारम्भ हुआ।[1] जैन पुराणों में शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए आभूषण की उपादेयता का प्रतिपादन हुआ है। महा पुराण में वर्णित है कि कुलवती नारियाँ अलंकार धारण करती हैं[2], जबकि विधवा स्त्रियाँ इसका परित्याग कर देती हैं।[3] इसी ग्रन्थ में आभूषण से अलंकृत होने के लिए 'अलंकरणगृह'[4] और 'श्रीगृह'[5] का उल्लेख हुआ है। महा पुराण में ही वर्णित है कि नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद (अनन्त), करधनी, हार एवं मुकुटादि आभूषण भूषणाङ्ग नाम के कल्पवृक्ष द्वारा उपलब्ध होते थे।[6] प्राचीन काल में आभूषण एवं प्रसाधन-सामग्री की उपलब्धि वृक्षों से होने का उल्लेख प्राप्य है। शकुन्तला को विदाई के शुभावसर पर वृक्षों ने उसको वस्त्र, आभरण एवं प्रसाधन-सामग्री प्रदत्त किया था।[7]

१. आभूषण बनाने के उपादान : जैन पुराणों में आपाद-मस्तक आभूषणों के उल्लेख एवं विवरण उपलब्ध होते हैं। यह विवरण पारम्परिक समसामयिक तथा काल्पनिक तीनों प्रकार के उपलब्ध होते हैं। जैन पुराणों के अनुसार आभूषण का निर्माण मणि, स्वर्ण, रजत आदि पदार्थों से होता था। महा पुराण में उल्लिखित है कि अग्नि में स्वर्ण को तपा कर शुद्ध करने के उपरान्त आभूषण निर्मित होते हैं।[8] रत्नजटित स्वर्णाभूषण को रत्नाभूषण की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। समुद्र में महामणि के बढ़ने का भी उल्लेख मिलता है।[9]

---

१ जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन द भगवतीसूत्र, मुजफ्फरपुर, १९६४, पृ० २४१

२. महा ६२।२९

३. वही ६८।२२५

४. वही ६३।४६१

५. वही ६३।४५८

६. तुलाकोटिक केयूररुचकाङ्गदवेष्टकान्।
हारान् मकुटभेदांश्च सुवते भूषणाङ्गकाः॥ महा ९।४१

७. क्षौमं केनचिदित्युपाण्डुतरुणा·····प्रतिद्वन्द्विभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल ४।५

८. महा ६१।१२४ ९. वही ६३।४१५

जैन पुराणों में विभिन्न प्रकार की मणियों का वर्णन उपलब्ध है, जो निम्नवत् है : चन्द्रकान्तमणि[1], सूर्यकान्तमणि[2], हीरा[3], वैदूर्यमणि[4], कौस्तुभमणि[5], मोती[6], वज्र[7] (हीरा), इन्द्रमणि[8] (इन्द्रनीलमणि)—[इसके दो भेद हैं : महा-इन्द्रमणि (हल्के गहरे नीले रंग की) तथा इन्द्रनीलमणि[9] (हल्के नीले रंग की)], प्रवाल[10], गोमुखमणि[11], मुक्ता[12], स्फटिकमणि[13], मरकतमणि[14], पद्म रागमणि[15] जात्यञ्जय[16] (कृष्णमणि,) पद्मराग[17] (कालमणि),[18] हैम (पीतमणि), मुक्ता[19] (श्वेतमणि) आदि। आभूषण निर्माण में उक्त मणियों का प्रयोग होता था। उपर्युक्त वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि इनमें से अधिकांश मणियाँ यहीं उपलब्ध होती थीं, परन्तु इनमें से कुछ मणियाँ आयातित होती थीं।

२. आभूषण के आकार-प्रकार : नर-नारी दोनों ही आभूषण प्रेमी होते थे। इनके आभूषणों में प्रायः साम्यतता परिलक्षित होती है। स्त्री-पुरुष दोनों ही कुण्डल, हार, अंगद, वलय, मुद्रिकादि आभूषण धारण करते थे। पुरुषों के प्रमुख आभूषण शिखामणि, किरीट एवं मुकुट थे। अंगानुसार पृथक्-पृथक् आभूषण धारण करने का प्रचलन था। इनका विस्तारशः विवरण निम्नवत् है :

[अ] शिरोभूषण : सिर को विभूषित करने वाले अलंकरणों में प्रमुख मुकुट, किरीट, सीमान्तकमणि, छत्र, शेखर, चूडामणि, पट्ट आदि हैं। महा पुराण के अनुसार सिन्दूर से तिलक भी लगाते थे।[20]

---

१. हरिवंश २।७
२. वही २।८
३. वही २।१०
४. वही २।१०
५. वही ६२।५४
६. वही २।१०; महा ६८।६७६
७. पद्म ८०।७५; महा ३५।४२
८. महा ५८।८६; पद्म ८०।७५; हरिवंश ७।७२
९. हरिवंश २।५४
१०. महा १२।४४; ३५।२३४
११. महा १४।१४
१२. वही ७।२३१, १५।८१; हरिवंश ७।७३
१३. वही १३।१५४; पद्म ८०।७५
१४. वही १३।१३८; हरिवंश २।१०
१५. वही १३।१३६; वही २।९
१६ हरिवंश ७।७२
१७. वही ७।७२
१८. वही ७।७२
१९. वही ७।७३
२०. महा ६८।२५०

(i) **किरीट**[1] : चक्रवर्ती एवं महान् सम्राट् ही इसको धारण करते थे। इसका निर्माण स्वर्ण से होता था। यह प्रतिभाशाली सम्राटों की महत्ता का सूचक था।

(ii) **किरोटी**[2] : महा पुराण में इसका वर्णन उपलब्ध है। इसका निर्माण स्वर्ण और मणियों द्वारा होता था। किरीट से यह छोटा होता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही इसको धारण करते थे।

(iii) **चूड़ामणि**[3] : पद्म पुराण में चूड़ामणि के लिए मूर्धिनरत्न का प्रयोग हुआ है।[4] राजाओं एवं सामन्तों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता था। चूड़ामणि के मध्य में मणि का होना अनिवार्य था। महा पुराण में चूड़ामणि के साथ चूड़ारत्न भी व्यवहृत हुआ है।[5] इन दोनों में अलंकरण की दृष्टि से साम्यता थी, किन्तु भेद मात्र नाम का ही है। साधारणतया दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

(iv) **मुकुट**[6] : यह राजा और सामन्त दोनों के ही सिर का आभूषण था। किरीट की अपेक्षा इसका मूल्य कम होता था। तीर्थंकरों के मुकुट धारण करने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। राजाओं के पञ्चचिह्नों में से यह भी था। निःसंदेह मुकुट का प्राचीन काल में अत्यधिक महत्त्व था। विशेषतः इसका प्रचलन राजपरिवारों में ही था।

(v) **मौलि**[7] : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार केशों के ऊपर के गोल स्वर्णपट्ट को मौलि संज्ञा प्रदान की गयी हैं।[8] रत्न रश्मियों से जगमगाने वाले, स्वर्ण सूत्र में परिवेष्ठित एवं मालाओं से युक्त मौलि का उल्लेख पद्म पुराण में उपलब्ध है। किरीट से इसका स्थान निम्न प्रतीत होता है, किन्तु सिर के अलंकारों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

---

१. महा ६८।६५०, ११।१३३; पद्म ११८।४७; तुलनीय—रघुवंश १०।७५
२. वही ३।७८
३. पद्म ३६।७; महा १।४४, ४।६४, १४।८; हरिवंश ११।१३
४. वही ७१।६५
५. महा २६।१६७; तुलनीय—कुमारसम्भव ६।८१; रघुवंश १७।२८
६. वही ३।६१, ३।१३०, ५।४, ६।४१, १०।१२६; पद्म ८५।१०७, हरिवंश ४१।३६; तुलनीय—रघुवंश ६।१३
७. पद्म ७१।७, ११।३२७; महा ६।१८६; तुलनीय—रघुवंश १३।५६
८. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २१६

(vi) **सीमान्तकमणि**[1] : स्त्रियाँ अपने माँग में इसको धारण करती थीं। आज भी माँग-टीका के नाम से इसका प्रचलन है।

(vii) **उत्तंस**[2] : किरीट एवं मुकुट से भी यह उत्तम कोटि का आभूषण होता था। तीर्थंकर इसको धारण करते थे। अन्य प्रकार के मुकुटों से इसमें सुन्दरता अत्यधिक होती थी। इसका प्रयोग विशेषतः धार्मिक गुरु ही करते थे। इसका आकार किरीट एवं मुकुट से लघु होता था, परन्तु मूल्य इनसे अधिक होता था।

(viii) **कुन्तली**[3] : किरीट के साथ ही इसका भी उल्लेख प्राप्य है। इससे ज्ञात होता है कि किरीट से कुन्तली का आकार दीर्घ होता था। कलगी के रूप में इसको केश में लगाते थे। किरीट के साथ ही इसको भी धारण करते थे। इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों में प्रचलित था। जन साधारण में इसका प्रचलन नहीं था। इसके धारण करने से व्यक्तित्व में कई गुनी वृद्धि हो जाती थी। अपनी समृद्धि एवं प्रभुता के प्रदर्शनार्थ स्त्रियाँ इसको धारण करती थीं।

(ix) **पट्ट**[4] : बृहत्संहिता[5] में पट्ट का स्वर्ण निर्मित होना आवश्यक माना है। इसी स्थल पर इसके अधोलिखित पाँच प्रकारों का भी वर्णन उपलब्ध होता है : (i) राजपट्ट (तीन शिखाएँ), (ii) महिषीपट्ट (तीन शिखाएँ), (iii) युवराज-पट्ट (तीन शिखाएँ), (iv) सेनापतिपट्ट (एकशिखा), (v) प्रसादपट्ट (शिखा-विहीन)। शिखा से कलगी का तात्पर्य है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इसका निर्माण स्वर्ण से ही होता था और पगड़ी के ऊपर इसे बाँधा जाता था।[6] आजकल भी विवाह के शुभावसरों पर पगड़ी के ऊपर पट्ट (कलगी) बाँधते हैं।

[ब] **कर्णाभूषण** : कानों में आभूषण धारण करने का प्रचलन प्राचीनकाल से चला आ रहा है। स्त्री-पुरुष दोनों ही के कर्णपालियों में छिद्र होते थे और दोनों ही इसे धारण करते थे। कुण्डल, अवतंस, तलपत्रिका, बालियाँ आदि कर्णाभूषण में परिगणित होते हैं। कर्णाभूषण[7] एवं कर्णाभरण[8] शब्द इसके बोधक हैं।

---

१. पद्म ८।७०
२. महा १४।७
३. वही ३।७८
४. वही १६।२३३
५. बृहत्संहिता ४८।२४
६. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २१०
७. पद्म ३।१०२
८. वही १०३।६४

(i) **कुण्डल**[1] : यह कानों में धारण किया जाने वाला सामान्य आभूषण था। अमरकोश के अनुसार कानों को लपेटकर इसको धारण करते थे।[2] महा पुराण में वर्णित है कि कुण्डल कपोल तक लटकते थे।[3] पद्म पुराण के अनुसार शरीर के मात्र हिलने से कुण्डल भी हिलने लगता था।[4] रत्न या मणि जटित होने के कारण कुण्डल के अनेक नामान्तर जैन पुराणों में उपलब्ध हैं—मणिकुण्डल, रत्नकुण्डल, मकराकृतकुण्डल, कुण्डली, मकरांकित कुण्डल, रत्न कुण्डल।[5] इसका उल्लेख समराइच्चकहा[6], यशस्तिलक[7], अजन्ता की चित्र-कला[8] तथा हम्मीर महाकाव्य[9] में भी उपलब्ध है।

(ii) **अवतंस**[10] : पद्म पुराण में इसे चंचल (चंचलावतंसक) नाम से सम्बोधित किया गया है। अधिकांशतः यह पुष्प एवं कोमल पत्तों से निर्मित किया जाता था। बाणभट्ट ने हर्षचरित में दो कर्णालंकार अवतंस (जो प्रायः पुष्पों से निर्मित किया जाता था) एवं कुण्डल का उल्लेख किया है।[11]

(iii) **तलपत्रिका**[12] : यह दाँत निर्मित कान में धारण करने का आभूषण होता था। पुरुष अपने एक कान में इसे धारण करते थे। इसको महाकान्तिक वर्णित किया गया है।

(iv) **बालिक (बालियाँ)**[13] : स्त्रियाँ अपने कानों में बालियाँ धारण करती थीं।

---

१. पद्म ११८।४७, ३।१८८; महा ३।७८, १५।१८६, १६।३३, ३३।१२४, ७२।१०७; हरिवंश ७।८६
२. कुण्डलम् कर्णवेष्टनम्। अमरकोष २।६।१०३
३. रत्नकुण्डलयुग्येन गण्डपर्यन्तचुम्बिना। महा १५।१८६
४. चपलो मणिकुण्डलः। पद्म ७१।१३
५. महा ३।७८, ३।१०२, ४।१७७ १६।१३३; ६।१६०, ३३।१२४
६. समराइच्चकहा २, पृ० १००
७. यशस्तिलक पृ० ३६७
८. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही फलक २०
चित्र ७८
९. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़; पृ० २६३
१०. पद्म ३।३, ७१।६; तुलनीय—रघुवंश २१।१३-४६
११. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० १४७
१२. पद्म ७१।१२
१३. वही ८।७१

[स] **कण्ठाभूषण** : स्त्री-पुरुष दोनों ही कण्ठाभरण का प्रयोग करते थे। इसके निर्माण में मात्र मुक्ता और स्वर्ण का ही प्रयोग होता था। एक ओर यह भारतीय आर्थिक समृद्धि का सूचक था तो दूसरी ओर यह भारतीय स्वर्णकारों की शिल्पकुशलता का भी परिचायक था। इस प्रकार के आभूषणों में यष्टि, हार तथा रत्नावली आदि प्रमुख हैं। यष्टि को पृथक् रूप से धारण करते थे और इससे हार भी बनाते थे।

(i) **यष्टि** : लड़ियों के समूह को यष्टि कहा गया है। इस आभूषण के पाँच प्रकार—शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्ड, अवघाटक और तरल प्रबन्ध—महा पुराण में वर्णित है।[1]

(१) **शीर्षक** : जिसके मध्य में एक स्थूल मोती होता है उसे शीर्षक सम्बोधित करते हैं।[2]

(२) **उपशीर्षक** : जिसके मध्य में क्रमानुसार बढ़ते हुए आकार के क्रमशः तीन मोती होते हैं वह उपशीर्षक कहलाता है।[3]

(३) **प्रकाण्ड** : इसे प्रकाण्ड नाम से सम्बोधित करते हैं, क्योंकि इसके मध्य में क्रमानुसार बढ़ते हुए आकार के क्रमशः पाँच मोती जटित होते हैं।[4]

(४) **अवघाटक** : जिसके मध्य में एक दीर्घाकार मणि लगा हो और उसके दोनों ओर क्रमानुसार घटते हुए आकार के छोटे-छोटे मोती जड़ें हों, उसे अवघाटक कहते हैं।[5]

(५) **तरल प्रबन्ध (तरल प्रतिबन्ध)** : जिसमें सर्वत्र एक समान मोती लगे हुए हों, वह तरल प्रतिबन्ध या तरल बन्ध कहलाता है।[6]

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की यष्टियों के मणिमध्या तथा शुद्धा के भेदानुसार दो विभेद मिलते हैं :[7]

---

१. यष्टयः शीर्षकं चोपशीर्षकं चावघाटकम्।
प्रकाण्डकं च तरलप्रबन्धश्चेति पञ्चधा॥ महा १६।४७
२. यष्टिः शीर्षक संज्ञा स्यात् मध्यैकस्थूल मौलिका। वही १६।५२
३. मध्यैस्त्रिभिः क्रमस्थूलैः मौक्तिकरूपशीर्षकम्। वही १६।५२
४. प्रकाण्डकं क्रमस्थूलैः पञ्चभिर्मध्यमौक्तिकैः। वही १६।५३
५. मध्यादनुक्रमाद्धीनैः मौक्तिकैरवघाटकम्। वही १६।५३
६. तरलप्रतिबन्धः स्यात् सर्वत्र सममौक्तिकैः। वही १६।५४
७. मणिमध्याश्च शुद्धाश्च तास्तेषां यष्टेयोऽभवन। वही १६।४६

(क) मणिमध्या यष्टि : जिसके मध्य में मणि प्रयुक्त हुई हो, उसे मणिमध्या यष्टि कहते हैं। मणिमध्या यष्टि के भी तीन उपभेद हैं : प्रथम, इस प्रकार की मणिमध्यमा यष्टि को सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं। द्वितीय, यदि इसका निर्माण विभिन्न प्रकार की सुवर्ण, मणि, मोती एवं माणिक्य से हुआ हो, तो इसे रत्नावली नाम से सम्बोधित करते हैं। तृतीय, जिस मणिमध्या यष्टि को किसी निश्चित प्रमाण वाले सुवर्ण मणि, माणिक्य और मोतियों के मध्य अन्तर देकर गुंथी जाती है उसको अपवर्तिका कहते हैं।[1] अमरकोष में मोतियों की एक लड़ी की माला को एकावली की संज्ञा प्रदान की गयी है।[2] सफेद मोती को मणि मध्या के रूप में लगाकर एकावली बनाने का उल्लेख उपलब्ध है।[3]

(ख) शुद्धा यष्टि : जिस यष्टि के मध्य में मणि नहीं लगायी जाती है, उसे शुद्धा यष्टि नाम से अभिहित करते हैं।[4]

(ii) हार[5] : महा पुराण के अनुसार यष्टि अर्थात् लड़ियों के समूह को हार की संज्ञाप्रदान की गयी है।[6] हार में शुद्ध एवं कान्तिमान रत्न का प्रयोग करते थे। माला भी हार की कोटि में आता है। मुक्ता-निर्मित माला मुक्ताहार कहलाती थी। हार मोती या रत्न से गुँथित किये जाते थे। लड़ियों की संख्या के न्यूनाधिक होने से हार के ग्यारह प्रकार होते थे।[7]

(१) इन्द्रच्छन्दहार : जिस हार में १००८ लड़ियाँ होती थीं, उसे इन्द्रच्छन्दहार नाम से सम्बोधित करते थे। यह हार सर्वोत्तम होता था। इस हार को इन्द्र, जिनेन्द्र देव एवं चक्रवर्ती सम्राट् ही धारण करते थे।[8]

---

१. सूत्रमेवावली सैव यष्टिःस्यान्मणिमध्यमा।
रत्नावली भवेत् सैव सुवर्णमणिचित्रिता॥
युक्तप्रमाणसौवर्णमणिमाणिक्य मौक्तिकैः।
सान्तरं ग्रथिता भूषाभवेयुरपवर्तिका॥ महा १६।५०-५१

२. अमरकोश २।६।१०६

३. वही २।६।१५५

४. महा १६।४६

५. पद्म ३।२७७, ७१।२, ८५।१०७, ८८।३१ १०३।६४; महा ३।२७, ३।१५६, १६।५८७,६३।४३४; हरिवंश ७।८७

६. हारो यष्टिकलापः स्यात्। महा १६।५५

७. महा १६।५५

८. यष्टयोऽष्टसहस्रं तु यत्रेन्द्रच्छन्दसंज्ञकः।
स हारः परमोदारः शक्रचक्राजितेशिनाम्॥ महा १६।५६

२. **विजयच्छन्दहार** : जिसमें ५०४ लड़ियाँ होती थीं उसे विजयच्छन्द-हार की संज्ञा प्रदान की गयी थी। इस हार का प्रयोग अर्द्धचक्रवर्ती और बलभद्र आदि पुरुषों द्वारा किया जाता था।[१] सौन्दर्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण हार होता था।

३. **हार** : जिस हार में १०८ लड़ियाँ होती थीं, वह हार की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।[२]

४. **देवरच्छन्दहार** : यह मोतियों की ८१ लड़ियों का निर्मित हार होता था।[३]

५. **अर्द्धहार**। चौंसठ लड़ियों के समूह वाले हार को अर्द्धहार की संज्ञा प्रदान की गयी है।[४]

६. **रश्मिकलापहार** : इसमें ५४ लड़ियाँ होती थीं एवं इसकी मोतियों से अपूर्व रश्मि निस्सरित होती थी। अतः यह नाम सार्थक प्रतीत होता है।[५]

७. **गुच्छहार** : बतीस लड़ियों के समूह को गुच्छहार नाम प्रदान किया गया है।[६]

८. **नक्षत्रमालाहार** : सत्ताइस लड़ियों वाले मौक्तिकहार को नक्षत्र-मालाहार की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस हार की मोतियाँ अश्वनी, भरणी आदि नक्षत्रावली की शोभा का उपहास करती थीं।[७] इस हार की आकृति भी नक्षत्रमाला के सदृश होती थी।

९. **अर्द्धगुच्छहार** : मुक्ता की चौबीस लड़ियों का हार अर्द्धगुच्छहार कहलाता है।[८]

१०. **माणवहार** : इस हार में मोती की बीस लड़ियाँ होती थीं।[९]

११. **अर्द्धमाणवहार** : यह हार अर्द्धमाणव नाम से सम्बोधित किया जाता था, जिसमें मुक्ता की दस लड़ियाँ होती थीं।[१०] यदि अर्द्धमाणव हार के मध्य में मणि लगा होता था तो उसे फलकहार कहते थे। रत्नजटित स्वर्ण के पाँच फलकीय

---

१. महा १६।५७
२. वही १६।५८; हरिवंश ७।८९
३. वही १६।५८
४. वही १६।५८
५. वही १६।५९
६. महा १६।५९
७. वही १६।६०
८. वही १६।६१
९. वही १६।६१
१०. वही १६।६१

फलकहार ही मणिसोपान कहलाते थे। यदि फलकहार में मात्र तीन स्वर्णफलक होते थे तो वह सोपान संज्ञा से सम्बोधित होता था।[1]

यदि हार के उक्त ग्यारह प्रकारों में प्रत्येक प्रकार के साथ यष्टि के पाँच प्रकारों—शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्ड एवं तरल प्रबन्ध—को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो इसके ५४ उपप्रकार हो जाते हैं। इनके निम्नांकित नाम हैं :

१. शीर्षक इन्द्रच्छन्द, २. शीर्षक विजयच्छन्द, ३. शीर्षक हार, ४. शीर्षक देवच्छन्द, ५ शीर्षक अर्द्धहार, ६. शीर्षक रश्मिकलाप, ७. शीर्षक गुच्छ, ८. शीर्षक नक्षत्रमाला, ९. शीर्षक अर्द्धगुच्छ, १०. शीर्षक माणव; ११. शीर्षक अर्द्धमाणव, १२. उपशीर्षक इन्द्रच्छद, १३ उपशीर्षक विजयच्छन्द, १४. उपशीर्षक हार, १५. उपशीर्षक देवच्छन्द, १६. उपशीर्षक अर्द्धहार, १७. उपशीर्षक रश्मिकलाप, १८. उपशीर्षक गुच्छ, १९. उपशीर्षक नक्षत्रमाला, २०. उपशीर्षक अर्द्धगुच्छ, २१. उपशीर्षक माणव, २२. उपशीर्षक अर्द्धमाणव; २३. अवघाटक इन्द्रच्छन्द, २४. अवघाटक विजयच्छन्द, २५. अवघाटक हार, २६. अवघाटक देवच्छन्द, २७. अवघाटक अर्द्धहार, २८. अवघाटक रश्मिकलाप, २९. अवघाटक गुच्छ, ३०. अवघाटक नक्षत्रमाला, ३१. अवघाटक अर्द्धगुच्छ, ३२. अवघाटक माणव, ३३. अवघाटक अर्द्धमाणव; ३४. प्रकाण्डक इन्द्रच्छन्द, ३५. प्रकाण्डक विजयच्छन्द, ३६ प्रकाण्डक हार, ३७. प्रकाण्डक देवच्छन्द, ३८. प्रकाण्डक अर्द्धहार, ३९. प्रकाण्डक रश्मिकलप, ४०. प्रकाण्डक गुच्छ, ४१. प्रकाण्डक नक्षत्रमाला, ४२. प्रकाण्डक अर्द्धगुच्छ, ४३. प्रकाण्डक माणव, ४४. प्रकाण्डक अर्द्धमाणव; ४५. तरलप्रबन्ध इन्द्रच्छन्द, ४६. तरलप्रबन्ध विजयच्छन्द, ४७. तरल प्रबन्ध हार, ४८. तरलप्रबन्ध देवच्छन्द, ४९. तरलप्रबन्ध अर्द्धहार, ५०. तरलप्रबन्ध रश्मिकलाप, ५१. तरलप्रबन्ध गुच्छ, ५२. तरलप्रबन्ध नक्षत्रमाला, ५३. तरलप्रबन्ध अर्द्धगुच्छ, ५४. तरलप्रबन्ध माणव, ५५. तरलप्रबन्ध अर्द्धमाणव।[2]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के मतानुसार—इन्द्रच्छन्द, विजयच्छन्द, देवच्छन्द, रश्मिकलाप, गुच्छ, नक्षत्रमाला, अर्द्धगुच्छ, माणव, अर्द्धमाणव, इन्द्रच्छन्द माणव, विजयच्छन्द माणव—यष्टि के ग्यारह भेद हैं। इन्हें शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक तथा तरलप्रबन्ध, आदि भेदों में विभक्त करने पर इनकी संख्या ५५ होती है।[3] शास्त्री का मत असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि उपर्युक्त ग्यारह कथित भेद

१. महा १६।६५-६६
२. वही १६।६३-६४
३. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २१६

यष्टि के नहीं अपितु हार के हैं। महा पुराण में हार के ग्यारह भेद—इन्द्रच्छन्द, विजयच्छन्द, हार, देवच्छन्द, अर्द्धहार, रश्मिकलाप, गुच्छ, नक्षत्रमाला, अर्द्धगुच्छ, माणव एवं अर्द्धमाणव हैं।[1] महा पुराण में वर्णित है कि इन्द्रच्छन्द आदि हारों के मध्य में जब मणि जटित होती है तब उनके नामों के साथ माणव शब्द संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार इनके नाम इन्द्रच्छन्द माणव, विजयच्छन्द माणव, हार माणव देवच्छन्द माणव आदि हो जाते हैं।[2] उपर्युक्त पुराण के अनुसार ये सभी हार की कोटि में आते हैं। किन्तु नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसी इन्द्रच्छन्द माणव और विजयच्छन्द माणव की परिगणना यष्टि के ग्यारह भेदों के अन्तर्गत किया है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता।

(iii) कण्ठ के अन्य आभूषण : गले में धारण करने वाले अन्य आभूषणों के निम्नांकित के उल्लेख जैन पुराणों में द्रष्टव्य हैं—कण्ठमालिका[3] (स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे), कण्ठाभरण[4] (पुरुषों का आभूषण), स्रक[5] (फूल, स्वर्ण, मुक्ता एवं रत्न से निर्मित), काञ्चनसूत्र[6] (सुवर्ण या रत्नयुक्त), ग्रैवेयक[7], हारलता,[8] हारवल्ली[9], हारवल्लरी[10], मणिहार[11], हाटक[12], मुक्ताहार[13], कण्ठिका[14], कण्ठिकेवास[15], (लाख की बनी हुई कण्ठी होती थी, जिसकी गणना निम्नकोटि में होती थी) आदि।

[द] कराभूषण : हाथ के आभूषणों में अंगद, केयूर, कटक एवं मुद्रिका आदि प्रमुख हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही इन आभूषणों को धारण करते थे। केवल इनमें यही अन्तर रहता था कि पुरुषवर्गीय आभूषण सादे और स्त्रीवर्गीय के आभूषणों में घुंघरू आदि लगे होते थे।

---

१. महा १६।५५-६१
२. महा १६।६२
३. वही ६।८
४. वही १५।१६३; हरिवंश ४७।३८
५. पद्म ३।२७७, ८८।३१
६. वही ३३।१८३; महा २६।१६७
७. महा २६।१६७; हरिवंश ११।१३
८. वही १५।१६२
९. वही १५।१६३
१०. वही १५।१६४
११. वही १४।११
१२. पद्म १००।२५
१३. महा १५।८१; पद्म ३।१६१
१४. वही ६।६५०
१५. वही १।६६

(i) **अंगद** : इसे भुजाओं पर बाँधा जाता था। इसको स्त्री-पुरुष दोनों ही बाँधते थे। अंगद के समान केयूर का प्रयोग जैन ग्रन्थों में वर्णित है। अमरकोशकार ने अंगद और केयूर को एक-दूसरे का पर्याय स्वीकार किया है। क्षीरस्वामी ने केयूर और अंगद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि 'के बाहूशीर्षे यौति केयूरम्' अर्थात् जो भुजा के ऊपरी छोर को सुशोभित करे उसे केयूर कहते हैं और 'अंगं दयते अंगदम्' अर्थात् जो अंग को निपीड़ित करे वह अंगद है।[२]

(ii) **केयूर**[३] : स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने भुजाओं पर केयूर (अंगद या केयूर) धारण करते थे।[४] यह स्वर्ण एवं रजत निर्मित होते थे। जिस पर लोग अपने स्तर के अनुसार मणियाँ भी जड़वाते थे। हेम केयूर का भी उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। केयूर में नोक भी होती थी।[५] भर्तृहरि ने केयूर का प्रयोग पुरुषों के अलंकार के अन्तर्गत किया है।[६]

(iii) **मुद्रिका (अँगूठी)** : यह हाथ की अँगुली में धारण करने का आभूषण मुद्रिका है। इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष समानतः करते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में स्वर्णघटित, रत्नजटित, पशु-पक्षी, देवता-मनुष्य एवं नामोत्कीर्ण मुद्रिका का उल्लेख उपलब्ध होता है।[७] पद्म पुराण में अँगूठी के लिए ऊर्मिका शब्द प्रयुक्त हुआ है।[८] त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र में भी स्त्री के आभूषण के रूप में अँगूठी का वर्णन प्राप्य है।[९]

(iv) **कटक**[१०] : प्राचीत काल से हाथ में स्वर्ण, रजत, हाथीदाँत एवं शंख-

---

१. महा ५।२५७, ६।४१, १४।१२, १५।१६६; हरिवंश ११।१४

२ गोकुल चन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४७

३. महा ६८।६५२, ३।१५७, ६।४१, १५।१६६; हरिवंश ७।८६; पद्म ३।२, ३।१६०, ८।४१५, ११।३२८, ८५।१०७, ८८।३१; रघुवंश ७।५०

४. नरेन्द्र देव सिंह—भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० ११५

५. रघुवंश ७।५०

६ भर्तृहरिशतक २।१६

७. हरिवंश ४६।११; महा ७।२३५, ४७।२१६, ४६।१६७, ६८।३६७; पद्म ३।१६५

८. पद्म ३३।१३१; तुलनीय—रघुवंश ६।१८

९. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज ऑफ गुजरात, पृ० ३५६

१०. पद्म ३।३; हरिवंश ११।११; महा ७।२३५, १४।१२, १६।२३६; तुलनीय—मालविकाग्निमित्रम्, अंक २, पृ० २८६

निर्मित कटक धारण करने का प्रचलन था। स्त्री-पुरुष दोनों ही इसका प्रयोग करते थे। महा पुराण में रत्नजटित चमकीले कड़े के लिए दिव्य कटक शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] हर्षचरित में कटक और केयूर दोनों का वर्णन आया है।[2] वासुदेव शरण अग्रवाल ने कटक-कदम्ब (पैदल सिपाही) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सम्भवतः कटक (कड़ा) धारण करने के कारण ही उन्हें कटक-कदम्ब सम्बोधित किया गया है।[3]

[य] **कटि आभूषण** : कटि आभूषणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे कमर में पहनते हैं। काञ्ची, मेखला, रसना, दाम, कटिसूत्र आदि की गणना कटि आभूषणों में हुआ है।

(i) **काञ्ची** : जैन पुराणों में कटिवस्त्र से सटाकर धारण किये जाने वाले आभूषण हेतु काञ्ची शब्द प्रयुक्त हुआ है। काञ्ची चौड़ी पट्टी की स्वर्ण-निर्मित होती थी। इसमें मणियों, रत्नों एवं घुंघरुओं का भी प्रयोग होता था।[4]

(ii) **मेखला**[5] : यह कटि में धारण किये जाने वाला आभूषण था। स्त्री-पुरुष दोनों मेखला धारण करते थे। इसकी चौड़ाई पतली होती थी। सादीकनक मेखला एवं रत्नजटित मेखला या मणि मेखला भी होती थी।[6]

(iii) **रसना**[7] : यह भी काञ्ची एवं मेखला की भाँति कमर में धारण करने का आभूषण था। रसना भी चौड़ाई में पतली निर्मित होती थी। इसमें घुंघरू लगने के कारण ध्वनित होती थी। अमरकोश में काञ्ची, मेखला एवं रसना पर्याय-वाची अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इनको स्त्रियाँ कटि में धारण करती थीं।[8]

(iv) **दाम** : इसे कमर में धारण करते थे। दाम कई प्रकार के निर्मित

---

१. महा २६।१६७
२. वासुदेव शरण अग्रवाल–हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १७६
३. वही, पृ० १३१
४. पद्म ३।१६४, ८।७२; महा ७।१२६, १२।२६;तुलनीय—ऋतुसंहार ६।७
५. वही ७१।६५; महा १५।२३; तुलनीय–रघुवंश १०।८; कुमारसम्भव ८।२६; ऋतुसंहार १।४
६. हरिवंश २।३५
७. महा १५।२०३; तुलनीय–रघुवंश ८।५८; उत्तरमेघ ३; ऋतुसंहार ३।३; कुमारसम्भव ७।६१
८. स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा। अमरकोश ३।६।१०८

होते थे। काञ्चीदाम, मुक्तादाम, मेखलादाम एवं किंकिणी युक्त मणिमयदाम आदि प्रमुख हैं।[1]

(v) **कटिसूत्र** : इसको स्त्री-पुरुष दोनों कटि में धारण करते थे।[2]

[र] **पादाभूषण** : इसे पैर में धारण करते थे। नूपुर, तुलाकोटि, गोमुखमणि आदि की गणना प्रमुख पादाभूषणों में होती थी। इस आभूषण का प्रयोग स्त्रियाँ करती थीं।

(i) **नूपुर**[3] : स्त्रियाँ पैरों में इसे धारण करती थीं। नूपुर में घुँघरू लगने के कारण मधुर ध्वनि निकलती थी। जैन ग्रन्थों में—मणिनूपुर, शिञ्जितनूपुर, भास्वत-कलनूपुर तथा कलनूपुर—चार प्रकार के नूपुरों का वर्णन प्राप्य है।[4]

(ii) **तुलाकोटि**[5] : तुला अर्थात् तराजू की डण्डी सदृश आभूषण के दोनों किनारे किञ्चित् घनाकार होने के कारण ही इसका नाम तुलाकोटि पड़ा। इसका उल्लेख बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है।[6]

(iii) **गोमुखमणि** : इस प्रकार के मणियुक्त आभूषण को गोमुखमणि की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसका आकार गाय के मुख के समान होता था।[7]

---

१. महा ४।१८४, ८।१३, ११।१२१, १४।१३
२. वही १३।६६, १६।१६; हरिवंश ७।८६, ११।१५
३. हरिवंश १४।१४; महा ६।६३, १६।२३७; पद्म २७।३२; तुलनीय—रघुवंश १३।२३; कुमारसम्भव १।३४; ऋतुसंहार ४।४; विक्रमोर्वशीय ३।१५
४. नेमिचन्द्र—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २२२
५. महा १४।१४
६. द्रष्टव्य, गोकुल चन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५१
७. महा १४।१४

[ट] प्रसाधन

जैन पुराणों में प्रसाधन सामग्री तथा प्रक्रिया दोनों का विवरण उपलब्ध होता है। स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रसाधन करते थे। स्त्रियों में नख से लेकर सिर तक प्रसाधन का प्रचलन था। पुरुषों में भी प्रसाधन-प्रियता पायी जाती है। यहाँ पर हम प्रसाधन-सामग्री एवं उसका उपयोग करने की व्याख्या की है। इसका वर्णन करने के उपरान्त केश के विभिन्न प्रकार के बनावट और तदुपरान्त पुष्प से प्रसाधन करने की विवेचना की है।

१. प्रसाधन-सामग्री एवं उसका उपयोग : जैन पुराणों में स्त्री-पुरुषों के प्रसाधन-सामग्री का विशद विवरण उपलब्ध है। अधोलिखित प्रसाधन-सामग्रियों का विशेष महत्त्व है :

(i) **मञ्जन**[1] : स्नान करने के लिए स्नान-सामग्री प्रयुक्त होती थी। इसके प्रयोग से शारीरिक स्वच्छता, स्फूर्ति एवं कान्ति प्राप्त होती थी।

(ii) **तिलक**[2] : स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने ललाट पर तिलक लगाते थे। तिलक रहित ललाट शून्य और अमांगलिक समझा जाता था। पुरुष ललाट पर चन्दन, शेखर, गोरोचन आदि का तिलक लगाते थे। स्त्रियाँ सौभाग्यसूचक लाल रंग की बिन्दी एवं सिन्दूर लगाती थीं।

(iii) **काजल**[3] : स्त्री-पुरुष अपनी आँखों की रक्षा एवं सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अञ्जन[4] (काजल) का प्रयोग किया करते थे।

(iv) **भौंह का शृंगार**[5] : आधुनिक युग की भाँति उस समय भी स्त्रियाँ सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अपने भौंहों का प्रसाधन किया करती थीं।

(v) **पत्ररचना**[6] : स्त्रियाँ सौन्दर्य-वृद्धि एवं आकर्षणार्थ हस्त निर्मित पत्र-रचना के चित्रों से अपने कपोलों को चित्रित करती थीं।

(vi) **ओष्ठ रँगना**[7] : स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने अधरों (ओष्ठों) को रँगते थे। इससे उनके सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती थी। जिनके अधर रक्त वर्णीय होते थे, वे पान के रस के संसर्ग से अत्यधिक लाल हो जाते थे।[8]

---

१. महा २०।२०
२. वही १४।६
३. वही २७।१२०
४. वही ४३।२४७
५. महा ४३।२४७
६. वही ७।१३४
७. वही ४३।२४८
८. वही ४३।२४९

(vii) **कपूर**[1] : शरीर को सुगन्धित एवं सौन्दर्य के अभिवृद्धि हेतु कपूर का उपयोग विविध प्रकार से किया जाता था।

(viii) **चन्दन**[2] : समाज में चन्दन का प्रयोग विविध भाँति से होता था। अतः स्त्री-पुरुष दोनों ही चन्दन का उपयोग करते थे। चन्दन में कस्तूरी, प्रियंगु, कुंकुम एवं हल्दी को मिश्रित करके लेप तैयार किया जाता था। इसके प्रयोग से शारीरिक सौन्दर्य एवं कान्ति द्विगुणित हो जाती थी।

(ix) **कुंकुम**[3] : शारीरिक स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं सुगन्धि के लिए कुंकुम (दसर) का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों किया करते थे।

(x) **आलक्तक**[4] : स्त्रियाँ अपने पैरों की सुन्दरता में अभिवृद्धि के लिए आलक्तक (आलता) या लाक्षारस[5] का प्रयोग करती थीं। वस्तुतः आलक्तक और लाक्षारस एक प्रकार का महावर है। इसका प्रयोग आधुनिक युग में भी प्रचलित है।

(xi) **सुगन्धितचूर्ण**[6] : आजकल के पाउडर के तुल्य उस समय सुगन्धित चूर्ण का उपयोग किया जाता था।

२. केश-प्रसाधन : जैन पुराणों में केशों का प्रसाधन कई प्रकार से किया जाता था, जिससे स्त्री-पुरुष अपनी सुन्दरता को प्रदर्शित कर सकें।

(i) **केश-विन्यास** : केशों के लिए जैन पुराणों में कुन्तल, केश, अलक, कबरी आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है। सुगन्धित जल से स्नानोपरान्त केश को धूप के सुगन्धित धुएँ में सुखाया जाता था, तदुपरान्त तेल आदि द्वारा केशों को संवार कर बाँधा जाता था। केश-प्रसाधन में पुष्प-माला, विभिन्न प्रकार के पुष्प, पुष्पपराग, पल्लव, मंजरी, एवं सिन्दूर आदि का प्रयोग किया जाता था।[7] महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में धूप से सुगन्धित केश को 'धूपवास'[8] और धूपित केश को 'आश्यान' वर्णित किया है।[9] केश को सुगन्धित करने की विधि के लिए मेघदूत में 'केश-संस्कार' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[10] महा पुराण में वर्णित है कि सफेद बाल वाले लोग बालों में हरिद्रार (खिजाब) लगाते थे।[11] महा पुराण के अध्ययन से

१. महा ३१।६१
२. वही ६।११
३. वही १३।१७८
४. वही ७।१३३
५. वही ७।१४५
६. वही १४।८८
७. महा १२।५३, १५।६०
८. रघुवंश १६।५०
९. वही १७।२२
१०. मेघदूत १।३२
११. महा २७।१२०

स्पष्ट ज्ञात होता है कि सफेद बाल को खिजाब द्वारा काला करने की परम्परा महा पुराण के रचना-काल में प्रचलित थी।

(ii) **अलक-जाल** : महा पुराण में सालकानन शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति स+अलक+आनन होती है अर्थात् चूर्णकुन्तल (सुगन्धित चूर्ण लगाने योग्य आगे के बाल या जुल्फें सहित मुख)।[1] अलकावली (घुंघराले बाल) बनाने के लिए विशेष प्रकार के चूर्ण की आवश्यकता पड़ती थी।[2] पिष्टात या पिष्टातक, कुंकुम आदि सुगन्धित द्रव्यों को पीसकर इस चूर्ण को निर्मित किया जाता था।[3] केरल की स्त्रियाँ अलकों में चूर्ण का प्रयोग करती थीं।[4] वाराणसी में राजघाट से प्राप्त मिट्टी के खिलौनों में केश-विन्यास, कुन्तलकलाप एवं अलक-जाल के अनेक प्रकार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ शुद्ध घूंघर, चटुलेदार घूंघर, छतरीदार घूंघर एवं पटियादार घूंघर।[5] मानसार में कुन्तल केश प्रसाधन का अंकन लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्ति के मस्तक पर उपलब्ध है।[6]

(iii) **धम्मिलविन्यास**[7] : नीचे की ओर कुछ लटके, कोमल और कुटिल केशपाश को धम्मिल कहते हैं। अमरकोश में मौलिबद्ध केश-रचना को धम्मिल्ल (धम्मिल) कथित है।[8] इस प्रकार संयमित पुरुष के केश को मौलि तथा स्त्री के केश को धम्मिल की श्रेणी में रखते हैं।[9] वाराणसी में राजघाट से प्राप्त खिलौनों में धम्मिल-विन्यास के अनेक प्रकार उपलब्ध हैं।[10]

(iv) **कबरी**[11] : बालों के विशेष प्रकार से सँभालकर बाँधने के ढंग को कबरी कहते हैं। कबरी प्रकार के केशविन्यास में पुष्प-मालाएँ धारण करने की प्रथा

---

१. महा १२।२२१
२. अमरकोश २।६।६६
३. वही २।६।१३६
४. रघुवंश ४।५४
५. वासुदेव शरण अग्रवाल—राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन, कला और संस्कृति, पृ० २४६—२४६
६. जे० एन० बनर्जी—दी डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० ३१४
७. महा ६।८०
८. अथ धम्मिलः संयताः कचाः। अमरकोश २।६।६७
६ शिवराम मूर्ति—अमरावती, पृ० १०६
१०. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० २५१
११. महा १२।४१, ३७।१०८

थी। चोटी के ढीली होने पर पुष्प-मालाओं के गिरने का उल्लेख जैन पुराणों में उपलब्ध है।[1]

३. **पुष्प-प्रसाधन :** सौन्दर्य अभिवृद्धि के लिए स्त्री-पुरुष द्वारा पुष्पों का विभिन्न प्रकार से प्रसाधन के रूप में प्रयोग करने का उल्लेख जैन पुराणों में आया है। विविध भाँति के पुष्पों एवं उनके पल्लवों से निर्मित आभूषणों का प्रचलन प्राचीन काल में था। दक्षिण भारत में पुष्प-प्रसाधन की प्राचीन कला अपने अभिनव रूप में आज भी स्त्रियों में प्रचलित है।

(i) **पुष्प-माला**[2] : सम्पन्न एवं निर्धन सभी स्त्री-पुरुष हर्षोल्लास एवं उत्सव के अवसर पर गले में पुष्पमाला धारण करते थे। पुष्पमालाओं को केशों, बाहों तथा हाथों में आभूषण की भाँति धारण किया करते थे।

(ii) **आम्रमञ्जरी**[3] : प्राचीन काल में वसन्त ऋतु में स्त्री-पुरुष आम्रमञ्जरी का प्रयोग विशेषतः किया करते थे। आम्रमञ्जरी कामोद्दीपन में सहायक माना गया है।

(iii) **पुष्पमञ्जरी**[4] : विहार काल में नायक-नायिकाएँ पुष्पमञ्जरी का अधिकांशतः उपयोग करते थे। इनका प्रयोग वे विविध भाँति से करते थे।

(iv) **कर्णोत्पल**[5] : कानों में पुष्प एवं पत्तों से निर्मित विविध प्रकार के कर्णाभूषण धारण किया करते थे। उस समय नीलोत्पल (कमल) को कान में पहनने की प्रथा प्रचलित थी।

---

१. महा १२।५३; तुलनीय—कबरी केशवेशः। अमरकोश २।६।९७
२. वही १७।१६७, १६।२३४; हरिवंश ३१।३
३. वही ५।२८८
४. वही ११।८
५. वही १५।८८

[ठ] मनोरञ्जन

१. महत्त्व एवं उपादेयता : मानव प्रवृत्ति से ही विनोद-प्रिय रहा है। निरन्तर कार्यरत रहने के कारण जब मनुष्य थकान का अनुभव करता है या जीवन के एकरसता से ऊब जाता है तो उससे मुक्ति पाने के लिए उसको ऐसे साधन की आवश्यकता पड़ती है, जिसके द्वारा उसे आनन्द एवं स्फूर्ति की अनुभूति हो और अपने अतीत को विस्मृत कर उत्साह के साथ अपने जीवन-पथ पर अग्रसर हो सके। इसलिए प्राचीनकाल से मनुष्य विविध प्रकार से अपना मनोरञ्जन करता रहा है।

जैन पुराणों में मनोरञ्जन विषयक जो सामग्री प्राप्त होती है उससे एक ओर मनोरञ्जन के अनेक प्रकारों का पता चलता है तो दूसरी ओर मनोरञ्जन की सात्विकता के विषय में जैन पुराणकारों की विशेष दृष्टि की भी जानकारी होती है। महा पुराण के अनुसार इस संसार में सभी लोग अपने मन के विषयभूत पदार्थ (मनोरञ्जन) की कामना करते हैं।[१] इसी पुराण में आवश्यकता से अधिक मनोरञ्जन में लिप्त होना वर्जित किया गया है।[२] आधिक्य को ही व्यसन की संज्ञा प्रदत्त की जाती है।

२. मनोरञ्जन के प्रकार : सोमेश्वर ने बीस प्रकार के विनोदों (मनोरञ्जनों) का उल्लेख किया है।[३] मनोविनोद के साधनों को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :[४]

शारीरिक : इसमें शरीर को स्वस्थ एवं सबल बनाने के लिए दौड़धूप, कुश्ती, नाना प्रकार के खेल-कूद, शिकार आदि हैं।

मानसिक : मानसिक शक्तियों के विकासार्थ नृत्य-गीत, नाट्य-अभिनय, कविता-पाठ, आख्यान-कहानी-कथा आदि की प्रथा और कुछ बुद्धि प्रधान खेल जैसे शतरंज, चौपड आदि इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

---

१. महा २६।१५३
२. वही ३६।७६
३. शिव शेखर मिश्र—मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९६६, पृ० ३२१
४. मन्मथ राय—प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन, इलाहाबाद, सं० २०१३, पृ० १०-१७

आध्यात्मिक : इस शक्ति की अभिवृद्धि के लिए यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, स्नान-दर्शन, यात्रा-शृंगार प्रभृति इसकी प्रथाएँ हैं । अन्य दृष्टि से मनोरञ्जन को दो भागों में विभक्त करते हैं : [अ] क्रीड़ा एवं [ब] गोष्ठी ।

[अ] क्रीड़ा : पद्म पुराण में क्रीड़ा को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—चेष्टा : शरीर से उत्पन्न क्रीड़ा चेष्टा कहलाती है । उपकरण : गेंद आदि साधन का जिन क्रीड़ाओं में उपयोग होता है, उसे उपकरण कहते हैं । वाक्-क्रीड़ा : सुभाषित आदि मुँह से व्यक्त किया जाता है । अतः इसे वाक्-क्रीड़ा की संज्ञा प्रदत्त की गयी है । कला-व्यत्यसन : जुआ आदि खेलने की आदत को कला-व्यत्यसन (कला व्यासंग) कहते हैं ।[1]

क्रीड़ास्थल के लिए पद्म पुराण में क्रीड़ाधाम शब्द प्रयुक्त हुआ है, जहाँ पर विभिन्न प्रकार के मनोरञ्जन एवं भोगोपयोग की वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं । इस प्रकार के क्रीड़ाधाम रमणीय स्थानों में होते थे । पद्म पुराण में क्रीड़ाधाम की विस्तृत विवेचना है ।[2] जैन पुराणों में पर्वत-शिखरों पर क्रीड़ागृह निर्मित करने का उल्लेख उपलब्ध होता है ।[3]

क्रीड़ा के प्रकार एवं स्वरूप : जैन पुराणों में अधोलिखित क्रीड़ाओं का उल्लेख उपलब्ध है :

(i) जलक्रीड़ा : इसका वर्णन जैन पुराणों में प्राचीन काल से उपलब्ध है। इस क्रीड़ा में स्त्री-पुरुष दोनों ही संयुक्त रूप में भाग लेते थे ।[4] इस क्रीड़ा में जल-यन्त्रों का प्रयोग होता था । जल-यन्त्र की कला का इतना अधिक विकास हो चुका था कि उससे समुद्र का जल भी अवरुद्ध किया जा सकता था ।[5] नायक-नायिका के शृंगारिक क्रिया-कलापों का भी उल्लेख इस क्रीड़ा में उपलभ्य है । प्रेयसियों को खींचकर पकड़ना, उनका शारीरिक-स्पर्श करना, पिचकारी से उनके मुख को सुगन्धित जल से सिञ्चित करना एवं जल में आभूषण का ढूँढ़ना आदि मुख्य हैं ।[6]

---

१. पद्म २४।६७-६६
२. वही ४०।४-२४
३. हरिवंश ५।२०४; महा १२।३३
४. महा १४।२०४; पद्म १०।७१-१०८
५. पद्म १०।६८
६. महा ८।२२-२८; पद्म ८।६०-१००; तुलनीय—पूर्वमेघ ३७; रघुवंश १६।५६-६१; यशस्तिलकचम्पू १।५२६-५३३; शिशुपालबध ८।१-७८

(ii) **वनक्रीड़ा** : जैन पुराणों में उल्लिखित है कि राजा एवं धनाढ्य व्यक्ति सपत्नीक प्रकृति का आनन्द लेने के लिए वन में जाया करते थे। वहाँ पर इच्छानुसार वे वनक्रीड़ा किया करते थे।[1] इस क्रीड़ा में नायक-नायिका तथा पति-पत्नी सामूहिक रूप से आमोद-प्रमोद, हास-परिहास, मनोविनोद में भाग लेते थे।[2] जैन पुराणों में वन, उपवन, एवं उद्यान समानार्थक हैं। उद्यान में विभिन्न प्रकार के वृक्षों की मनोहर छटा, सभागृह, स्नानगृह, लतागृह पक्षियों का कलरव, झरने एवं पहाड़ी प्रदेशों का आनन्द उपलब्ध होता था।[3] महा पुराण में वर्णित है कि वसन्त ऋतु में आम्रमञ्जरी के प्रस्फुटन से नायक-नायिकाएँ आम्रकुञ्ज में जाकर सहकारवनक्रीड़ा अर्थात् रमण कार्य करते थे।[4]

(iii) **दोलाक्रीड़ा** : नारियों के क्रीड़ा के लिए दोलागृह होते थे।[5] वे दोलाक्रीड़ा (झूला) में पेंग मारकर झूलती थीं और मधुर धुन में गीत गाती थीं। झूले पर बैठने के लिए आसन बना रहता था।[6] दोलाक्रीड़ा का समय वर्षा ऋतु में होता था।[7] कादम्बरी के अनुसार दोले में छोटी-छोटी घंटियाँ बँधी होती थीं और सामान्यतः इनका उपयोग सूर्यास्त होने पर होता था।[8]

(iv) **कन्दुकक्रीड़ा**[9] : स्त्री-पुरुष दोनों ही कन्दुक क्रीड़ा के प्रेमी होते थे। इस क्रीड़ा में छोटे और बड़े कन्दुक प्रयोग में लाये जाते थे। वर्तमान समय में कन्दुक का विकसित रूप फुटबाल है। प्राचीनकाल में कन्दुकक्रीड़ा का विशेष प्रचलन था।

(v) **दण्डक्रीड़ा**[10] : आधुनिक काल में बालक शैशवावस्था में गुल्ली-डण्डा खेलते हैं। यही प्राचीन समय में दण्डक्रीड़ा कहलाता था।

---

१. पद्म ५।२६६-३०३; महा १४।२०७-२०८
२. महा ८।१६-२०, १४।२०८; हरिवंश १४।२०-२१, तुलनीय—पिंडनिर्युक्ति २१४-२१५; राजप्रश्नीयटीका, पृ० ५
३. पद्म ४६।१५६-१६१; महा ४५।१८३; अवदानकल्पलता २६।७६१-८०३
४. महा ६।८
५. वही ७।१२५; तुलनीय—रघुवंश ६।४६
६. पद्म ३६।४, ६।२२६; हरिवंश १४।२०
७. हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ४१
८. कादम्बरी १।२१२
९. महा ४५।१८३; तुलनीय—रघुवंश १६।८३; कुमारसम्भव ५।११
१०. वही १४।२००

(vi) **रासक्रीड़ा**[1] : बालक-बालिकाओं के वासना-रहित क्रीड़ा को रासक्रीड़ा कहा गया हैं।

(viii) **द्यूतक्रीड़ा** : द्यूत-व्यसन की निन्दा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि क्रोधज [मद्य, मांस, शिकार], कामज [जुआ, चोरी, वेश्या एवं परस्त्री-गमन]—इन सात व्यसनों में द्यूत सदृश निकृष्ट अन्य कोई व्यसन नहीं है।[2] जैन पुराणों में जुआड़ियों के विषय में कथित है कि वह क्रमशः सत्य, लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल-बच्चे, स्त्री और स्वतः को हारता (नष्ट करता) है।[3] जुआड़ियों की मनोदशा का चित्रण जैन पुराणों में वर्णित है कि जुआ खेलने वाला मनुष्य आसक्ति के कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है। इन आवश्यक कार्यों के अवरोध हो जाने से वह रोगी हो जाता है। जुए से धन के स्थान पर पाप का संचय करता है, निन्द्य कार्य करता है, सबका शत्रु बन जाता है। दूसरों से याचना करता है, धन के लिए अयोग्य कर्म करता है, जिससे बन्धुजन उसे त्याग देते हैं और राजा से दण्डित हो अनेक कष्ट (दण्ड) सहन करता है।[4]

(ix) **मृगया-विनोद क्रीड़ा**[5] : हरिवंश में मृगया-विनोद क्रीड़ा को व्यसन वर्णित किया गया है।[6] प्राचीन काल से राजा वनों में मृगयार्थ जाया करते थे। उसके साथ विशाल सेना भी जाती थी। इस प्रकार मनोविनोद के साथ-साथ अपनी दूरस्थ प्रजा विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो जाता था।[7] अहिंसा प्रधान धर्म के कारण मृगया-विनोद को जैन ग्रन्थों में निन्दनीय कथित है।[8] राजा सोमेश्वर ने मृगया के इकतीस भेद कहा है, किन्तु मानसोल्लास में केवल इक्कीस के ही वर्णन उपलब्ध हैं।[9]

---

१. हरिवंश ३५।६६

२. क्रोधजेषु विषूक्तेषु कामजेषु चतुर्षु च ।
नापरं व्यसनं द्यूतान्निकृष्टं प्राहुरागमाः ।। महा ५६।७५; हरिवंश २१।५५; पद्म ८५।१२०

३. महा ५६।७६-७७; हरिवंश ४६।३

४. वही ५६।७८-८०; पद्म ८५।१२०

५. वही ५।१२८; तुलनीय—अभिज्ञानशाकुन्तल २।५

६. हरिवंश ६२।२६; तुलनीय—अर्थशास्त्र ८।३; मनु ७।४४-५०

७. अभिज्ञानशाकुन्तल १।७-११

८. हरिवंश ५५।६१-६३

९. मन्मथ राय—वही, पृ० २७६

(ix) **पर्वतारोहण-क्रीड़ा**[1] : प्राचीन काल से ही लोगों में पर्वतारोहण की अभिलाषा थी। तीर्थस्थलों का पर्वतों पर निर्माण होना लोगों की उक्त इच्छा का द्योतक है। मनोरञ्जन के लिए क्रीड़ांचल बनाये जाते थे, जहाँ पर प्रेमी-प्रेमिकाएँ आमोद-प्रमोद किया करते थे।

(x) **युद्धक्रीड़ा** : इस क्रीड़ा से भी लोगों का मनोरंजन होता था। वे भार-स्वरूप युद्ध नहीं करते थे, बल्कि आनन्दार्थ करते थे। इसी लिए पद्म पुराण में युद्ध-क्रीड़ा के रूप में वर्णित है।[2]

(xi) **इन्द्रजाल क्रीड़ा**[3] : प्राचीन काल से लोगों के मनोरंजनार्थ अलौकिक सिद्धियों द्वारा इन्द्रजाल का प्रचलन था।[4]

(vii) **बाह्याली क्रीड़ा**[5] : बाह्याली क्रीड़ा में विनोदार्थ घोड़े, हाथी आदि जानवरों की दौड़, क्रीड़ा एवं युद्ध आदि होता था। राजा के साथ अन्तः-पुर की रानियाँ, सामन्त, राजकुमार, मन्त्रीगण, उच्च अधिकारी सम्भ्रान्त नागरिक एवं विशिष्ट अतिथि आदि इसके अवलोकनार्थ क्रीड़ा-स्थल पर उपस्थित होते थे।[6] हस्ति-क्रीड़ा, मेष-क्रीड़ा तथा कुक्कुट-युद्ध (मुर्गे की लड़ाई) द्वारा मनोरञ्जन किया जाता था।[7] पद्म पुराण में बन्दर एवं भालू आदि के नृत्य द्वारा मनोविनोद किया करते थे।[8] मन्मथ राय के अनुसार यह खेल आधुनिक पोलो है। सोमेश्वर कृत मानसोल्लास में बाजिवाह्यालि खेल से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध है।[9] इससे स्पष्ट है कि यह खेल उस समय प्रचलित था।

(xiii) **अलौकिक क्रीड़ाएँ** : यह क्रीड़ा विद्याधरों द्वारा की जाती थी। उनकी क्रीड़ाओं का उल्लेख जैन पुराणों में उपलभ्य है। उनकी क्रीड़ाओं में अनेक रूप

---

१. पद्म ६।२३०; हरिवंश ५।२४; महा १२।३३
२. वही ७५।२२
३. वही २८।१६५
४. वही ५।३५६
५. महा ३७।४७; तुलनीय—समराइच्चकहा १, पृ० १६; निशीथचूर्णी ६।२३-२४ मानसोल्लास ४।४।६६२-६६६
६. मानसोल्लास ४।३।३३०-५६३, ४।४।७६७-८२७
७. हरिवंश १६।६३-६६, ४७।१०६; महा ६३।१५२
८. पद्म ६।११३-११६
९. मन्मथ राय—वही, पृ० २६४

धारण कर स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करना, सूर्य सदृश सन्ताप उत्पन्न करना; चन्द्रमा तुल्य धवल चाँदनी, मेघ के समान वर्षा, अग्नि की भाँति ज्वाला उत्पन्न करना, वायु सदृश विशाल पर्वतों को गतिवान् करना, इन्द्र के समान प्रभुत्व स्थापित करना, समुद्र, पर्वत, अग्नि, हाथी का रूप धारण करना, क्षणभर में पास आना, क्षणभर में दूर जाना, क्षणभर में दृश्य होना, क्षणभर में अदृश्य होना, क्षणभर में सूक्ष्म, महान् एवं भयंकर रूपों को ग्रहण करना आदि मुख्य हैं।[1]

[ब] **गोष्ठी** : प्राचीनकाल से मानसिक विकास एवं मनोरञ्जनार्थ साहित्यिक एवं कलात्मक गोष्ठी या परिषद् का आयोजन विविध प्रकार के विद्वानों एवं कलाकारों द्वारा किया जाता था।[2] ये गोष्ठियाँ शिक्षाप्रद होती थीं तथा इनसे व्यक्तित्व का विकास होता था। ये गोष्ठियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थीं। पद्म पुराण में वर्णित है कि राजा अपनी पत्नियों सहित महल में सुन्दर गोष्ठी का आनन्द लेते थे।[3] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि पृथ्वी पर सर्वत्र नाना प्रकार के दिव्य एवं चित्ताकर्षक नृत्य, संगीत एवं वादित्र आदि की गोष्ठियों द्वारा मनुष्य अपना मनोरञ्जन करता था।[4]

गोष्ठी का प्रकार एवं स्वरूप : आलोचित जैन पुराणों में गीत, नृत्य, वादित्र, वीणा, कथा, पद, काव्य, जल्प, शूर, विद्वान्, कला, पद, विद्या-सम्बाद, शास्त्र, मूर्ख आदि गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है। इन गोष्ठियों के विषय में अधोलिखित अनुच्छेदों में वर्णन किया जा रहा है।

महा पुराण में वर्णित है कि कथा-गोष्ठी में सत्पुरुषों के चरित्र का वर्णन होता था। इसके श्रवण से मनुष्य का पाप विनष्ट होता था और सत्पथ पर चलने की प्रवृत्ति होती थी। साथ-साथ बुद्धि का विकास भी होता था।[5] कभी गीत-गोष्ठी, कभी नृत्यगोष्ठी, कभी वादित्रगोष्ठी और कभी वीणागोष्ठी के द्वारा लोग अपना मन-बहलाव एवं समय व्यतीत किया करते थे।[6] जैन पुराणों में आत्मीय जनों द्वारा मनो-

---

१. पद्म ८।८६-८६

२. धर्मेन्द्र कुमार गुप्त—सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन, दिल्ली १६७२, पृ० २७५

३. पद्म ६।३३६

४. हरिवंश ५६।२०

५. महा १२।१८८, १४।१६२

६. पद्म १।२३-३५, ३६।५; महा १२।१८७

विनोद होता था एवं इसके माध्यम से समय भी व्यतीत हो जाता था।[1]

महा पुराण के अनुसार प्राचीन काल में पदगोष्ठी द्वारा व्याकरणों के साथ व्याकरण विषयक चर्चा हुआ करती थी। काव्यगोष्ठी के माध्यम से कवियों के साथ काव्य-वार्ता होती थी और जल्पगोष्ठी द्वारा अति वक्ताओं में वाद-विवाद होता था। इन गोष्ठियों से मनोरञ्जन के साथ ही ज्ञानार्जन भी होता था।[2] पद्म पुराण में शूरगोष्ठी और विद्वान्गोष्ठी का उल्लेख उपलब्ध है, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय विभिन्न श्रेणी या वर्ग के लोग अपने-अपने स्तरानुसार गोष्ठी का आयोजन करके मनोरञ्जन के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में सहयोग देते थे।[3] महा पुराण में वर्णित है कि सभी चौसठ कलाओं के प्रदर्शन, विश्लेषण, ज्ञानार्जन, एवं अनुरञ्जन के लिए कलागोष्ठियों का आयोजन करना उस समय के लोगों का प्रमुख उद्देश्य था।[4] महा पुराण में वर्णित है कि जिस प्रकार कलागोष्ठी में मात्र-कलाओं का, काव्यगोष्ठी में केवल काव्य का, पदगोष्ठी में एकमात्र व्याकरण का और कथागोष्ठी में पौराणिक कथाओं का ही निरूपण होता था, उसी प्रकार विद्यासम्वाद-गोष्ठी में एक साथ ही समस्त विद्याओं की वार्ता, परिचर्या एवं विवेचना हुआ करती थी। इन विद्याओं में कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भूगोल, दर्शन, काव्य, तथा खगोलशास्त्र आदि विषय प्रमुख थे।[5]

जैन पुराणों में जहाँ एक ओर उपर्युक्त गोष्ठियों की चर्चा एवं माहात्म्य का वर्णन उपलब्ध है, वहीं पर मूर्खगोष्ठी को सर्वथा निन्दनीय एवं वर्जनीय वर्णित किया है।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार आजकल होली के अवसर पर मूर्ख-गोष्ठी का कहीं-कहीं आयोजन होता है, सम्भवतः उस समय भी किसी शुभावसर या विनोदपूर्ण अवसर पर ऐसी गोष्ठी का आयोजन किया जाता था। चूंकि यह गोष्ठी श्रेयस्कर नहीं थी, इसी कारण जैनाचार्यों ने इसे निषिद्ध बताया है।

---

१. महा १२।१८७; पद्म ३७।६३

२. कदाचित् पदगोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा।
वावदूकैः समं कैश्चित् जल्पगोष्ठीभिरेकदा॥ महा १४।१६१

३. पद्म ५३।११३

४. महा २६।६४

५. वही ७।६५

६. पद्म १५।१८४

[ड] धार्मिक एवं सामाजिक उत्सव

मानव-जीवन में उत्सवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनसे जीवन की एकरसता विनष्ट होती है और आन्तरिक आनन्दानुभूति से नवोल्लास का सृजन होने से जीवन में नवीनता आती है। इस प्रकार मनुष्य अपने जीवन-पथ पर अग्रगामी होता रहता है। जैन पुराणों में जन्मोत्सव, विवाहोत्सव एवं गर्भ कल्याणक महोत्सव आदि प्रमुख उत्सवों का उल्लेख उपलब्ध है। हर्ष के समय में भी मदनोत्सव (वसन्तोत्सव या मदनमहोत्सव), कौमुदी महोत्सव, उदयोत्सव एवं इन्द्रोत्सव आदि विषयक वर्णन उपलब्ध है।[1] दण्डिन के काल में भी वसन्तोत्सव, कामोत्सव, इन्द्रपूजोत्सव एवं कुमुदोत्सव आदि का प्रचलन था।[2] जैन कथाओं में जन्मोत्सव, विद्यारम्भोत्सव, विवाहोत्सव, निर्वाणोत्सव, वसन्तोत्सव एवं होलिकोत्सव आदि उत्सवों का उल्लेख प्राप्य होता है।[3] अध्ययन की दृष्टि से उत्सव को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (अ) धार्मिक उत्सव तथा (ब) सामाजिक उत्सव।

[अ] **धार्मिक उत्सव** : जैन पुराणों में धार्मिक उत्सव के अन्तर्गत निम्नांकित उत्सवों को सम्मिलित करते हैं :

१. पञ्चकल्याणक महोत्सव : जैन पुराणों में तीर्थंकरों के पञ्चकल्याणक महोत्सव, गर्भ, जन्म, दीक्षा के समय, केवल ज्ञान प्राप्त होने एवं निर्वाण के समय देवताओं द्वारा सम्पन्न किये जाते थे।

[i] **गर्भ कल्याणक महोत्सव (गर्भ महोत्सव)** : भगवान् ऋषभदेव के गर्भावस्था में आने पर माता मरुदेवी की सेवा में तत्पर देव कन्याओं का चित्रण जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। वह इस प्रकार है—उनसे आज्ञा प्राप्त करना, गुणगान करना, गीत गाना, पाँव दबाना, ताम्बूल देना, चमर डुलाना, वस्त्राभूषण देना, शय्या, लेप करना आदि कार्य देव कन्याएँ इन्द्र के आदेश से सम्पन्न करती थीं।[4]

[ii] **जन्मकल्याणक महोत्सव (जन्माभिषेक महोत्सव)** : जैन पुराणों में वर्णित है कि तीर्थंकर के जन्मोत्सव के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान हो जाता

---

१. बैज नाथ शर्मा—हर्ष ऐण्ड हिज टाइम्स, वाराणसी, १९७०, पृ० ३९०–३९२
२. धर्मेन्द्र कुमार गुप्त—सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन, दिल्ली, १९७२, पृ० २७०-२७२
३. श्री चन्द्र जैन—जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर, १९७१, पृ० ५७
४. पद्म ३।११२-१२०; हरिवंश ८।९८-१०२; महा १२।१६३, ६९।२९

है। भवनवासी देवों के गृह में स्वतः शंख-ध्वनि होने लगती है। व्यंतरों के भवनों में भेरियाँ बजने लगती हैं। ज्योतिषी देवों के सदनों में सिंह की स्वतः गर्जन सुनाई पड़ने लगती है एवं कल्पवासी देवों के यहाँ स्वतः घण्टा ध्वनित हो उठते हैं। इन्द्रसहित देवतागण जन्मोत्सव स्थल पर उपस्थित होकर प्रसन्नतापूर्वक विक्रिया वेश धारण कर सिंहनाद एवं तालियाँ बजाते हुए नृत्य-गान करते थे। इन्द्राणी सहित इन्द्र प्रसूतिगृह से बालक को लेकर सुमेर पर्वत पर जाते हैं। वहाँ अभिषेक करने के उपरान्त वस्त्राभूषणों से सुसज्जित बालक को प्रसूतिगृह में पुनः पहुँचा देते हैं।[1]

[iii] **दीक्षाकल्याणक या निष्क्रमण महोत्सव (दीक्षा महोत्सव)** : तीर्थंकर को किसी कारणवश विराग उत्पन्न होता है और वे गृह-त्यागकर पालकी में बैठ कर किसी रमणीक स्थान में जाते हैं। वहाँ वह अपने बहुमूल्य वस्त्रालंकारों का त्याग कर स्वहस्त से अपने केश को नोच डालते हैं। उन बालों को इन्द्र क्षीर सागर में विसर्जित कर देते हैं। तीर्थंकर के दीक्षाकल्याणक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर सभी लोग अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं।[2]

[iv] **केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव (केवलज्ञानमहोत्सव)** : भगवान् को जब केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसी समय भामण्डल, अशोक वृक्ष और छत्रत्रय उत्पन्न होते हैं। देवतागण भगवान् की वन्दना करते हैं। भगवान् समवसरण के मध्य पर विराजमान होते हैं। सब लोगों के यथास्थान बैठ जाने के उपरान्त गणधर भगवान् से उपदेश देने की प्रार्थना करते हैं।[3]

[v] **निर्वाणकल्याणक महोत्सव (निर्वाण महोत्सव)** : इस उत्सव में शरणागत जीवों को भगवान् रत्नत्रय दान कर उनका भवसागर से उद्धार करते हैं। भगवान् के निर्वाण-प्राप्ति पर इन्द्रादि देवता उपस्थित होकर निर्वाणकल्याणक महोत्सव सम्पन्न करते हैं।[4]

२. **कल्याणाभिषेक** : यह उत्सव भगवान् के माता-पिता के स्वर्गावतरण के अवसर पर इन्द्र द्वारा सम्पन्न किया जाता है।[5]

---

१. पद्म ३।१६०-२१२; हरिवंश ८।१२७-१७१; महा १३।३६-१६०, ५१।२४
२. वही ३।२६३-२८५; हरिवंश ६।७७-१००
३. महा ४६।३६, ६६।५३; पद्म ४।२२-३३; हरिवंश ६।२-३
४. हरिवंश १२।८१
५. तदाखिलामराधीशः समागत्य व्यधुर्मुदा।
स्वर्गावतरणे पित्रोः कल्याणाभिषवोत्सवम्॥ महा ७३।८८

३. **जन्मोत्सव** : संसार में सामान्यतः साधारण से साधारण व्यक्ति को भी पुत्र-जन्म के कारण प्रसन्नता होती है।[1] पुत्र-जन्म से दम्पत्ति को हर्षातिरेक होता है। धनाढ्य या निर्धन सभी अपनी सामर्थ्यानुसार पुत्र-जन्मोत्सव मनाते हैं।[2] इस अवसर पर घण्ट ध्वनि, सिंह ध्वनि, पटह ध्वनि एवं शंख ध्वनि करते हैं।[3] पुत्रोत्पत्ति होने पर जन्मोत्सव की प्रथा प्रचलित है। जिसमें भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी, इष्ट-मित्र आदि सम्मिलित होते हैं।[4] भगवतीसूत्रानुसार पुत्र-जन्मोत्सव पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार नृत्य-गान, वाद्य एवं नाटक आदि का आयोजन तथा दानादि का वितरण करते हैं।[5] राजा एवं सामन्त के यहाँ यह उत्सव विशिष्ट प्रकार से सम्पन्न होता था। इस अवसर पर नगर को सुसज्जित किया जाता था। राजपथ को सुगन्धित (चन्दन) जल से सिञ्चित किया जाता था। घर-आंगन को कुंकुम-केसर आदि से सुवासित करते थे। संगीत वाद्य एवं नृत्य आदि का अयोजन किया जाता था। ज्ञाता-धर्मकथा के अनुसार कन्या के जन्म पर भी जन्मोत्सव का आयोजन किया जाता था।[6]

(ब) **सामाजिक उत्सव** : आधुनिक समाज में जिस प्रकार आजकल सामाजिक उत्सवों का आयोजन होता है, इसी प्रकार प्राचीन काल में सामाजिक उत्सवों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। हमें जैन साहित्य में भी सामाजिक उत्सवों का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका विवरण निम्नवत् है :

१. **विवाहोत्सव** : सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने के लिए विवाह अनिवार्य माना जाता है। विवाह के पावन-सूत्र में बँध कर पति-पत्नी अपनी जीवन नौका को सहज भाव से इस संसार में खेते हैं। विवाहोत्सव के अवसर पर ध्वजा एवं तोरण से नगर को भली-भाँति सुसज्जित करते हैं। विवाह मण्डप भी सुन्दर ढंग से सुसज्जित किया जाता था। वर-वधू को स्त्रियाँ गवाक्षों से देखती थीं। स्वयंवर की छटा निराली होती थी। विवाह के अवसर पर विभिन्न प्रकार के

१. महा ५६।२०
२. वही २६।१
३. हरिवंश १६।१४
४. पद्म २६।१४७
५. भगवती सूत्र ११।११।४२६
६. झिनकू यादव—जैन साहित्य में उत्सव महोत्सव, श्रमण, वर्ष २३, अंक ११, सितम्बर १६७२, पृ० २६; ज्ञाताधर्मकथा ८, पृ० ६६

मंगल गीत एवं वाद्यों का प्रचलन था। मांगलिक-पाठों द्वारा विवाह-क्रिया सम्पन्न होती थी।[1]

२. **वर्षवृद्धिदिनोत्सव (जन्मदिनोत्सव)** : प्राचीन काल से हमारे यहाँ जन्मदिनोत्सव या वर्षवृद्धि दिनोत्सव की परम्परा प्रचलित रही है। इस उत्सव में मंगलगीत, वादित्र तथा नृत्यादि की प्रधानता रही है।[2] जिस व्यक्ति का जन्म दिन मनाया जाता है, वह नव वस्त्र धारण कर उच्चासन पर बैठता है। मांगलिक गीत एवं नृत्य होता है। पुरोहित मांगलिक स्तोत्रोच्चारण करते हुए आशीर्वाद देते हैं। वयोवृद्ध एवं अग्रज व्यक्ति हार्दिक शुभकामनाओं सहित आशीर्वाद देते हैं। इस अवसर पर वह व्यक्ति यथाशक्ति निर्धन एवं अपंगु व्यक्ति को दान देता है। सगे-सम्बन्धियों एवं इष्ट-मित्रों से इस सुअवसर पर उसे उपहार भी उपलब्ध होता है।[3]

३. **विजयोत्सव** : राजा जब युद्ध में शत्रु पर विजय प्राप्त कर अपनी राजधानी में पहुँचता था तो वह बड़े उल्लास से विजयोत्सव का आयोजन करता था। सम्पूर्ण नगर अत्यन्त मनोरम ढंग से सुसज्जित किया जाता था। विभिन्न भाँति के सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये जाते थे। विजय में उपलब्ध धन का वितरण सैनिकों एवं निर्धनों में किया जाता था। यह उत्सव कई दिनों तक निरन्तर चलता रहता था।[4]

४. **मदनोत्सव** : समराइच्चकहा में इस उत्सव के विषय में उल्लेख आया है कि चैत्र मास की शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन इसे मनाया जाता था। नगर के किसी उद्यान में नर-नारी टोलियों में एकत्र होकर अत्यधिक उल्लास से इस उत्सव को मनाते थे।[5] प्राचीन जैन ग्रन्थों में कतिपय लौकिक देवी-देवताओं के पूजनार्थ प्रतिवर्ष मेले लगते थे, जिसे 'मह' संज्ञा से सम्बोधित करते थे। इसका प्रयोग संस्कृत

---

१. पद्म २८।२६७; महा ७।२३८-२८०; हरिवंश १६।५८; तुलनीय—गायत्री वर्मा—कालिदास के ग्रन्थ : तत्कालीन संस्कृति, वाराणसी, १६६३, पृ० २७४-२७६

२. कदाचिद् तस्याऽऽसीद वर्षवृद्धिदिनोत्सवः।
मङ्गलैर्गीत वादित्र नृत्यारम्भैश्च संभृतः॥ महा ५।१

३. महा ५।२-१२

४. पद्म ७।६६-१०४

५. समराइच्चकहा ५, पृ० ३७३

में भी हुआ है और यह मूल वैदिक 'मख' से आया है। वैदिक यज्ञ ही लौकिक जीवन में 'मह' के नाम से सम्बोधित होने लगा था।[1]

५. **कार्तिक पूर्णिमा महोत्सव (कौमुदी महोत्सव)** : जगदीश चन्द्र जैन के मतानुसार कार्तिक पूर्णिमा महोत्सव ही कौमुदी महोत्सव है।[2] सूत्रकृताङ्गटीका के वर्णनानुसार इस सुअवसर पर स्त्री-पुरुष उद्यान में केलि-क्रीडा करते थे।[3]

---

१. वासुदेव शरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० ४-३२
२. जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम में भारतीय समाज, पृ० ३६१
३. सूत्रकृतांङ्गटीका २।७५

३

राजनय एवं राजनीतिक व्यवस्था

•

जैन पुराणों में राजनय एवं राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसके स्वरूप का प्रतिबिम्बन मुख्यतया दो पक्षों पर हुआ है : प्रथम पक्ष का सम्बन्ध उन सैद्धान्तिक आदर्शों से है, जिसका निर्माण प्राक्युगीन परम्पराओं में हुआ था। द्वितीय पक्ष समकालीन राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनय विषयक व्यवस्थाओं की ओर केन्द्रित है। इनके निर्माण-काल में धर्मशास्त्र और अर्थ-शास्त्र परम्परा के सैद्धान्तिक विवेचनों में नीति-साहित्य का आविर्भाव हो चुका था तथा प्रशासकीय तत्त्वों पर मात्र आंशिक रूप में, किन्तु सैनिक एवं कूटनीति तत्त्वों पर पूर्णतः बल दिया जाने लगा था। तत्कालीन नीति-साहित्य में कामन्दकीय नीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके समस्तरीय एवं समकालीन अन्य नीतिशास्त्रों की समीक्षा के आधार पर यह सर्वसम्मत से निर्धारित हो चुका है कि राजनय विषयक कुछ विवेचनीय तत्त्व, उदाहरणार्थ—'अध्यक्ष-प्रचार' एवं 'धर्मस्थीयम्' जैसे अर्थशास्त्र के सुविदित खण्ड अतीत के विषय बन चुके थे। नीतिशास्त्र विषयक संकलित स्वतन्त्र रचनाओं के अतिरिक्त नीति सम्बन्धी सन्दर्भों का समावेश करने वाले सम-कालीन पारम्परिक पुराणों के राजनीतिपरक खण्डों में भी उक्त स्थिति का निदर्शन उपलब्ध होता है। ऐसी विशेष परिस्थिति के कारण जैन पुराणों के तत्सम्बन्धी स्थलों को अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र से विदित होने वाले राजनीतिक व्यवस्था के बृहत्तर सन्दर्भ में समीक्षा का विषय बनाना आवश्यक हो जाता है। इस मापदण्ड को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय का विवेचन निम्नोद्धृत अनुच्छेदों में किया जाना उचित प्रतीत होता है।

[क] राजनय : स्वरूप एवं सिद्धान्त

१. राज्य की उत्पत्ति : राज्य के नियामक तत्त्वों में इसकी उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन ग्रन्थों के परिशीलन से राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत और दीघनिकाय में सृष्टि के आदिकाल में स्वर्ण-युग की कल्पना का उल्लेख उपलब्ध है। यूनानी एवं फ्रांसीसी विद्वान् प्लेटो तथा रूसो ने भी आदिम काल में स्वर्णयुग की परिकल्पना की है।[१] जैन पुराणों में भी सृष्टि के आरम्भ में स्वर्ण-युग का उल्लेख आया है। आदिकाल में राज्य का अविर्भाव नहीं हुआ था तथा प्रजा पूर्णतः सुखी थी। कल्पवृक्षों द्वारा व्यवस्था नियन्त्रित होती थी। कालान्तर में माँग की आपूर्ति पूर्णतः न होने से व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न हो गया था। इसके निवारणार्थ योनिज-पुरुष (कुलकर) उत्पन्न हुए और मनुष्यों ने इनसे उभयपक्षीय समझौता किया।[२]

जैन पुराणों में राज्य की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों में सामाजिक समझौतों पर अधिक बल दिया गया है। राज्य दैवी संस्था न होकर मानवीय संस्था थी। इसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर हुआ है। आदिकाल में यौगलिक व्यवस्था थी। एक युगल जन्म लेता और वही युगल अन्य युगल को जन्म देने के बाद समाप्त हो जाता था। इस प्रकार के अनेक युगल थे।[३] कालान्तर में प्रकृति में परिवर्तन से प्राकृतिक साधनों का ह्रास होने के कारण राजनीतिक समाज की स्थापना हुई।[४] समय-समय पर चौदह कुलकरों का

---

१. ए० एस० अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, सं० २०३३, पृ० १६

२. धन्य कुमार राजेश—जैन पौराणिक साहित्य में राजनीति, श्रमण, वर्ष २३, अंक १, नवम्बर १६७३, पृ० ३-४; गोकुल चन्द्र जैन—जैन राजनीति, श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, बम्बई, उदयपुर, १६७६, पृ० २७

३. पद्म ३।३०-८८, ३।२३८-२४१; हरिवंश ८।१०६-१७०; महा ३।२२-१६३, तुलनीय—नैवराज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति च परस्परम्॥
महाभारत, शान्तिपर्व, ५६।१४

४. अथ कालान्त्यतो हानिं तेषु यातेष्वनुक्रमात्।
कल्पपादपखण्डेषु श्रृणु कौलकरीं स्थितिम्॥ पद्म ३।७४

जन्म प्रजा के दुःख एवं विपत्तियों के निवारणार्थ हुआ।[1] इन कुलकरों का प्रजा से पितृवत् व्यवहार था। पुण्य-कर्मोदय से इनकी उत्पत्ति हुई और इन सभी की बुद्धि समान थी।[2] महा पुराण में वर्णित है कि कर्मभूमि के पूर्व भोगभूमि में सज्जनों के रक्षार्थ दुष्टों को दण्ड देने की समस्या ही न थी क्योंकि समाज में अपराध का अभाव था। कालान्तर में कर्मभूमि में राजा के अभाव के कारण प्रजा में 'मात्स्य-न्याय' की प्रधानता थी। जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं, उसी प्रकार सबल व्यक्ति निर्बल को त्रस्त करने लगे थे।[3] जैन पुराणों के समकालीन वसुबन्धु सदृश्य आचार्यों ने भी उक्त प्रकार का मत व्यक्त कर उपर्युक्त विचारधारा की पुष्टि करते हैं।[4] यही नहीं जैनेतर ग्रन्थों में भी 'मात्स्य-न्याय' की सुन्दर विवेचना उपलब्ध है।[5]

२. राज्य के प्रकार : राज्य की उत्पत्ति के साथ ही तत्सम्बन्धित समस्याओं का भी प्रादुर्भाव हुआ। महा पुराण में उनके समाधानार्थ साधनों का निर्देश है—अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्ड।[6] पद्म पुराण के अनुसार एक देश नाना जनपदों से व्याप्त होता है, जिसमें पत्तन, ग्राम, संवाह, मटम्ब, पुटभेदन, घोष तथा द्रोणमुख आदि आते हैं।[7]

---

१. महा ३।६३-१६३; हरिवंश ७।१२५-१७६; पद्म ३।७५-८८

२. पद्म ३।७८-८८; हरिवंश ७।१२३-१२७, ७।१४१-१५८

३. दुष्टानां निग्रहः शिष्टप्रतिपालनमित्ययम्।
न पुरासीत्क्रमो यस्मात् प्रजाः सर्वा निरागसः॥
प्रजादण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमूः।
ग्रस्यतेऽन्तः प्रदुष्टेन निर्बलो हि बलीयसा॥ महा १६।२५१-२५२

४. वट कृष्ण घोष—हिन्दू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, टीकमगढ़, १९४६, पृ० २६९

५. शतपथब्राह्मण ११।६।२४; रामायण अयोध्या काण्ड ६७।३१; महाभारत, शान्तिपर्व १५।३०; अर्थशास्त्र १।४; मनु ७।१४; कामन्दक २।४०; मत्स्यपुराण २२५।६; मानसोल्लास २।१६

६. महा ५१।५

७. देशो जनपदाकीर्णो विषयः सुन्दरो महान्॥
पत्तनग्रामसंवाहमटम्बपुटभेदनैः।
घोषद्रोणमुखाद्यैश्च सन्निवेशैर्विराजितः॥ पद्म ४१।५६-५७

प्राचीन ग्रन्थों के परिशीलन से राज्यों के प्रकारों पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने द्वैराज्य का उल्लेख किया।[1] प्राचीन भारत में 'राज्य-संघ' का वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, यौधेय गणराज्य तीन गणराज्यों का संघ था। लिच्छवियों ने एक बार मल्लों तथा दूसरी बार विदेहों के साथ संघ बनाया था।[2] कालिदास ने अपने ग्रन्थों में राज्य के प्रकारों का वर्णन किया है, जिसका विवरण निम्नवत् है—राज्य, माहाराज्य, आधिराज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य तथा सार्वभौम (चक्रवर्ती राज्य)।[3]

जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र में अनेक प्रकार के राज्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है—यथा गणराज्य, द्विराज्य और वैराज्य।[4] पद्म पुराण[5] के अनुसार सामान्यतया एक राज्य का प्रचलन था, परन्तु कभी-कभी दो राजाओं द्वारा संयुक्ततः शासित देश का दृष्टान्त भी उपलब्ध होता है, जिसे महा पुराण[6] में द्वैराज्य की संज्ञा प्रदान की गई है। निशीथचूर्णि में सात प्रकार के राज्यों का उल्लेख प्राप्य है—अनाराज्य (अराजक), जुवराज्य, वेरज्ज, विरुध-राज्य, दोरज्ज, गणरज्ज और रज्ज।[7] किन्तु उपर्युक्त राज्य के सात प्रकारों में से वेरज्ज (वैराज्य), गणरज्ज (गणराज्य), दोरज्ज (द्वैराज्य) ही राज्य की कोटि में रखे जा सकते हैं और अन्य चार विशिष्ट तरह की राजनीतिक स्थितियों के सूचक हैं, न कि स्वतन्त्र राज्य के प्रकार हैं।

---

१. कौटिल्य ८।२
२. अल्तेकर—वही, पृ० ३२
३. भगवत शरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग १, काशी, १९६३, पृ० १८७
४. आचारांगसूत्र १।३।१६०
५. पद्म १०६।६५; तुलनीय—मालविकाग्निमित्र, अंक ५, श्लोक १३
६. महा ५२।३६
७. मधुसेन—ए कल्चर स्टडी ऑफ द निशीथचूर्णि, अमृतसर, १९७५, पृ० १६ जैन आगमों में चार प्रकार के 'वैराज्य' का उल्लेख मिलता है :
(i) अणराज्य—राजा की मृत्यु हो जाने पर यदि अन्य राजा या युवराज का अभिषेक न हुआ हो तो उसे अणराज कहते हैं। (ii) जुवराज—पहले राजा द्वारा नियुक्त युवराज से अधिष्ठित राज्य, अभी तक अन्य युवराज अभिषिक्त न किया गया हो, को जुवराज कहा गया है। (iii) वेरज्जय या वैराज्य—अन्य राज्य की सेना ने जब राज्य को घेर लिया हो तो उसे वैराज्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। (iv) वेरज्ज या द्वैराज्य—एक ही गोल के दो व्यक्तियों में कलह को वेरज्ज या द्वैराज्य सम्बोधित किया गया है। जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ३९८

३. राज्य के उद्देश्य एवं कार्य : पद्म पुराण में उल्लिखित है कि इच्छानुसार कार्य करना ही राज्य कहलाता है।[१] महा पुराण में उस राज्य की निन्दा की गयी है जिसका अन्त अश्रेयष्कर है तथा जिसमें निरन्तर पापों की उत्पत्ति एवं सुख का अभाव है और सशंकित मनुष्य महान् दुःख प्राप्त करते हैं।[२] डॉ० अल्तेकर के मतानुसार शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना और जनता का सर्वाङ्गीण नैतिक; सांस्कृतिक तथा भौतिक विकास करना राज्य का उद्देश्य था।[३] राज्य के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है[४] :

(i) **आवश्यक कार्य** : इसके अन्तर्गत वे सभी कार्य आते हैं, जो समाज के संगठन के लिए नितान्त अनिवार्य हैं, जैसे बाह्य शत्रु के आक्रमण से रक्षा, प्रजा के जान-माल का संरक्षण, शान्ति-सुव्यवस्था और न्याय का प्रबन्ध इत्यादि।

(ii) **ऐच्छिक या लोकहितकारी कार्य** : शिक्षा, दान, स्वास्थ्य रक्षा, व्यवसाय, डाक एवं यातायात का प्रबन्ध, जंगल तथा खानों का विकास, दीन-अनाथों की देख-रेख आदि ऐच्छिक या लोकहितकारी कार्य के अन्तर्गत आते हैं।

जैन पुराणों में राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके अनुशीलन से उपर्युक्त विचारों का ही द्योतन होता है। जैनाचार्यों ने राज्य को मनुष्यों के सर्वांगीण विकास का केन्द्र माना है। इसी लिए प्रजा के कल्याणार्थ राजाओं को प्रत्येक क्षण सचेष्ट और प्रोत्साहित करना चाहिए।

४. राज्य के सप्तांगसिद्धान्त : महा पुराण में राज्य की सात प्रकृतियों (अंगों) का वर्णन उपलब्ध है—स्वामी, अमात्य, दण्ड, जनस्थान, गढ़, कोश तथा मित्र।[५] जैनेतर ग्रन्थों में भी राज्य के सप्तांगों की विवेचना प्राप्य है।[६] वस्तुतः

---

१. स्वैच्छाविधानमात्रं हि ननु राज्यमुदाहृतम्। पद्म ८८।२४

२. राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरन्ते दुरितावहे।
सर्वतः शङ्कमानस्य प्रत्युतात्रासुखं महत्॥ महा ४२।१२०

३. अल्तेकर—वही, पृ० ३६

४. अल्तेकर—वही, पृ० ४२-४३

५. स्वाम्यमात्यौ जनस्थानं कोशो दण्डः सगुप्तिकः।
मित्रं च भूमिपालस्य सप्तः प्रकृतयः स्मृताः॥ महा ६८।७२

६. अर्थशास्त्र ६।१; मनु ९।२९४; याज्ञवल्क्य १।३५३; विष्णुधर्मसूत्र ३।३३; महाभारत शान्ति ६९।६४-६५; मत्स्य पुराण २२५।११; अग्नि पुराण २३३।१२; कामन्दक १।१६; मानसोल्लास अनुक्रमणिका श्लोक २०

प्रकृति और अंग शब्द समानार्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'प्रकृति' शब्द राज्य के मण्डल के अंगों का भी द्योतक है।[1] शुक्रनीतिसार में 'प्रकृति' शब्द का तात्पर्य मंत्रियों से किया है।[2] रघुवंश में इसका प्रयोग प्रजा के अर्थ में हुआ है।[3] शुक्रनीतिसार में राज्य के सप्तांगों की तुलना शरीर के अंगों से की गई है—राजा सिर, मंत्री नेत्र, मित्र कान, कोश मुख, बल (सेना) मन, दुर्ग (राजधानी) हाथ एवं राष्ट्र पैर हैं।[4] कामन्दक ने उल्लेख किया है कि राज्य के सप्तांग एक दूसरे के पूरक हैं। यदि राज्य का कोई अंग दोषपूर्ण हुआ तो राज्य का संचालन समुचित रूप से नहीं हो सकता।[5] मनु ने राज्य के सभी अंगों की एकता पर बल दिया है।[6] उपर्युक्त राज्य के सप्तांगों में से यहाँ पर जनस्थान (देश), दुर्ग, कोश और मित्र की विवेचना प्रस्तुत है। अन्य शेष का वर्णन यथास्थान किया जायेगा :

(i) **जनस्थान** : जनस्थान शब्द राष्ट्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध है।[7] आलोच्य जैन पुराणों में से पद्म पुराणानुसार जनस्थान को जनपद या देश की संज्ञा प्रदत्त की गई है। इसमें पत्तन, ग्राम, संवाह, मटम्ब, पुटभेदन, घोष, द्रोणमुख आदि सम्मिलित थे।[8] महा पुराण में उल्लेख है कि जनस्थान की प्रजा की सुरक्षा एवं सुव्यवस्थार्थ राजा होता है, जो इनकी सुख-समृद्धि एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है। प्रजा इसके लिए राजा को कर प्रदान करती है।[9] जैनेतर अग्नि पुराण में राष्ट्र को राज्य के सप्तांगों में शिखरस्थ स्थान प्राप्त है।[10]

(ii) **गढ़** : गढ़ या दुर्ग को ही उस समय राजधानी सम्बोधित किया गया है। प्राचीन काल से राज्य के संचालन एवं सुरक्षा की दृष्टि से दुर्ग का महत्त्वपूर्ण

१. अर्थशास्त्र ६।२; मनु ७।१५६
२. शुक्रनीतिसार २।७०-७३
३. रघुवंश ८।१८
४. शुक्रनीतिसार १।६१-६२
५. कामन्दक ४।१-२
६. मनु ६।२६५
७. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य। ऋग्वेद ४।४२
८. पद्म ४१।५६-५७; तुलनीय—अर्थशास्त्र २।१; मनु ७।११४-११७; मानसोल्लास २।२।१५६-१६२
९. महा १८।२७०-२८०
१०. बी० बी० मिश्र—पॉलटी इन द अग्नि पुराण, कलकत्ता, १९६५, पृ० ३१

स्थान था। जिस देश में दुर्ग नहीं होते थे, शत्रु आक्रमण कर उस देश को अपने देश में सम्मिलित कर लेते थे। इनमें सेनाएँ रहा करती थीं। इनसे शत्रु के आक्रमण काल में अपनी सुरक्षा तथा सुचारु रूप से युद्ध संचालन होता था।[1] महा पुराण में उल्लिखित है कि दुर्ग, यन्त्र, शस्त्र, जल, घोड़े, यव तथा रक्षकों से परिपूर्ण रहते थे।[2] दुर्ग का विस्तृत वर्णन कला एवं स्थापत्य अध्याय में आगे प्रस्तुत है।

(iii) **कोश** : किसी भी देश का स्थायित्व वहाँ की लक्ष्मी (धनसम्पत्ति) तथा देश की सम्पन्नता पर निर्भर करता है। शास्त्रकारों ने कोश की महत्ता के दृष्टिकोण से राजा को सर्वप्रथम अपने कोश की परिपूर्णता पर ध्यानाकर्षित किया है।[3] प्राचीन ग्रन्थों में कोश को राज्य का मूल कथित है और इसकी सुव्यवस्था पर बल दिया गया है।[4] जैन पुराणों के अनुसार राजाओं के समीप राजलक्ष्मी निवास करती थीं, जिससे उन्हें देश-व्यवस्था के संचालन में सुगमता होती थी। जैनाचार्यों ने राजलक्ष्मी को पापयुक्त चित्रित किया है।[5] महा पुराण में उल्लिखित है कि यद्यपि राजलक्ष्मी फलवती हैं तथापि कंटकाकीर्ण भी हैं।[6]

(iv) **मित्र** : आधुनिक युग में जिस प्रकार राष्ट्रों को मित्र राष्ट्रों की आवश्यकता होती है। उन मित्र राष्ट्रों से युद्ध काल में सहयोग उपलब्ध होता है। उसी प्रकार प्राचीन काल में भी राजा के लिए मित्र राज्य भी आवश्यक था। पद्म पुराण के अनुसार युद्धकाल में विजय-प्राप्तार्थ मित्र राजा का सहयोग उपलब्ध होना अनिवार्य होता था। आक्रमण के समय विजय हेतु मित्र राजाओं की आवश्यकता पड़ती थी।[7] जैनेतर ग्रन्थों में मित्र के महत्त्व एवं गुण की विवेचना मिलती है।[8]

---

१. पद्म २६।४०, ४३।२८; तुलनीय—पी० सी० चक्रवर्ती—आर्ट ऑफ वार इन ऐंशेण्ट इण्डिया, ढाका, १९४१, पृ० १२७

२. दुर्गाण्यासन् यथास्थानं सातत्येनानुसंस्थितैः।
भृतानि यन्त्रशस्त्राम्बुयवसैन्धवरक्षकैः॥ महा ५४।२४

३. अर्थशास्त्र २।२; महाभारत, शान्तिपर्व ११९।१६; कामसूत्र १३।३३

४. महाभारत, शान्तिपर्व १३०।३५; कामन्दक ३१।३३, नीतिवाक्यामृत २१।५

५. महा ३६।९६; पद्म २७।२४-२५

६. दूषितां कटकैरेनां फलिनीमपि ते श्रियम्। महा ३६।९८

७. पद्म १९।१, ५५।७३

८. अर्थशास्त्र ७।९; महाभारत, शान्तिपर्व १३८।११०; मनु ७।२०८; याज्ञवल्क्य १।३५२; कामन्दक ४।७४-७६, ८।५२; शुक्रनीति ४।१।८-१०

एक ओर अच्छे मित्रों की अनिवार्यता पर बल दिया गया है, वहीं दूसरी ओर दुष्ट मित्रों से सजग रहने के लिए सावधान भी किया गया है। दुष्ट मित्रों के विषय में पद्म पुराण में उल्लिखित है कि मंत्र, दोष, असत्कार, दान, पुण्य, स्वशूरवीरता, दुष्ट स्वभाव तथा मन की दाह का ज्ञान दुष्ट मित्रों को नहीं होना चाहिए।[1]

५. राजनय के चतुष्टय सिद्धान्त : महा पुराण में राजनय के चार मूल तत्त्वों की विवेचना उपलब्ध है। राज्य के सुचारु शासन-व्यवस्था के लिए निम्न चार तत्त्व—साम, दाम, दण्ड एवं भेद—मूलाधार थे।[2] जैनेतर साक्ष्यों से भी राजनय के चतुष्टय सिद्धान्त—साम, दाम, दण्ड एवं भेद—पर समुचित प्रकाश पड़ता है।[3]

(i) साम : किसी पक्ष को मिलाकर या मित्र बनाकर काम करना ही साम सिद्धान्त है।

(ii) दाम : इस सिद्धान्त के अन्तर्गत लोभी व्यक्ति को धनादि देकर वश में किया जाता है।

(iii) दण्ड : यह सिद्धान्त निकृष्ट माना गया है। अन्य सिद्धान्तों के असफल हो जाने पर इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्रयोग करने से पूर्व अपने सामर्थ्य का पूर्णतः ज्ञान होना आवश्यक है।

(iv) भेद : इस सिद्धान्त द्वारा शत्रु को आपस में लड़ाकर सफलता प्राप्त की जाती है।

६. स्वराष्ट्र और परराष्ट्र नीति : जैन पुराणों के परिशीलन से स्वराष्ट्र (तंत्र) और परराष्ट्र (अवाय) नीति पर प्रकाश पड़ता है।[4] महा पुराण के अनुसार राजा अपने मंत्रिमण्डल, राजपुत्रों, राज्यपालों, सहयोगियों तथा कर्मचारियों आदि के माध्यम से तंत्र (स्वराष्ट्र) की व्यवस्था का संचालन करता था। परराष्ट्र विषयक नीति-निर्धारण के लिए जैन ग्रन्थों में अवाय शब्द का प्रयोग किया गया है। राजा को स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र विषयक चिन्तन करना अनिवार्य था। जैनाचार्यों ने अमात्यों के साथ तंत्र और अवाय पर विचार-विमर्श

---

१. पद्म ४७।१५; तुलनीय—शिव शेखर मिश्र—मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९६६, पृ० २०६-२०८

२. महा ८।२५३

३. रामायण ५।४१३; मनु ७।१०९; याज्ञवल्क्य १।३४६; शुक्र ४।१।७७; शिव शेखर मिश्र—वही, पृ० २२८-२३८

४. तन्त्रावायमहाभारं ततः प्रभृतिः भूपतिः। महा ४६।७२; पद्म १०३।६

करने के लिए राजा को निर्देश दिया है ।[1] पद्म पुराण में वर्णित है कि विदेशों में राजा अपने राजदूत नियुक्त करते थे ।[2]

७. राजनय के षड्-सिद्धान्त : राजनय के मूल तत्त्वों में षड्-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इन सिद्धान्तों का उपयोग परराष्ट्रों पर होता था । इनका यथोचित प्रयोग कर राजा सफलता के शिखर पर आरूढ़ होता था । महा पुराण के अनुसार सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव षड्-सिद्धान्त हैं ।[3]

(i) सन्धि : युद्ध-रत दो राजाओं में किसी कारण से मैत्रीभाव हो जाना ही सन्धि कहलाती है । यह दो प्रकार की होती है : सावधि सन्धि—निश्चितकालीन मित्रता को सावधि सन्धि कहा गया है । अवधि रहित सन्धि—वह सन्धि है जिसमें समयसीमा का प्रतिबन्ध नहीं रहता है ।[4] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अमिष, पुरुषान्तर, आत्मरक्षण, अदृष्टपुरुष, दण्डमुख्यात्म रक्षण, दण्डोपनत, परिक्रम, उपग्रह, प्रत्यय, सुवर्ण, कपाल आदि सन्धियों का भी उल्लेख किया है ।[5] जैनेतर अग्नि पुराण में सोलह प्रकार की सन्धियों का वर्णन प्राप्य है ।[6]

(ii) विग्रह : शत्रु तथा उसे जीतने वाला अन्य विजयी राजा दोनों ही परस्पर एक दूसरे का जो अपकार करते हैं, उसे विग्रह की संज्ञा प्रदान किया गया है ।[7]

(iii) आसन : जब कोई राजा यह समझकर कि इस समय मुझे कोई अन्य और मैं किसी अन्य को नष्ट करने में समर्थ नहीं हूँ और जो राजा शान्तिभाव से रहता है । इसे आसन कहते हैं । इस गुण को राजाओं की वृद्धि का कारण बताया गया है ।[8]

---

१. महा ५४।१४४

२. पद्म ४४।३१

३. सन्धिः विग्रहो नेतुरासनं यानसंश्रयौ ।।
द्वैधीभावश्च षट् प्रोक्ता गुणाः प्रणयिनः श्रियः । महा ६८।६६-६७

४. कृतविग्रहयोः पश्चात्केनचिद्धेतुना तयोः ।।
मैत्रीभावः स सन्धिः स्यात्सावधिर्विगतावधिः । महा ६८।६७-६८

५. अर्थशास्त्र ७।३

६. बी० बी० मिश्र—पालटी इन् द अग्नि पुराण, कलकत्ता, १९६५, पृ० १९४

७. परम्परापकारोऽरिर्विजिगीष्वोः स विग्रहः । महा ६८।६८; पद्म ३७।३

८. मामिहान्योऽहमप्यन्यमशक्तो हन्तुमित्यसौ ।
तूष्णींभावो भवेन्नेतुरासनं वृद्धिकारणम् ।। महा ६८।६९

(iv) यान : अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि होने पर दोनों का शत्रु के प्रति जो उद्यम है अर्थात् शत्रु पर आक्रमण आदि करना ही यान कहलाता है। यह यान अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि का फलदायक है।[1]

(v) संश्रय : जिसको कहीं शरण नहीं मिलता है, उसे अपनी शरण में रखना संश्रय (आश्रय) है।[2]

(vi) द्वैधीभाव : शत्रुओं में सन्धि और विग्रह करा देना ही द्वैधीभाव है।[3]

जैनेतर साक्ष्यों से भी हमारे आलोच्य जैन पुराणों के षड्सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[4] इससे यह प्रमाणित होता है कि सभी मतों के आचार्यों ने राजनय में षड्सिद्धान्त को मान्यता प्रदान किया था।

---

१. स्ववृद्धौ शत्रुहानौ वा द्वयोर्वाभ्युद्यमं स्मृतम्।
अरिं प्रति विभोर्यानं तावन्मात्रफलप्रदम्॥ महा ६८।७०

२. अनन्यशरणस्याहुः संश्रयं सत्यसंश्रयम्। महा ६८।७१

३. सन्धिविग्रहयोर्वृत्तिर्द्वैधीभावो द्विषां प्रति। महा ६८।७१

४. अर्थशास्त्र ७।३; महाभारत, शान्तिपर्व ६९।६७-६८; मनु ७।१६०; विष्णुधर्मोत्तर २।१४५-१५०; रघुवंश ८।२१; कामन्दक ९।१६; शुक्र ४।१०६५-१०६६; मानसोल्लास, पृ० ९४-११६।

[ख] राजा और शासन-व्यवस्था

१. **राजा तथा उसका महत्त्व :** राजा राज्य का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था। उसी के आदेशानुसार सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था संचालित होती थी। कौटिल्य ने तो संक्षेप में राजा को ही राज्य स्वीकार किया है।[1] राजा के महत्त्व के विषय में जैन पुराणों में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। पद्म पुराण के वर्णनानुसार राजा द्वारा ही धर्म का अभ्युदय होता है।[2] जैन पुराणों के उल्लेखानुसार पृथ्वी पर मनुष्यों को धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष के उपभोग का अधिकार प्राप्य है, किन्तु राजाओं द्वारा सुरक्षित होने पर ही ये मनुष्यों को उपलभ्य होते हैं।[3] यही विचार जैनेतर साहित्य में भी प्राप्त है।[4] जैनेतर विद्वान् कात्यायन के मतानुसार राजा गृहविहीन अनाथ और निर्वंशी व्यक्तियों का रक्षक, पिता एवं पुत्र के तुल्य होता था।[5]

महा पुराण के अनुसार पृथ्वी पर जो कुछ भी सुन्दर, श्रेष्ठ एवं सुखदायक वस्तुएँ हैं, वह राजा के उपभोग के योग्य होती हैं।[6] महा पुराण में वर्णित है कि राजा चारों वर्णों एवं आश्रमों का रक्षक (आश्रय) होता था।[7] अन्य स्थल पर उक्त पुराण में ही राजा में दैवी गुण की कल्पना कर उसे ब्रह्मा स्वीकार किया गया है।[8] जैनेतर साहित्य में भी राजत्व में देवत्व की मान्यता मिलती है।[9] महा पुराण में रत्न सहित नव निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, बर्तन, भोजन एवं वाहन आदि राजा के दस भोग के साधन वर्णित हैं।[10] उक्त पुराण में ही अन्य स्थल

---

१. राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः। कौटिल्य ८।२
२. धर्माणां प्रभवस्त्वं हि रत्नानामिव सागरः। पद्म ६६।१०
३. पद्म २७।२६; महा ४१।१०३
४. कामन्दक १।१३; शुक्र १।६७
५. राजनीति प्रकाश, पृ० ३०
६. महा ४।१७३-१७५
७. वही ५०।३
८. वही ५४।११७
९. गौतम ११।३२; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।११।३१।५; मनु ७।४-८, ६।९६; शुक्र १।७१-७२; मत्स्य पुराण २२६।१
१०. सरत्ना निधयो दिव्याः पुरं शय्यासने चमूः।
नाट्यं सभाजनं भोज्यं वाहनं चेतितानि वै॥ महा ३७।१४३

पर—अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, सिंहासन, अनुपम वचन, उच्चछत्र तथा भामण्डल—ये आठ चक्रवर्ती राजा के ऐश्वर्य निरूपित हैं।[1] राजा का पद कुल-परम्परा से प्राप्त होता था।[2]

२. राजा : उपाधियाँ एवं प्रकार : जैन पुराणों के अध्ययन से राजा की उपाधियों एवं उनके वर्गों के विषय में सम्यक् जानकारी मिलती है जिसका वर्णन निम्नवत् है :

(अ) उपाधियाँ : जैन पुराणों के अनुशीलन से राजाओं की उपाधियाँ ज्ञात होती हैं। उस समय राजागण अपनी शक्ति के अनुसार चक्रवर्ती[3], अर्द्धचक्रवर्ती[4], राजराजेश्वर[5], महामण्डलेश्वर[6], मण्डलेश्वर[7], अर्द्ध-मण्डलेश्वर[8], महीपाल[9], नृप[10], राजा[11], भूप[12], महामाण्डलिक[13], अधिराज[14], राजराज[15], राजेन्द्र[16], आदिराज[17], राजर्षि[18] अधिराट्[19], सम्राट्[20], लोकपालिन (लोक रक्षक)[21] आदि उपाधियाँ धारण करते थे।

जैनेतर स्रोत से भी उक्त प्रकार की राजाओं की उपाधियों का उल्लेख उपलब्ध है, जो उनकी शक्ति का द्योतक है। महाभारत में राजाओं के लिए राजन्, राजेन्द्र, राज्ञ, नृप, नृपति, नराधिप, नरेन्द्र, नरेश्वर, मनुष्येन्द्र, जनाधिप, जनेश्वर, पार्थिव, पृथ्वीश्वर,

---

१. जयति तरूरशोको दुन्दुभिः पुष्पवर्षं,
चमरिरूहसमेतं विष्टरे सैंहमुद्यम्।
वचनमसमुच्चैरातपत्रं च तेजः,
त्रिभवनजयचिन्हं यस्य सार्वो जिनोऽसौ॥ महा ३५।२४४
२. गोत्रक्रमसमायातमिदं राजकुलं मम। पद्म २६।६७
३. हरिवंश ५।२५२; महा ४५।५३
४. महा २३।६०
५. हरिवंश ११।२३
६. महा ४८।७४
७. वही २३।६०
८. वही २३।६०
९. वही ४१।६७
१०. वही ४।१३६; हरिवंश १६।१६
११. वही ५२।२७; वही १६।१६; पद्म ११।५८
१२. वही ४।७०; वही १६।१६
१३. महा १६।२५७
१४. वही १६।२६२
१५. वही ३१।१४४
१६. वही ३२।६८; पद्म २।८२
१७. वही ३४।३४
१८. वही ३४।३४
१९. वही ३७।२०
२०. वही ३७।२०
२१. पद्म ७।६६

पृथ्वीपाल, पृथ्वीपति, भूमिप, क्षितिभुज, विशांपति, लोकनाथ आदि उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं।[1] कालिदास ने अपने ग्रन्थों में भगवान्, प्रभु, जगदेशनाथ, ईश्वर, ईश, मनुष्येश्वर, प्रजेश्वर, जनेश्वर, देव, नरदेव, नरेन्द्रसम्भव, मनुष्यदेव, राजेन्द्र, वसुधाधित, राजा, भूमिपति, अर्थपति, प्रियदर्शन, भवोभर्तु:, महीक्षित, विशांपति, प्रजाधिप, मध्यम लोकपाल, गोप, महीपाल, क्षितीश, क्षितिप, नरलोकपाल, अगाधसत्व, दण्डधर, पृथिवीपाल, भट्टारक आदि उपाधियों का प्रयोग राजा के लिए किया है।[2] जैन पुराणों के रचनाकाल में राजा उसी प्रकार की उपाधियाँ—परमभट्टारक, राजा, नृप, महाराजाधिराज, चक्रवर्तिन, परमेश्वर, देव, परमदेवता, सम्राट्, ऐकाधिराज, सर्वभौम, महाधिराज आदि—धारण करते थे,[3] जिस प्रकार हमारे आलोचित जैन पुराणों में वर्णित है।

पुरातात्विक साक्ष्यों से भी जैन पुराणों के रचनाकाल में राजाओं द्वारा वैसी ही उपाधि धारण करने के प्रमाण मिलते हैं। हर्ष के मधुवन प्लेट से ज्ञात होता है कि गुप्तराजाओं की परमभट्टारक एवं महाराजाधिराज उपाधियाँ उसके समय में भी प्रचलित थीं। दकन के राष्ट्रकूट राजवंश के राजा कृष्णराज तृतीय (१०वीं शती) अकालवर्ष, महाराजाधिराज, परममाहेश्वर, परमभट्टारक, पृथ्वीवल्लभ, श्री पृथ्वीवल्लभ, समस्तभुवनाश्रय, कन्धारपुराधीश्वर आदि उपाधियाँ धारण करता था। ११ वीं शती के परमार राजा परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियाँ धारण करते थे। बारहवीं शती के गहड़वाल वंशीय राजा परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, विविधविचारविद्यावाचस्पति उपाधियाँ धारण करते थे। ये राजागण अपनी शक्ति से अधिक ऊँची-ऊँची उपाधियाँ धारण करते थे।[4]

[ब] प्रकार : जैन पुराणों में राजाओं के प्रकारों का उल्लेख उपलब्ध है। महा पुराण में चमर के आधार पर राजाओं का विभाजन हुआ है। जैनेन्द्रदेव के पास चौसठ चमर थे। इसी आधार पर चक्रवर्ती बत्तीस, अर्धचक्रवर्ती सोलह, मण्लेश्वर

---

१. प्रेमकुमारी दीक्षित—महाभारत में राज व्यवस्था, लखनऊ, १६७०, पृ० २६

२. भगवत शरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग १, काशी, १६६३, पृ० १३२-१३३

३. बैंज नाथ शर्मा—हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, वाराणसी, १६७०, पृ० २५०-२५१

४. बी० एन० एस० यादव—सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन् नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, १६७३, पृ० ११३-११४

आठ, अर्द्धमण्डलेश्वर चार, महाराज दो और राजा एक चमर बाँधते थे।[1] महा पुराण के अनुसार भरत प्रथम चक्रवर्ती राजा थे और उन्होंने ही चक्रवर्ती प्रथा का प्रवर्तन किया था।[2] महा पुराण के अनुसार ३२,००० राजा चक्रवर्ती राजा के अधीनस्थ थे।[3] चक्रवर्ती राजा द्वारा वीरचक्र बाँधने का उल्लेख अन्यत्र इसी पुराण में आया है।[4] यह एक प्रकार का प्रमाण-पत्र था, जिसे सार्वभौम राजा धारण करते थे। महा पुराण[5] में ही युद्ध के आधार पर राजाओं के तीन वर्गों का वर्णन उपलब्ध है :

(i) **लोभ विजय**—उसे कहते हैं जिसमें कार्य के सिद्धार्थ दान दिया जाता था।

(ii) **धर्मविजय**—वह है जिसमें शान्तिपूर्ण व्यवहार करते थे।

(iii) **असुर विजय**—इसमें भेद एवं दण्ड का प्रयोग करते थे।

३. **राजा के गुण :** राज्य के उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए राजा में ऐसे गुण होने चाहिए, जिससे कि वह राज्य का संचालन सम्यक् ढंग से सम्पन्न कर सके। इसी लिए प्राचीन मनीषियों ने राजाओं के गुणों का निर्धारण किया है। जैन आगमों तथा जैन पुराणों में राजाओं के गुणों का उल्लेख उपलब्ध है। इन ग्रन्थों के वर्णनानुसार राजा को जैन धर्म के रहस्य का ज्ञाता, शरणागत वत्सल, परोपकारी, दयावान्, विद्वान्, विशुद्ध हृदयी, निन्दनीय कार्यों से पृथक्, पिता के तुल्य प्रजारक्षक, प्राणियों की भलाई में तत्पर, शत्रुसंहारक, शस्त्रास्त्र का अभ्यासी, शान्ति कार्य में अथक्य, परस्त्री से विरत, संसार की नश्वरता के कारण धर्म में रुचि, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होना चाहिए।[6] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि राजा को नीतिज्ञ, शूरवीर और अहंकार रहित होना चाहिए।[7] महा पुराण में आत्मरक्षा करते हुए

---

१. महा २३।६०
२. वही ४५।५३
३. वही ६।१६६
४. वही ४३।३१३
५. वही ६८।३८४
६. जिनशासनतत्त्वज्ञः शरणागतवत्सलः।
× × ×
सत्यस्थापितसद्भावो बाढं नियमितेन्द्रियः॥ पद्म ६८।२०-२४; महा ४।१६३; तुलनीय—औपपातिकसूत्र ६, पृ० २०
७. पद्म २।५३

प्रजा-पालन करना ही राजा का मौलिक गुण कथित है।[१] जैनेतर साहित्य में भी उक्त विचार उपलब्ध हैं।[२]

महा पुराण के कथनानुसार राजा अपने चित्त का समाधान करते हुए दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करता है, वही उसका समञ्जस-सत्वगुण है।[३] पद्म पुराण के अनुसार शक्तिशाली एवं शूरवीर राजा कभी भयभीत नहीं होता है और ब्राह्मण, मुनि, निहत्थे व्यक्ति, स्त्री, बालक, पशु एवं दूत के ऊपर प्रहार नहीं करता है।[४] राजा के गुणों का वर्णन करते हुए पद्म पुराण के प्रणेता रविषेणाचार्य ने लिखा है कि उसे सर्ववर्णधर, कल्याणप्रकृति, कलाग्राही, लोकधारी, प्रतापी, धनी, शूरवीर, नीतिज्ञ, शस्त्राभ्यास एवं व्यायाम से अविमुख, आपत्ति के समय निर्व्यग्र, विनम्र, मनुष्य का सम्मानदायी, सज्जनों का प्रेमी, दानी, हस्तिमदमर्दन आदि गुणों से संयुक्त होना चाहिए।[५] अन्य स्थल पर उल्लेख आया है कि श्रेष्ठ राजा को लोकतन्त्र, जैन व्याकरण एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता तथा महागुणों से विभूषित होना चाहिए।[६] राजा प्रचुर कोश का स्वामी, शत्रु-विजेता, अहिंसक, धर्म एवं यज्ञ आदि में दक्षिणा देने वालों का रक्षक होता था।[७] राजा सत्यवादी एवं जीवों के रक्षक होते थे। जीवों की रक्षा करने के कारण ही उन्हें 'ऋषि' कहते थे।[८] पिता के समान न्यायवत्सल होकर प्रजा की रक्षा करना, विचारपूर्वक कार्य करना,

---

१. कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने।
राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्ययं गुणः॥ महा ४२।१३७

२. महाभारत शान्तिपर्व ६७।१७, ७१।२-११; महाभारत सभापर्व १७।३०-३१; गरुड़पुराण १।६६।२७

३. राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद् दुष्टनिग्रहम्।
शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जस्यमुच्यते॥ महा ४२।१६६

४. पद्म ६६।६०

५. वही २।५०-५६

६. सर्वेषु नयशास्त्रेषु कुशलो लोकतन्त्रवित्।
जैनव्याकरणाभिज्ञो महागुणविभूषितः॥ पद्म ७२।८८

७. पद्म २७।२४-२५

८. वही ११।५८
इसी प्रकार के विचार की समता उड़ीसा में हाथीगुम्फा अभिलेख के जैन-मतावलम्बी राजा खारवेल के गुणों से मिलती है।

दुष्ट मनुष्य को कुछ देकर वश में करना, स्नेहपूर्ण व्यवहार द्वारा आत्मीय जनों को अनुकूल रखना, शत्रु को शील द्वारा वश में करना, मित्र को सद्भावपूर्ण आचरण द्वारा अनुकूल रखना, क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और धैर्य से लोभ को वश में करना राजा का गुण (कर्त्तव्य) माना जाता था।[1]

महा पुराण के अनुसार राजाओं में छः गुण—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संस्था और द्वैधीभाव—का होना अनिवार्य माना गया था।[2] इसका विशद् वर्णन पूर्व-पृष्ठों पर किया जा चुका है। महा पुराण ही के अनुसार राजा को साम, दाम, दण्ड एवं भेद का ज्ञान और सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग तथा विनिपात-प्रतीकार आदि पाँच अंगों से निर्णीत सन्धि एवं विग्रह और युद्ध के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए।[3]

जैन पुराणों के समान ही जैनेतर साधनों से भी राजा के गुणों पर प्रकाश पड़ता है।[4] महाभारत एवं स्कन्द पुराण में राजा के छत्तीस गुणों का उल्लेख उपलब्ध है।[5]

४. राजा के उपहार : अधीनस्थ राजा, सामन्त, ऋषि एवं प्रजा अपने राजा (स्वामी) को यथाशक्ति उपहार प्रदान करते थे। दिग्विजय, विवाहोत्सव, राज्याभिषेकोत्सव, विजयोत्सव या अन्य किसी शुभावसर पर उपहार प्रदान करने की प्रथा प्रचलित थी। जैन पुराणों के अनुसार हार, मुकुट, कुण्डल, रत्न, वस्त्र, तीर्थोदक, चूड़ामणि, कण्ठहार, कवच, बाजूबन्द, कड़ा, करधनी, पुष्पमाला, मोतियों की जाली, कटिसूत्र, झारी, कलशजल, केशर, अगरू, कपूर, सुवर्ण, मोती, सेना को भूसा एवं

---

१. पद्म ६७।१२८-१३०

२. सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च।
द्वैधीभावश्य विज्ञेयः षड्गुणा नीतिवेदनम्॥ महा ४४।१२६-१३०, (टिप्पणी)

३. भूपतिः पञ्चगुल्माख्यो दृष्टोपायचतुष्टयः।
पञ्चाङ्ग मन्त्रनिर्णीतसन्धिविग्रहतत्त्ववित्॥ महा ५६।३

४. अर्थशास्त्र ६।१; मनु ७।३२-४४; याज्ञवल्क्य १।३०६-३३४; अग्नि पुराण २३६।२-५; कामन्दक १।२१-२२, ४।६-२४; मानसोल्लास २।१।१-६, पृ० २६; शुक्र १।७३-८६

५. अवस्थी—स्टडीज इन् स्कन्द पुराण, भाग १, लखनऊ, १६६५, पृ० २४२-२४४

ईंधन, कन्या, चमरी गाय के बाल, मृग-नाभि आदि बहुत सी वस्तुएँ राजा को उपहार स्वरूप प्रदान की जाती थीं।[1]

साहित्यिक साक्ष्य के अतिरिक्त पुरातात्त्विक स्रोतों से भी राजाओं को उपहार प्रदत्त करने की प्रथा की पुष्टि होती है। प्रयाग-प्रशस्ति में वर्णित है कि समुद्रगुप्त को उसके अधीनस्थ राजाओं ने आत्मनिवेदन, कन्यादान एवं अपने-अपने क्षेत्रों के उपयोग-निमित्त गरुड़मुद्रा से अंकित राजाज्ञार्थ प्रार्थना-पत्र और विविध उपायों द्वारा उसकी सेवा की थी।[2]

५. राजा : अधिकार एवं कर्त्तव्य : राजा अपने राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह राजतंत्र, सेना, प्रशासन तथा न्यायपालिका का प्रधान होता था।[3] उसके अधिकार असीमित थे। वह अपने देश के उच्च अधिकारियों, राजदूतों, मंत्रियों एवं राज्यपालों की नियुक्ति करता था। महा पुराण के अनुसार राज्य से अपेक्षा की जाती थी कि वह युद्ध में मृत व्यक्ति के स्थान पर उसके पुत्र या भाई को उसके पद पर नियुक्त करेगा।[4] जैन पुराणों में राजा की दिनचर्या के विषय में उल्लेख आया है कि राजा शय्या से उठकर देव एवं गुरुओं की पूजा-अर्चना करता था। इसके उपरान्त वह रानी के साथ सभागृह में सिंहासन पर विराजमान होता था।[5] महा पुराण में राजा की वृत्ति के विषय में उल्लिखित है कि निष्पक्ष होकर सबको एक समान देखना, कुल-मर्यादा की रक्षा करना, बुद्धि द्वारा अपनी रक्षा

---

१. हरिवंश ११।१०-२०; महा २७।१५२, २८।४२-४४, ३१।६१-६३।३१।१४१; पद्म २।८२, ६।६०

२. 'आत्मनिवेदन-कन्योपायनदान-गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्ति-शासनयाचना-द्युपाय सेवा-कृतबाहु-वीर्य्य-प्रसर-धरणिबन्धस्य पृथिव्यामप्रतिरथस्य।'
इलाहाबाद स्तम्भ लेख २३; द्रष्टव्य—उदयनरायण राय—गुप्तराजवंश तथा उसका युग, इलाहाबाद, १६७७, पृ० ६८१

३. गुलाब चन्द्र चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, अमृतसर १६६३, पृ० ३३३; बट कृष्ण घोष—हिन्दू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, टीकमगढ़, १६४६, पृ० २७२; अर्थशास्त्र ८।१

४. तथा नृपोऽपि सङ्ग्रामे भृत्यमुख्येव्यसौ सति।
तत्पदे पुत्रमेवास्य भ्रातरं वा नियोजयेत्॥ महा ४२।१५१

५. महा ४१।१२१, ६२।१००, ६४।१८

करना तथा प्रजा का पालन करना आदि राजा की वृत्तियाँ थीं।[१] महा पुराण में वर्णित है कि वह अपने राज्य में धर्म, अर्थ एवं काम के सम्वर्धनार्थ विविध प्रकार के कार्य करता था।[२] पद्म पुराण में राजा अपनी प्रजा से भेंट करने का समय देता था।[३] यही विचार हमें जैनेतर ग्रन्थ महाभारत में भी उपलब्ध होते हैं।[४]

महा पुराण में राजा को सावधान करते हुए उल्लिखित है कि राजा को अन्य मतावलम्बियों से आशीर्वाद, शेषाक्षतादि ग्रहण नहीं करना चाहिए।[५] इससे जैनियों की संकीर्ण विचारधारा का आभास मिलता है। सम्भवतः इसी संकीर्णता के कारण राजा इसका पालन नहीं करते थे। महा पुराण में वर्णित है कि यदि उसका दाहिना हाथ भी दुष्ट (दोष पूर्ण) हो जाए, तो राजा को उसे भी काट डालना चाहिए।[६] इसी प्रकार महा पुराण में उल्लिखित है कि दुष्टों का निग्रह तथा सज्जनों का संरक्षण करना राजा का धर्म है।[७] पद्म पुराण में वर्णित है कि राजा भयभीत, ब्राह्मण, श्रमण (मुनि), निहत्थे व्यक्ति, स्त्री, बालक, पशु तथा दूत पर प्रहार नहीं करते हैं।[८] इसी पुराण में राजा को गोत्रपरम्परानुसार तपस्वियों की सेवा का दृष्टान्त भी उपलब्ध है।[९]

जैन पुराणों के अनुसार राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह वर्णाश्रम धर्म को वर्ण-संकरता से सुरक्षित रखे।[१०] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में उस समय संक्रमण-काल चल रहा था। जैनाचार्यों ने भी वर्ण-संकरता को रोकने का प्रयास किया है। जैनाचार्य जिनसेन का कथन है कि राजा को न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करना

---

१. समं समज्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम्।
प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम्॥ महा ३८।२८१
२. महा ४१।१०३
३. पद्म ११।४६
४. महाभारत शान्तिपर्व ६०।१६; महाभारत सभापर्व ५।११६
५. महा ४२।२०-२६
६. वही ६७।१११
७. वही ६७।१०६
८. नरेश्वरा ऊर्जितशौर्यचेष्टा न भीतिभाजं प्रहरन्ति जातु।
न ब्राह्मण न श्रमण न शून्यं स्त्रियं न बालं न पशुं न दूतम्॥ पद्म ६६।६०
९. पद्म ८५।५२
१०. हरिवंश १४।७; महा ४१।८२, ५०।३

चाहिए। धर्मशास्त्र के अनुसार अर्थार्जन में अपनी प्रखर बुद्धि का उसे उपयोग करना चाहिए। अपने बाहुबल से अपने इष्टजनों एवं प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो राजा इन छः अन्तरंग शत्रुओं—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह एवं मत्सर्य—पर विजय कर अपनी वृत्ति का पालन करता हुआ स्वराज्य में स्थिर रहता है वह इहलोक एवं परलोक में समृद्धि को प्राप्त करता है।[1] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि राजा अपनी प्रजा का हित पिता सदृश्य करता है।[2]

जैनेतर आचार्यों ने राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा-रक्षा माना है[3], किन्तु अग्नि पुराण में नौ, नारद स्मृति में पाँच तथा मनुस्मृति में आठ प्रकार के राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख उपलब्ध है।[4] डॉ० बट कृष्ण घोष का मत है कि भारतीय राजनीतिशास्त्र में प्रजा का प्रभुत्व उसके व्यक्तिगत रूप में न मानकर शासकीय नियमों के संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है।[5]

६ राजा-प्रजा-सम्बन्ध : प्राचीन ग्रन्थों में राजा और प्रजा में सामाञ्जस्य स्थापित करते हुए राजा को प्रजा का सेवक स्वीकार्य किया है। प्रजा राजा को अपनी आय का छठांश कर के रूप में प्रदान करती थी, यही राजा की आय होती थी। इस प्रकार राजा को भृत्य की भाँति प्रजा की सेवा करने की व्यवस्था दी गयी है।[6] आलोच्य जैन पुराणों में वर्णित है कि प्रजा राजा का अनुकरण करती थी। यदि राजा धर्मात्मा होता था तो प्रजा भी धर्मात्मा होती थी और राजा के अधार्मिक होने पर प्रजा भी अधार्मिक होती थी। इस प्रकार जैसा राजा वैसी प्रजा की कहावत चरितार्थ होती है।[7] जैनेतर ग्रन्थों से भी उपर्युक्त मत का प्रतिपादन हुआ है कि प्रजा

---

१. महा ३८।२७०-२८०

२. पद्म २१।५४

३. विष्णुधर्मसूत्र ३।२-३; महाभारत शान्तिपर्व ६८।१-४; मनु ७।१४४; वशिष्ठ १६।१-८; रघुवंश १४।६७

४. बी० बी० मिश्र—पॉलटी इन द अग्नि पुराण, कलकत्ता, १६६५, पृ० ३२

५. बट कृष्ण घोष—वही, पृ० २७२

६. बौधायनधर्मसूत्र १।१०-६; शुक्र ४।२।१३०

७. यथा राजा तथा प्रजा। पद्म १०६।१५६
अनाचारे स्थिते तस्मिन् लोकस्तत्र प्रवर्तते। पद्म ५३।५; पाण्डव १७।२५६-२६०
धर्मशीले महीपाले यान्ति तच्छीलता प्रजाः।
अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजा। महा ४१।६७

के सुख में ही राजा का सुख था और प्रजा के हित में राजा का भी हित था। अतः राजा को अपना हित न देखकर प्रजा का हित देखने का निर्देश दिया गया है।[1]

महा पुराण में उल्लिखित है कि प्रजा राजा को ब्रह्मा मानकर समृद्धि प्राप्त करती थी।[2] जैनेतर विष्णु पुराण में यह स्पष्टतः वर्णित है कि राजा निःस्वार्थ भाव से प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए सचेष्ट रहता था। अतः प्रजा भी राजा को देवतुल्य समझती थी।[3]

महा पुराण में राजा द्वारा प्रजा के रक्षार्थ विभिन्न उपायों का निरूपण करते हुए वर्णित है कि राजा को अपनी प्रजा का पालन उस प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार आलस्य रहित होकर ग्वाला बड़े यत्न से अपनी गायों की रक्षा करता है, जिस प्रकार ग्वाला अपनी गाय को अंगछेद आदि का दण्ड नहीं देता, उसी प्रकार राजा को भी दण्ड देने में अपनी प्रजा के साथ न्यायोचित उदारता करनी चाहिए, इसके अतिरिक्त ग्वाले के समान राजा अपनी प्रजा के रक्षार्थ दवा देना, सेवा करना, आजीविका का प्रबन्ध करना, परीक्षा करके उच्चकुलीन पुत्रों को क्रय करना और अपने राज्य में कृषकों को बीज आदि प्रदानकर खेती कराना चाहिए।[4] हरिवंश पुराण के अनुसार राजा को प्रजा के साथ पिता तुल्य व्यवहार करना चाहिए।[5] राजा के पास स्वतः अंगरक्षक होते हैं।[6] उक्त विचार जैनेतर ग्रन्थों में मिलता है।[7] जैनेतर अग्नि पुराण में

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्॥ अर्थशास्त्र १।१९; महाभारत शान्तिपर्व ६९।७२-७३

२. प्रजाः प्रजापतिं मत्वा तमैधन्त सुमेधसम्। महा ५४।११७

३. सर्वानन्द पाठक—विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, १९६७, पृ० १३८

४. महा ४२।१३९-१९८

५. हरिवंश ७।१७६; तुलनीय—अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अशोक चौबीसों घण्टे प्रजा की भलाई में व्यस्त रहता था। इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तल के अनुसार राजा दुष्यन्त भी प्रजा की भलाई में तत्पर रहता था। यादव—वही, पृ० ११६

६. पद्म २।२२१

७. रामायण २।२।२८-४७; महाभारत शान्तिपर्व १३९।१०४-१०५; याज्ञवल्क्य १।३३४; रघुवंश १।२४; मार्कण्डेय पुराण १३०।३३-३४; हर्षचरित (५); गरुड़ पुराण १।१११।१६

उल्लिखित है कि जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु को क्षति पहुँचने की आशंका से अपनी इच्छाओं का दमन कर सुखों का परित्याग करती है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के हित के सामने अपनी इच्छाओं का दमन कर सुखों का परित्याग करना चाहिए।[१]

७. राजा के उत्तराधिकारी : चयन, शिक्षा और राज्याभिषेक : आलोचित जैन पुराणों में राजा के उत्तराधिकारियों के चयन, उनकी शिक्षा तथा राज्याभिषेक के विषय में विशद् विवरण उपलब्ध होता है, जिसका वर्णन अग्रलिखित है :

(i) **चयन :** महा पुराण के अनुसार राजा का उत्तराधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था, उसके बाद राजा के लघु पुत्र को उत्तराधिकारी बनाया जाता था। लघु पुत्र के राज्य ग्रहण करने पर ज्येष्ठ पुत्र के ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देने का सामान्य नियम था।[२] परन्तु महा पुराण में ही अन्यत्र उल्लेख है कि विशेष परिस्थितियों में राज्य का उत्तराधिकारी राजा का लघु भ्राता भी हो सकता था। उसके अस्वीकार करने पर वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी प्रदान करता था।[३] उक्त पुराण में यह स्पष्टतः वर्णित है कि राज्य का उत्तराधिकार वंशानुगत (क्रम-प्राप्त) था।[४] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि जैनेतर आचार्यों ने भी पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र को माना है।[५] महा पुराण में उल्लिखित है कि राजा अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी देते समय सभी सभासदों की उपस्थिति में अपना मुकुट उसके मस्तक पर पहनाता था।[६] पद्म पुराण में स्पष्टतः वर्णन आया है कि यह परम्परा नहीं थी कि समर्थ ज्येष्ठ पुत्र को छोड़कर लघुपुत्र को राजगद्दी प्रदान की जाय।[७] विषम परिस्थितियों में महा पुराण में इस प्रकार की व्यवस्था उपलब्ध है कि राजा की अकाल मृत्यु होने पर अथवा अन्य कारण से यदि उसका उत्तराधिकारी अल्पायु

१. नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी।
यथा एवं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखभावहेत्॥ अग्नि पुराण २२२।८

२. महा ८।७६-८६

३. वही ६३।३०७-३१०

४. वही ५२।३६; तुलनीय—जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ४३

५. तैत्तिरीय संहिता ५।२।७; रामायण २।३।४०; महाभारत सभापर्व ६८।८; अर्थशास्त्र १।१७; मनु ६।१०६

६. मुकुटं मूर्ध्नि तस्याधान् नृपैर्नृपवरः समम्। महा ११।४३

७. पद्म ३१।१२१

होता था तो राज्य का काम राजमाता के संरक्षण में होता था।[1] जैन आगम एवं जैन पुराणों के अनुसार स्त्री को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया गया था, परन्तु वयस्क संतान न होने पर राज्य-संचालन के लिए इस नियम में शिथिलता प्रदान की गयी थी। आवश्यकतानुसार गर्भस्थ शिशु को भी उत्तराधिकारी नियुक्त करने का विधान था।[2]

आलोचित जैन आगम और जैन पुराणों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय उत्तराधिकार के लिए युद्ध भी होते थे। महा पुराण में वर्णित है कि लघु भ्राता अपने ज्येष्ठ भ्राता के विरुद्ध विद्रोह भी किया करते थे। राजा उन्हें समझाकर शान्त करने का प्रयत्न करता था। परन्तु उसके न समझने पर विद्रोह को शक्ति द्वारा दबाने का भी उल्लेख मिलता है।[3] पाण्डव पुराण में उल्लिखित है कि राजकुमार के विद्रोह करने पर कभी-कभी राजा आत्म-हत्या कर लेते थे।[4]

(ii) शिक्षा : राजकुमार ही राज्य के उत्तराधिकारी होते थे। इसलिए राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। महा पुराण में उनकी शिक्षा-दीक्षा की सुन्दर व्यवस्था का उल्लेख उपलब्ध होता है। राजकुमारों को—अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति—इन चार राजविद्याओं के अध्ययन को आवश्यक एवं अनिवार्य बताया गया है।[5] जैनेतर ग्रन्थों में भी राजकुमारों की शिक्षा आदि की व्यवस्था का सुन्दर चित्रण उपलब्ध है।[6]

(iii) राज्याभिषेक : जैन आगम साहित्य में राजकुमार के राज्याभिषेक का बहुत सुन्दर चित्रण चित्रित है।[7] जैन पुराणों में राज्याभिषेक का भव्य वर्णन किया गया है। राजा के अभिषेकोत्सव पर बहुत से राजागण उपस्थित रहते थे।

---

१. महा ८।७८-९८

२. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ४५; धान्य कुमार राजेश—वही, पृ० ६

३. महा ३४।३९-५६; जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ४३-४७

४. पाण्डव ४।२११

५. राजविद्याश्चतस्रोऽभूः कदाचिच्च कृतक्षणः।
व्याचख्यौ राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः॥ महा ४१।१३९

६. अर्थशास्त्र १।२; महाभारत शान्तिपर्व ५९।३३; मनु ७।४३; याज्ञवल्क्य १।३११; कामन्दक २।२; शुक्र १।१५१; अग्नि पुराण २३८।८

७. आवश्यकचूर्णी, पृ० २०५; निशीथचूर्णी २, पृ० ४६२-४६३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३।६८; ज्ञाताधर्मकथा १, पृ० २८; उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० २४०

अभिषेक के शुभ अवसर पर विभिन्न प्रकार के वाद्य, शंख, झालर, तूर्य, दुन्दुभि आदि बजाये जाते थे। तदुपरान्त सुवर्ण एवं रजत के कलशों से राजा को स्नान कराया जाता था। इसके पश्चात् राजा को मुकुट, अंगद, केयूर, हार, कुण्डल आदि आभूषणों से विभूषित कर वस्त्र, माला, विलेपनों से सुशोभित किया जाता था। राजा के अभिषेक के बाद साम्राज्ञी का भी अभिषेक किया जाता था।[1] पद्म पुराण में दो भाईयों के साथ-साथ अभिषेक का उल्लेख मिलता है।[2] यह द्वैराज्य-प्रथा का स्पष्टतः संकेत करता है। जैनेतर ग्रन्थों में भी उक्त प्रकार के राज्याभिषेक का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है।[3] अग्नि पुराण में पाँच प्रकार के राज्याभिषेक का उल्लेख प्राप्य होता है।[4]

८. राजतन्त्र की सीमाएँ : जैनाचार्यों ने राजतन्त्र को सीमित करने का प्रयास किया था। जैन पुराणों में दुराचारी राजा के विरोध का उल्लेख मिलता है। महा पुराण के अनुसार जब राजा दुराचारी हो जाता था और उसके अत्याचारों से प्रजा अत्यधिक परिपीडित हो जाती थी तो उसके राज्य का परित्याग कर प्रजा अन्य राजा के राज्य में चली जाती थी।[5] दुराचारी राजा द्वारा जब प्रजा का शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता था तो वहाँ की प्रजा द्वारा राज्य से उसके निष्कासन का उल्लेख पद्म पुराण में आया है।[6] अन्यायी एवं पापी राजा के राज्य में अनेक प्रकार के उत्पातों का वर्णन महा पुराण में उपलब्ध होता है।[7]

जैन पुराणों के तुल्य ही जैनेतर साक्ष्यों से भी राजतन्त्र को सीमित करने के प्रयास का उल्लेख मिलता है। रामायण में वर्णन आया है कि प्रजा को अत्यधिक अधिकार उपलब्ध था। वह कर्त्तव्यच्युत राजा को अपदस्थ कर सकती थी।[8] ब्राह्मण

---

१. पद्म ८८।२०-३३; महा ११।३६-४५, १६।१६६-२३३, ३८।२३८-२३६
२. वही ८८।२६
३. तैत्तिरीय संहिता २।७।१५-१७; नीतिमयूख पृ० ४-५; बौधायनगृह्यसूत्र १।२३; महाभारत शान्तिपर्व ४०।६-१३; विष्णुधर्मोत्तर २।१८।२-४; रघुवंश २७।१०; हर्षचरित पृ० १०३
४. बी० बी० मिश्र—वही, पृ० ४७
५. महा ६२।२१०-२११
६. पद्म २२।१३६-१४४
७. महा ६८।२२६
८. रामायण ३।३३।१६

ग्रन्थों में वर्णित है कि प्रजा को कष्ट देने वाले अन्यायी राजा को अपना जीवन, कुटुम्ब एवं राज्य से हाथ धोना पड़ता था।[1] अन्य ग्रन्थों में राजा को दण्डित करने की व्यवस्था करते हुए उल्लिखित है कि दुष्ट, अन्यायी, दुराचारी एवं अधर्मी राजा को बध कर देना न्यायसंगत होता है।[2]

६. राजा का मंत्रिमण्डल : राज्य-कार्य का संचालन अमात्यों के बिना सम्भव नहीं था, अतः उन्हें नियुक्त किया जाता था। सभी अमात्यों को मिलाकर मंत्रिमण्डल का निर्माण होता था। कौटिल्य ने मंत्रियों की सभा को 'परिषद्', बौद्ध जातकों में 'महावस्तु' तथा अशोक के शिलालेख में 'परिसा' वर्णित है।[3] आधुनिक युग में परिषद् को ही मंत्रि-परिषद् या मंत्रि-मण्डल कहते हैं।

जैन पुराणों के अनुसार मंत्रि-मण्डल के सदस्यों की निम्नतम संख्या चार एवं अधिकतम संख्या सात होती थी।[4] जैनेतर साक्ष्यों से मंत्रिमण्डल की संख्या घटती-बढ़ती रहती थी। मनु ने मंत्रियों की संख्या आठ निर्धारित किया है।[5] महाभारत में भी इनकी संख्या आठ ही वर्णित है।[6] कौटिल्य[7] और शुक्राचार्य[8] ने दस मंत्रियों की व्यवस्था की है। यशस्तिलकचम्पू में एक से अधिक मंत्रियों को रखने का उल्लेख है।[9]

पद्म पुराण में उल्लिखित है कि मंत्रि-मण्डल का प्रधान मुख्यमंत्री होता था। इसके अधीनस्थ अन्य मंत्री होते थे।[10] राजा धर्मासन पर बैठकर मंत्रियों के साथ विचार-विमर्श करता था।[11] जैन पुराणों के अनुसार मंत्रीगण राजा के विभिन्न कार्यों

---

१. तैत्तिरीय संहिता २।३।१; शतपथब्राह्मण १२।६।३।१-३ ;मनु ७।१११-११२

२. महाभारत शान्तिपर्व ६२।१६; मनु ७।२७-२८; विष्णुपुराण १।१३।२६; शुक्र ४।७।३३२-३३३

३ काशी प्रसाद जायसवाल–हिन्दू राजतन्त्र, दूसरा भाग, वाराणसी, सं० २०३४ पृ० ११३-११४

४. महा ४।१६०; पद्म ८।४८७

५. मनु ७।५४

६. महाभारत शान्तिपर्व १२।८५

७. अर्थशास्त्र १।१५

८. शुक्रनीति २।७०

९. के०के० हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, सोलापुर, १९६८, पृ०१०१

१०. पद्म ७३।२५; तुलनीय—मनु ७।१४१; महाभारत शान्तिपर्व ८१।२१; विराटपर्व ६८।६; आरण्यपर्व ५७।१६; निशीथचूर्णी ३, पृ० ५७

११. पद्म १०६।१४६; तुलनीय—ज्ञाताधर्मकथा १, पृ० ३

में परामर्श देते थे।[1] राजा के साथ विचार विनिमय के समय मंत्रीगण उपस्थित रहते थे।[2] हरिवंश पुराण के वर्णनानुसार मंत्री राजा की अत्यन्त निकटस्थ आपत्तियों को निवारण करते थे।[3] पद्म पुराण में तो यहाँ तक वर्णित है कि मंत्री राजकन्या के लिए सुयोग्य वर के चयनार्थ परामर्श भी देते थे।[4] जैन पुराणों के अनुसार मंत्रीगण तन्त्र (स्वराष्ट्र) और अवाय (परराष्ट्र) के सम्बन्ध में राजा के साथ नीतिनिर्धारण करते थे।[5] जैन पुराणों से यह भी ज्ञात होता है कि मंत्रीगण राजा को युद्ध के समय नीति विषयक मंत्रणा भी देते थे तथा विजय प्राप्ति के लिए देवताओं का पूजन भी किया करते थे।[6] पद्म पुराण में वर्णित है कि राजा मंत्रियों की राय से शत्रु पक्ष के यहाँ दूत भेजते थे।[7] उक्त पुराण में अन्यत्र दृष्टान्त मिलता है कि परीक्षित एवं विश्वासपात्र मंत्रियों के संरक्षण में राजा कोश, नगर, देश तथा प्रजा छोड़कर बाहर चले जाते थे।[8] महा पुराण में उल्लिखित है कि चोरी के अपराध में मंत्री को उसके पद से तत्काल अपदस्थ कर दिया जाता था।[9]

१०. सामन्त व्यवस्था : जैन पुराणों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि आलोचित पुराणों के प्रणयन काल में सामन्त व्यवस्था भी प्रचलित थी। राजा द्वारा युद्ध-काल में अधीनस्थ सामन्तों को युद्ध में सहयोगार्थ आमन्त्रित करने[10] और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें दूत के रूप में अन्य राजा के यहाँ भेजने का उल्लेख पद्म पुराण में उपलब्ध होता है।[11] जैन पुराणों में यह उल्लेख भी समुपलब्ध है कि अधीनस्थ राजा या सामन्तगण अपने स्वामी को कुलपरम्परानुसार धन-धान्य, कन्या तथा अन्य अनेक वस्तुएँ देकर उनकी आराधना करते थे।[12] म्लेच्छ राजा चामरी गाय के बाल और

---

१. पद्म ८।१६; महा ४।१६० (तुलनीय—अर्थशास्त्र १।१५; मनु ७।१४७-१५०;
२. वही ११।६५; हरिवंश ५०।११; कामन्दक ११।६५-६६; याज्ञवल्क्य १।३४४
३. हरिवंश १४।६६
४. पद्म १५।३६
५. तन्त्रावायमहाभारं ततः प्रभृति भूपतिः। महा ४६।७२; पद्म १०३।६
६. महा ३२।५७; पद्म ४।४८७
७. पद्म ६६।१३
८. इत्युक्ते तत्र निक्षिप्य कोशं देशं पुरं जनम्।
निरक्रामत् पुराद राजा सहास्य सुपरीक्षितः॥ पद्म २३।४०; तुलनीय-महाभारत उद्योगपर्व ३७।३८
९. सद्यो मन्त्रिपदाद् भ्रष्टो निग्रहं तादृशं गतः। महा ५९।१८६
१०. पद्म ३७।१०
११. वही ६६।१२
१२. महा २७।१५२; हरिवंश ११।१३-२०

कस्तूरी मृग की नाभि अपने स्वामी को भेंट में प्रदान करते थे।[1] अधीनस्थ राजा या सामन्त वृष, नाग, बानर आदि चिह्नित पताकाएँ धारण करते थे।[2] मण्डलेश्वरों (सामन्तों) के राजाधिराज (राजेन्द्र) के दर्शनार्थ आने का उल्लेख पद्म पुराण में भी प्राप्य है।[3]

जैन पुराणों के उक्त तथ्यों की पुष्टि अभिलेखीय साक्ष्य से होती है। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में उत्कीर्ण है कि अधीनस्थ राजा अपने स्वामी को यथाशक्ति धन, सम्पत्ति एवं कन्या आदि उपहार स्वरूप प्रदान कर स्वामी द्वारा अनुदिष्ट चिह्न धारण करते थे।[4] अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी विदित है कि गुप्त काल से सामन्त व्यवस्था का प्राधान्य हो जाता है।[5]

आलोचित पुराणों के प्रणयन काल के जैनेतर साक्ष्यों से भी सामन्त व्यवस्था की पुष्टि होती है।[6] डॉ० राम शरण शर्मा के मतानुसार सामन्त व्यवस्था का उद्भव मौर्योत्तर काल एवं विकास गुप्त काल में हुआ था।[7] छठी शती में विजित जागीरदारों को सामन्त के रूप में मान्यता प्रदान की गयी थी।[8] कौटिल्य ने पड़ोसी जागीरदारों की स्वतन्त्र सत्ता का भी उल्लेख किया है।[9] पाँचवीं शती में सामन्त शब्द दक्षिण भारत में भूस्वामी का बोधक बन गया था।[10] पाँचवीं शती के अन्तिम भाग में दक्षिण तथा पश्चिमी भारत के दानपत्रों में सामन्त शब्द का प्रयोग जागीरदार (भूस्वामी) के अर्थ में हुआ है।[11] सामन्त, महासामन्त, अनुरक्तसामन्त, आप्तसामन्त,

---

१. महा २८।४२; हरिवंश ११।१६
२. पद्म १०२।१२६
३. वही २।८२
४. इलाहाबाद स्तम्भ लेख २३; उदयनारायण राय—वही, पृ० ६८१
५. यादव—वही, पृ० १३६
६. अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना, १९६७, पृ० २६५; कुमारपालप्रबन्ध पृ० ४२; इण्डियन ऐण्टीक्वरी ६, ६, १२
७. आर० एस० शर्मा—भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, १९७३, पृ० २
८ आर० एस० शर्मा—वही, पृ० २४-२५
९. अर्थशास्त्र १।६
१०. राजबली पाण्डेय—हिस्टोरिकल ऐण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्सन्स, नं० १९, १-३
११. लल्लनजी गोपाल—सामन्त : इट्स बैरिंग सिगनीफिकेन्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी, अप्रैल १९६३

प्रधानसामन्त, प्रतिसामन्त तथा करदीकृतमहासामन्त आदि शब्दों का प्रयोग कर बाण ने हर्षचरित में सामन्तों का वर्गीकरण किया है। ये सभी सामन्त अपने-अपने स्वामी के सम्बन्धों के कारण पृथक्-पृथक् थे।[1]

११. राजा के प्रमुख कर्मचारी : राज्य के सुव्यवस्थित संचालन के लिए राजा विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। राजा के आदेशों का कार्यान्वयन इन्हीं कर्मचारियों के माध्यम से होता था। महा पुराण का कथन है कि राजा अपने कर्मचारियों को समुचित सत्कारों द्वारा संतुष्ट रखता था, जिसके कारण वे उस पर अनुरक्त रहते थे और वे कभी भी उस राजा का परित्याग नहीं करते थे।[2] राजा के प्रमुख कर्मचारियों का वर्णन अधोलिखित है :

(i) **पुरोहित :** जैन पुराणों के अनुसार राज्य में पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[3] राज्य के रक्षार्थ पुरोहित की नियुक्ति अनिवार्य थी। महा पुराण के अनुसार पुरोहित राजा को राज्य की भलाई के लिए परामर्श देता था और अनिष्ट कार्य के विचारणार्थ योग-क्षेम कराता था।[4] पद्म पुराण में राजा के पुरोहित का रानी के साथ जुआ खेलने का उल्लेख भी मिलता है।[5]

जैनेतर साहित्य से पुरोहित विषयक विस्तारशः जानकारी उपलब्ध होती है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि युद्ध स्थल पर मंत्र, योग तथा पूजा आदि द्वारा विजय प्राप्ति के लिए राजा के साथ पुरोहित भी जाया करते थे।[6] ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित है कि यदि राजा दीर्घकाल तक यज्ञादि अनुष्ठान में व्यस्त रहता था, तो उस समय पुरोहित ही राज-कार्य संचालित करता था।[7] पुरोहित की योग्यता के विषय में उल्लिखित है कि उसको मंत्र तथा अनुष्ठान में सम्पन्न, वेद त्रयी का ज्ञाता, कर्म तत्पर, जितेन्द्रिय,

---

१. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, परिशिष्ट १

२. कृतापदानं तथोन्यैः सत्कारैः प्रीणयन् प्रभुः।
न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैः अनुजीविभिरन्वहम्॥ महा ४२।१६०

३. महा ३७।१७५; पद्म ४१।११५
स्थानांगसूत्र (७।५५८) में रत्नों में पुरोहित को सेनापति, गृहपति, वर्धकी, स्त्री, अश्व और हस्ति में गणना की गयी है।

४. महा ५।७; तुलनीय—विपाकसूत्र ५, पृ० ३।३

५. पद्म ५।४०

६. ऋग्वेद २।३।३

७. आपस्तम्बधर्मसूत्र २०।२।१२, ३।१।१३; बौधायनधर्मसूत्र १५।४

जितक्रोध, लोभ, मोह एवं मद से रहित, वेद के षड्अंगों का ज्ञाता, धनुर्विद्या में पारंगत तथा धर्म का ज्ञाता, स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र नीति का मर्मज्ञ होना चाहिए।[1] मानसोल्लास में राजपुरोहित को त्रयी विद्या, दण्डनीति, शक्तिकर्म आदि गुणों का ज्ञाता वर्णित है।[2] डॉ० अल्तेकर का मत है कि वह राजधर्म और नीति का संरक्षक होता था। उसके अधीन धर्मार्थ विभाग होता था। इस विभाग के अधिकारी को मौर्य काल में धर्म-महामात्य, सातवाहन युग में 'श्रवण-महामात्र', गुप्त काल में 'विनय-स्थिति स्थापक' और राष्ट्रकूल युग में 'धर्माकुश' वर्णित किया है।[3]

(ii) **अमात्य** : जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राज्य में अमात्य का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था। मंत्री[4] तथा सचिव[5] शब्द भी अमात्य के लिए व्यवहृत हैं। डॉ० आर० जी० बसाक के मतानुसार अमात्य शब्द का तात्पर्य 'सहायक' या 'साथी' से है, परन्तु मंत्री का अर्थ 'मंत्र' (गुप्त अथवा राजनैतिक परामर्श) से है।[6] अमात्य (मंत्री) को राज-राष्ट्रभृत की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है अर्थात् वह राजा और राष्ट्र दोनों का उत्तरदायित्व वहन करता है। समराइच्चकहा में अमात्यार्थ मंत्री, महामंत्री, अमात्य, प्रधानामात्य, सचिव तथा प्रधान सचिव शब्द व्यवहृत हैं।[7] जैनेतर साहित्य में भी अमात्य के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[8] मनु ने सचिव और अमात्य को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।[9]

जैन पुराणों में अमात्य की योग्यता का उल्लेख करते हुए वर्णित है कि उसे निर्भीक, स्वक्रिया तथा परक्रिया का ज्ञाता, महाबलवान्, सर्वज्ञ एवं मन्त्रकोविद

---

१. आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।१०; गौतम ११।१२-१४; अर्थशास्त्र १।६; शुक्रनीति २।७७-८०; कामन्दक ४।३२

२. मानसोल्लास २।२।६०

३. अल्तेकर—वही, पृ० १५२

४. पद्म ८।१६; हरिवंश १४।६६; महा ५।७

५. वही ११३।४

६. आर० जी० बसाक—मिनिस्टर्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग १, पृ० ५२३-५२४

७. भिनकू यादव—समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९७७ पृ० ६०

८. आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१०।२५।१०; अर्थशास्त्र १।१५; महाभारत १२।८५।७-८

९. मनु ७।५४, ७।६०

(मंत्रणा में निपुण) आदि गुणों से संयुक्त होना चाहिए।[1] प्राचीन आचार्यों ने भी अमात्य के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि उसे ललित कलाविद्, अर्थशास्त्री, अन्वय-प्राप्त शूरवीर, निर्लोभी, संतोषी, सन्धिविग्रहकोविद, चतुर, वाक्-पटु, उत्साही, प्रभावशाली, प्रतिभावान्, मृदुभाषी, धीर, दक्ष, स्मृतिवान्, मेधावी, स्वर-युक्त, धर्मशास्त्र-वेत्ता, सहिष्णु, स्नेही, पवित्र, स्वाभिमानी, स्वामिभक्त, सुशील, स्वस्थ, समर्थ, दूरदर्शी, प्रियदर्शी, प्रत्युत्पन्नमति, प्रामाणिक, सत्यवादी, ईमानदार, स्मृति एवं धारणा आदि गुणों से विभूषित होना चाहिए।[2] शुक्राचार्य के मतानुसार यदि राज्य, प्रजा, बल एवं कोश, सुशासन का सम्वर्धन न हो और मंत्रियों की नीति एवं मंत्रणा से शत्रु का विनाश न हो तो ऐसे मंत्रियों को नहीं रखना चाहिए।[3] कौटिल्य के विचारानुसार जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के राजा स्वतः राज्य का संचालन नहीं कर सकता।[4] महाभारत में वर्णित है कि राजा अपने मंत्रियों पर उसी प्रकार निर्भर रहता है, जिस प्रकार प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेद पर और स्त्री अपने पति पर निर्भर रहती है।[5] मनु ने राजकार्य हेतु मंत्रियों की उपस्थिति को अनिवार्य माना है।[6]

(iii) सेनापति : सेनापति का पद महत्त्वपूर्ण होता था। राजा के विश्वासपात्र व्यक्ति अथवा राजकुमारों में से सेनापति का चयन किया जाता था। देश की रक्षा तथा युद्ध में विजय का उत्तरदायित्व उस पर होता था। महा पुराण के अनुसार सेना को सुसंगठित कर विजय प्राप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य होता था। विजय प्राप्ति से उसका यशवर्धन होता था।[7] प्राचीन ग्रन्थों में उसके गुणों का वर्णन करते हुए उल्लिखित है कि सेनापति को कुलीन, शीलवान, धैर्यवान, अनेक भाषाओं का ज्ञाता, गजाश्व की सवारी में दक्ष, शस्त्रास्त्र शास्त्र का ज्ञाता, शकुनविद,

---

१. पद्म ८।१६-१७, १५।२६-३१, ६३।३, १०३।६; महा ४।१६०

२. व्यवहारभाष्य १ पृ० १३१; ज्ञाताधर्मकथा १ पृ० ३; अर्थशास्त्र १।८-६; महाभारत शान्तिपर्व ११८।७-१४; याज्ञवल्क्य १।३१२; विष्णु ३।१७; नीतिसार ४।२४-३०; शुक्र २।५२-६४; मानसोल्लास २।२।५२-५६

३. राज्यं प्रजा बलं कोशः सुनुपत्वं न वर्द्धितम् ।
यन्मंत्रतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥ शुक्र २।८३

४. अर्थशास्त्र १।३

५. महाभारत शान्तिपर्व ५।३७-३८

६. मनु ८।५३

७. महा ३७।१७४

प्रारम्भिक चिकित्सा का ज्ञाता, वाहन विशेषज्ञ, दानी, मृदुभाषी, दान्त, बुद्धिमान्, दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर आदि गुणों से आभूषित होना चाहिए।[1]

(iv) श्रेष्ठि : महा पुराण के अनुसार श्रेष्ठि की नियुक्ति कोशाध्यक्ष पद के लिए की जाती थी। वह अमात्य, सेनापति, पुरोहित सहित राजा के साथ रहता था।[2] महा पुराण में कोशागार के लिए 'श्रीगृह' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

(v) धर्माधिकारी : महा पुराण में धर्माधिकारी ही न्याय-व्यवस्था का राजा के बाद सर्वोच्च अधिकारी होता था।[4] उक्त पुराण में ही इसके लिए 'अधिकृत'[5] और हरिवंश पुराण में 'दण्डधर'[6] शब्द का उल्लेख आया है। देश में निष्पक्ष तथा सुलभ न्याय की व्यवस्था का उत्तरदायित्व धर्माधिकारी पर ही था। जैनेतर ग्रन्थ गरुड़ पुराण में उल्लिखित है कि धर्माधिकारी को सम्पूर्ण स्मृतियों का ज्ञाता, पण्डित, संयमी, शौर्य तथा वीर्यवान् होना चाहिए।[7]

(vi) लेखक : पद्म पुराण के अनुसार लेखक सन्धिविग्रह तथा सब लिपियों का मर्मज्ञ होता था।[8] गरुड़ पुराण में उल्लिखित है कि लेखक को बुद्धिमान्, कुशल-वक्ता, प्राज्ञ, सत्यवादी, संयमी, सभी शास्त्रों का पारंगत और सज्जन होना चाहिए।[9]

(vii) लेखवाह (पत्रवाहक) : पद्म पुराण में पत्रवाहक के लिए लेखवाह शब्द प्रयुक्त हुआ है।[10] हर्षचरित[11] और राजतरंगिणी[12] में लेखवाह को लेखहारक वर्णित है।

---

१. अर्थशास्त्र २।३३; महाभारत शान्तिपर्व ८५।११-३२; मत्स्य पुराण २।५।८-१०; कामन्दक २८।२७-४४; मानसोल्लास २।२।१०-१२
२. महा ५।७
३. वही ३७।८५
४. वही ५।७
५. वही ५६।१५४
६. हरिवंश १६।२५५
७. गरुड़ पुराण १।११२।६
८. पद्म ३७।३-४; तुलनीय—महाभारत सभापर्व ५।६२
९. मेधावी वाक्यपटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
सर्वशास्त्र समालोकी ह्येषसाधुः स लेखकः॥ गरुड़ पुराण १।११२।७
१०. पद्म ३७।२
११. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १८०
१२. राजतरंगिणी ६।३१६

राजा लेखवाह की नियुक्ति पत्र ले जाने और ले आने के लिए करते थे। वह लेख (पत्र) को अपने मस्तक पर ले जाता था। इसी लिए हर्षचरित में इन्हें 'मस्तक लेखक' संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[1]

(viii) **नगर-रक्षक** : महा पुराण में नगर-रक्षक को ही पुर-रक्षक कहा गया है। वह सुरक्षा-व्यवस्था का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त दण्डित व्यक्ति को श्मशान-भूमि में फांसी देने का कार्य भी सम्पन्न करता था।[2]

(ix) **गुप्तचर** : गुप्तचर विषयक ज्ञान प्राचीन ग्रन्थों से उपलब्ध होता है। महाभारत में गुप्तचरों के लिए चार, प्रणिधि तथा गूढ़चर शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[3] कौटिल्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति के लिए नियम बनाये थे।[4] गुप्तचरों की आधार-पीठिका पर ही साम्राज्य में सुख-शान्ति स्थापित होती है। महा पुराण में गुप्तचरों को राजा का नेत्र[5] और पद्म पुराण में अन्तरंग[6] कहा गया है। जिस प्रकार नेत्र केवल मुखमण्डल की शोभा है तथा सांसारिक पदार्थों को देखते हैं, उसी प्रकार गुप्तचर रहस्यपूर्ण बातों को ज्ञातकर शासन को सुदृढ़ करते हैं।[7] महा पुराण में उल्लिखित है कि मंत्रीगण गुप्तचरों के माध्यम से सभी प्रकार की सूचनाएँ उपलब्ध कर उसी के अनुरूप राजा को मंत्रणा देते हैं, जिससे राज्य की सुदृढ़ता एवं सुरक्षा स्थापित रहे।[8] हरिवंश पुराण में वर्णित है कि गुप्तचरी द्वारा अवांछनीय तत्त्व, जिसके षड्यन्त्रों से राज्य एवं समाज को क्षति पहुँचने की सम्भावना होती थी, उन्हें दण्डित कर कारागार में बन्द कर दिया जाता था।[9] महा पुराण में स्पष्टतः उल्लिखित है कि गुप्तचरों द्वारा राज्य में भविष्य में घटित होने वाले अहितकर समाचारों को सुनकर राजा

---

१. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० २१७
२. महा ६७।१००
३. प्रेमकुमारी दीक्षित—वही, पृ० २४०; व्यवहारभाष्य १, पृ० १३०; अर्थशास्त्र १।११-१४; कामन्दक १२।२५-२६; शुक्र १।३३४-३३६
४. अर्थशास्त्र १।११
५. महा ४।१७०
६. पद्म ३७।२६
७. चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत्कार्यदर्शने।
चक्षुषी पुनरस्यास्य मण्डने दृश्यदर्शने॥ महा ४।१७०
८. महा ६२।१२१; तुलनीय—'चारचक्षुर्महीयते'। कामन्दक १२।१८
९. हरिवंश १९।३३

अत्यधिक क्रोधित हो जाया करते थे।[1] इसी पुराण में ही राजाओं के पास बहुसंख्या में गुप्तचरों के होने का उल्लेख है।[2] जैन पुराणों में उल्लिखित है कि कार्य-सिद्धि पर उन्हें पुरस्कार, विशिष्ट शौर्य प्रदर्शन सम्बन्धी आयोजन द्वारा पुरष्कृत करने तथा दान आदि देने की व्यवस्था थी।[3] गुप्तचरों का कार्य सरल नहीं होता था। वे सदैव काल के गाल में रहते हैं। पाण्डव पुराण में वर्णित है कि कभी-कभी गुण्डों द्वारा गुप्तचरों की हत्या भी करा दी जाती थी।[4] डॉ० अल्तेकर का मत है कि सेना के गुप्तचर पृथक् होते थे।[5]

(x) दूत : ऋग्वेद में दूत शब्द का उल्लेख उपलब्ध है।[6] एक राज्य जिस व्यक्ति के माध्यम से दूसरे राज्य को राजनीतिक सन्देश भेजता है; उस व्यक्ति को दूत कहते हैं। जैन पुराणों में दूत के कार्य के विषय में वर्णित है कि राजा अपने विरोधी राज्य में दूत भेजते थे तथा वहाँ पहुँच कर नीति विषयक बात करते थे।[7] दूत की योग्यता के विषय में उल्लिखित है कि उसे सन्धिविग्रह का ज्ञाता, शूरवीर, निर्लोभी, धर्म एवं अर्थ का ज्ञाता, प्राज्ञ, प्रगल्भ, वाक्पटु, तितिक्षु, द्विज, स्थविर तथा मनोहर आकृति का होना चाहिए।[8] पद्म पुराण में उल्लिखित है कि दूत अन्य देश के राजा से वार्ता में अपने स्वामी के कथन के अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं कहता था।[9] महा पुराण के अनुसार वह राजा का पत्र मंजूषा (पिटारा) में ले जाता था।[10] महा पुराण में ही मुहर तोड़कर पत्र पढ़ने का उल्लेख उपलब्ध है।[11] पद्म पुराण में दूत को मारना नीति विरुद्ध बताया गया है, किन्तु उसको अत्यन्त कष्ट देने के भी अनेक दृष्टान्त

---

१. चरोपनीततद्वार्ताज्वलनज्वलिताशयः। महा ७४।१५६
२. महा ४५।४१
३. हरिवंश ३३।३-५; पाण्डव १८।८-६
४. पाण्डव १२।११८
५. अल्तेकर—वही, पृ० १४६
६. ऋग्वेद १।१२।१, ८।४४।३
७. महा ३५।६२, ६८।४०८; पद्म १६।५५-५६
८. धान्य कुमार राजेश—वही, पृ० ६
९. हृदयस्थाने नाथेन पिशाचेनेव चोदिताः।
दूता वाचि प्रवर्तन्ते यन्त्रदेहा इवावशः॥ पद्म ८।१८८
१०. महा ६८।२५१
११. वही ६८।३६६

उपलब्ध होते हैं।[1] जैनेतर साहित्य में भी उपर्युक्त तथ्य प्राप्य हैं।[2] महा पुराण में दूत के तीन प्रकार—निःसृष्टार्थ दूत, मितार्थ दूत एवं शासनहारिण दूत—वर्णित हैं[3] :

निःसृष्टार्थ दूत : उस दूत को कहते हैं जो दोनों पक्ष के अभिप्राय को ध्यान में रखकर स्वतः उत्तर-प्रत्युत्तर देता हुआ स्वकार्य सिद्ध करता है। इस प्रकार के दूत में अमात्य के सभी गुण विद्यमान रहते थे। इस कोटि के दूत की गणना उत्तम कोटि में होती थी।[4]

मितार्थ दूत : यह मध्यम श्रेणी का दूत होता था। इसमें अमात्य का तीन-चौथाई गुण होता था।

शासनहारिण दूत : इसे निम्न श्रेणी का दूत माना जाता था। इसमें अमात्य के अर्ध गुण ही वर्तमान रहते थे।

व्यक्तिगत जीवन में भी इसकी उपयोगिता थी। मुख्यतः इसका कार्य सन्देश-वाहक का होता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही दूत का कार्य करते थे। महा पुराण में इस प्रकार के पुरुष दूतों को कलह-प्रेमी[5] और स्त्री दूती को धात्री[6] की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।

(xi) आरक्षी : महा पुराण में पुलिस कोतवाल के लिए आरक्षिण[7] तथा तलवर[8] शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है। उस काल में असामाजिक तत्त्व ही चोरी किया करते थे। उनके अवरोधनार्थ एवं सज्जनों के रक्षार्थ पुलिस-व्यवस्था स्थापित

---

१. पद्म ६।६८, ३७।४७, ६६।५१-५६
२. रामायण ५।५२।१४-१५; महाभारत शान्तिपर्व ८६।२५-२६; अर्थशास्त्र १।१६
३. अत्रैकेषां निसृष्टार्थान् मितार्थानपरान् प्रति।
परेषां प्राभृतान्तः स्थपत्रान् शासनहारिणः॥ महा ४३।२०२
तुलनीय—याज्ञवल्क्य १।३२८; अर्थशास्त्र १।१६; नीतिसार १३।३
४. महा ४४।१३६ (टिप्पणी)
५. वही ५८।१०२
६. वही ६६।१६६
७. वही ४६।२६१; तुलनीय—महाभारत सभापर्व ५।६४-६५; समराइच्चकहा २, पृ० १५५-१५६
८. वही ४६।३०४

हुई। यदि अपराधी चोरी की सामग्री सहित पकड़ा जाता था तो आरक्षी उसे दण्डित करता था।[1]

गुप्त-युग में पुलिस विभाग के साधारण कर्मचारी को 'चाट' और 'भाट' की संज्ञा से सम्बोधित करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल तथा मृच्छकटिक में 'रक्षिन्' शब्द पहरेदार के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] गाँवों में रक्षकारों की नियुक्ति सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था करने के लिए होती थी।[3]

१२. **न्याय-व्यवस्था :** आलोचित जैन पुराणों के परिशीलन से उस समय की न्याय-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। जिसका विवरण अग्रलिखित है :

(i) न्याय : स्वरूप एवं प्रकार : आलोच्य जैन पुराणों के अनुशीलन से तात्कालिक न्याय-व्यवस्था का ज्ञान उपलब्ध होता है। पद्म पुराण में वर्णित है कि राजा स्वतः न्याय करता था। वह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। वह सूर्यास्त तक न्यायालय का कार्य करता था, तदुपरान्त वह अन्तःपुर में जाता था।[4] महा पुराण में उल्लिखित है कि धार्मिक राजा अधार्मिक (नास्तिक) लोगों को दण्ड देता था।[5] पद्म पुराण में 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग वादार्थ हुआ है।[6] जिस आसन पर राजा आसीन होकर अपना निर्णय सुनाता था, उसे 'धर्मासन' की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[7] राजा के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे, जिन्हें 'धर्माधिकारी' की संज्ञा प्रदान की गई है।[8] न्यायाधीशार्थ 'अधिकृत'[9] और 'दण्डवर'[10] शब्दों का प्रयोग मिलता है। जैनेतर साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साधनों से भी न्यायाधीश विषयक ज्ञान उपलब्ध होता है। संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' में न्यायाधीश को 'अधिकरणिक' वर्णित किया गया है। कौटिल्य ने 'पौर-व्यावहारिक' शब्द न्यायाधीशार्थ

---

१. महा ४६।२६३
२. उदय नारायण राय—वही, पृ० ३७३
३. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, लखनऊ, १६५६, पृ० २०७
४. पद्म १०६।१५०
५. अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः। महा ४०।२००
६. पद्म १०६।१५२
७. वही १०६।१४६
८. महा ५।७
९. वही ५६।१५४
१०. हरिवंश १६।२५५

व्यवहृत किया है। अशोक ने नगर-न्यायाधीश को 'अधिकरणिक' की संज्ञा प्रदान की है।[१]

(ii) महत्त्व एवं आदर्श : न्याय के महत्त्व पर जैन पुराणों से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। महा पुराण में न्याय को राजाओं का सनातन धर्म स्वीकार किया गया है।[२] यदि राजा का दाहिना हाथ भी दुष्ट हो जाय अर्थात् दुष्कर्म करे तो उसे भी काट कर शरीर से पृथक् कर देने के लिए उसे तत्पर रहना चाहिए, ऐसी व्यवस्था का निरूपण महा पुराण में उपलब्ध है।[३] इससे राजा की न्यायप्रियता प्रतिपादित होती है। उक्त पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि राजा को स्नेह, मोह, आसक्ति और भय आदि के कारण नीतिमार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[४] इसके अतिरिक्त न्यायावलम्बी व्यक्ति को न्याय-मार्ग में बाधक स्नेह का परित्याग करना चाहिए।[५] पुत्र से अधिक न्याय की महत्ता पर महा पुराण में बल दिया गया है।[६] इसी पुराण में यह भी व्यवस्था निर्धारित है कि राजा को प्रजा-पालन में पूर्ण रूपेण न्यायोचित रीति का अनुकरण करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार पालित प्रजा कामधेनु के समान उसके मनोरथों को पूर्ण करती है।[७]

(iii) न्याय के प्रकार : महा पुराण में न्याय के दो प्रकारों का उल्लेख प्राप्य है : दुष्टों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन।[८] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त कार्यों के सिद्धार्थ ही न्याय का उपयोग है।

(iv) शपथ : आलोचित महा पुराण से शपथ पर भी प्रकाश पड़ता है। गवाही (साक्षी) देते समय राजा के समक्ष धर्माधिकारी (न्यायाधीश) द्वारा कथित

---

१. उदय नारायण राय—वही, पृ० ३७८
२. सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः। महा ३८।२५६
३. दुष्टो दक्षिणहस्तोऽपि न्याये स्वस्य छेद्यो महीभुजा। महा ६७।१११
४. महा १७।११०; तुलनीय—व्यवहारभाष्य १, भाग ३, पृ० १३२
५. न्यायानुवर्तिना युक्तं न हि स्नेहानुवर्तनम्। महा ६७।१००; तुलनीय—मृच्छकटिक ९, पृ० २५६
६. हित्वा ज्येष्ठं तुजं लोकम् अकरोन्न्यायमौरसम्। महा ४५।६७
७. त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ।
प्रजा कामदुघा धेनुः मता न्यायेन योजिता। महा ३८।२६९
८. न्यायश्च द्वितीयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम्। महा ३८।२५९

शपथ को ग्रहण करनी पड़ती थी।[1] यह प्रथा आज भी न्यायालयों में प्रचलित है। प्रसिद्ध संस्कृत नाटक मृच्छकटिक में चार प्रकार की दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख उपलब्ध है : विष-परीक्षा, जल-परीक्षा, तुला-परीक्षा और अग्नि-परीक्षा।[2]

(v) अपराध एवं दण्ड : प्राचीन राजनीतिज्ञों ने राजसत्ता के अन्तिम आधार को दण्ड या बल प्रयोग विहित किया है। मनु के मतानुसार यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड न दे तो 'मात्स्य-न्याय' का बोलबाला हो जायेगा। दण्ड के भय से ही लोग न्याय का अनुसरण करते हैं। जब सब लोग सोते हैं तो उस समय दण्ड उनकी रक्षा करता है।[3] मनु ने दण्डदायक व्यक्ति को राजा नहीं स्वीकार किया है, प्रत्युत् दण्ड को ही शासक स्वीकृत किया है।[4] कौटिल्य ने दण्डनीति के चार प्रमुख उद्देश्य निरूपित किये हैं — (१) अलब्ध की प्राप्ति, (२) लब्ध का परिरक्षण, (३) रक्षित का विवर्धन, (४) विवर्धित का सुपात्रों में विभाजन।[5] दण्ड के विषय में इसी प्रकार का विचार अन्य जैनेतर आचार्यों ने भी व्यक्त किया है।[6] प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्डों की व्यवस्था का निर्धारण किया है। दण्ड का प्रयोग सीमित होना चाहिए। दण्ड न तो अत्यधिक कठोर होना चाहिए और न अत्यधिक नम्र। अपराध के अनुकूल ही दण्ड भी होना चाहिए।[7] मनु के कथनानुसार देश, काल, शक्ति एवं विद्या को ध्यान में रखकर दण्ड का निर्धारण करना चाहिए।[8] माता-पिता, भाई-बन्धु, पत्नी एवं पुरोहित आदि को एक सदृश अपराध के लिए दण्ड भी एक समान देने की व्यवस्था निर्धारित थी।[9] वस्तुतः

---

१. समक्षं भूपतेरात्म शुद्धयर्थं शपथं च सः।
धर्माधिकृतनिर्दिष्टं चकाराचारदूरगः॥ महा ५६।१५४; तुलनीय--मनु ८।११३

२. उदय नारायण राय—वही, पृ० ३८०

३. दण्डः शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड स्वाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु ८।१४

४. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शास्ता च सः। मनु ७।७

५. काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग ३, पृ० ६

६. महाभारत शान्तिपर्व १०२।५७; याज्ञवल्क्य १।३१७; नीतिसार १।१८

७. अर्थशास्त्र १।४; कामन्दक २।३७

८. तं देश कालं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यदार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥ मनु ७।१६

९. माता-पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्डो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ महाभारत शान्तिपर्व १२१।६०

दण्ड का उद्देश्य विनाशात्मक एवं संहारकारक न होकर सुधारात्मक होता था।[1]

जैन आगमों में सात प्रकार की दण्डनीति वर्णित हैं।[2] आलोच्य जैन पुराणों में हा, मा, धिक्—तीन दण्डनीतियाँ मर्यादा के लिए विहित हैं।[3] जैन आगमों में चोरी को निन्दनीय निरूपित किया गया है और चोरी के अपराध में कठोर दण्ड की व्यवस्था का विधान विहित है।[4] महा पुराण में धनापहरण के आरोप में तीन प्रकार के दण्ड की व्यवस्था है : (१) अपराधी का सर्वसम्पत्तिहरण (२) अपराधी को शक्तिशाली पहलवान से तीन घूँसा लगवाना (३) अपराधी को कांसे के तीन थाल नया गोबर खिलाना।[5] इस ग्रन्थ में अन्यत्र वर्णित है कि अन्याय से अन्य के धन का हरण करना ही चोरी कहलाती है। चोरी दो प्रकार की होती है : (१) स्वभाव चोरी : सम्पन्नता के उपरान्त भी आदतवश की गई चोरी को स्वभाव चोरी कहते थे। (२) कषाय चोरी—व्यय की अधिकता से उत्पन्न धनाभाव की पूर्ति चोरी द्वारा की जाती है, उसे कषाय चोरी कहते थे। यह उल्लेखनीय है कि दोनों प्रकार की चोरी निन्दनीय थी। चोरी करने वाला व्यक्ति दुःख एवं पाप का भागी होता है।[6] महा पुराण में चोर को थप्पड़, लात, घूँसा आदि से मार कर दण्डित करते थे। कभी-कभी मारते-मारते चोर की मृत्यु भी हो जाया करती थी।[7] पद्म पुराण में सुरंग द्वारा चोरी का उल्लेख उपलब्ध है।[8] उक्त पुराण में चोरी के अपराध में मृत्यु दण्ड की व्यवस्था निरूपित है।[9] मृत्यु-दण्ड के अपराधी की जमानत हो जाती थी।[10] महा पुराण में उल्लेख आया है कि यदि ब्राह्मण चोरी करते हुए पकड़ा जाय तो उसे देश से निष्कासित कर देने का विधान था।[11] जैनेतर साहित्य में भी इस अपरा-

---

१. उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः।
विशुद्धयेदात्मशुद्धयर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः॥ महाभारत शान्तिपर्व ३।१७
२. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ४२
३. मर्यादारक्षणोपाय हामाधिक्कारनीतयः। हरिवंश ७।१७६; महा १६।२५०
४. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ८१-८२
५. महा ५९।१७५-१७६
६. वही ५९।१७८-१८७
७. वही ८।२२६
८. पद्म ५।१०३
९. वही ३४।७९
१०. वही ३४।८०
११. महा ७०।१५५

धार्य कठोर दण्ड का विधान निर्धारित था।[1] जैन आगमों में परस्त्रीगमन के अपराध में भी कठोर दण्ड देने की व्यवस्था थी।[2] आलोचित पद्म पुराण में वर्णित है कि परस्त्री का स्पर्श, उससे वार्तालाप एवं उसके साथ सम्भोग के अपराध में अत्यन्त कठोर दण्ड देने का विधान था। कभी-कभी इस प्रकार के अपराधी को देश-निष्कासन का दण्ड प्रदान किया जाता था।[3] महा पुराण के वर्णनानुसार कन्यापहरण के अपराध में राजा अपने पुत्र को भी श्मशान में मृत्यु-दण्ड देता था।[4] उक्त पुराण में मौसी की पुत्री से मैथुन के अपराध में अंग विच्छेदन का विधान विहित है।[5] जैनेतर ग्रन्थों के अनुसार माता, मौसी, चाची, बहिन, मित्र या शिष्य की स्त्री, बेटी, पुत्र-बधू, गुरु-स्त्री, शरणार्थी-स्त्री, रानी, संन्यासिनी, दाई (शिशुपालिनी) या किसी भी पतिव्रता नारी या किसी उच्चवर्ग की नारी के साथ बलात्कार करने पर उसका लिंग काट लिया जाता था।[6]

आलोचित जैन पुराणों में विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड का विधान निर्धारित है। महा पुराण में उल्लेख आया है कि मन्दिर का मुर्गा यदि किसी का अनाज खाता था और अनाज के स्वामी द्वारा उसका वध कर दिया जाता था तो वह व्यक्ति दण्ड का भागी होता था। यदि कोई व्यक्ति हार आदि चुराकर वेश्या को प्रदान करता था तो उसे मृत्यु दण्ड प्रदान करने का विधान था। यदि पुत्र पिता की हत्या करता था तो उसे इस अपराध में देश निष्कासन का दण्ड प्रदान किया जाता था। जुए में हारे हुए धन के भुगतान की असमर्थता में ऐसे व्यक्ति को दुर्गन्धित धुएँ में बैठाते थे। भेड़ चोरी कर उसके मांस का भक्षण करने के अपराध में अपराधी को विष्ठा भक्षण कराते थे।[7] किसी व्यक्ति के धरोहर का सामान किसी के यहाँ रखा है और उसके माँगने पर वह सामान न देकर बेईमानी

---

१. ऋग्वेद ४।३८।५; महाभाष्य ५।१।६४-६६; याज्ञवल्क्य २।२६६-२६८; मनु ८।३२३, ६।२७६-२८०

२. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ८३

३. पद्म १०६।१५३-१५६

४. महा ६७।६६

५. वही ४६।२७६-२७७

६. नारद, स्त्रीपुंसयोग ७३-७५; वृद्ध-हारीत ७।२०१

७. वही ४६।२७२-२७५ [ऐसी सम्भावना है कि जैन मन्दिर में मुर्गा पालने की प्रथा रही हो और उस मुर्गे से प्राप्त आय मन्दिर के प्रयोग में लायी जाती होगी (महा पुराण के दृष्टान्त से)।

करता है तो ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति राजा को इसकी सूचना देता था। राज-कर्मचारी उसके घर की तलाशी लेते थे और सामान उपलब्ध होने पर उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण कर उसे गोबर-भक्षण कराते थे। मल्लों द्वारा चोर को घूसा मारा जाता था, जिससे उसकी मृत्यु भी हो जाया करती थी।[1] पद्म पुराण में राजदण्ड के अपराधी को तलवार से दो टुकड़े करने, मुगदरों के प्रहार से प्राण लेना, काष्ठ के सिकञ्जे में अत्यन्त तीक्ष्णधार वाली करोंत से धीरे-धीरे काटने से चिल्लवाने, अन्य शस्त्रों से चूर-चूर करने और पानी में विष मिलाकर पिलाने की व्यवस्था थी।[2] महा पुराण में अपराधी के अपराध प्रमाणित होने पर मृत्तिका एवं विष्ठाभक्षण, मल्लों द्वारा मुक्का मारने, सम्पूर्ण सम्पदा हरण की व्यवस्था थी।[3] पद्म पुराण में अपराधी के हाथ-पैर सांकलों में बाँधकर नंगी तलवार के पहरे (संरक्षण) में लाने का उल्लेख उपलब्ध है।[4] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि अपराधी को नगर में घुमाया जाता था, जहाँ पर जनता उसे धिक्कारती थी तथा उसके ऊपर धूल फेंकती थी।[5]

१३. राज्य के आय के स्रोत : देश की सुख एवं समृद्धि का मूलाधार वहाँ की आय होती है। यह आय कई स्रोतों से होती थी। जैन आगमों में अट्ठारह प्रकार के करों का उल्लेख उपलब्ध होता है।[6] महा.पुराण में वर्णित है कि राजा उसी प्रकार प्रजा से कर वसूल करे जिस प्रकार दुधारू गाय को बिना कष्ट दिये दूध प्राप्त करते हैं।[7] उक्त पुराण के ही परिशीलन से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकाल में ब्राह्मण कर देने से मुक्त थे, परन्तु महा पुराणकार ने ब्राह्मणों पर भी कर लगाने का विधान निरूपित किया था।[8] पद्म पुराण के वर्णनानुसार प्रजा की रक्षा के फलस्वरूप राजा को किसी न किसी रूप में उससे कर प्राप्त होता था। वनवासी ऋषि-मुनि की रक्षा के कारण राजा को उनकी तपस्या के फल का छठांश भाग मिलता था।[9] जैन

---

१. हरिवंश २७।२३-४१
२. पद्म ७२।७४-७६; तुलनीय—मनु ८।२४६; बृहस्पतिस्मृति १७।१६
३. महा ४६।२७२-२७५
४ पद्म १०।१५८
५. वही ५३।२१६-२२१, ७२।७३
६. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १११-११२
७. महा १६।२५४; तुलनीय—महाभारत शान्तिपर्व ३४।१७-१८; पराशरस्मृति १।६२; धम्मपद ४६
८. वही ४२।१८१-१६२
९. वही २७।२८

आगमों में प्रजा से दसांश भाग कर स्वरूप लेने का विधान था।[1] डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल के विचारानुसार यही कर राजा का वेतन होता था।[2]

भूमि से प्राप्त आय को बलि और अन्य प्रकार की आय (फल, जलाने की लकड़ी, फूल आदि) को भोग वर्णित किया गया है। ह्वेनसांग के यात्रा काल में नदी के घाट और सड़क की चुँगी बहुत निम्न थी।[3] राजस्व के रूप में प्राप्त आय का प्रधान स्रोत कृषि था। इसके अतिरिक्त धातुओं के निर्माण, उद्योग, पशुपालन, सुरा, वेश्या, नट, नर्तक, गायक, घाट, बाजार आदि पर कर वसूल किया जाता था। कालिदास ने आय के सात प्रधान साधनों का उल्लेख दिया है—(१) भू-कर, (२) सिंचाई, (३) मादक द्रव्य, (४) राजकीय एकाधिकार एवं अन्य कार्य-कलाप, (५) राजकर, (६) विजय, उपहार, भेंट और (७) राजकोश में आगत अनधिकृत सम्पत्ति।[4] हर्ष के काल में परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने के परिणामस्वरूप आय के साधनों में भी परिवर्तन-परिवर्धन हो गया था। उस समय भी आय के प्रमुख सात साधनों का वर्णन उपलब्ध है—(१) उद्रंग (भूमि शुल्क), (२) उपरिकर, (३) धान्य, (४) हिरण्य, (५) शारीरिक श्रम, (६) न्यायालय शुल्क और (७) अर्थदण्ड।[5] पूर्व मध्यकाल में राष्ट्रकूट, चालुक्य, प्रतिहार, परमार, चौहान, गहड़वाल आदि राजवंशी के राजाओं के लेखों और तत्कालीन साहित्यिक साधनों के अनुसार उस समय भाग, भोग, हिरण्य, उपरिकर आदि राज्य के आय के स्रोतों पर प्रकाश पड़ता है।[6]

प्राचीन आचार्यों ने आय के साधन और उनकी मात्रा का सुन्दर विवेचना किया है। साधारणतया उपज का छठा भाग राजा कर के रूप में प्रजा से ग्रहण करने का अधिकारी था।[7] किन्तु आपत्ति-काल में राजा को भारी कर लगाने के लिए प्रजा

---

१. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० ४२
२. जायसवाल—वही, पृ० १६५
३. बी० बी० मिश्र—वही; पृ० १४६-१५१
४. भगवत शरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग १, काशी, १६६३, पृ० २५१
५. कैलाश चन्द्र जैन—प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, भोपाल, १६७१, पृ० २६३
६. कैलाश चन्द्र जैन—वही, पृ० २६३-२६४
७. विष्णुधर्मसूत्र ३।२२-२३; गौतम १०।२४; मनु ७।१३०

से स्नेहपूर्वक याचना करने का उल्लेख उपलब्ध होता है ।[1] समय एवं परिस्थिति के अनुसार इनकी मात्रा कम और अधिक होती थी । राजा भूमि से प्राप्त अन्न में से १।६ या १।८ या १।१२ भाग का अधिकारी बताया गया है ।[2] राजा अपने देश में निर्मित सामानों पर १।१० भाग और आयातित सामानों पर १।२० भाग कर के रूप में ले सकता था ।[3]

१४. राज्य का व्यय : हमारे आलोचित जैन पुराणों के रचनाकाल के समकालीन अन्य साक्ष्यों से राज्य के व्यय पर समुचित प्रकाश पड़ता है । ह्वेनसांग के अनुसार हर्षवर्धन अपनी राजकीय आय को चार भागों में बाँटकर व्यय करता था—(१) प्रशासन एवं राज्य की प्रजा पर व्यय । (२) राज्य में समारोहों पर व्यय । (३) विद्वानों पर व्यय । (४) विभिन्न सम्प्रदायों को उपहार देने पर व्यय ।[4] मान-सोल्लास के अनुसार राज्य की आय का तीन-चौथाई भाग व्यय होना चाहिए और एक-चौथाई भाग की बचत होनी चाहिए । जबकि शुक्राचार्य ने राजकीय व्यय का विभाजन इस प्रकार किया है—५० प्रतिशत सेना एवं युद्ध, ८$\frac{1}{2}$ प्रतिशत दान, ८$\frac{1}{2}$ प्रतिशत जनहित, ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत प्रशासन, ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत निजीकोश और १६ $\frac{2}{3}$ प्रतिशत बचत ।[5] राजकीय आय को प्रायः चार मदों में व्यय किया जाता था—(१) कर्मचारियों का वेतन, (२) राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक कार्य, (३) शिक्षा और (४) दान । यहाँ पर समीक्षा का विषय है कि राज्य की आय को संचित कोश में रखते थे अथवा नहीं । इस विषय में प्रामाणिक विवरण का अभाव है । परन्तु मुसलमान लेखकों ने उल्लेख किया है कि हिन्दू राजा सिंहासन पर बैठते समय पूर्वजों द्वारा संचित कोश पाते थे । वे इसे संकट के समय व्यय करते थे । मुसलमान आक्रमण के समय भारी धनराशि लूटने का उल्लेख उपलब्ध है । इससे स्पष्ट होता है कि राजा संकट से बचने के लिए संचित कोश रखते होंगे ।[6]

---

१. अर्थशास्त्र ५।२; मनु १०।११८; शुक्र ४।२।६-१०
२. विष्णुधर्मसूत्र ३।२२; गौतम १०।२४; मनु ७।१३०; मानसोल्लास २।३।१६३
३. विष्णुधर्मसूत्र ३।२६-३०
४. बी० बी० मिश्र—वही, पृ० १६३
५. कैलाश चन्द्र जैन—वही, पृ० २६८-२६६
६. वासुदेव उपाध्याय—पूर्वमध्यकालीन भारत, प्रयाग, सं० २००६, पृ० ११५-११७

[ग] सैन्य-संगठन

अहिंसा प्रधान जैन धर्म ने सैन्य-वृत्ति को राज्य का एक आवश्यक अंग माना है। तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुकूल सैन्य-संगठन के अभाव में किसी भी राज्य का अस्तित्व विद्यमान नहीं रह सकता था। देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा हेतु सेना को रखना अनिवार्य था। इसी लिए जैनाचार्यों ने सैन्य-वृत्ति की महत्ता पर बल दिया है। आलोचित जैन पुराणों में इस बात पर बल दिया गया है कि राजा को एक शक्तिशाली, सुयोग्य एवं कुशल सेना रखनी चाहिए। जैनाचार्यों ने पारम्परिक परम्परा का निर्वाह किया है। सैन्य-वृत्ति की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए महा पुराण में वर्णित है कि जिस व्यक्ति की युद्ध में मृत्यु होती है, उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[1] आलोच्य जैन पुराणों में सेना विषयक वही सामग्री उपलब्ध होती है, जो इनकी रचना-काल के अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होती है। परन्तु यथास्थान उनका धार्मिक दृष्टिकोण अपना वैशिष्ट्य प्रतिष्ठापित करता हुआ परिलक्षित होता है। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि युद्ध में केवल नर-संहार होता है।[2] इसलिए युद्ध करना केवल अपरिहार्य परिस्थितियों में ही समुचित है। अपार नर-संहार के अवरोधनार्थ जैनाचार्यों ने धर्म-युद्ध की व्यवस्था की थी। महा पुराण में वर्णित है कि बाहुबली और भरत दोनों सहोदर भाईयों के मध्य जब युद्ध की विनाशाग्नि प्रज्वलित होने वाली थी, उसी समय दोनों पक्षों के मुख्य-मंत्रियों ने आपस में मंत्रणा कर यह निश्चिय किया कि जिस युद्ध का उद्देश्य शान्ति के स्थान पर मात्र आत्म-श्लाघा हेतु अपार जनसमूह का विनाश हो, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'धर्म-युद्ध' अर्थात् दृष्टियुद्ध, जल-युद्ध तथा मल्ल-युद्ध की व्यवस्था थी।[3] आलोचित जैन पुराणों में सैन्य-संगठन से सम्बन्धित निम्नलिखित ज्ञान प्राप्त होता है :

१. सेना और उसके अंग : देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा व्यवस्था के लिए जिन लोगों की नियुक्ति की जाती है उसे सेना कहा जा सकता है। आलोचित जैन पुराणों के प्रणयन काल के जैनेतर साहित्य शुक्रनीति में कथित है कि अस्त्रों तथा शस्त्रों से सुसज्जित मनुष्यों के समुदाय को सेना संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[4]

---

१. महा ४४।२३१
२. पद्म ६६।२४
३. महा ३६।३७-४०
४. शुक्र ४।८६४

आलोच्य पद्म पुराण[1] में संख्या के आधार पर सेना के चार अंग वर्णित हैं—हाथी, घोड़ा, रथ तथा पियादा (पैदल)। इनका वर्गीकरण निम्नवत् किया गया है :

[i] **पत्ती** : इसमें एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े तथा पाँच पैदल होते थे।

[ii] **सेना** : तीन पत्तियों से एक सेना का निर्माण होता था।

[iii] **सेनामुख** : इसका निर्माण तीन सेनाओं द्वारा होता था।

[iv] **गुल्म** : एक गुल्म के अन्तर्गत तीन सेनामुख होते थे।

[v] **वाहिनी** : तिगुल्मों द्वारा एक वाहिनी का निर्माण होता था।

[vi] **पृतना** : तीन वाहिनियों से एक पृतना का सृजन होता था।

[vii] **चमू** : इसका निर्माण तीन पृतनाओं द्वारा होता था, जिसे चमू संज्ञा से सम्बोधित करते थे।

[viii] **अनीकिनी** : तीन चमू की एक अनीकिनी और दस अनीकिनी की एक अक्षौहिणी सेना होती थी।

पद्म पुराण में ही वर्णित है कि एक अक्षौहिणी सेना में इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर रथ, उतने ही हाथी होते थे। उक्त संख्या से तीन गुना (६५,६१०) घोड़े और पाँच गुना (१,०९,३५०) पैदल होते थे।[2] हरिवंश पुराण में एक अक्षौहिणी सेना में इसके विपरीत संख्या उपलब्ध होती है। इसमें नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े तथा नौ सौ करोड़ पैदल सैनिक होते थे।[3] परन्तु इसी पुराण की टिप्पणी में एक अक्षौहिणी सेना में वही संख्या कथित है जो उपर्युक्त पद्म पुराण में उल्लिखित है।[4]

आलोचित जैन पुराणों में सेना में सम्मिलित होने वाले अंगों का भी उल्लेख है। जैन पुराणों में सेना के सप्तांग का वर्णन उपलब्ध होता है—हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, गान्धर्व, नर्तकी तथा बैल।[5] परन्तु कहीं पर सेना के षडाङ्ग का वर्णन उपलब्ध

---

१. पद्म ५६।३-९
२. वही ५६।१०-१३
३. हरिवंश ५०।७५-७६
४. वही, पृ० ५८८ की टिप्पणी
५. वही ८।१३३; महा १३।१६, ५२।४

होता है—हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, देवता तथा विद्याधर।[1] जैन पुराणों में चतुरंगिणी-सेना—हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल—का विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।[2] जैन पुराणों में विभिन्न प्रकार की सेनाओं का भी उल्लेख प्राप्य है, जो सामान्य सेना से पृथक् अपना महत्त्व रखती थीं : म्लेच्छ-सेना,[3] बन्दर सेना[4] आदि। सेना के प्रमुख अंगों का वर्णन निम्नांकित है :

[i] **हस्ति-सेना**[5] : हमारे देश में प्राचीन काल से ही हस्ति-सेना का प्राधान्य रहा है। हाथी के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख जैन पुराणों में हुआ है।

[ii] **अश्व-सेना**[6] : विदेशियों के प्रभाव के कारण भारत में अश्वसेना के प्रयोग का अत्यधिक प्रचलन हुआ। इनका सेना में महत्त्वपूर्ण स्थान था। अश्व युद्ध स्थल में विषम परिस्थितियों का सामना करने में निपुण होते थे। इनके प्रकारों एवं गुण-दोषों का वर्णन जैन पुराणों में हुआ है। काम्बोज, वाह्लीक, तैतिल, आरट्ठ, सौन्धव, वानायुज, गान्धार तथा वाण देशों के घोड़े उत्तम नस्ल के कथित हैं।[7]

[iii] **रथ-सेना**[8] : हमारे देश में प्राचीन काल से रथ-सेना के प्रयोग का प्रचलन है। जैन पुराणों में रथ के प्रकार, गुण-दोष, महत्त्व आदि की विवेचना प्राप्य है।

[iv] **पैदल-सेना**[9] : सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पैदल-सेना होती थी। विजयश्री की उपलब्धि में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। इसके निम्न भेद कथित हैं—मौल, भृत्य, मित्र, श्रेणी तथा आटविक।[10]

सेना के अन्य अंग भी युद्ध स्थल में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे।

---

१. महा ६।११३, ५८।११०
२. हरिवंश २।७१, ११।२; महा ६२।१३८; पद्म ४।६८
३. पद्म २८।१२८
४. महा ६८।५१५
५. वही ४४।२०४
६. वही ३१।३, ४४।७६
७. वही ३०।१०७
८. वही २६।७७, ३७।१६०
९. वही २७।११०, ३०।३
१०. मानसोल्लास २।६।५५६

महा पुराण में वर्णित है कि देवता एवं विद्याधर भी युद्ध में भाग लेते थे।[1] यहाँ पर यह सुझाव रखा जा सकता है कि देव और विद्याधर समीपस्थ राजा रहे होंगे, जो युद्ध काल में अपने मित्र राजा की सहायता करते थे। महा पुराण के वर्णनानुसार सेना में गान्धर्व भी होते थे।[2] ये सैनिकों का मनोरंजन एवं गाना आदि सुनाया करते थे, जिससे उनकी स्फूर्ति एवं उत्साह का वर्द्धन होता था। महा पुराण में वर्णित है कि सेना के साथ युद्ध-स्थल में स्त्रियाँ, वारांगनायें तथा बच्चे भी जाया करते थे।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि सेना के साथ स्त्रियों एवं बच्चों के जाने से सैनिकों को घर की याद एवं चिन्ता नहीं रहती थी, अतः वे उत्साह के साथ युद्ध करते थे। वारांगनाओं का युद्ध-स्थल में जाने का कारण यह था कि सैनिकों के स्त्री-बच्चे न होने से उनके मनोरंजन का साधन यही किया करती थीं। महा पुराण में ही वर्णित है कि सेना की रसद आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सेना के पीछे 'पाणि-सेना'[4] होती थी। इसे 'रसद-सेना' की अविधा प्रदान किया जा सकता है।

२. **युद्ध के कारण :** जैन पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय युद्ध के मुख्यतया तीन कारण थे—नारी, साम्राज्य-विस्तार तथा आत्म-सम्मान।[5] इस कथन की पुष्टि आलोचित पुराणों के रचना काल के अन्य साक्ष्यों से भी होता है। सामान्यतया उक्त समस्याओं का समाधान पारस्परिक वार्तालाप के माध्यम से किया जाता था, परन्तु समाधान न होने पर युद्ध होना अपरिहार्य हो जाता था।

३. **सैनिक-अभियान एवं युद्ध :** राजा उत्तम ढंग से आयोजन कर युद्ध-अभियान के लिए प्रस्थान करता था। वह युद्ध स्थल के समस्त उपयोगी एवं अनिवार्य साधनों से सुसज्जित होकर चलता था। सेना के स्कन्धावार रास्ते में वहाँ लगाये जाते थे, जहाँ पर घास योग्य भूमि होती थी।[6] आगे कथित है कि सेना की छावनी इस प्रकार निर्मित की जाती थी कि घोर वर्षा के उपरान्त भी एक बूंद पानी अन्दर नहीं जा सकता था।[7] सेना का अभियान सेनानायक[8] करता था। दोनों पक्षों

१. महा ५८।११०
२. वही ५२।४
३. वही ८।१५६
४. वही १२।२३
५. वही २६।३०, ३५।१०७-११०
६. वही ४५।१०७
७. वही ३२।६०
८. वही ६८।५८३

की सेनाएँ युद्ध-स्थल पर मिलती थीं। युद्ध के नियमानुसार ही उनमें युद्ध होता था।

युद्ध आरम्भ होने के पूर्व नगाड़े बजाये जाते थे।[1] तदनन्तर मारू-बाजे बजाये जाते थे।[2] विजयी राजा शंखवादन करता था।[3] विजेता राजा का एक हजार आठ स्वर्ण कलशों से अभिषेक किया जाता था।[4] आलोचित पुराणों में विभिन्न प्रकार के युद्धों का वर्णन उपलब्ध होता है। इनके भेद निम्नवत् हैं : धर्मयुद्ध[5], दृष्टियुद्ध[6], जलयुद्ध[7], मेषयुद्ध[8], मायायुद्ध[9], मल्लयुद्ध[10], गरुड़व्यूह[11], चक्रव्यूह[12], कपटयुद्ध[13], गतियुद्ध[14], बाहुयुद्ध[15]।

युद्ध में प्रत्येक पक्ष एक दूसरे के विनाश करने का प्रयास पूर्ण रूपेण करता है। जैन पुराणों में युद्ध का भव्य वर्णन प्राप्य है।[16] योद्धागण युद्ध में अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए मृत्यु का वरण करने के लिए तत्पर रहते थे, किन्तु उन्हें पराजय स्वीकार नहीं था।[17] सैनिक-वृत्ति का समाज में सम्माननीय स्थान था।

---

१. महा ६८।५४६
२. वही ६८।५६८
३. वही ६८।६३१
४. वही ६८।६४४
५. हरिवंश ११।८०
६. वही ११।८१; महा ३६।४५; पद्म ४।७३
७. वही ११।८३; वही ३६।४५; वही ४।७३
८. वही ४७।१०६
९. महा ६८।६१७
१०. हरिवंश ११।८४, २४।७; महा ७०।४७४, ३६।५८
११. वही ५०।१३३
१२. वही ५०।१३३
१३. महा ४४।१३८
१४. हरिवंश ३४।३१; महा ४६।१५७
१५. पद्म ४।७३
१६. हरिवंश ५३।१४; महा ६८।५४०-६४४; पद्म ७।६७-७४
१७. पद्म ५७।८

४. युद्ध का नियम : नियमानुसार सभी कार्य सम्पन्न होते हैं, अतः युद्ध के नियम भी निर्धारित थे। जैन पुराणों के रचना-काल में युद्ध दिन में हुआ करते थे। परन्तु यदा-कदा रात्रि में भी शत्रु का आक्रमण हो जाता था। यह अत्यधिक ह्रेय माना गया था। इसी लिए 'रात्रि-युद्ध' का निषेध किया गया था।[१] हरिवंश पुराण में निन्द्रित एवं विघ्नबाधाओं से पीड़ित व्यक्ति, स्त्री तथा बच्चों के मारने का निषेध किया गया है।[२] आगे यह भी कथित है कि एकाकी व्यक्ति पर सामूहिक आक्रमण 'अन्याययुद्ध' के अन्तर्गत परिगणित है।[३] युद्धमें पराजित राजा विजेता राजा को आभूषण, रत्न, कन्या, हाथी, घोड़े आदि उपहार में प्रदान करते थे।[४] उस समय ऐसी व्यवस्था थी कि युद्ध में मृत सैनिक के दाह-संस्कार का व्यय राजकीय कोश से किया जाता था।[५] सामान्यतया युद्ध के नियमों का सभी पालन करते थे। योद्धागण अपने हथियारों की पूजा करने के बाद ही शयन करते थे।[६] पद्म पुराण में युद्ध का भव्य वर्णन उपलब्ध है।[७] यदि युद्ध में स्त्रियाँ शत्रु द्वारा पकड़ी जाती थीं तो उन्हें मुक्त कर दिया जाता था।[८]

५. सेना के शस्त्रास्त्र : जैन महा पुराण के परिशीलन से ज्ञात होता है कि महाराज भरत को एक 'दण्डरत्न' तथा एक 'चक्ररत्न' प्राप्त हुआ था।[९] यहाँ पर यह कह सकते हैं कि महाराज भरत को उक्त दिव्यास्त्र भगवान् के आशीर्वाद से उपलब्ध हुए थे। इन अस्त्रों में 'दण्डरत्न' सेना के आगे-आगे और 'चक्ररत्न' सेना के पीछे-पीछे चलता था। जैन पुराणों के प्रणयन काल में राजनीतिक अस्थिरता तथा अव्यवस्था व्याप्त थी। सैनिक-वृत्ति की प्रधानता होती जा रही थी। सेना के मार्ग प्रशस्त करने तथा दण्ड देने के लिए 'दण्डरत्न' था। सम्भवतः यह आधुनिक टैंक की भाँति का कोई विशेष अस्त्र था। इसी प्रकार 'चक्र' को आधुनिक बमवर्षक वायुयान कहा जा सकता है। इस ओर अनुसंधान एवं अध्ययन की विशेष आवश्यकता है।

---

१. पद्म ८६।५६, १०।५३; हरिवंश ६२।१८; महा ४४।२७२
२ हरिवंश ६२।१८
३. वही ५३।१४
४. महा ६८।६४६-६६०
५. वही ४४।३५१
६. वही ३२।८५-८६
७. पद्म १२।२६०-३४५
८. वही १६।८४-८७
९. वही २६।७

आलोच्य जैन पुराणों के अध्ययन से अधोलिखित शस्त्रास्त्र पर प्रकाश पड़ता है : अंहिय,[1] अश्वग्रीव,[2] अन्तरीक्ष अस्त्र,[3] अर्द्धचन्द्रबाण,[4] असि,[5] अपराजित हलायुध,[6] अमोघतीक्ष्ण बाण,[7] अमोघमुखी शक्ति,[8] अमोघबाण,[9] अग्निबाण,[10] असिधेनुका,[11] अमोघमूलाशक्ति,[12] आग्नेय अस्त्र,[13] आग्नेयबाण,[14] करवाली,[15] कपिशीर्षकधनुष,[16] कनक,[17] कुठार,[18] कणप,[19] कौण,[20] कौमुदीगदा,[21] कौस्तुभमणि,[22] कृपाण,[23] कुन्त (बर्छा),[24] कौक्षेयक (तलवार),[25] क्रकय (आरा),[26] खग (बाण),[27] गदा,[28] घन,[29] गरुड़ास्त्र,[30] ग्राव,[31] गजबाण,[32] चक्ररत्न,[33] चक्र,[34] चण्डवेगदण्ड,[35] चक्ररत,[36] चाप,[37] जलबाण,[38] ढाल (खेटक),[39] तामसास्त्र,[40] तलवार (खड्ग),[41] तोमर,[42] तमोबाण,[43]

---

१. पद्म १२।२५७
२. हरिवंश ५२।५५
३. वही ५२।५१
४. वही ५५।३३५
५. पद्म १२।२५७;महा १५।२००,४४।१८०
६. महा ६८।६७३
७. वही ६८।६७३
८. वही ६८।६७५
९. वही ३७।१६२
१०. वही ४४।१८९
११. वही ५।११३
१२. हरिवंश ५३।४९
१३. पद्म १२।३२२
१४. हरिवंश ५२।५२; महा ३।१७२
१५. पद्म १२।२५७
१६. महा ४४।१७४
१७. पद्म ७।७४
१८. वही १२।२५८
१९. महा ३७।१६६
२०. पद्म १२।२५८
२१. हरिवंश ५३।४९
२२. वही ५३।५०
२३. महा ६८।५५६, १०।७३
२४. पद्म १२।२५७; हरिवंश२३।९६
२५. महा ३६।११
२६. वही १०।५९
२७. वही ४४।१२१
२८. पद्म ७।७४
२९. वही १२।२५८
३०. वही १२।३३६; हरिवंश५२।४९
३१. वही १२।२५८
३२. वही ४४।२४२
३३. हरिवंश ५२।६३
३४. पद्म ७।७४; हरिवंश११।११७; महा ४४।८१, ६८।६०२
३५. महा ३७।१७०
३६. वही ३७।८४
३७. वही ४।१७६
३८. महा ४४।२४२
३९. हरिवंश ११।११७
४०. वही ५२।५४
४१. वही ११।११७; महा ४८।८१
४२. वही २३।९६; वही ४५।८३
४३. महा ४४।२४२

दण्ड,[1] धनुषबाण,[2] नागास्त्र,[3] नारायणास्त्र,[4] नाराच,[5] नागपाश,[6] निर्घात (वज्र),[7] पाश,[8] प्रभास्त्र,[9] पाञ्चजन्य शंख,[10] परिघ,[11] प्रास (भाला),[12] पवनबाण,[13] पंचबाण (तपन, तापन, मोदन, विलापन तथा सारण),[14] ब्रह्मशिरस,[15] बाण (रेषु),[16] भूतमुखखेट,[17] भुषण्डी,[18] भास्करास्त्र,[19] महास्त्र,[20] माहेन्द्र,[21] मेघबाण[22], मुद्गर,[23] मुसल,[24] माला,[25] महाश्वसनास्त्र,[26] यष्टि,[27] राक्षसबाण[28] लोभवाहिनी छुरी,[29] लकुट,[30] लाङ्गलै,[31] वज्र,[32] वज्रकाण्डधनुष,[33] वज्रतुण्डाशक्ति,[34] वज्रमाण्डधनुष,[35] वैरोचनास्त्र,[36] वारुणास्त्र,[37] वायव्यास्त्र,[38] बरछा (कुन्ता),[39] व्यस्त्र,[40] विशिख,[41] शर,[42]

---

१. पद्म १२।२५८; महा १५।२००, ३७।८४
२. महा ४।१७५, ४४।८१; हरिवंश ११।११७
३. पद्म १२।३३२
४. हरिवंश ५२।५४
५. महा ६८।६०२
६. वही ५६।१२८
७. वही २७।७७
८. पद्म ७।७४
९. वही १२।३३०
१०. हरिवंश ५३।५०; महा ६८।६७६
११. वही ५२।६२
१२. पद्म ७।७४; महा ४४।८१
१३. महा ४४।२४०
१४. वही ७२।४६
१५. हरिवंश ५२।५५
१६. पद्म ७।७४; हरिवंश ११।११७; महा ४४।११५-११६
१७. महा ३७।१६८
१८. पद्म ७।७४
१९. हरिवंश ५२।५५
२०. वही ५२।६३
२१. हरिवंश ५२।५३
२२. महा ४४।२४२
२३. पद्म १२।२५८, ७।७४; महा ४४।१४३
२४. वही ७।७४; हरिवंश ५३।५१
२५. हरिवंश ५३।५१
२६. वही ५२।५०
२७. महा ३।१०५
२८. हरिवंश ५२।५४
२९. महा ३७।१६५
३०. वही ३।१०५
३१. पद्म १२।२५८
३२. महा १।४३
३३. वही ४४।१३५
३४. वही ३७।१६३
३५. वही ४४।३३६
३६. हरिवंश ५२।५३
३७. वही ५२।५२; पद्म १२।३२५
३८. वही ५२।५१
३९. महा ४४।१८०
४०. वही ३७।१७२
४१. वही ६।१९५
४२. पद्म १२।२५७; महा ४४।२४०

शूल,[1] शार्ङ्गशंख,[2] शक्ति,[3] शार्ङ्गधनुष,[4] सप्तरत्न (असि, शंख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड तथा गदा),[5] सायक (बाँस के बाण)[6] सिंहबाण,[7] सुदर्शनचक्र,[8] सूर्यबाण,[9] सौनन्दक तलवार,[10] सिंहाटक भाला,[11] हल[12]।

सेना से सम्बन्धित अन्य सामान : आलोचित जैन पुराणों में युद्धों में प्रयुक्त होने वाले शास्त्रास्त्रों के अतिरिक्त अन्य सामानों का भी उल्लेख मिलता है, जो निम्नांकित हैं :

असिकोश[13], अभेदकवच[14], आयुधालय[15], आयुधशाला[16], कवच[17], टोप[18], तनुत्रिक[19], तसरू (तलवार की मूठ)[20], निगड (बेड़ी)[21], निषंग[22], पृतना[23], वर्म[24] वैसाखस्थान[25], शख्य[26], शस्त्रात[27], शिरस्त्र[28], सर्वायुध[29], संवर्मित[30], शंख[31], महाजाल[32], महीशा (काठी)।[33]

७. युद्धफल : सैन्य व्यवस्था के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि जैन पुराणों की रचना काल में सैनिक संगठन पर विशेष बल दिया जाता था। क्योंकि उस

---

१. पद्म १२।२५८
२. हरिवंश ५३।४६
३. वही ५३।५१; महा २७।१११; पद्म १२।२५७
४. महा ६८।६७५
५. वही ५७।६२
६. पद्म १२।२५८
७. महा ४४।२४२
८. हरिवंश ५३।४६; महा ३७।१६८, ६८।६७५
९. महा ४४।२४२
१०. वही ३७।१६७
११. वही ३७।१६४
१२. हरिवंश ५२।६१
१३. महा ५।२५०
१४. वही ३७।१५०
१५. वही ३७।८५
१६. वही ६३।४५८
१७. महा २७।११२, ७२।१११
१८. वही ३६।१४
१९. वही ३१।७२
२०. वही ३७।१६५
२१. वही ४२।७६
२२. वही १६।४२
२३. वही ६।१०६
२४. वही ६८।५५६
२५. वही ३२।८७
२६. वही ३५।७१
२७. वही ३६।८०
२८. वही ३६।१४
२९. वही १०।५६
३०. वही ३६।१३८
३१. वही ७२।११०
३२. वही ७२।११०
३३. वही ६८।५५६

समय राजनीतिक अव्यवस्था थी। अहिंसक होने पर भी जैनाचार्यों ने सैनिक वृत्ति को मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य माना था। उनके मतानुसार जो व्यक्ति युद्ध-स्थल में वीरगति को प्राप्त करते हैं, उन्हें स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[1] सामान्यतया युद्धोपरान्त शान्ति का आगमन होता है। भयावह स्थिति से मुक्ति पाने पर लोग सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करते थे। युद्ध में विजेता राजा विजयोत्सव का आयोजन करता था और पराजित राजा संसार की नश्वरता स्वीकारते हुए जिन-दीक्षा-ग्रहण करता था। परन्तु कभी-कभी विजयी राजा ही जिन-दीक्षा अंगीकार करता था। महा पुराण से प्रमाणित होता है कि बाहुबली और भरत (सहोदर भ्राता) के मध्य जब युद्ध की भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, तो दोनों पक्षों के मुख्य मंत्रियों ने नर-संहार के अवरोधनार्थ दोनों के मध्य 'धर्म-युद्ध' (जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध तथा मल्लयुद्ध) का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इन तीनों युद्धों में बाहुबली को विजयश्री उपलब्ध हुई। सत्ता के लिए भरत हिंसा पर कटिबद्ध हुआ। बाहुबली पर उसने चक्र का प्रयोग किया। वह उससे घायल नहीं हुए पर उनके हृदय को आघात पहुँचा। उन्होंने सत्ता के लिए हिंसा के प्रतिरोध में अपना सर्वस्व त्याग दिया। जिन-दीक्षा-ग्रहण कर उन्होंने तपस्या द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया।[2] भरत-बाहुबली युद्ध, जैन राजनीतिक इतिहास में सत्ता के लिए संघर्ष और इसमें पराजय होने पर अनीति तथा हिंसा का आश्रय लेने की सर्वप्रथम घटना है।[3]

उक्त प्रकरण से प्रमाणित होता है कि जैनी नर-संहार एवं हिंसा से मुक्ति के लिए विकल्प की व्यवस्था प्रतिपादित करते थे, जिससे हिंसा और युद्ध का निवारण होता था। युद्ध के अन्तिम परिणाम से संसार की नश्वरता का ज्ञान होने से मनुष्य जैन-दीक्षा में दीक्षित होता था।

---

१. महा ४४।१३८

२. वही ३६।३७-१०४

३. गोकुल चन्द्र जैन—जैन राजनीति, श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, बम्बई, उदयपुर, १९७९, पृ० २७

४

शिक्षा और साहित्य

[क] शिक्षा

प्राच्य काल से मानव जीवन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अशिक्षित मनुष्य की गणना पशुवत् रही है। समाज में मर्यादित एवं प्रतिष्ठित जीवन के लिए मनुष्य का शिक्षित होना अनिवार्य है। मनुष्य का मानसिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक विकास का माध्यम शिक्षा ही रहा है। शिक्षा द्वारा मनुष्य का बहुमुखी विकास हुआ है। अतः हमारे ऋषि-मुनियों ने शिक्षा का गुणगान किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने भी शिक्षा को समाज के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। यद्यपि आलोचित जैन पुराणों में शिक्षा से सम्बन्धित विस्तृत विवरण का अभाव है, तथापि उनके पर्यालोचन से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं वे अग्रलिखित हैं :

१. **शिक्षा का महत्त्व :** जैन पुराणों में शिक्षा के महत्त्व पर विशेष बल दिया गया है। महा पुराण में विद्या के महत्त्व को प्रदिपादित करते हुए उल्लिखित है कि शरीर, अवस्था तथा शील विद्या से विभूषित हो जाने पर मनुष्य-जीवन सार्थक हो जाता है। इस संसार में विद्वान् पुरुष तथा विदुषी महिलाएँ सम्मान एवं

श्रेष्ठ पद को प्राप्त करते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी कथित है कि विद्या मनुष्यों का यश, कल्याण तथा मनोरथ पूर्ण करती है। इसी लिए विद्या को कामधेनु, चिन्तामणि, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) का फल कथित है। विद्या को मनुष्य के जीवन का मूलाधार सिद्ध करते हुए वर्णित है कि विद्या ही मनुष्य का बन्धु, मित्र, कल्याणकारी, साथ-साथ जाने वाला धन तथा सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।[1] जैन पुराणों के शिक्षा सम्बन्धी आदर्श उस समय के जैनेतर साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है। डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी का विचार है कि शिक्षा बौद्धिक एवं नैतिक उन्नति प्रदान करती है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन में शिक्षा का विशेष महत्त्व है।[2] डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का विचार है कि प्राचीन भारत में चरित्र-निर्माण, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए शिक्षा को समाज का अनिवार्य अंग माना जाता था।[3]

जैन पुराणों के परिशीलन से शिक्षा के महत्त्व का निष्कर्ष यही है कि शिक्षा शरीर, मन एवं आत्मा को समर्थ बनाते हुए अन्तर्निहित श्रेष्ठतम महान् गुणों का विकास कर अन्तर्भूत दैवी-गुणों का विकास करती है। निरन्तर स्वाध्याय से मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों का प्रादुर्भूत होता है। शिक्षा से शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुचिता, बौद्धिक प्रखरता, आध्यात्मिक दृष्टि, नैतिक बल, कर्मठता तथा सहिष्णुता की प्राप्ति होती है। सांस्कृतिक विरासत की प्राप्ति, ज्ञानार्जन, समस्याओं का समाधान, आध्यात्मिक तत्त्वों का अन्वेषण, मानसिक क्षुधा की शान्ति, कला-कौशल का परिज्ञान, आचार-विचार का परिष्कार, शाश्वत सुख की उपलब्धि, त्याग, संयम, कर्त्तव्यनिष्ठा, वैयक्तिक जीवन का परिष्कार तथा समाज की उन्नति शिक्षा से ही होती है। शिक्षा से मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

२. शिक्षा सम्बन्धी संस्कार या क्रिया : भारतीय परम्परा एवं पारम्परिक पुराणों के समान ही जैन पुराणों में भी शिक्षा विषयक संस्कारों या क्रियाओं का उल्लेख है। शिक्षा सम्बन्धी मुख्यतया अधोलिखित चार संस्कारों या क्रियाओं का वर्णन उपलब्ध होता है : (i) लिपि संस्कार (ii) उपनीति या उपनयन संस्कार (iii) व्रतचर्या संस्कार (iv) व्रतावतरण या समावर्त्तन अथवा दीक्षान्त संस्कार। इनका विस्तृत वर्णन 'संस्कार' नामक उप-अध्याय में किया गया है। यहाँ पर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. महा १६।९७-१०१

२. राधा कुमुद मुकर्जी—ऐंशेण्ट इण्डियन एजूकेशन, दिल्ली, पृ० ३६६

३. अल्तेकर—एजूकेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बनारस, १९४८, पृ० ३२६

[i] **लिपि संस्कार :** आलोचित जैन पुराणों के वर्णनानुसार जब बालक पाँच वर्ष का हो जाए तब उसका अक्षर ज्ञान कराया जाता था। इसके लिए लिपि-क्रिया या संस्कार किया जाता था। लिपि संस्कार के बाद ही बच्चे को अक्षर तथा लिपि सिखायी जाती थी। महा पुराण में लिपि संस्कार के विषय में वर्णित है कि शिशु के जन्म के पाँचवें वर्ष में इस क्रिया को सम्पन्न करना चाहिए। इसकी विधि यह थी कि यथाशक्ति पूजन कर, सुवर्ण की पट्टी पर लिखने के पूर्व हृदय में, 'श्रुतदेवी' का स्मरण कर, दाहिने हाथ से शिशु को वर्णमाला (अ, आ आदि) तथा अंकों (इकाई, दहाई आदि) को लिखने का उपदेश देना चाहिए।[1] 'सिद्धं नमः' से मंगलाचरण प्रारम्भ करते थे। यह 'सिद्ध-मात्रिका लिपि' थी,[2] जिसमें स्वर, व्यञ्जन, समस्त विद्या, संयुक्ताक्षर, बीजाक्षर अकार से हकार तक, विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वा-मूलीय, उपध्यानीय तथा शुद्धाक्षर होते थे।[3]

[ii] **उपनीति या उपनयन क्रिया :** लिपि संस्कार के उपरान्त बालक घर पर ही व्रती गृहस्थ द्वारा अध्ययन करता था। जब वह आठवें वर्ष में प्रवेश करता था, तब उसका उपनीति या उपनयन संस्कार किया जाता था। इसमें केश-मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जीबन्धन क्रियाएँ होती थीं। बालक यज्ञोपवीत धारण करके भिक्षा माँगता था। इस क्रिया के बाद बालक को गुरु के पास शिक्षा-ग्रहण करने के लिए भेजा जाता था। बालक का विधिवत् अध्ययन कार्य इस क्रिया के उपरान्त प्रारम्भ होता था।[4]

[iii] **व्रतचर्या क्रिया :** इस क्रिया का तात्पर्य विद्याध्ययन के समय संयमित एवं कठोर जीवन व्यतीत करने से है। इसके द्वारा विद्यार्थी अपना ध्यान एक मात्र विद्यार्जन की ओर केन्द्रित करता था।[5]

[iv] **व्रतावतरण क्रिया :** विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर विद्याध्ययन कर चुकने पर इस क्रिया को करते थे। इस क्रिया को समावर्तन संस्कार कह सकते हैं। इस क्रिया के बाद विद्यार्थी ब्रह्मचर्य आश्रम का परित्याग कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।[6] इस क्रिया को आजकल प्रचलित 'दीक्षान्त' से समीकृत कर सकते हैं।

---

१. महा १६।१०३-१०४, ३८।१०२-१०३
२. वही १६।१०५
३. वही १६।१०६-१०८
४. वही ३८।१०४-१०६; ४०।१५६-१५८, ३६।६४-६५; हरिवंश ४२।५
५. वही ३८।१०६-११२
६. वही ३८।१२१-१२६

इस अवसर पर शिष्य अपने गुरु को गुरुदक्षिणा भी प्रदान करता था।[1]

३. **विद्या प्राप्ति का स्थान :** आलोचित पुराणों के रचनाकाल में विद्याध्ययन मौखिक एवं लिखित दोनों प्रकार का होता था। छोटे बच्चों को खड़िया एवं मिट्टी के टुकड़े से वर्णमाला सिखायी जाती थी।[2] जब बालक छोटा होता था, तब उसका पिता ही उसका शिक्षक होता था। बालक को प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही उसका पिता प्रदान करता था।[3] यदि पिता योग्य होता था, तो आस-पास के बच्चे भी उसके पास चले आते थे। इसके बाद बालक विद्यालय जाता था। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि राज्य की ओर से शिक्षा के लिए विद्याशाला (विद्यालय) होता था।[4] इसके साथ ही वन में भी शिक्षण-स्थल के रूप में आश्रम होते थे, जहाँ पर विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे।[5] विशिष्ट विद्वानों को राजा लोग अपने यहाँ रखते थे।[6] पद्म पुराण में ही वर्णित है कि विद्यार्थी अध्ययनार्थ गुरु के घर जाते थे।[7] हमारे जैन पुराणों के रचना-काल के अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस समय आश्रम या गुरुकुल, विहार तथा मठ में शिक्षा का प्रबन्ध था।[8]

४. **गुरु का महत्त्व :** आलोचित पद्म पुराण में विद्या देने वाले को गुरु[9], उपाध्याय[10], आचार्य[11], विद्वान्[12] यति[13] कथित है। पद्म पुराण में गुरु को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।[14] गुरु का सभी सम्मान करते थे, जिससे उसकी प्रतिष्ठा स्थापित थी। शिष्य के अभिभावक भी गुरु का आदर-सत्कार करते थे।[15] हरिवंश पुराण में गुरु की महत्ता प्रदर्शित करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि यदि कोई एक अक्षर या आधा पद या एक पद का उपदेश देता है तो भी उसका महत्त्व गुरु के समान है और यदि कोई भी ऐसे गुरु को विस्मृत कर देता है, तो उसे पापी की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यदि कोई धर्मोपदेशदाता को विस्मृत कर देता है तो ऐसे मनुष्य की निम्नतर गति होती है।[16] महा पुराण में वर्णित है कि गुरु हृदय में रहता है, चूँकि वचन हृदय

---

१. पद्म ३६।१६३; हरिवंश १७।७६
२. वही २६।७
३. महा १६।११०, १६।११८
४. पद्म ३६।१६२
५. वही ८।३३३-३३४
६. वही ३६।१६०
७. वही २६।५-६
८. ब्रज नाथ सिंह यादव—वही, पृ० ४०३
९. पद्म २६।६
१०. वही ३६।१६३
११. वही २५।५३
१२. पद्म ३६।१६०
१३. वही ३६।३०३
१४. वही ६।२६२-२६४
१५. वही ३६।१६३
१६. हरिवंश २१।१५६

से निकलते हैं, इसलिए वचनों में गुरु संस्कार करते हैं।[1] जैनेतर ग्रन्थों में गुरु को शिष्य का 'मानस-पिता' कहा गया है।[2]

५. **गुरु के गुण :** पद्म पुराण में गुरु के गुणों का उल्लेख है। उसे महा-विद्याओं से युक्त, पराक्रमी, प्रशान्तमुख, धीरवीर, सुन्दर, शुद्ध, अल्पपरिग्रह का धारक, धर्म के रहस्य का ज्ञाता, अणुव्रती, गुणी, मृदुभाषी, कला-मर्मज्ञ, शिक्षा द्वारा आजी-विका व्यतीत करने वाला कहा गया है।[3] महा पुराण में गुरु के गुणों (लक्षणों) को सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है। गुरु सदाचारी, स्थिर बुद्धिवाला, जितेन्द्रिय, सौम्य, भाषण में प्रवीण, गम्भीर, प्रतिभायुक्त, सुबोध व्याख्यान देने वाला, प्रत्युत्पन्न बुद्धिवाला, तर्कप्रेमी, दयालु, प्रेमी, दूसरे के अभिप्राय को समझने वाला, समस्त विद्याओं का अध्ययन करने वाला, धैर्यवान्, वीर, विद्वान्, वाङ्मयों का ज्ञाता, गम्भीर, मृदु, सत्य एवं हितकारी वचन बोलने वाला, सत्कुल में जन्म लेने वाला, अप्रमद्य, परहित साधन करने वाला, धर्मकथावाचक, महाविद्याओं से युक्त, पराक्रमी प्रशान्त मुख वाला, सुन्दर आकृति वाला, शुद्ध, अल्पपरिग्रह वाला, धर्म के रहस्य का ज्ञाता, अणुव्रती, गुणी, भिक्षा द्वारा आजीविका व्यतीत करने वाला होता था।[4]

६. **शिष्य के गुण :** पद्म पुराण में वर्णित है कि विद्या-प्राप्ति स्थिर-चित्त वालों को ही होती है। इसलिए शिष्य का प्रथम लक्षण है कि वह स्थिर-चित्त वाला हो।[5] आलोच्य महा पुराण में शिष्य के गुणों के विषय में वर्णित है कि शिष्य में विनयशीलता, अध्ययन एवं अध्यापक के प्रति श्रद्धा, विषयों की ग्रहणशीलता, जिज्ञासु-वृत्ति, शुश्रूषा, स्मरण शक्ति, तर्कण शक्ति, पाठों के श्रवण में सतर्कता, विषयों को धारण करने की शक्ति, अपोह (ज्ञान के आधार पर प्रावल्य एवं अकरणीय का त्याग), युक्तिपूर्वक विचार-सामर्थ्य, सहज प्रतिभा, संयम और अध्यवसाय होना चाहिए।[6]

७. **शिष्य के दोष :** पद्म पुराण में पात्रापात्र शिष्यों का विश्लेषण किया गया है। जैसे सूर्य का प्रकाश उल्लू के लिए व्यर्थ होता है वैसे ही अपात्र को प्रदत्त विद्या व्यर्थ होती है।[7] महा पुराण में शिष्यों के दोषों का वर्णन किया गया है।

---

१. महा ४३।१८
२. बौधायन धर्मसूत्र २८।३८-३९; गौतम धर्मसूत्र १।१०; मनु २।१७०
३. पद्म १००।३३-३८
४. महा १।१२६-१३२
५. पद्म २६।७
६. महा १।१६८, १।१४६, ३८।१०९-११८
७. पद्म १००।५२

शिष्यों में विषयी, विषयासक्त, हिंसकवृत्ति, कठोर परिणामी निःसार का ग्राहक, अर्थ-ज्ञान की न्यूनता, धूर्तता, कृतघ्नता, उदण्डता, प्रमादी, ग्रहण शक्ति का अभाव, दुर्गुण ग्राहकता, प्रतिभा की कमी, हठग्राहिता, धारणशक्ति की न्यूनता तथा स्मरणशक्ति का अभाव आदि दुर्गुण कथित हैं।[1]

८. **गुरु-शिष्य सम्बन्ध :** आलोचित जैन पुराणों के अनुशीलन से गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। पद्म पुराण में गुरु-शिष्य के आत्मिक सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। गुरु-शिष्य में इतने प्रगाढ़-सम्बन्ध होते थे कि शिष्य गुरु से अपनी सभी बातों को बता देता था। इससे यदि कोई बात शिष्य के प्रति अहितकर होती थी तो गुरु उसको सुरक्षा का मार्ग बता देता था।[2] गुरु के सामने शिष्य व्रत लेते थे। यदि कोई शिष्य इस व्रत को भंग करता था तो ऐसी मान्यता थी कि उसे भारी कष्ट उठाना पड़ता था।[3] महा पुराण में गुरु-शिष्य की परम्परा को विशाल-प्रवाह के समान कथित है।[4] वस्तुतः गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र के समान सम्बन्ध होता था। इसी आत्मीयता के कारण गुरु शिष्य से कहता है कि—हे शिष्य! तू ही मेरा मन और तू ही मेरी जीभ है।[5] जैनाचार्यों ने गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को यावज्जीवन निर्वाह करने का निर्देश दिया है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी गुरु से प्रतिदिन मिलने को निर्देशित किया गया है और कहा गया है कि उनसे अपना हित-अहित बताया करें जिससे गुरुओं द्वारा शिष्यों की समस्याओं का समाधान होता रहे।[6]

महा पुराण में वर्णित है कि गुरु के पास जो शिष्य रहते थे, उनमें से योग्य शिष्य को गुरु अपना उत्तराधिकारी बनाता था। यह शिष्य सभी विद्याओं का ज्ञाता तथा मुनियों द्वारा समादृत होता था। यह शिष्य गुरु का उत्तराधिकारी होने पर गुरुवत् आचरण तथा समस्त संघों का पालन करता था।[7] इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु का उत्तराधिकारी योग्य एवं कुशल शिष्य होता था। उस समय गुरु अपने शिष्यों में से योग्य शिष्य को उपाध्याय-पद पर नियुक्त करता था।[8]

उपर्युक्त विवरणों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि हमारे आलोच्य पुराणों के प्रणयन काल में गुरु-शिष्य सम्बन्ध बहुत ही उत्तम थे। वे एक दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेते थे और उनमें आपस में बहुत ही आत्मीय सम्बन्ध होते थे।

---

१. महा २८।१०६-११८
२. पद्म १५।१२२-१२३
३. वही ६७।१६०
४. महा १।१०४
५. महा ४३।७१
६. वही ४१।१४
७. वही १८।१७३-१७४
८. वही ६७।३१७

९. गुरु-सेवा : आलोचित पद्म पुराण के परिशीलन से गुरु-सेवा पर प्रकाश पड़ता है। सामान्य से राजपुत्र तक सभी शिष्य गुरु की सेवा करते थे।[१] इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय समाज में गुरु की सेवा करना सभी शिष्यों के लिए अनिवार्य था। इससे धनी और निर्धन छात्रों में हीन भावना की उत्पत्ति नहीं होती थी और सभी में मेल-मिलाप था। उनमें आपस में भेद-भाव की भावना नहीं होती थी।

१०. गुरु-दक्षिणा : आलोचित जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि शिष्य अध्ययन के उपरान्त अपने गुरु को यथाशक्ति गुरु-दक्षिणा देते थे।[२] परन्तु गुरु-दक्षिणा के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गयी थी।

११. स्त्री-शिक्षा : जैन पुराणों के रचनाकाल में स्त्रियों की शिक्षा का ह्रास हो गया था।[३] जैनाचार्यों ने उनकी स्थिति के उत्थान का प्रयत्न किया। जैन पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों को भी शिक्षा प्रदान की जाती थी।[४] जैनाचार्यों ने पुत्र के समान पुत्रियों की शिक्षा पर बल दिया है।[५] हरिवंश पुराण में कन्याओं को शास्त्रों में पारंगत तथा प्रतियोगिता में विजयी प्रदर्शित किया गया है।[६] जैन पुराणों में वर्णित है कि लड़कियाँ गणित, वाङ्मय (व्याकरण, छन्द एवं अलंकारशास्त्र) तथा समस्त विद्याओं में निपुण होती थीं।[७] कन्याओं के शिक्षा-ग्रहण करने के उपरान्त वयस्क होने पर उनका विवाह होता था।[८] अतः स्पष्ट है कि जैन पुराणों के रचनाकाल में स्त्री-शिक्षा का विशेष प्रचार-प्रसार था।

१२. सह-शिक्षा : आलोच्य जैन पुराणों के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ अध्ययन किया करते थे। पिता अपने पुत्र-पुत्रियों को साथ-साथ प्रारम्भिक शिक्षा खड़िया, मिट्टी के टुकड़ों से घर पर

---

१. पद्म १००।८१; तुलनीय—गोपथब्राह्मण १।२।१-८; महाभारत ५।३६।५२
२. वही ३९।१६३ ११।५१; हरिवंश १७।७९
३. यादव—वही, पृ० ४०२
४. महा १६।९८
५. वही १६।१०२, १०८।११५
६. हरिवंश २१।१३३
७. पद्म १५।२०, २४।५; महा १६।१०५-११७
८. वही २४।१२१; हरिवंश ४५।३७; महा ६३।८

ही देता था।[1] हमें ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं जब गुरु के घर में लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ अध्ययन करते थे। पद्म पुराण के वर्णनानुसार चित्तोत्सवा तथा पिङ्गल गुरु के यहाँ साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। वे दोनों परस्पर प्रेम में आबद्ध हो जाने के कारण भाग गये और गान्धर्व-विवाह कर लिया, जिससे उन्हें विद्या की प्राप्ति नहीं हुई।[2] चूंकि उस समय लड़कियों के लिए पृथक् से पढ़ने की व्यवस्था का कोई उल्लेख नहीं मिलता है और अनेक विदुषी एवं प्रतिभाशाली कन्याओं का दृष्टान्त उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि आलोचित जैन पुराणों के प्रणयनकाल में सहशिक्षा प्रचलित थी।

१३. पाठ्य-क्रम : उपर्युक्त अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि पाँच वर्ष के बालक-बालिकाओं को लिपिज्ञान एवं सामान्य-भाषा सिखायी जाती थी। गणित का थोड़ा-बहुत ज्ञान कराया जाता था। आठ वर्ष तक बालक घर पर ही सामान्य-शिक्षा ग्रहण करते थे। उपनयन संस्कार के बाद वे गुरु के पास शास्त्रीय ज्ञानार्जननार्थ जाते थे। जैन पुराणों में अधोलिखित पाठ्य-क्रम या शास्त्रों का उल्लेख मिलता है :[3]

चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद), शिक्षा (उच्चारण विधि), कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्ति, इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्यायशास्त्र, कामशास्त्र, हस्ति एवं अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, निमित्तशास्त्र, शकुनशास्त्र, तंत्रशास्त्र, मंत्रशास्त्र, लक्षणशास्त्र, कलाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र आदि हैं। हमारे आलोचित पुराणों के रचनाकाल के अन्य साक्ष्यों से भी पाठ्य-क्रम पर प्रकाश पड़ता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में पैंतालिस विषय, दण्डिन ने बारह और राजशेखर ने इकहत्तर विषयों का उल्लेख किया है।[4]

---

१. पद्म २६।५
२. वही २६।५-७
३. महा २।४८, १६।१११-१२५, ४१।१४१-१५५
४. यादव—वही; पृ० ४००

[ख] साहित्य

मानव के बौद्धिक विकास का ज्ञान उसके साहित्य सृजन से होता है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन पुराणों के परिशीलन से साहित्य के विषय में अधोलिखित जानकारी प्राप्त होती है :

१. भाषा और लिपि : जैन पुराणों से जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, उनका वर्णन वक्ष्यमाण है। पद्म पुराण के उल्लेखानुसार अजितनाथ की भाषा अर्धमागधी थी,[1] किन्तु इनके काल में तीन भाषाएँ थीं : संस्कृत, प्राकृत तथा शौरसेनी।[2] इन भाषाओं को निबद्ध करने के लिए जिन लिपियों के नाम मिलते हैं वे निम्नांकित हैं।[3]

(i) **अनुवृत्तलिपि :** अपने देश में प्रचलित लिपि को अनुवृत्तलिपि कहते थे।

(ii) **विकृत्तलिपि :** इस लिपि को लोग अपने संकेतानुसार समझते थे।

(iii) **सामयिक लिपि :** इसका प्रयोग प्रत्यंग आदि वर्णों में होता था।

(iv) **नैमित्तिक लिपि :** इसमें वर्णों के पूर्व पुष्प आदि कुछ निमित्त रख कर प्रयोग करते थे।

उक्त लिपियों का स्वरूप और गठन क्या था? इनके बारे में साक्ष्येतरों से कोई अतिरिक्त सूचना प्राप्त नहीं होती है। सम्भवतः इन लिपियों का नामकरण भाषा के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी अपेक्षा जो लिपि अधिक प्रचलित थी और जिसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे वह लिपि 'सिद्धमातृका' थी।

---

१. पद्म ५।६०

२. नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता॥ पद्म २४।११

३. अनुवृत्तं लिपिज्ञानं यत्स्वदेशे प्रवर्तते।
द्वितीयं विकृतं ज्ञेयं कल्पितं यत्स्वसंज्ञया॥
प्रत्यङ्गादिषु वर्णेषु तत्त्वं सामयिकं स्मृतम्।
नैमित्तिकं च पुष्पादिद्रव्यविन्यासतोऽपरम्॥
प्राच्यमध्यमयौधेयसमाद्रादिभिरन्वितम्। पद्म २४।२४-२६

विगत अनुच्छेद में लिपि संस्कार के संदर्भ में 'सिद्धमात्रिका' का उल्लेख किया जा चुका है। प्रसंगानुसार यहाँ 'सिद्धमात्रिका' का तात्पर्य व्यक्त करना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन भारतीय लिपियों में 'सिद्धमात्रिका-लिपि' का स्थान महत्त्व-पूर्ण प्रतीत होता है। सर्वप्रथम पाश्चात्यपुराविद् एवं भारतीय लिपियों के समीक्षक जर्मन् विद्वान् ब्यूलर ने 'सिद्धमात्रिका-लिपि' का उल्लेख किया था।[१] उनके मतानुसार अरब-यात्री अल्बेरुनी ने अपने भारतीय वृत्तान्त के संदर्भ में जिस 'सिद्धमात्रिक-लिपि' का उल्लेख किया है वह अति महत्त्वपूर्ण है। उसने वर्णित किया है कि भारत में इस लिपि का प्रयोग पहले किया जाता था।[२] ब्यूलर के विचारानुसार गुप्तोत्तर-काल में अर्थात् सातवीं शती ई० से ब्राह्मी लिपि विकास के नवीन स्तर पर आसीन होती है। सामान्यतया इस लिपि को 'कुटिल-लिपि' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसके अक्षर वक्राकार होते हैं तथा मात्राओं को अलंकृत करने की चेष्टा की गई है। जर्मन विद्वान् के कथनानुसार सम्भतः अरब-यात्री के 'सिद्धमात्रिका-लिपि' का तात्पर्य इसी 'कुटिल-लिपि' से है, क्योंकि इसमें मात्राओं अथवा मात्रिकाओं को सिद्ध अर्थात् अलंकृत निर्मित करते थे। महा पुराण के उक्त विषयक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः 'सिद्धमात्रिका-लिपि' (सम्भवतः जैन सम्प्रदाय में प्रचलित) एक धार्मिक लिपि थी। यह लिपि कुटिल लिपि की समकालीन रही हो, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। पर कुटिल लिपि से इसका पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। महा पुराण के वर्णन से इसकी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :[३]

प्रथमतः, इस लिपि में निबद्ध होने वाले लेखों और अभिलेखों का प्रारम्भ 'सिद्धं नमः' मंगलाचरण से प्रारम्भ किया जाता था। द्वितीय, इसमें स्वर और व्यञ्जन दोनों विद्यमान होते थे। तृतीय, इसमें संयुक्त अक्षरों को अत्यधिक सतर्कता से निर्मित करते थे। चतुर्थ, इसमें सांकेतिक अक्षर भी रहते थे। पंचम, इसमें अक्षरों को इतना सुडौल और सुदर्शन बनाते थे कि मोती की तरह चमकते थे।

महा पुराण के उक्त वर्णन में ब्राह्मी शब्द का भी उल्लेख हुआ है और ऐसा कथित है कि सिद्धमात्रिका को ब्राह्मी ने धारण किया। ऐसी स्थिति में यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्धमात्रिका लिपि ब्राह्मी की ही अंगभूत थी

---

१. ब्यूलर—इण्डियन पैलियोग्राफी, कलकत्ता, १९५९, पृ० ६८

२. सचाऊ, इण्डिया, १,१७८, ब्यूलर द्वारा उद्धृत, पादटिप्पणी २१८

३. महा १६।१०६-१०८

अथवा अधिक सही शब्दों में कह सकते हैं कि यह लिपि ब्राह्मी की उत्तरकालीन विकास थी। महा पुराणोक्त वर्णन के आधार पर यह सहज सुझाव रखा जा सकता है कि सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी ई० तक भारत में जिन लिपियों का विकास हुआ था, उसमें सिद्धमात्रिका का विशिष्ट स्थान था। पुरालिपिशास्त्रियों की समीक्षा के अनुसार इस अवधि में निम्नांकित लिपियाँ प्रचलित थीं—कुटिल लिपि शारदा लिपि और नागरी लिपि। आलोचित वर्णन के आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथी लिपि प्रचलित थी जिसे 'सिद्धमात्रिका लिपि' की संज्ञा प्रदान की गयी थी।

२. **वेद** : ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद को अपौरुषेय कहा गया है। जैनी वेद विरोधी थे। इसलिए उन्होंने वेदों की कटु आलोचना की है। उन्होंने वेद को पौरुषेय तथा दोष युक्त सिद्ध करने की अनेक युक्तियाँ दी हैं।[1]

३. **वेदांग** : वेद के अतिरिक्त वेदांगों का अध्ययन ब्राह्मण करते थे, परन्तु जैनी इनका विरोध करते थे।[2]

४. **पुराण** : पुराण को 'इतिहास', 'इतिवृत्त' तथा 'ऐतिह्य' कहा गया है।[3] अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इन्हें पुराण संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[4] पारम्परिक पुराण तथा जैन पुराण पृथक्-पृथक् हैं। पुराणों का हम पूर्व ही अध्ययन कर चुके हैं।

५. **वाङ्मय** : व्याकरण, छन्द तथा अलंकार शास्त्रों को वाङ्मय कहते हैं।[5]

(i) **व्याकरणशास्त्र** : व्याकरण के विकास में धातु, गण, सुवर्ण, पद, प्रकृति, विल एवं स्वर शब्द आवश्यक हैं। इसके पारिभाषिक नामों में आख्यात, उपसर्ग एवं निपात शब्द व्यवहृत हैं।[6] ऋषभदेव द्वारा प्रणीत व्याकरण में एक सौ से अधिक अध्याय थे।[7]

(ii) **छन्दशास्त्र** : ऋषभदेव ने एक बृहत् छन्दशास्त्र का प्रणयन किया था। उन्होंने उससे छः प्रत्यय भी बनाया था।[8]

---

१. पद्म ११।११०, ११।१८४, ११।२०६-२१५
२. पद्म १०६-७६
३. महा १।२५
४. वही १।२१
५. महा १६।१११
६. पद्म ६।११२-११३, २४।११
७. महा १६।११२
८. वही २६।११३-११४

(iii) **अलंकारशास्त्र** : अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत शब्दालंकार और अर्थालंकार के साथ ही दस गुण भी होते थे।[1] प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, मध्यप्रसाद एवं प्रसन्नाद्यवसान—ये चार स्थायी पद के अलंकार; निर्वृत्त, प्रस्थित, विन्दु, प्रेङ्खोलित, तार-मन्द्र एवं प्रसन्न—ये छः संचारीपद के अलंकार तथा आरोही पद के प्रसन्नादि एक अलंकार तथा अवरोही पद के प्रजन्नान्त एवं कुहार दो अलंकार थे। ये तेरह अलंकार संगीत के लिए बहुत ही उत्तम थे।[2] अन्य अलंकारों में व्याजस्तुति, श्लेषोपमा, गूढ़चतुर्थम्, निरौष्ठ्यम् अलंकारों का उल्लेख मिलता है।[3]

६. पहेली : उस समय पहेली करना एवं समझना एक बहुत बड़ी कला थी। इसी लिए आलोचित महा पुराण में निम्नांकित पहेलियों का उल्लेख मिलता है। अन्तर्लापिका, एकालपक, वहिर्लापिका, क्रियागोपिता, प्रश्न, स्पष्टान्धक, बिन्दुमान, विन्दुच्युतक, मात्राच्युतकप्रश्न, व्यञ्जनच्युतक, अक्षरच्युतक प्रश्नोत्तर, एकाक्षरच्युतकपाद, निह्नुतैकालापक, आदिविषममन्तरालापक प्रश्नोत्तर, वहिरालाप-कमन्तविषय प्रश्नोत्तर आदि पहेलियाँ थीं।[4]

७. गणित : उस समय गणित का अत्यधिक प्रचार-प्रसार था। पद्म पुराण में गणितार्थ 'सांख्यिकी' शब्द व्यवहृत हुआ है।[5] उस समय गणित और सांख्यिकी समानार्थी थे।

८. अर्थशास्त्र : कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सदृश्य जैनियों ने भी अर्थशास्त्र की रचना की थी। अर्थशास्त्र की अत्यधिक महत्ता थी।[6]

९. कामशास्त्र : काम विषयक शास्त्र का निर्माण किया गया था। इसमें लालित्य की प्रधानता थी।[7]

१०. गान्धर्वशास्त्र : संगीतशास्त्र से सम्बन्धित गान्धर्व-शास्त्र की रचना हुई थी जिसमें एक सौ से अधिक अध्याय थे। परन्तु यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इसमें संगीत के सिद्धान्त आदि प्रतिपादित थे।[8]

११. चित्रकला : उस समय निर्मित चित्रकला शास्त्र में एक सौ से अधिक अध्याय थे।[9] परन्तु यह भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

१. महा १६।११५
२. पद्म २४।१६-१९
३. महा १२।२१३-२१८
४. वही १२।२१८-२५५
५. पद्म ५।११४; महा १६।१०८
६. महा १६।११९
७. पद्म १२३।१८६; महा १६।१२३
८. महा १६।१२०
९. वही १६।१२१

१२. वास्तु एवं स्थापत्य कला : इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ का निर्माण किया गया था, जिससे मूर्तियाँ एवं मकान आदि के निर्माण में सुविधा रहती थी।[1]

१३. नाटक : गीत, नृत्य एवं वादित्र का एक साथ होना नाट्य कहलाता है।[2] महा पुराण में वर्णित है कि किसी के द्वारा किये हुए कार्य का अनुकरण करना नाटक है।[3] उक्त पुराणानुसार नाटक से धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[4] जैन पुराणों में नाटक के पात्रों में नट, नटी, नर्तकियाँ, भाण आदि होते थे।[5] महा पुराण में नाटक को इन्द्र से उद्भूत माना गया है[6] और सर्वप्रथम गर्भावतार एवं मंगलावतार नाटक इन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया गया था।[7] नाटक करने, उसमें प्रयुक्त सामान, खेलने का ढंग, प्रेक्षागृह, संगीत, रंग-भूमि, गीत आदि का वर्णन उक्त पुराण में मिलता है :[8]

१४. कथा साहित्य : प्राचीनकाल से कथा-प्रचलित है।[9] पद्म पुराण में कथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथाओं से लोग आनन्द लेते थे। सत्पुरुषों की कथा का विशेष महत्त्व था और इसे मान्यता भी प्राप्त थी।[10] चार प्रकार की कथाओं का उल्लेख पद्म पुराण में मिलता है :[11]

(i) **आक्षेपणी कथा :** इसमें अन्य मतों की आलोचना होती है।

(ii) **निक्षेपणी कथा :** इसमें तत्त्व का निरूपण होता है।

(iii) **सवेजनी कथा :** इसमें सांसारिक बातों की चर्चा होती है।

(iv) **निर्वेदनी कथा :** इसमें भोगों से विरक्ति उत्पादक एवं पुण्य-वर्द्धक कथाएँ हैं।

१५. चिकित्साशास्त्र : पुराणों से चिकित्साशास्त्र पर प्रकाश पड़ता है। हमारे यहाँ की चिकित्सा अत्यधिक उन्नत अवस्था में थी। इसमें काय चिकित्सा आदि आठ प्रकार के आयुर्वेद तथा प्राणायाम आदि के विभाग और उनकी पृथ्वी आदि धारणाओं का वर्णन है।[12] आलोच्य पुराणों में रोग और उनके निदान का उल्लेख मिलता है। पद्म पुराण में उरोघात (वक्षस्थल एवं पसली दर्द), महादाहज्वर

१. महा १६।१२२
२. पद्म २४।२२
३. महा १४।९६
४. वही १४।१०१
५. पद्म ८०।५८; महा ७५।४६९
६. महा १४।९६
७. महा १४।१०३
८. वही १४।१०५-११५, ३५।१९१
९. पद्म ११।१५
१०. वही १।२३-३५
११. वही १०६।९२-९३
१२. हरिवंश १०।११९

(दाह), लालादरिस्राव (मुंह से लार बहना), अरुचि (भोजनादि की रुचि न होना), छर्दि (वमन होना), श्वपथु (शरीर में सूजन) और स्फोटक (शरीर में फोड़े निकलना) आदि रोगों का उल्लेख उपलभ्य है।[१] विमोहन (मूर्च्छा) के तीन भेद—मायाकृत, पीड़ा तथा मंत्रौषधि—कथित हैं।[२] पद्म पुराण में वर्णित है कि यदि किसी को क्षुधा के कारण वायु-रोग हो तो वह बहुत हँसता तथा बोलता है।[३] महा पुराण में उदुम्बर नामक कुष्ठ रोग का उल्लेख मिलता है।[४]

वात, पित्त तथा कफ को जैन पुराणों में रोग का कारण माना गया है।[५] महा पुराण में वर्णित है कि रात्रि में पर्वतों पर औषधियाँ चमकती थीं। रोग में औषधियों का प्रयोग करते हुए लोगों का उल्लेख जैन पुराणों में मिलता है।[६] स्त्री-सम्भोग में असमर्थ होने पर लोगों के औषधि के प्रयोग करने का वर्णन महा पुराण में आया है।[७] पुराने घी के लगाने से सन्निपात रोग दूर हो जाता है।[८] क्षयरोग में खाँसी बहुत आती है। इसका उपचार धूमपान न करने से है।[९]

१६. ज्योतिष-शास्त्र : बहुत प्राचीन काल से ज्योतिष का प्रचलन हमारे देश में है। कोई भी मांगलिक कार्य ज्योतिष द्वारा मुहूर्त निकालने के बाद ही सम्पन्न होता था। ज्योतिषी ग्रहों की गणना करके ज्योतिश्चक्र द्वारा ग्रहों की स्थिति ज्ञात करते थे। शिशु का जन्म मुहूर्त जानकर उसके ग्रह-नक्षत्र एवं भाग्यफल को निकाला जाता है।[१०] मुनि भविष्यवाणी करके भूत, वर्तमान तथा भविष्य जीवन का फल बताते थे।[११] निमित्त-ज्ञान को ज्योतिष-ज्ञान कहते हैं।[१२]

ग्रहों की स्थिति के आधार पर भाग्यफल निर्धारित किया जाता था। चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मच्छ कच्छप आदि शुभ लक्षण हैं, जिस व्यक्ति के चरणतल में यह पाया जाता है, उसे भाग्यवान् पुरुष समझना चाहिए।[१३] महा पुराण के अनुसार चक्रवर्ती के पैर में शंख, चक्र, अंकुश आदि लक्षण पाये जाते थे।[१४] इसी प्रकार गाय के मुख के समान पैर होना शुभ लक्षण का प्रतीक था।[१५] हरिवंश पुराण के वर्णनानुसार चन्द्रमा के समीप गुरु (बृहस्पति) से अधिष्ठित ग्रह शुभ लक्षण के प्रतीक होते हैं।[१६]

---

१. पद्म ६४।३५
२. वही २४।६५
३. वही ५३।३५
४. महा ७१।३२०
५. वही १५।३०, ५९।२५१
६. वही ३३।५८
७. वही १।६७
८. वही २५।४०
९. महा ४४।२८१
१०. पद्म १७।३५९-३७७
११. महा ८।१८१-२०५
१२. वही ६२।१७९-१९०
१३. वही ३।१६२
१४. वही ६।१९८
१५. वही १४।१४
१६. हरिवंश २।७६

१७. खगोलशास्त्र : पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा कि प्राचीन काल में भारतीयों को खगोल विज्ञान का ज्ञान नहीं था, नितान्त भ्रान्तिमूलक है। प्राचीन ग्रन्थों के परिशीलन से इस समस्या का समाधान होता है। आलोच्य जैन पुराणों में इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। महा पुराण में वर्णित है कि सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहों का स्थानान्तरण, दिन तथा अयन आदि के संक्रमण का ज्ञान सन्मति को हुआ था।[1] चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा प्रकीर्णक तारे—ये पाँचों आकाश में रहते थे। इनके उदय-अस्त आदि से लाभ-हानि का ज्ञान अन्तरिक्ष-विज्ञान से होता था।[2] महा-पुराण में चन्द्रमा, तारा, ध्रुव आदि का उल्लेख मिलता है।[3] राहु चन्द्रमा को पूर्णिमा के दिन ग्रसता है अर्थात् केवल पूर्णिमा के दिन चन्द्र-ग्रहण होता है। महा पुराण के उल्लेखानुसार आकाश से एक ज्योति निकली थी।[4] ऐसा सुझाव रखा जा सकता है कि उक्त ज्योति सम्भवतः कोई पुच्छल तारा रहा होगा। जैन पुराणों में पृथ्वी को कच्छुए के पृष्ठ पर स्थापित माना गया है।[5] जैनाचार्य द्वीप, नदी, पहाड़ आदि की नाप का ज्ञान रखते थे।[6]

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त आकाश-मार्ग का भी ज्ञान था। मुनियों तथा विद्याधरों को आकाशगामी वर्णित किया गया है।[7] आकाश-विद्या से एक व्यक्ति को दूसरे स्थान पर शीघ्र भेजा जाता था।[8] देवताओं के पास विमान होने का उल्लेख मिलता है।[9] पद्म पुराण के वर्णनानुसार उस समय आकाश मार्ग से भी आक्रमण होते थे।[10] इस प्रकार सुझाव रखा जा सकता है कि आलोचित पुराणों के काल में सम्भवतः विज्ञान का प्रचलन हो गया था।

१८. अन्य शास्त्र : आलोचित जैन पुराणों में अन्य विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जो अधोलिखित हैं—नीतिशास्त्र,[11] मानविद्या (मापविद्या)[12], उपकरण निर्माणशास्त्र,[13] आयुधनिर्माणशास्त्र,[14] वस्त्रों से सम्बन्धित शास्त्र,[15] लक्षणशास्त्र[16], तंत्रशास्त्र[17], लोकाचारशास्त्र,[18] दर्शनशास्त्र[19] और रत्न-परीक्षाशास्त्र[20] आदि।

---

१. हरिवंश ३।८७
२. वही ६२।१८२-१८३
३. महा ४६।५१-५४
४. वही ३।८१-८७
५. वही ५१।४६
६. पद्म १०५।१५०; हरिवंश ५।६७
७. महा ८।६६, ८२४६
८. वही ५।१००, ६२।२६६; पद्म १।८८
९. वही ६।६५
१०. पद्म ६।५४१
११. पद्म ७३।२८
१२. वही २५।६०-६२
१३. वही २४।५६
१४. वही २४।५७
१५. वही २४।५८
१६. वही १६।१२३
१७. वही १६।१२३
१८. वही १६।१२५
१९. वही १८।६२
२०. वही १६।१२४

५

कला एवं स्थापत्य

[क] जन-सन्निवेश : स्वरूप एवं प्रकार

यद्यपि जैन पुराणों में जन-सन्निवेश के स्वरूप एवं प्रकारों की कोई विस्तृत एवं विशद विवेचना प्राप्य नहीं होती तथापि जैन पुराणों के परिशीलन से जो मोती उपलब्ध हुए हैं, उन्हें माला के रूप में संग्रथित करने का प्रयास अग्रलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

१. ग्राम : संग्रामे युद्धे धातु से 'अ' प्रत्यय होकर तथा 'सम' उपसर्ग का लोप होने से 'ग्राम' शब्द निर्मित हुआ है। इसका अर्थ है—युद्धस्थल। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ सभी प्रकार की चेष्टाएँ की जाती हैं उसे ग्राम कहते हैं। यहाँ पर क्रिया क्षेत्र योगरूढ़ हुआ है। जैन पुराणों में वर्णित है कि जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान निवास करते हों तथा जो उपवन और तड़ागों से युक्त हों, उसे ग्राम कहते हैं।[1] जैन पुराणों में ही यह उल्लेख आया है कि जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अर्थात् लघु-गाँव और जिसमें पाँच सौ घर हों एवं

१. महा १६।१६४; हरिवंश २।३; पद्म ३।३१८-३२७; पाण्डव २।१५८

कृषक धन-धान्य से सम्पन्न हों उसे विशाल-गाँव कहते हैं। प्रथम एवं द्वितीय प्रकार के गाँवों की सीमा क्रमशः एक कोस (दो मील) एवं दो कोस (चार मील) होती थी। इन गाँवों के धान के खेत सदा सम्पन्न रहते थे तथा उनमें घास एवं जल भी अधिक रहता था। नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीर-वृक्ष (थूहर) आदि के वृक्ष, बबूल आदि के कटीले वृक्ष, वन और पुल—ये सब उन गाँवों के सीमा-चिह्न कहलाते थे। गाँव के बसाने और उनके उपभोक्ताओं के योग्य विधि-विधान निर्मित करना, नवीन वस्तु के निर्माण एवं पुरानी वस्तु की सुरक्षा के उपाय, वहाँ के लोगों से बेगार कराना, अपराधियों को दण्ड प्रदान करना तथा जनता से कर वसूल करना आदि कार्य राजाओं के अधीन रहते थे।[1] पद्म पुराण में ग्रामों की समृद्धि एवं सम्पन्नता नगरों के समान कथित है।[2] यह वर्णन विशाल गाँवों के सन्दर्भ में है। महा पुराण में गाँव की सीमा विषयक वर्णन आया है कि गाँव इतने समीप बसे होते थे कि मुर्गा सरलता से एक गाँव से उड़कर दूसरे गाँव तक सुखपूर्वक जा सकता था। गाँवों की सीमाएँ थोड़े ही परिश्रम से फलने वाले धान के खेतों से शोभायमान होती थीं।[3]

सैनिक मार्ग के समीपस्थ खेतों की सुरक्षा गाँव के किसान सैनिकों से किया करते थे। गाँव के किसान इधर-उधर घूमते थे। गाँव के मार्ग गायों के खुरों से ऊँचे-नीचे, संकरे एवं कीचड़ से युक्त होते थे। गाँव के मुखिया महाबलवान् होते थे। गाँव में झोपड़ियों के समीप फल और फूलों से युक्त लताएं होती थीं। गाँवों के लोग घी के घड़े, दही के पात्र और अनेक प्रकार के फल राजा को भेंट करते थे।[4] इसी पुराण में अन्यत्र उल्लिखित है कि गाँव दण्ड आदि की बाधा से रहित होने के कारण सब सम्पत्तियों और वर्णाश्रम से परिपूर्ण थे तथा स्थानीय लोगों का अनुकरण करने वाले होते थे।[5]

ग्रामों के विषय में जैन पुराणों के उक्त विचार जैनेतर साहित्यों, उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों, विदेशी विवरणों आदि में यथास्थान द्रष्टव्य हैं। जैनेतर विद्वान् कौटिल्य ने ग्राम-निवेश एवं ग्राम-निर्माण के विषय में बताया है कि—'ग्राम' जिनमें

---

१. महा १६।१६५-१६८; पद्म ३३।५६

२. ... ...ग्रामाः सर्वसुखावहाः। पद्म ४।७६

३. महा ४।६४, ५४।१५

४ महा २६।१२०-१२७

५. वीतदण्डादिबाधत्वान्निगमाः सर्वसम्पदः।
वर्णाश्रमसमाकीर्णास्ते स्थानीयानुकारिणः॥ महा ५४।१६

कि प्रत्येक में कम से कम सौ शूद्र अथवा कृषक परिवार तथा अधिक से अधिक पाँच सौ परिवार हों, स्थापित किये जायें। प्रत्येक गाँव की सीमा एक कोस से दो कोस की हो। इनके रक्षार्थ अपनी-अपनी स्थित्यनुरूप पारस्परिक रक्षा का प्रबन्ध हो। सीमा का पार्थक्य अथवा निर्धारण किसी नदी, पर्वत, वन, वाल्बाकृति वीरुध, कन्दरा, पुल अथवा विशेष वृक्ष जैसे शाल्मली, शमी या क्षीरवृक्ष आदि से सम्पादित किया जाये। इन ग्रामों के रक्षार्थ ८०० ग्रामों के बीच स्थानीय दुर्ग, २०० ग्रामों के बीच द्रोणमुख दुर्ग तथा १० ग्रामों के बीच में संग्रहदुर्ग की स्थापना की जाये।[1]

जैनेतर ग्रन्थ मानसार एवं मयमत में ग्राम-प्रभेद का वर्णन उपलब्ध है। मानसार के वर्णनानुसार ग्रामों के आठ भेद हैं—दण्डक, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर, कार्मुक तथा चतुर्मुख। मयमत के अनुसार भी ग्रामों के आठ भेद हैं—दण्डक, स्वास्तिक, प्रस्तर, प्रकीर्णक, नन्द्यावर्त, पराग, पद्म तथा श्रीप्रतिष्ठित। इस प्रकार मानसार एवं मयमत में केवल पाँच सामान्य ग्राम हैं—दण्डक, नन्द्यावर्त, पद्म (पद्मक), स्वस्तिक तथा प्रस्तर।[2]

२. **नगर** : 'नग' शब्द में तद्धित् का 'र' प्रत्यय होने पर नगर शब्द बना है। जहाँ पर नग अर्थात् उत्तमोत्तम वस्तुएँ बिकती हों, उसे नगर कहते हैं। जैन पुराणों में नगर के विषय में वर्णित है कि जो परिखा, गोपुर, अट्टालिका, कोट और प्राकार से सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हों, जो उपवन एवं सरोवरों से युक्त हों, जो उत्तम रीति से उत्तम स्थान पर बसा हो, जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व एवं उत्तर दिशा के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो, जो प्रधान पुरुषों के रहने के योग्य हो, उसे प्रशंसनीय पुर या नगर संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[3] महा पुराण में उल्लिखित है कि नगर में बड़ी ऊँची पताकाएँ फहरती थीं और तोरण बाँधे जाते थे।[4] हरिवंश पुराण के वर्णनानुसार नगर में धूलि के बन्धान, कोट, परिखा, उद्यान, वन, आराम,

---

१. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १९६८, पृ० ६१

२. वही, पृ० ६३

३. परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमण्डितम्।
नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम्।
पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितम्।
पूर्वोत्तरप्लवाम्भस्कं प्रधानपुरुषोचितम्। महा १६।१६९-१७०, ७१।२५
शालगैलमहावप्रपरिखापरिवेषिणः। हरिवंश २।११; पाण्डव २।१५८

४. महा ६२।२६७

सरोवर, वापिका और विभिन्न मणियों से युक्त भवन होते थे।[1] जैनेतर ग्रन्थ मानसार में नगर की परिभाषा बताते हुए कथित है कि जहाँ पर क्रय-विक्रय होता हो, विभिन्न जातियों एवं परिवारों के व्यक्ति रहते हों, विभिन्न प्रकार के कर्मकार बसते हों, सभी धर्मावलम्बियों के धर्मायतन स्थित हों, वह नगर है।[2]

३. पत्तन : जैनसूत्रों में वर्णित है कि जहाँ नौकाओं द्वारा गमन होता है, उसे 'पट्टन' कहते हैं एवं जहाँ नौकाओं के अतिरिक्त गाड़ियों एवं घोड़ों से भी गमन होता है, उसे 'पत्तन' कहा गया है।[3] इसी प्रकार का विवरण जैन पुराणों में भी उपलब्ध होता है। जैन पुराणों के अनुसार जो समुद्र के तट पर स्थित हो और जहाँ नावों के द्वारा आवागमन हो, उसे 'पत्तन' कहते हैं।[4] जैन साहित्य में इसे 'जलपट्टन' कथित है।[5] जैनेतर ग्रन्थ अर्थशास्त्र में बन्दरगाह को 'पण्यपत्तन' वर्णित किया गया है।[6] मानसार के अनुसार पत्तन उस नगर को कहते हैं, जो समुद्र तट पर स्थित हो, जिसमें वणिक एवं विभिन्न जाति के लोग रहते हों, वस्तुएँ क्रय एवं विक्रय की जाती हों तथा वाणिज्य एवं व्यवसाय का बोलबाला हो और बाहरी देशों से क्रय-विक्रय के लिए लायी गयी सामग्री से परिपूर्ण हो।[7] बृहत्कथाकोश में 'पत्तन' को 'रत्नसम्भूतिः' अर्थात् रत्नप्राप्ति का स्थान बताया गया है।[8]

४. द्रोणमुख : जैन पुराणों में उस नगर को द्रोणमुख कथित है, जो किसी नदी के तट पर हो[9]। महा पुराण के उल्लेखानुसार द्रोणमुख में चार सौ गाँव होते थे।[10] द्रोणमुख उसे कहते थे, जहाँ जल और थल दोनों से आवागमन होता था, जैसे

---

१. हरिवंश ८।१४७-१४८

२. मानसार, अध्याय १०

३. पत्तनं शकटैर्गम्यं द्योटकैर्नाभिरेव च।
नौभिरेव तु यद् गम्यं पट्टनं तत्प्रचक्षते ॥ व्यवहारसूत्र, भाग ३

४. पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नौभिरवतीर्यते। महा १६।१७२; पद्म ४१।५७; हरिवंश २।३; पाण्डव २।१६०

५. मोती चन्द्र—सार्थवाह, पटना, १९५३, पृ० १६३

६. अर्थशास्त्र (शामा शास्त्री का अनुवाद), पृ० ३२८

७. मानसार, अध्याय १०; मयमत १०।२८-२९

८. बृहत्कथाकोश ९४।१६

९. भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम्। महा १६।१६३; पद्म ४१।५७; हरिवंश २।३; पाण्डव २।१६०

१०. महा १६।१७५; तुलनीय—चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखं। अर्थशास्त्र १७।१।३

ताम्रलिप्ति और भरुकच्छ। जैन साहित्य से भी ज्ञात होता है कि यहाँ पर विदेशी दास-दासियों की भी बहुत माँग थी।[1] मानसार में इसके लिए द्रोणान्तर शब्द व्यवहृत हुआ है। यह नगर समुद्र तट के पास नदी के मुहाने पर स्थित होता था, इसमें बनिये तथा अन्य जाति के लोग रहते थे और वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था।[2] कालान्तर के शिल्पशास्त्रों में भी इसी प्रकार का वर्णन समुपलब्ध है।[3]

५. **पुटभेदन** : जैन पुराणों में बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों (नगरों) को पुट-भेदन वर्णित किया है।[4] बड़े नगरों में थोक माल की गाँठे मुहरबन्द आती थीं और मुहर तोड़कर माल को छोटे (फुटकर) व्यापारियों को बेच दिया जाता था। मुहरों के इस प्रकार तोड़ने से विशिष्ट व्यापारिक केन्द्र को पुटभेदन संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। ऐसी मुहरें पुरातत्त्व की खुदाई से प्राप्त हुई हैं।[5] समराङ्गण-सूत्रधार में वर्णित है कि जहाँ बहुत से व्यापारी निवास करते हों और जो बन्दरगाह हो, उसे पुटभेदन कहते हैं।[6]

६. **खर्वट (कर्वट)** : खर्वट शब्द का शाब्दिक अर्थ जहाँ पर पति की अभिलाषा वाली बहुत-सी कन्याओं का अटन (भ्रमण) हो, उसे खर्वट कहते हैं।[7] समराङ्गण-सूत्रधार में इसे कर्वट वर्णित किया गया है और इसमें नगर-तत्त्व की प्रधानता का उल्लेख है।[8]

जैन पुराणों के अनुसार जो नगर पर्वत से घिरा हो उसे खर्वट कहते हैं।[9]

---

१. दोहिं गम्मति जलेण विथलेण वि द्रोणमुखं।
जहा भरुयच्छं तामलित्ति एवमादि ॥ आचाराङ्गचूर्णि' पृ० २८२
द्रोण्यो नावो मुखमस्येति द्रोणमुखं जलस्थलनिर्गमप्रवेशम् यथा भृगुकच्छं ताम्र-लिप्तिर्वा—उत्तराध्ययन का शान्तिसूरिवृत्ति, पृष्ठ ६०५

२. मानसार, अध्याय १०

३. शिल्परत्न, अध्याय ५

४. पद्म ४१।५७; हरिवंश २।३; तुलनीय—मिलिन्दपञ्हो, पृ० २; दीघनिकाय (द्वितीय भाग), पृ० ७२; अमरकोश, द्वितीय काण्ड, पृष्ठ ११६

५. मोती चन्द्र—सार्थवाह, पृष्ठ १६; अमरकोश (हरदत्त शर्मा), पृ० ७४; भारत की मौलिक एकता, पृ० १२१

६. समराङ्गण-सूत्रधार १८।५

७. विष्णु पुराण, अंश १, अध्याय ६

८. 'कर्वटं नगरोपमम्'—समराङ्गण-सूत्रधार, पृ० ८६

९. केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते। महा १६।१७१; हरिवंश २।३; पद्म ३।११६

मानसार[1] और मयमतम्[2] में कथित है कि खर्वट पर्वत के समीप स्थित होता है और इसमें सभी जातियों के लोग रहते हैं। कौटिल्य के अनुसार इसमें दो सौ गाँव होते थे।[3] महा पुराण में वर्णित है कि खर्वट में दो सौ गाँव होते हैं।[4] पाण्डव पुराण के अनुसार पर्वतों से घिरे हुए गाँव को कर्वट नाम से सम्बोधित करते हैं।[5]

७. **खेट :** जैन पुराणों के अनुसार जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे 'खेट' कहते हैं।[6] पाणिनि ने खेट को गर्हित नगर कहा है।[7] अमरकोश में इसके लिए 'कुत्सिक' तथा 'अवद्य' शब्द व्यवहृत हुआ है। मानसार और मयमतम् में उल्लेख आया है कि इसमें अधिकांशतः शूद्र ही निवास करते थे और नदी एवं पर्वत से आवेष्टित होते थे।[8] शिल्परत्न में वर्णित है कि दो ग्रामों अथवा ग्रामसमूह के मध्य में एक समृद्ध लघु-काय नगर खेटक नाम से सम्बोधित किया जाता है।[9]

खेट में समाज के निम्नवर्ग के लोग निवास करते थे। इसकी पुष्टि खेट शब्द की व्युत्पत्ति से की जा सकती है। खे (आकाशे) अटति असौ खेटः अर्थात् आकाश में भ्रमण करने वाले नक्षत्र, ग्रह आदि खेट हैं। जिस प्रकार ग्रह-नक्षत्र आदि सूर्य से सम्बद्ध रहते हुए पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार निम्न वर्ग के लोग भी गाँव से सम्बद्ध रहते हुए भी अलग से रहते थे।

८. **मटम्ब :** मटम्ब के लिए मडम्ब शब्द भी व्यवहृत होता है। जैन पुराणों में उस नगर को मटम्ब की अविधा दी गयी है, जो पाँच सौ गाँवों से संयुक्त होते थे।[10] इसमें बड़े नगरों की विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। ये व्यापार आदि के केन्द्र-स्थल होते थे।

१. मानसार, अध्याय १०
२. मयमतम्, अध्याय १०
३. अर्थशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ३
४. महा १६।१७५
५. पाण्डव २।१५६
६. सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं खेटमाहुर्मनीषिणः। महा १६।१७१; हरिवंश २।३ २।१५६; पद्म ३२।२५
७. चेलखेटकटुककाण्डं। गर्हायाम् अष्टाध्यायी ६।२।१२६
८. मानसार, अध्याय १०; मयमतम्, अध्याय १०
९. ग्रामयोः खेटकं मध्ये·····। शिल्परत्न, अध्याय ५
१०. मडम्बमामनन्ति ज्ञाः पञ्चग्रामशतीवृत्तम्। महा १६।१७२; पाण्डव २।१५६

९. **संग्रह :** संग्रह शब्द 'सम्' पूर्वक 'ग्रह्' धातु से 'अ' प्रत्यय होने से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ संचय करना है। महा पुराण में वर्णित है कि दस गाँवों के मध्य में एक ऐसे महान् (बड़े) गाँव को, जहाँ पर वस्तुओं का संग्रह किया जाता हो और आवश्यकतानुसार वितरण होता हो, उसे संग्रह कहते हैं।[1] ये संग्रह-ग्राम तत्कालीन नगर और ग्राम के सम्पर्क-सूत्र के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। आधुनिक परगना को संग्रह-ग्राम माना जा सकता है।

१०. **संवाह :** संवाह शब्द की व्युत्पत्ति—'सम्' पूर्वक 'वह्' धातु से 'अ' प्रत्यय होकर वकोत्तर अकार को आकार आदेश होने से 'संवाह' शब्द बना। इसका शाब्दिक अर्थ, जहाँ पर आम रूप से वाहन प्राप्त होते हों उसे संवाह कहा गया है। जैन पुराणों के अनुसार जिसमें मस्तक तक ऊँचे-ऊँचे धान्य के ढेर लगे हों, उस गाँव को संवाह कहते हैं।[2] इससे ज्ञात होता है कि गाँवों में सर्वाधिक अन्न की उपज होती थी, जिससे लोग समृद्धि एवं सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। वस्तुतः संवाह नगर के समान समृद्ध होते थे।

११. **घोष :** 'घुष्' धातु से 'अ' प्रत्यय होकर 'उकार' को ओकार आदेश होने पर 'घोष' शब्द बना। जहाँ पर कोलाहल करने वाले प्राणी रहते हों, उसे घोष कहते हैं। जैन पुराणों के अनुसार उस समय अहीरों (ग्वालों) की बस्ती पृथक् हुआ करती थी। अहीरों के इस छोटे से गाँव को घोष कथित है।[3] आज भी पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में अहीर के लिए घोसी शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१२. **आकर :** महा पुराण के अनुसार जिस गाँव के पास में ताम्र, रजत स्वर्ण, मणि, रत्न आदि की खानें होती हैं, उसे आकर की संज्ञा प्रदान की गयी है।[4]

---

१. दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्रामः स संग्रहः। महा १६।१७६

२. संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसंचय इष्यते। महा १६।१७३; पद्म ४।७६

३. पद्म ४१।५७; हरिवंश २।३; महा १६।१७६

४. महा १६।१७६

[ख] वास्तु एवं स्थापत्य कला

'वास्तु' शब्द की जो व्याख्या प्राचीन आचार्यों ने की है वह भी वास्तु शास्त्र के व्यापक सम्बन्ध में बड़ी सहायक है। मानसार के अनुसार भूमि, हर्म्य (भवन-आदि), यान एवं पर्यंक से 'वास्तु' शब्द का बोध होता है। वास्तु की इस चतुर्मुखी व्यापकता की सोदाहरण व्याख्या करते हुए डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य ने वास्तु विश्वकोश (पृ० ४५६) में लिखते हैं कि—हर्म्य में प्रासाद, मण्डप, सभा, शाला, प्रपा तथा रंग—ये सभी सम्मिलित हैं। यान आदि से स्पन्दन, शिबिका एवं रथ का बोध होता है। पर्यंक के अन्तर्गत पंजर, मँचली, मंच, फलकासन तथा बाल-पर्यंक आते हैं। वास्तु शब्द ग्रामों, पुरों, दुर्गों, पत्तनों, पुटभेदनों, आवास-भवनों एवं निवेश्य-भूमि का भी वाचक है; साथ ही मूर्तिकला अथवा पाषाणकला वास्तुकला की सहचरी कही जा सकती है। अर्थशास्त्र, अग्नि पुराण तथा गरुड़ पुराण वास्तु शब्द के इस अर्थ का समर्थन करते हैं।[1] प्राचीन काल में वास्तु एवं स्थापत्य कला का अत्यधिक विकास हुआ था। महा पुराण में अभियन्ता (इञ्जीनियर) के लिए 'स्थपति' शब्द व्यवहृत हुआ है।[2] जैन आगम में वास्तुपाठकों का उल्लेख उपलब्ध है, जो कि नगर-निर्माण के लिए इधर-उधर भ्रमण किया करते थे।[3] जैन पुराणों के परिशीलन से वास्तु एवं स्थापत्य कला को अध्ययन की दृष्टि से अधोलिखित भागों में विभाजित कर विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

१. नगर-विन्यास : प्राचीन-काल से वास्तुकला में नगर-निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। नगर-निर्माण के लिए रामायण, महाभारत, जातक, मिलिन्दपञ्हो, युग पुराण, मयमत, मानसार, समराङ्गणसूत्रधार आदि प्राचीन-ग्रन्थों में नगर-स्थापन, नगर-विन्यास, पुर-निवेशन, नगर-निवेशन, नगर विनिवेश, पुरस्थापन तथा नगर करण शब्दों का यथास्थान प्रयोग हुआ है।[4] वास्तुकला और प्रासाद बनाने के लिए स्थपति (इञ्जीनियर) होते थे।[5] स्थपति का प्रयोग जैनेतर ग्रन्थ मानसार[6], मयमत[7] और समराङ्गणसूत्रधार[8] आदि शिल्प-शास्त्रों में हुआ है।

---

१. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल : भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १९६८, पृ० १७
२. महा ३२।३४
३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७७
४. उदय नारायण राय—प्राचीन भारत में नगर एवं नागरिक जीवन, पृ० २३१
५. महा ३७।१७७
६. मानसार, अध्याय २
७. मयमत, अध्याय ५
८. समराङ्गणसूत्रधार, पृ० २३५

आलोचित जैन पुराणों के अनुसार नगर पूर्व और पश्चिम नव योजन चौड़े और दक्षिण से उत्तर बारह योजन लम्बे होते थे। उनका मुख पूर्व दिशा की ओर होता था।[1] नगरियों में १,००० चौक (चतुष्क) १२,००० गलियाँ (वीथियाँ), छोटे-बड़े १,००० दरवाजे, ५०० किवाड़ वाले दरवाजे एवं २०० सुन्दर दरवाजे होते थे।[2] पद्म पुराण में वर्णित है कि नगर चूने से पुते होने से सफेद महलों की पंक्ति से युक्त प्रतीत होते थे।[3] जैन पुराणों में नगरों की समृद्धि के वर्णन उपलब्ध हैं। पद्म पुराण के अनुसार भरत के राज्य में नगर देवलोक के समान उत्कृष्ट सम्पदाओं से परिपूर्ण थे।[4] पद्मपुराण में वर्णित है कि विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी की नगरियाँ एक से एक बढ़कर, नाना देशों एवं ग्रामों से व्याप्त, मटम्बों से संकीर्ण तथा खेट और कर्वट के प्रसार से युक्त हैं। वहाँ की भूमि भोगभूमि के समान है। झरने सदा मधु, दूध, घी आदि रसों को बहाते हैं। अनाजों की राशियाँ पर्वतों के सदृश्य है। अनाज की खत्तियों का कभी क्षय नहीं होता। वापिकाओं एवं बगीचों से आवृत्त महक बहुत भारी कान्ति को धारण करते हैं। मार्ग धूलि और कण्टक से रहित सुखद हैं। प्याऊ बड़े-बड़े वृक्षों की छाया से युक्त एवं रसों से पूर्ण हैं।[5] महा पुराण में उल्लिखित है कि धूलि के ढेर और कोट की दीवारों से दुर्लंघ्य नगर दरवाजों, अट्टालिकाओं की पंक्तियों तथा बन्दरों के शिर जैसे आकार वाले बुर्जों से अत्यधिक सुशोभित हो रहा था।[6] जैन पुराणों के उक्त उल्लेख अतिरंजित अवश्य हैं, तथापि नगरों की समृद्धता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

महा पुराण में पुर निर्माण के सात अवयव—वप्र, प्राकार, परिखा, अटारी, द्वार, गली और मार्ग—वर्णित हैं।[7] पद्मपुराण के अनुसार नगर के चारों ओर विशाल कोट का निर्माण किया जाता था। कोट के चारों ओर गहरी परिखा खोदी जाती थी। जो अत्यधिक गहरी होती थी, जिससे इसकी उपमा पाताल से दी जाती थी।

---

१. पूर्वापरेण रुन्द्राः स्युर्योजनानि नवैवताः।
दक्षिणोत्तरतो दीर्घा द्वादश प्राङ्मुखं स्थिताः॥ महा १६।७०; हरिवंश ५।२६४

२. महा १६।६८-६६; हरिवंश ५।२६५-२६६

३. सुधारससमासङ्गपाण्डुरागारपंक्तिभिः। पद्म २।३७

४. पद्म ४।७६

५. पद्म ३।३१५-३२५

६ महा ६३।३६५

७. वही १६।५४-७३

नगर ऊँचे गोपुरों से संयुक्त होते थे। बड़ी-बड़ी वापिकाओं-अट्टालिकाओं से नगर को अलंकृत किया जाता था।[1] पद्म पुराण में वर्णित है कि नगर में स्त्रियाँ, पुरुष, बच्चे, मुनि, वेश्याएँ, लासक (नृत्य करने वाले), शत्रु, शस्त्रधारी, याचक, विद्यार्थी, वन्दिजन, धूर्त, संगीतशास्त्र के पारगामी विद्वान्, वैज्ञानिक (विज्ञान ग्रहणोद्युक्त) साधु, वणिक, शरणागत, वार्तिक, विदग्ध, विट, चारण, कामुक, सुधी तथा मातंग आदि रहते हैं।[2] महा पुराण में व्यवस्था दी गयी है कि प्रत्येक नगर के मध्य में चतुष्क (चौराहा) निर्मित किया जाता था। चौराहे चौड़े होते थे तथा नगर के सभी प्रमुख स्थानों से सम्बद्ध रहते थे।[3] नगर के प्रतोली[4] और रथ्या[5] का उल्लेख महा पुराण में हुआ है। प्रतोली रथ्या से चौड़ी गली थी। प्रतोली नगर के प्रमुख बाजार एवं मुहल्लों की ओर जाती थी, जबकि रथ्या सीमित मुहल्ले तक ही जाती थी।

[i] **दुर्ग :** पद्म पुराण के अनुसार शत्रु के द्वारा आक्रान्त होने पर राजा लोग दुर्ग में आकर शरण लेते थे।[6] शत्रु पर आक्रमणार्थ भी राजा दुर्ग में आश्रय लेता था।[7] महा पुराण में दुर्ग के अन्दर यथास्थान यन्त्र, शस्त्र, जल, घोड़े, जौ तथा रक्षकों का उल्लेख उपलब्ध है।[8] पद्म पुराण में दुर्गम-दुर्ग का सन्दर्भ प्राप्त है।[9] जैनेतर साहित्य में दुर्गों के प्रकार का विस्तारशः वर्णन उपलब्ध है। कौटिल्य ने चार प्रकार—औदक, धान्वन, पार्वत तथा वन—के दुर्गों का उल्लेख किया है।[10] अन्य शास्त्रकारों के मतानुसार छः प्रकार के दुर्ग होते हैं—धान्व, मही, वार्क्ष, जल, नृ तथा गिरि।[11] शुक्राचार्य ने नौ प्रकार के दुर्ग बताया है—ऐरिण, परिख, पारिध, वन, धन्व, जल, गिरि, सैन्य तथा सहाय।[12] समराङ्गणसूत्रधार में दुर्ग-विधान की विवेचना उपलब्ध है। इसमें विजयार्थी राजा के लिए छः प्रकार—जल, पंक, वन, ऐरिण, पर्वतीय तथा गुहा—के दुर्गों की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[13] आलोचित जैनपुराणों

---

१. पद्म २।४६, ३।१६६-१७०
२. वही २।३६-४५
३. महा २६।३
४. वही ४३।२०८
५. वही २६।३
६. पद्म ४३।२८
७. वही २६।४०
८. महा ५४।२४
९. पद्म २६।४७
१०. अर्थशास्त्र २।३-४
११. महाभारत शान्तिपर्व ५६।३५, ८६।४-५; मनु ७।७०, विष्णुधर्मसूत्र ३।६; मत्स्य पुराण २।७।६-७; अग्नि पुराण २२२।४-५
१२. शुक्र ४।८५०-८५४
१३. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल-समराङ्गणीय भवन निवेश दिल्ली, १९६४, पृ० ४१

के रचना-काल में दुर्गों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। शान्ति एवं युद्ध काल में इनका बहुविधि प्रयोग किया जाता था।

[ii] **राजधानी :** दुर्ग राजा की शक्ति का परिचायक होता था।[1] समराङ्गणसूत्रधार[2] और मयमतम्[3] में राजधानी को उस नगर के रूप में वर्णित किया गया है, जहाँ राजा निवास करता था। अर्थशास्त्र में राजधानी के लिए 'स्थानीय' शब्द प्रयुक्त हुआ है और राजधानी में ८०० ग्राम होते थे।[4] प्राचीन ग्रन्थों में राजधानी के लक्षणों का निरूपण करते हुए उल्लिखित है कि राजधानी के चतुर्दिक् परिखा, प्राकार एवं नगर द्वारों का होना अनिवार्य था तथा इसके अन्दर चौड़े राजमार्गों, सुन्दर भवनों, उपवनों एवं सरोवरों का निर्माण किया जाता था। इसके अतिरिक्त राजधानी के नगर-द्वार पर सैनिक-शिविर, उन्नतगोपुर, शालाओं एवं विशाल भवनों का निर्माण किया जाता था।[5] डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के मतानुसार जिस नगर में राजा निवास करता है उसको राजधानी की अभिधा से सम्बोधित करते हैं और अन्य नगरों का बोध शाखा नगर की संज्ञा से होता है।[6] शुक्राचार्य के मतानुसार राजधानी के निर्माण में अग्रलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। सुरम्य एवं समतल भू-भाग पर राजधानी या नगर का निर्माण करना चाहिए; जो विविध प्रकार के वृक्षों, लताओं एवं पौधों से आवृत्त हो, जहाँ पर पशुपक्षी एवं जीव-जन्तुओं की सम्पन्नता हो, भोजन एवं जल सुलभ हो सके, बाग-बगीचे, हरियाली प्राकृतिक सौन्दर्य दर्शनीय हों, समुद्रतट पर गमनशील नौकाओं के यातायात को दृष्टिगत किया जा सके और वह स्थान पर्वत के समीप हो।[7]

जैन पुराणों के अनुसार कोट-प्राकार, गोपुर, अट्टालिका, वापिका, बगीचों आदि से सुशोभित राजधानियाँ होती थीं।[8] आलोच्य जैन पुराणों में भी राजधानियों के नगरों में वही आदर्श उपलब्ध है जैसा कि शुक्रनीति में वर्णित है। पद्म पुराण में

---

१. पी० सी० चक्रवर्ती—आर्ट ऑफ द वार इन ऐंशेण्ट इण्डिया, ढाका, १९४१, पृ० १२७

२. समराङ्गणसूत्रधार, पृ० ८६

३. मयमतम्, अध्याय १०

४. अर्थशास्त्र १७।१।३

५. शुक्र, अध्याय १; मयमतम् अध्याय १; मानसार अध्याय १

६. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—वही, पृ० ९९

७. शुक्रनीति, प्रथम अध्याय

८. महा १६।१६२; पद्म ३।३१६-३१७

कथित है कि उक्त राजधानियों में बिना परिश्रम के अन्न, फल एवं औषधि मिलती थी। अनाज से खत्तियाँ परिपूर्ण थीं। मार्ग धूलि एवं कण्टक रहित थे। ऋतुएँ आनन्दप्रद थीं। वर्षा आवश्यकतानुसार होती थी।[1] राजधानी में ८०० ग्राम होने का उल्लेख मिलता है।[2]

[iii] **सड़क निर्माण :** नगरों में सड़क या मार्ग निर्माण परम कुशलता का परिचायक होता है। जैन पुराणों में राजमार्ग, प्रतोली और रथ्या शब्द सड़क के लिए व्यवहृत हुए हैं। राजमार्ग सीधे बनाये जाते थे।[3] पद्म पुराण में वर्णित है कि नगर में गलियाँ इतनी संकरी होती थीं कि किसी व्यक्ति के वेग से आने पर खड़े हुए व्यक्ति के हाथ से बर्तन गिर जाता था।[4]

राजमार्ग नगर के मध्य से होकर जाता था। समराङ्गण-सूत्रधार में राजमार्ग की चौड़ाई की माप—ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ—तीन प्रकार के नगरों में बाँट कर निकाली गयी है, जो क्रमशः २४, २० एवं १६ हाथ (३६ फुट, ३० फुट एवं २४ फुट) होनी चाहिए। इनका इतना विस्तार होना चाहिए कि पैदल, चतुरंगिणी सेना, राजसी जुलूस एवं नागरिकों के चलने में किसी प्रकार का अवरोध न हो। यह राजमार्ग पक्का निर्मित करना चाहिए।[5] शुक्राचार्य के अनुसार उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ प्रकार के नगरों के राजमार्गों की चौड़ाई क्रमशः ४५ फुट, ३० फुट एवं २२½ फुट होनी चाहिए।[6] पद्म पुराण में वर्णित है कि जहाँ पर दो मार्ग एक दूसरे को समकोण पर काटें, उस स्थान को चौराहा (चत्वर) कहा गया है और जब एक मार्ग के बीच से कोई मार्ग निकलता हो तो उस स्थान को तिराहा (त्रिक) कहा गया है। विशेष अवसरों पर इन तिराहों एवं चौराहों सहित मार्ग को सुसज्जित किया जाता था।[7]

समराङ्गण-सूत्रधार में तीन प्रकार की रथ्यायें वर्णित हैं —महारथ्या, रथ्या एवं उपरथ्या। जेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ नगरों के भेद के कारण महारथ्यायें

१. पद्म ३।३१६-३३६
२. महा १६।१७५
३. पद्म ६।१२१-१२२; महा ४३।२०८, २६।३
४. वही १२०।२७
५. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १९६८, पृ० ८५
६. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—वही, पृ० ८९
७. पद्म ९९।१२-१३

क्रमशः १२, १० एवं ८ हाथ (१८, १५ एवं १२ फुट) चौड़ी होनी चाहिए। रथ्या की चौड़ाई राजमार्ग से आधी और उपरथ्या की चौड़ाई राजमार्ग से चौथाई होनी चाहिए। ये रथ्यायें एवं उपरथ्यायें नगरों को छोटे-छोटे उपखण्डों में बाँटने में सहायक होती हैं।[1]

[iv] **सुरक्षा-व्यवस्था :** नगर-विन्यास में सुरक्षा-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में सुरक्षा के दो साधन थे—(१) प्राकृतिक और (२) कृत्रिम। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि नदी, जल, पर्वत, पत्थरसमूह, मरुस्थल, जंगल आदि प्राकृतिक साधन थे।[2] समराङ्गण-सूत्रधार में नगरों के रक्षार्थ पाँच प्रकार के कृत्रिम साधन वर्णित हैं—(१) परिखा, (२) वप्र, (३) प्राकार, (४) द्वार एवं गोपुर, (५) रथ्या।[3] उक्त के अतिरिक्त अट्टालक एवं बुर्ज शब्द का उल्लेख जैन पुराणों में भी उपलब्ध होता है, जिनका वर्णन अग्रलिखित है :

(१) परिखा : 'परिखा' शब्द की व्युत्पत्ति परिपूर्वक खन् धातु से अ प्रत्यय होकर अन प्रत्यय का लोप होने एवं स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय होने से परिखा शब्द निर्मित हुआ है। चारों ओर खुदी हुई खाई को परिखा संज्ञा से अभिहित करते हैं। नगर की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर परिखा या खाई का निर्माण किया जाता था। पद्म पुराण के अनुसार राजगृह नगर की परिखा उसे समुद्र के समान घेरे हुई थी।[4] सुरक्षा की दृष्टि से नगर के अतिरिक्त मन्दिरों के चारों ओर परिखाओं के निर्माण करने का उल्लेख पद्म पुराण में हुआ है।[5] महा पुराण के वर्णनानुसार जल, पंक तथा रिक्त नामक तीन प्रकार की परिखायें होती थीं।[6]

जैनेतर ग्रन्थ अर्थशास्त्र[7], समराङ्गणसूत्रधार[8], महाउम्मग जातक[9] में भी तीन प्रकार की परिखाओं—जल परिखा, पंक परिखा तथा रिक्त परिखा—का उल्लेख

---

१. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—वही, पृ० ८५-८६
२. अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय ३, पृ० ५४
३. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल—वही पृ० १०१-१०२
४. पद्म २।४६
५. वही ४०।२६
६. महा १६।५३
७. अर्थशास्त्र, भाग १
८. समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, पृ० ४०
९. जातक, संख्या ५४६

उपलब्ध है। परिखा के भीतरी दोनों किनारों एवं तल की सुदृढ़ता के लिए ईंटों या पत्थरों की चुनाई की जाती थी। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र की परिखा ६०० फुट चौड़ी थी। जैनेतर ग्रन्थ अर्थशास्त्र में प्रथम परिखा १४ दण्ड, द्वितीय परिखा १२ दण्ड और तृतीय परिखा १० दण्ड विस्तीर्ण होती थीं। परिखा की गहराई चौड़ाई से कम होती थी। इसकी गहराई सामान्यतः १५ फुट होती थी। परिखा की गहराई नापने के लिए पुरुष (पुरुसा) का प्रयोग किया जाता था। परिखा के जल में कभी-कभी भयंकर जलजीव, घड़ियाल, नाक (नक्र) और मगर आदि छोड़े जाते थे, जिससे शत्रु परिखा को पार न कर सके। परिखा की सुन्दरता के लिए उसके जल में कमल, कुमुद आदि जलपुष्प और हंस, कारण्डव आदि पक्षियों का उल्लेख प्राप्य है। कभी-कभी परिखाओं में नालों (परिवाहों) की गन्दगी गिराई जाती थी।[1] आलोचित जैन महा पुराण में भी उक्त उल्लेख मिलता है।[2]

(२) वप्र (कोट) : महा पुराण में वप्र के निर्माण का अति रोचक वर्णन हुआ है। परिखा के निर्माणोपरान्त वप्र (रैम्पर्ट) निर्मित किया जाता था। परिखा के उत्खनन से जो मिट्टी निकलती थी, उसी से वप्र का निर्माण होता था। इसके निर्माण के लिए यह मिट्टी परिखा से चार दण्ड (२४ फुट) की दूरी पर एकत्र की जाती थी। वप्र के ऊपर कटीली एवं विषैली झाड़ियाँ लगाने से वह शत्रु के लिए अगम्य हो जाता था। यह सामन्यतया छः धनुष (३६ फुट) ऊँचा तथा बारह धनुष (७२ फुट) चौड़ा होता था। कोट के ऊपरी भाग में अनेक कंगूरे निर्मित किये जाते थे, जो गाय की खुर के समान गोल तथा घड़े के उदर के समान बाहर की ओर उभरे हुए आकार के होते थे।[3] इसी प्रकार का वर्णन जैनेतर ग्रन्थ समराङ्गण-सूत्रधार में भी उपलब्ध है।[4]

(३) प्राकार : प्राकारों (परकोटे) का निर्माण वप्रों के ऊपर होता था। प्राकार तीन प्रकार के होते थे : (१) प्रांसु प्राकार या मृद्-दुर्ग (धूलकोट) (२) इष्टका प्राकार (ऐष्टक प्राकार) और (३) प्रस्तर प्राकार।[5] इसकी ऊँचाई वप्र

---

१. उदय नारायण राय—प्राचीन भारत में नगर और नागरिक जीवन पृ० २४१-२४६
२. महा ४।१०८, १४।६६, १६।५३-५७
३. वही १६।५८-५६
४. समराङ्गण-सूत्रधार, पृ० ४०
५. उदय नारायण राय—वही, पृ० २४५-२४६

के विस्तार से दूनी होनी चाहिए। यह १२ धनुष चौड़ा तथा २४ धनुष ऊँचा होता था। इसके अग्रभाग में मृदंग और बन्दर के आकार के कंगूरे निर्मित होते थे। इसका निर्माण ईंटों तथा पत्थरों से होता था। ईंटों की अपेक्षा पत्थरों का प्राकार प्रशस्त माना जाता था।[1] पद्म पुराण में लंका के प्राकार को महा प्राकार की अविधा प्रदान की गई है।[2] इसी पुराण में वर्णित है कि प्राकार पर चढ़कर शत्रु एवं नगर के बाहर की देखरेख की जाती थी।[3] पद्म पुराण में उस समय मायामय कोटों के वर्णन का उद्धरण मिला है, जो कि दुष्प्रवेश एवं दुर्गम्य होते थे। उसके समीप पहुँच कर मनुष्य वापस नहीं लौटता था।[4] प्राकार (कोट) की ऊँचाई अत्यधिक थी। वे गोपुर-दरवाजों से युक्त, दुर्निरीक्ष्य, विस्तीर्ण एवं हिंसामय होती थीं।[5] महा पुराण में उल्लिखित है कि नगर को घेरने के लिए प्राकार का निर्माण किया जाता है।[6] इसी प्रकार जैनेतर ग्रन्थ अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि प्राकार की नींव इतनी विस्तृत होती थी कि उसमें रथी रथ पर बैठकर आवागमन कर सकता था।[7]

(४) अट्टालक : आलोच्य जैन पुराणों में विशाल अट्टालकों का उल्लेख उपलब्ध है।[8] प्राकारों में बुर्जों का निर्माण होता था। इन्हें 'अट्टालक' कथित है। प्रत्येक दिशा के नगर-प्राकार में बुर्ज बनाये जाते थे। इनके मध्य की दूरी अधिक होती थी। ये संख्या में अधिक निर्मित किये जाते थे। बुर्ज की चोटी पर सैनिक नियुक्त किये जाते थे। दुर्ग पर आक्रमण के समय ये सैनिक उसकी रक्षा करते थे।[9] महा पुराण के अनुसार अट्टालिकायें १५ धनुष लम्बी तथा ३० धनुष ऊँची होती थीं और ३०-३० धनुष के अन्तर से निर्मित होती थीं। ये बहुत चित्र-विचित्र ढंग से चित्रित थीं तथा ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थीं। ये बहुत ऊँची होती थीं, मानों आकाश को छू रही हैं।[10]

---

१. महा १६।६०-६१
२. पद्म ५।१७५
३. वही ४६।२१५
४. वही ५२।७-१४
५. वही ३।३१६
६. महा ५४।३५
७. अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३, पृ० ७८
८. पद्म ३।३-६; हरिवंश ५।२६४; महा १६।६२
९. उदय नारायण राय—वही, पृ० २४८
१०. महा १६।६२-६३

(५) बुर्ज : आलोचित महा पुराण में वर्णित है कि गोपुर और अट्टालिका के मध्य में तीन-तीन धनुष विस्तार वाले बुर्ज (इन्द्रकोश) निर्मित हुए थे। बुर्ज किवाड़-सहित झरोखों से युक्त होते थे। बुर्जों के मध्य अत्यन्त स्वच्छ देवपथ से बने हुए थे, जो तीन हाथ चौड़े और बारह हाथ लम्बे होते थे।[1]

(६) गोपुर : आलोच्य जैन पुराणों में अनेक गोपुरों के निर्माण का वर्णन उपलब्ध है।[2] पद्म पुराण के अनुसार उस समय कपड़ों के डेरों में भी गोपुरें निर्मित की जाती थीं और उनके दरवाजे पर योद्धा नियुक्त किये जाते थे।[3] जैन पुराणों में कोट के चारों दिशा में एक-एक गोपुर होते थे।[4] अट्टालिकाओं के मध्य में एक-एक गोपुर का निर्माण हुआ था, उस पर रत्नों के तोरण लगे हुए थे। ये गोपुर ५० धनुष ऊँचे और २५ धनुष चौड़े होते थे।[5] महा पुराण के अनुसार प्रत्येक गोपुर द्वार पर—पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक (ठौना), भृङ्गार एवं कलश—ये आठ मंगल द्रव्य रखे जाते थे। गोपुर के दरवाजे पर पहरेदार पहरा देते थे।[6]

(७) प्रतोली : अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि प्राकार में चार प्रधान द्वारों के अतिरिक्त गौण द्वार भी होने थे, इन्हें प्रतोली संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्रधान नगर-द्वार (गोपुर) की चौड़ाई प्रतोली की छः गुनी होनी चाहिए। नगर द्वार के ऊपर एक बुर्ज निर्मित किया जाता था, जो आकार में घड़ियाल के मुख के सदृश्य होता था।[7] महा पुराण में प्रतोली को रथ्या से चौड़ी गली के रूप में चित्रण प्राप्य है।[8]

२. भवन-निर्माण : 'भू' धातु से अधिकरण अर्थ में 'अन्' प्रत्यय होने से भवन शब्द बनता है, जिसमें प्राणी निवास करते हैं, अतः उसे भवन संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। आदिम काल से मनुष्य की तीन प्राथमिक आवश्यकताएँ—भोजन, वस्त्र एवं आवास—रही हैं। मनुष्य किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता था ? इसका

---

१. महा १६।६५-६६
२. पद्म ३।३१६, ५।१७५; महा ६२।२८; हरिवंश २।६५
३. वही ६३।२८-३४
४. हरिवंश २।६५; महा ६२।२८
५. महा १६।६४
६. वही २२।२७५-२७६
७. अर्थशास्त्र (शास्त्री), पृ० ५३
८. महा ४३।२०८

रुचिकर चित्रण जैन पुराणों में उपलब्ध होता है। पद्म पुराण के अनुसार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने शिल्पकला के माध्यम से नगर, ग्राम एवं मकान आदि के निर्माण की शिक्षा प्रजा को प्रदान किया था।[1] प्रासाद निर्माण की कला के क्रमिक विकास का विवरण पद्म पुराण में उपलब्ध है। चौदहवें (अन्तिम) कुलकर नाभिराय के समय में जब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये, तभी उनके क्षेत्र में एक कल्पवृक्ष रह गया, जो प्रासाद अर्थात् भवन के रूप में स्थित था और अत्यधिक ऊँचा था।[2] ऐसी सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं कि उस समय वृक्ष ही आश्रय (रहने) के स्थान थे, जिसके नीचे पत्तों का अवरोध निर्मित किया गया होगा, आगे चलकर भित्ति का निर्माण हुआ होगा और अन्त में दीवाल का निर्मित हुई होगी। इसी का विकसित रूप प्रासाद है।

पद्म पुराण में नगर के निवासार्थ गृह[3], आगार[4] (छोटे महल), प्रासाद[5] (बड़े महल) तथा सदम[6] (बड़े महल) आदि शब्दों का प्रयोग जैन पुराणों में प्राप्य है। उक्त पुराण में ही अन्यत्र उल्लेख आया है कि इनकी चूने से पुताई की जाती थी और नगर में रंग-बिरंगी ध्वजाएँ लगायी जाती थीं तथा केशर आदि मिश्रित जल से पृथ्वी का सिंचन किया जाता था।[7] इसके अतिरिक्त काले, पीले, नीले, लाल एवं हरे पाँच रंग वाली चूर्ण से महलों की भित्तियों पर बेलबूटे चित्रण करते थे।[8] शुभ एवं मांगलिक अवसरों पर दरवाजों पर जल से परिपूर्ण कलश रखने की व्यवस्था थी, मालाएँ बाँध कर अच्छे-अच्छे वस्त्रों को लटकाकर शोभार्थ उन्हें सुसज्जित करते थे।[9]

[i] भवनों की विशेषतायें : महा पुराण में भवन की विशेषताओं का रुचिकर ढंग से विवेचन किया गया है। भवन के निर्माण में ऊँचे-ऊँचे शिखरों का निर्माण किया जाता था।[10] भवन की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार उसमें एक आँगन होना चाहिए।[11] भवनों को सफेद, नाना आकारों का धारक एवं रत्नादि उत्तमोत्तम

---

१. पद्म ३।२५५

२. अथ कल्पद्रुमो नाभेरस्य क्षेत्रस्य मध्यगः।
स्थितः प्रासादरूपेण विभात्यत्यन्तमुन्नतः॥ पद्म ३।८६

३. पद्म २८।५
४. वही ७।७७
५. वही ८।२६
६. वही २८।२०
७. वही १२।३६६
८. पद्म १२।३६७
९. वही १२।३६८
१०. महा ५४।२८
११. पद्म २।८१-८३

वस्तुओं से परिपूर्ण होना चाहिए।[1] भवन में पक्का धरातल होना चाहिए।[2] भवन में बगीचे एवं वापिकाएँ (दीर्घिकाएँ) भी होनी चाहिए।[3] राजा के दरबार में अनेक गोपुर, कोठ, सभा, शालाएँ, कूट, प्रेक्षागृह तथा कार्यालय आदि का होना अनिवार्य था।[4] राज भवन की भूमि को चाँदी तथा सुवर्ण के लेप से सुन्दर बनाना चाहिए।[5] राजमहल ऊँचे होने चाहिए।[6] मण्डप में अनेक स्तम्भ होना चाहिए जो मोतियों आदि की मालाओं से सुशोभित हों। इनमें अनेक प्रकार के पुतलों से युक्त विविध प्रकार के मण्डप निर्मित किये जाएँ।[7] दरवाजे बड़े-बड़े रत्नों से जटित होने चाहिए।[8] भवन का द्वार विशाल आकार का होना चाहिए।[9]

[ii] **भवनों के प्रमुख अंग** : अधुनातन युग में भवनों के अंगों के निर्माण विषयक विभिन्न प्रकार का विवरण मिलता है, उसी तरह आलोचित जैन पुराणों में भवनों का उल्लेख उपलब्ध होता है। भवन के प्रमुख अंगों का विवरण निम्नवत् प्रस्तुत है :

(१) द्वार : पद्म पुराण में द्वारविषयक सुन्दर चित्रण उपलब्ध होता है। प्रासाद का द्वार ऊँचे प्राकार से युक्त रहता था। द्वार पर सैकड़ों देदीप्यमान बेलबूटे उरेहे जाते थे तथा द्वार इन्द्रधनुष के सदृश्य रंग बिरंगे तोरणों से सुशोभित रहता था।[10] द्वार बहुत विशाल होते थे। द्वार के निर्माणार्थ काष्ठ का प्रयोग करते थे, परन्तु रत्नों, मणियों एवं सुवर्ण द्वारा निर्मित द्वार का भी उल्लेख हुआ है, जिन पर मोती की मालाएँ लटकायी जाती थीं।[11] इसके दो प्रमुख अंग होते थे—अभ्यान्तर द्वार एवं वाह्य द्वार।[12] उक्त पुराण में ही कम्प नामक बढ़ई का उल्लेख उपलब्ध है, जो कपाट बनाकर अपनी जीविका चलाया करता था।[13]

(२) स्तम्भ : स्तम्भ भवन का प्रमुख अंग होता था, जो मन्दिरों तथा पक्के भवनों के सन्दर्भ में निर्मित किया जाता था।[14] ईंट एवं पत्थर के अतिरिक्त सुवर्ण तथा रत्न का भी प्रयोग स्तम्भों के निर्माण में होता था।[15]

---

१. पद्म ८३।१७
२. वही ८३।१८
३. वही ८३।१६
४. वही ८३।४-८
५. वही ८१।११२
६. वही ८१।११३; महा १४।६४
७. वही ८१।११४
८. वही ८।११५
९. पद्म ७१।१८
१०. वही ३८।८३
११. वही ६।१२४-१२७
१२. वही ३।११७
१३. वही ६१।२४
१४. पद्म४०।२८, ५३।२६४
१५. वही ८०।८

(३) आस्थान-मण्डप : आलोचित जैन पुराणों में आस्थान-मण्डप शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[1] हर्षचरित में इसको आस्थान, राजसभा, सभा तथा सभामण्डल संज्ञा से अभिहित किया गया है। राजा 'आस्थान-मण्डप' में बैठकर विचार-विमर्श करते थे।[2]

(४) अन्य मण्डप : आलोच्य जैन पुराणों में अन्य मण्डपों का भी उल्लेख प्राप्य होता है : लता-मण्डप[3], आस्थायिका[4], आहार-मण्डप[5], कुन्द-मण्डप[6], सन्नाह-मण्डप[7] आदि। आहार-मण्डप में भरत मित्रों, सम्बन्धियों आदि के साथ भोजन करते थे।[8] सन्नाह-मण्डल आयुधशाला थी, जिसमें शस्त्रास्त्र और बाजे आदि रखे जाते थे।[9]

(५) सभा : पद्म पुराण में सभा के विषय में अत्यन्त रुचिकर वर्णन उपलब्ध है। इसका अन्य नाम पद्म पुराण में सद्म शब्द उपलब्ध है।[10] उक्त पुराण में राजसभा[11] एवं सभा[12] का उल्लेख मिलता है। राजसभाओं के चारों ओर अत्यधिक विशाल खुला मैदान रहता था, जहाँ पर बहुत लोग बैठते थे। यह मैदान राजमहल से आवृत रहता था। इसके गवाक्षों से स्त्रियाँ सभा के कार्य-कलापों का अवलोकन करती थीं।[13] गवाक्ष के आगे छपरियां (निर्व्यूह) निर्मित होती थीं, जहाँ से सभा स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती थी।[14] सभा रमणीय स्थान में निर्मित किया जाता था।[15] उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की सभा आधुनिक निरीक्षण भवन की तरह रहे होंगे।

(६) गवाक्ष : पद्म पुराण में वर्णित है कि स्त्रियाँ रावण को गवाक्ष से देखती थीं।[15] इस पुराण में गवाक्ष के लिए वातायन[16] शब्द का भी प्रयोग हुआ है। गवाक्ष का जाल के समान होने के कारण जालक[17] और जालक में मणि जटित होने से मणिजालक[18] कथित है।

---

१. पद्म ३।१, ८।६०; महा ३६।२००
२. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०४
३. पद्म ४२।८५
४. महा ४०।२६६
५. पद्म ८४।१४
६. वही २८।८७
७. वही १२।१८१
८. वही ८४।१४-१५
९. वही १२।१८१
१०. पद्म ५३।२०२
११. वही ३८।८६
१२. वही ३८।६३-६४
१३. वही ३८।६६
१४. वही ३८।६७
१५. वही ४६।१५२
१६. वही ११।३२६
१७. वही ११।३२६
१८. वही १६।१२२
१९. वही १६।१२२

(७) **दीर्घिका** : लम्बी होने के कारण इनका नाम दीर्घिका पड़ा। दीर्घिका एक लम्बी नहर होती थी जो राजमहलों में होती हुई गृहोद्यान तक जाती थी। इसके मध्य क्रीड़ावापियाँ निर्मित की जाती थीं।[1] उत्तम उद्यानों के मध्य स्थित, फूलों से सुशोभित, उत्तम सीढ़ियों से युक्त एवं क्रीड़ा के योग्य दीर्घिकाओं का उल्लेख जैन पुराणों में हुआ है।[2]

(८) **धारागृह**[1] : ऐसे जलाशय को धारागृह कहते हैं जिसमें कई स्थानों पर फव्वारे निर्मित होते थे। फव्वारों को नियन्त्रित करने के लिए धारा-यन्त्र लगाये जाते थे। राजमहलों में इसका निर्माण किया जाता था।

[iii] **भवन : प्रकार एवं स्वरूप** : जैन पुराणों के परिशीलन से भवनों के अधोलिखित नाम मिलते हैं, जो मूलभूत में एक होते हुए भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। निर्माण की दृष्टि से ये पृथक् हैं। इनके प्रकार का निर्धारण इनकी बनावट के आधार पर होता है। जैन पुराणों में उल्लिखित भवनों के नाम निम्नवत् हैं—गृह[3], गेह[4], प्रासाद[5], आगार[6], मन्दिर[7], आलय[8], सद्म[9], वेश्म[10], निलय[12], चैत्य[13] कूट[14], विमान[15], जिनेन्द्रालय[16], शाला[17], पुष्करावर्त[18], गृहकूटक[19], वैजयन्तभवन[20], गिरिकूटक[21], सर्वतोभद्र[22]। जैनेतर ग्रन्थ समराङ्गणीय-सूत्रधार में भी भवनों के उक्त नाम उपलब्ध हैं।[23]

जैन पुराणों में उल्लिखित आवासगृह, राजभवन, मन्दिर आदि का यहाँ पर

---

१. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० २०६
२. पद्म ८३।४२; महा ८।२२
३. महा ८।२८
४. पद्म ५।१०३; महा ४६।२४५
५. वही ६।१२४-१३०
६. वही ८३।४१
७. वही २।३७
८. वही २।३६
९. वही ८०।६३
१०. वही २।४०
११. वही ५३।२०३; महा ७।२०६
१२. वही २।४०
१३. पद्म ६७।१५
१४. वही ११२।३२
१५ वही ११२।३४
१६. वही ६५।३७
१७. वही ६८।११
१८. महा ३७।१५१
१९. वही ३७।१५०
२० वही ३७।१४७
२१. वही ३७।१४६
२२. वही ३७।१४६
२३. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—समराङ्गणीय : भवन निवेश, दिल्ली, १९६४, पृ० ६६

वर्णन प्रस्तुत किया गया है। स्थापत्य के आरम्भिक सिद्धान्तों की दृष्टि से आवास-गृह और मन्दिर में अधिक अन्तर नहीं है। मुख्य द्वार या सिंह द्वार की दिशा और स्थिति का निर्धारण सतर्कतापूर्वक स्थापत्य के सिद्धान्तों और नैमित्तिक विधानों के अनुरूप ही किया जाना चाहिए। गृह का अग्रभाग पृष्ठभाग से संकरा और नीचा होना उत्तम होता है। दुकान का अग्रभाग पृष्ठभाग से चौड़ा और ऊँचा होना चाहिए। मुख्य द्वार पूर्व में, पाकशाला (रसवती) नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम कोण) में, शयनागार दक्षिण में, शौचालय (नीहारस्थान) दक्षिण-पूर्व कोण में, कोशागार उत्तर में और धर्मस्थान उत्तर-पूर्व में। यदि गृह का मुख्यद्वार पूर्व में न हो तो जिस दिशा में हो उसी को पूर्व मानकर उक्त क्रम को बनाये रखना चाहिए। पशुओं के लिए घर के बाहर पृथक् कक्ष हो। आवास-गृह का विस्तार गृहस्वामी की प्रतिष्ठा के अनुकूल होना चाहिए।[1] आवास-गृहों के सन्दर्भ में अधोलिखित विवरण प्रस्तुत है :

(१) गृह या गेह : गृह और गेह एक ही अर्थ में आया है। पद्म पुराण में गृह और वेश्म का प्रयोग प्रासाद के अर्थ में हुआ।[2] महा पुराण के अनुसार घर में वाटिकाएँ होती थीं।[3] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि गृह के वातायन सड़क की ओर खुलते थे, गृह के छत पर आलिन्द (झरोखे) होते थे, गृह के द्वार पर मकर, देव, मुनि, पशु-पक्षी, पुष्पलता, पल्लव, मत्स्य आदि की आकृतियाँ निर्मित करते थे।[4]

(२) सद्म : मनुष्यों के निवास करने के स्थान को सद्म संज्ञा से अभिहित किया है। पद्म पुराण में वर्णित है कि सभा, वापिका, विमान तथा बाग-बगीचों से युक्त भवन सद्म संज्ञा से सम्बोधित किया गया है[5] और राजभवन को राजसद्म कथित है।[6] स्वर्णमय (काञ्जन सद्म) का भी उल्लेख पद्म पुराण में हुआ है।[7]

(३) वेश्म : वेश्म शब्द गृह का ही बोधक है।

(४) आगार : गृह अर्थ में आगार शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। पद्म पुराण में प्रसवागार का उल्लेख प्राप्य है।[8]

(५) आलय : आलय शब्द आ उपसर्ग तथा ली धातु से अधिकरण अर्थ में अ प्रत्यय होने से निर्मित हुआ है। जिसका अर्थ अच्छी तरह से लोगों से सम्बद्ध या

---

१. अमलानन्द घोष—जैन कला और स्थापत्य, नई दिल्ली, १९७५, पृ० ५१३-५१५
२. पद्म ५३।२६४-२६६
३. महा ४।१११
४. वही ४६।२४५
५. पद्म ५३।२०२
६. वही ६५।९
७. वही ६।६५
८. वही ३।१७२

मिलने का स्थान। जिसका जहाँ निवास हो वह उसका आलय होता है, जैसे विद्यालय। पद्म पुराण में रावण के आलय का भव्य वर्णन हुआ है।[1]

(६) **स्नानागार**[2] : राजाओं के महल में स्नानागार पृथक् ही निर्मित किया जाता था जो कि १०० फुट लम्बा और ८० फुट चौड़ा होता था। इसके मध्य में धारागृह तथा वापिका होती थीं।

(७) **हर्म्य**[3] : राजा या धनिक वर्गों के लिए जिन भव्य भवनों का निर्माण किया जाता था, उसे हर्म्य संज्ञा प्रदान किया गया है। यह सात मंजिला होता था।

(८) **प्रासाद** : प्र तथा आ उपसर्गों को पूर्व में रखकर सद् धातु में अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय होने से प्रासाद शब्द की उत्पत्ति हुई है। प्रासाद का अर्थ है अच्छी तरह से बैठने का स्थान। 'प्रासाद-रचना' वास्तुकला का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। 'प्रासाद' शब्द प्रायः सामान्यतया राजाओं के भवनों के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु वास्तुशास्त्रीय परिभाषा में इसका प्रयोग विशुद्धतः देव मन्दिर के लिए हुआ है। डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्कीटेक्चर' (पृ० ३६४) में लिखते हैं कि—'प्रासाद' शब्द का तात्पर्य आवास-भवनों एवं देव मन्दिरों दोनों ही से होता है।[4]

प्रासाद के भेदों में श्रीविजय, महापद्म, नंद्यावर्त, लक्ष्मीतिलक, नरवेद, कमल-हंस तथा कुञ्जर—ये सात भेद जिन मन्दिर के लिए सर्वोत्तम होते हैं। विश्वकर्मा के अनुसार प्रासादों के अगणित भेद हैं, जिनमें २५ निम्नवत् हैं—केशरी, सर्वतोभद्र, सुनन्दन, नन्दिशाल, नंदीश, श्रीवत्स, अमृतोद्भव, हेमवंत, हिमकूट, कैलाश, पृथ्वीजय, इन्द्रनील, महानील, भूधर, रत्नकूट, वैडूर्य, पद्मराग, वज्रांग, मुकुटोज्ज्वल, ऐरावत, राजहंस, गरुड़, वृषभ, मन्दिर और मेरू।[5]

हरिवंश पुराण में वर्णित है कि चन्द्रकान्ता, वैदूर्य, सूर्यकान्ता, पद्मराग, मरकट, मोती की माला आदि मणियों एवं रत्नों से प्रासाद को सुसज्जित किया जाता था।[6] प्रासाद से संलग्न (सटा) प्रमोद वन[7] का निर्माण होता था, जिसमें

---

१. पद्म ७१।१६-४०
२. महा ३७।१५२
३. वही १२।१८४
४. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—भारतीय-स्थापत्य, लखनऊ, १९६८, पृ० २१३
५. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ५२५
६. हरिवंश २।७-१०
७. महा ४७।९

राजा अवकाश काल में अपने प्रियजनों के साथ मनोविनोद करता था। महा पुराण के अनुसार राज प्रासाद में सभाभूमि, आस्थानमण्डप तथा आस्थायिक होती थी।[1]

(९) भवन : यह आयताकार आँगनयुक्त होता था। इसके अन्दर शयनागार, वातायन, अग्न्यागार, गर्भवेश्म, क्रीड़ावेश्म, सारभाण्डक आदि होते थे। चक्रवर्ती के भवन को सर्वतोभद्र संज्ञा प्रदान किया गया है। भवन के चारों ओर कोट होता था तथा द्वार तोरणयुक्त होते थे।[2]

(१०) शाला या शाल भवन : पद्म पुराण में यज्ञशाला[3], चन्द्रशाला[4], प्रेक्षकशाला[5], आतोद्यशाला (वादनशाला)[6], नाट्यशाला[7], चतुःशाला[8] आदि संज्ञाएँ शाला भवनों के लिए व्यवहृत हुई हैं। इनका पृथक् अस्तित्व होता था।

(११) कूटागार[9] : जिस भवन का निर्माण शिखरों के रूप में निर्मित किया जाता था उसे कूटागार नाम से अभिहित किया गया है। राजाओं तथा धनिकों द्वारा इनका उपयोग किया जाता था।

(१२) पुष्करावर्त[10] : इनके निर्माण में ईंटों का प्रयोग होता था। इसकी दीवालों पर चूने का पलस्तर करने के उपरान्त सफेदी कराई जाती थी।

(१३) भाण्डारगृह[11] : सामग्री के संचयनार्थ विशिष्ट प्रकार के गृह पृथक्तः निर्मित किया जाता था, उसे भाण्डारगृह नाम से सम्बोधन करते थे।

(१४) क्रीड़ास्थल (क्रीड़ानक) : समराङ्गण-सूत्रधार में क्रीड़ास्थल के लिए क्रीड़ागृह एवं क्रीड़ा-वेश्म शब्द व्यवहृत हुआ है।[12] क्रीड़ानक निर्व्यूह (छपरी) वलभी (अट्टालिका), शृंग (शिखर), प्रघण (देहली) से संयुक्त होते थे। अनेक प्रासादों से सुशोभित, रंगबिरंगे मणियों से निर्मित कुट्टिम (फर्श), सुन्दर दीर्घिकायें, सुन्दर संगीत से युक्त थे।[13]

---

१. महा ३६।२००, ४६।२६६
२. वही ३७।१४६
३. पद्म ३५।६
४. वही १४।१३१
५. वही ६५।४६
६. वही ६५।४६
७. वही ६८।११
८. वही ८३।१८
९. महा २२।२६०
१०. वही ३७।१५१
११. वही ३७।१५१
१२. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—समराङ्गणीय : भवन निवेश, दिल्ली, १९६४, पृ० ११-१२
१३. पद्म ८३।४१-४५

(१५) प्रपा (प्याऊ) : प्र उपसर्गपूर्वक पा धातु से अ प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षा में टाप प्रत्यय होने पर प्रपा शब्द निर्मित हुआ है। पानी पिलाने के स्थान को प्रपा कहते है। प्रपा का निर्माण नगरों[1], उद्यानों[2], मन्दिरों[3] एवं मार्गों[4] पर किया जाता था। मार्गों के प्रपा के ऊपर वृक्षों की छाया पड़ने से इनका जल सब रसों से समन्वित होता है।[5] यह एक कमरे का होता था।

३. मन्दिर निर्माण–कला

[i] **जैनमन्दिर : विश्लेषण** : 'मंद्' धातु में इर् प्रत्यय होकर मन्दिर शब्द की उत्पत्ति हुई। कल्याण के साधनीय स्थान का बोधक मन्दिर है। संस्कृति के दो शब्द 'मन्दिर' और 'आलय' सामान्यतः किसी छायावान् वास्तु का बोध कराते हैं, किन्तु उनका एक अर्थ—विशेष रूप से जैनधर्म के सन्दर्भ में—देवालय भी है। परन्तु इन दोनों शब्दों से भी प्राचीन शब्द 'आयतन' है जिसका अस्तित्व महावीर के समय में भी था, क्योंकि वे अपने विहारों के समय यक्षायतनों में ठहरा करते थे। बाद में आयतन शब्द का प्रयोग जिनायतन शब्द के अन्तर्गत होने लगा और इसके उपरान्त भी मन्दिर, चैत्य, आलय, वसति, वेश्म, विहार, भुवन, प्रासाद, गेह, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।[6] पद्म पुराण में भी एक ही शान्ति-जिनालय के लिए शान्तिभवन, शान्तिगेह, शान्त्यालय, शान्तिहर्म्य, शान्तिसद्म आदि संज्ञाओं के प्रयोग का उल्लेख हुआ है जो एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं तथा निर्माण में एक दूसरे से समानता रखते हैं।[7] महा पुराण में जैन मन्दिर के लिए 'सिद्धायतन' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[8] जैनेतर ग्रन्थ अमरकोश में आयतन और चैत्य शब्दों का एक ही अर्थ कथित है।[9] जैन आगम ग्रन्थों में चैत्य शब्द का प्रयोग देव मन्दिर के लिए हुआ है।[10]

---

१. पद्म ३८।६३
२. वही ४६।१५२
३. वही ६८।११
४. वही ३।३२५
५. प्रपा महातरुकृतच्छायाः प्रपाः सर्वरसान्विताः। पद्म ३।३६
६. अमलानन्द घोष—जैन कला और स्थापत्य, भाग १, नई दिल्ली, १६७५, पृ० ४६१, ५१५-५१६
७. पद्म ७१।३३-४६
८. महा ४।६४
९. 'चैत्यमायतन' तुल्ये। अमरकोश २।२।७
१०. प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा-भारतीय शिल्पसंहिता, बम्बई, १६७५, पृ० २०६

महा पुराण[1] और पद्म पुराण[2] में जिन प्रतिमा को चैत्य संज्ञा से सम्बोधित किया गया है; जो कृत्रिम और अकृत्रिम हुआ करती थीं। जैन पुराणों में चैत्य को चैत्यालय भी कथित है।[3] पद्म पुराण में चैत्यालय को महापवित्र बताया गया है।[4] वस्तुतः जिनेन्द्रालय का बृहताकार ही चैत्यालय है।[5] महा पुराण के वर्णनानुसार जैन मन्दिर चैत्यवृक्ष के समीप होने के कारण इन्हें चैत्य नाम प्रदान किया गया है।[6] पद्म पुराण में जिनेन्द्रालय के स्थान पर 'जिनवेश्म' शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[7] प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के मतानुसार देवों के समूह को 'मन्दिर' और देवकुलिकाओं के समूह को 'आयतन' कहा गया है। विष्णु, शिव, चण्डी और सूर्य का पंचायतन होता है। इसी प्रकार चौबीस अवतार का विष्णु चतुर्विंशति आयतन हुआ। जैन तीर्थ का चौबीस आयतन का द्वीसप्तायतन हुआ। जैनों में भी इस प्रकार के आयतन होते हैं।[8]

पद्म पुराण में प्रत्येक पर्वत, गाँव, पत्तन, महल, नगर, संगम तथा चौराहे पर जैन मन्दिर के निर्माण का उल्लेख उपलब्ध होता है।[9] जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जैन मन्दिरों का निर्माण राजाओं एवं सेठों तथा समाज के धनी-मानी व्यक्तियों द्वारा कराया जाता है।[10] डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के विचारानुसार ये मन्दिर नगर की शिक्षा-दीक्षा, धर्म-दर्शन, अध्यात्म-चिन्तन, योग एवं वैराग्य के सजीव केन्द्र होते थे।[11]

[ii] निर्माण कला एवं विशेषताएँ : जैन मन्दिर को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—घर-देरासर या गृह-मन्दिर और पाषाण या काष्ठ से निर्मित मन्दिर। घर-देरासर गुजराती जैन समाज की एक अपनी विशेषता है और ऐसा मन्दिर प्रायः प्रत्येक घर में होता है, चाहे उसके साधन सीमित ही क्यों न हों। गुजरात और दक्षिण भारत में हिन्दू घरों में भी गृह-मन्दिर होते हैं, परन्तु जैन देरासरों की अपनी पृथक् विशेषताएँ हैं। पाषाण या काष्ठ निर्मित मन्दिरों की यथार्थ

---

१. महा ५।१६१
२. कृत्रिमाकृत्रिमान्यस्मिंश्चैत्यानभ्यर्च्य विष्टये। पद्म ६८।५६
३. पद्म ३।४५; महा ८।२३५
४. पद्म ६८।५८
५. वही ७।३३८, ३३।३३२
६. महा ६।५६
७. पद्म २८।१००
८. प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा—वही, पृ० २०७
९. पद्म ६७।१४-१५
१०. सौजन्यदा नृपतौ चैत्यगृहनिर्माणोद्यते। महा ८।२३५; पद्म ६७।११
११. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १९६८, पृ० ६७

लघु अनुकृति के रूप में घर में परिवार द्वारा उपासनार्थ इन देरासरों का निर्माण करते हैं। सूक्ष्म शिल्पांकन, पालिश आदि से इनका अलंकरण होता है। गृहस्वामी की आर्थिक स्थिति के अनुसार इनके अलंकरण का स्तर भी हीनाधिक होता है। पाषाण या काष्ठ निर्मित-प्रत्येक जैन-मन्दिर के चारों ओर सामान्यतः प्राचीर होती है जिसके अन्तर्भाग में तीर्थंकरों के देवकोष्ठ निर्मित किये जाते हैं। इस प्रकार वर्षा एवं पानी से मन्दिर के मुख्य भाग की सुरक्षा हो जाती है।[1]

हिन्दू मन्दिरों की भाँति जैन मन्दिर के भी दो भाग होते हैं : मण्डप—जिसमें भक्त एकत्र होते हैं और मुख्य मन्दिर (गर्भालय)—जिसमें इष्टदेव की स्थापना होती है। इनमें मण्डप महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि पाषाण तथा काष्ठ पर कला के भव्य और विविध शिल्पांकनों के निमित्त पर्याप्त स्थान नहीं मिलता है। मण्डप की संयोजना पंक्तिबद्ध स्तम्भों पर होती है। वे तोरणों और धरनों को आश्रय प्रदान करते हैं जिन पर विस्तृत अलंकरण होते हैं और उन पर सुरुचिपूर्ण शिल्पांकित स्तूपी आधारित होते हैं। मण्डप में सर्वत्र निरन्तर शिल्पांकन होते हैं। समान अन्तर पर स्थित और तोरण से परस्पर सम्बद्ध बारह स्तम्भों पर एक वृत्ताकार स्तूपी की संयोजना होती है। मदल सहित शीर्ष और बड़ेरियाँ बाद में निर्मित किये जाने लगे, जिन्होंने भवन की स्थापत्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति तो की ही, साथ ही काष्ठ पर सुन्दर शिल्पांकन के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान भी उपलब्ध हुआ।[2]

मण्डप के कई भेद हैं—(१) प्रासाद-कमल (गर्भगृह या मन्दिर का मुख्य भाग), (२) त्रिक-मण्डप (जिसमें स्तम्भों की तीन-तीन पंक्तियों द्वारा तीन आड़ी और तीन खड़ी वीथियाँ हों), (३) गूढ़-मण्डप (भित्तियों से घिरा हुआ मण्डप), (४) रंगमण्डप (सभागार), (५) सतोरण बलानक (मेहराबदार चबूतरे)। मण्डप की चौड़ाई गर्भगृह की चौड़ाई से डेढ़गुनी या पौने दो गुनी होनी चाहिए। स्तम्भों की ऊँचाई मण्डप के व्यास की आधी होनी चाहिए। जल का प्रवाह बायीं ओर या दक्षिण दिशा में हो।[3] जैन मन्दिरों के मण्डप (मंडावोर) के विमान (घुमट) में यक्ष-यक्षिणी या विद्यादेवी के कई स्वरूप रखे जाते हैं। मन्दिर के बाहर तीन भद्रक गवाक्ष में जैन प्रतिमा की स्थापना करने का आदेश है, जिससे ज्ञात होता है कि वह किस देवता का मन्दिर है।[4]

१. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ४४३-४४६
२. वही, पृ० ४४७
३. वही, पृ० ५२०
४. प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा—वही, पृ० २०६

देव प्रासाद की नींव इतनी गहरी हो कि उससे जल निकलने लगे या शिलातल निकल आये। नींव में धार्मिक अनुष्ठानों सहित धर्मशिला रखकर एवं भरकर ठोस बना दें। भूतल पर पीठ या अधिष्ठान का निर्माण किया जाए। मण्डप के तेरह अंग होते है। यह भित्ति या बाह्य दीवार है जिस पर प्रासाद के एक या अनेक मण्डपों की छत आधारित होती है। शिखर एक वर्तुलाकार छत है जो भवन पर उल्टे प्याले की तरह ऊपर की ओर उच्च होती जाती है। उसके उच्च भाग में चार अंग होते हैं—शिखर, शिखा, शिखान्त तथा शिखामणि। शिखर के ऊपरी भाग पर दण्ड सहित ध्वज स्थापित किया जा सकता है। द्वार की चौड़ाई-ऊँचाई की आधी हो। द्वार की चौखट पर यथोचित स्थान पर तीर्थंकरों, प्रतिहार-युगल, मदनिका आदि की आकृतियाँ उत्कीर्ण हों। मन्दिर का जीर्णोद्धार करते समय मुख्य द्वार स्थान्तरित न किया जाए और न ही उसमें कोई मौलिक परिवर्तन किया जाए। जितने स्थल पर जगती-पीठ या मन्दिर का निर्माण होता है उतने स्थान को जगती नाम प्रदान की गई है। जगती को आधार मानकर ही प्रासाद या मन्दिर का निर्माण होता है।[1]

जैन पुराणों के अनुशीलन से जैन मन्दिर के निर्माण में उपर्युक्त विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार चारों दिशाओं में चार भव्य एवं विशाल जिनालय स्थापित करना चाहिए। इसके मुख्य द्वार के अगल-बगल दो लघुद्वार रखना चाहिए। बड़े द्वार की ऊँचाई-चौड़ाई की दूनी हो। लघुद्वारों की लम्बाई ऊँचाई की दूनी हो और बड़े द्वार की आधी हो। मन्दिर में एक विशाल गर्भगृह होता है। इसकी दीवालों तथा विशाल स्तम्भों पर सूर्य, चन्द्र, उड़ते हुए पक्षी एवं हरिण-हरिणियों के जोड़े निर्मित रहते हैं। गर्भगृह में सुवर्ण एवं रत्न से निर्मित पाँच सौ धनुष ऊँची, एक सौ आठ जिन प्रतिमाएँ रहती हैं। इन प्रतिमाओं के पास चमरधारी नागकुमार, यक्ष-यक्षिणी, सनत्कुमार एवं श्रुत देवी की मूर्तियाँ रहती हैं।[2]

आलोचित जैन पुराणों में पर्वत पर मन्दिर-निर्माण की व्यवस्था प्रदत्त है।[3] जैन पुराणों से यह भी ज्ञात होता है कि मन्दिर के शिखर बहुत विशाल होते थे, मानों वे स्वर्ग का उन्मीलन करना चाहते हों।[4] पद्म पुराण में मन्दिर के बाह्य एवं

---

१. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ५१७-५२०
२. हरिवंश ५।३५४-३६५
३. महा ४८।१०७-१०८; हरिवंश ५।३५६
४. वही ६।१८२; पद्म ७१।४७

अन्तःकक्ष (गर्भगृह) का उल्लेख उपलब्ध है। जिनेन्द्र देव आदि के चित्र भित्तियों पर निर्मित होते थे। द्वार अलंकृत होते थे एवं इसके दोनों किनारों पर कलश रहते थे। मन्दिर को सुन्दर ढंग से सुसज्जित किया जाता था।[1] हरिवंश पुराण में यह उल्लेख आया है कि मन्दिर में एक प्राकार (कोट) होता था तथा चारों दिशाओं में एक-एक तोरण द्वार और एक विशाल गोपुर निर्मित होता था। चैत्यालय के आगे विशाल सभा-मण्डप, उसके सामने प्रेक्षागृह, उसके सम्मुख स्तूप, स्तूपों के आगे पद्मासित विराजमान प्रतिमाओं से सुशोभित चैत्यवृक्ष होते थे। जिनालय के पूर्व दिशा में एक विशाल सरोवर होता था।[2] हरिवंश पुराण के अनुसार जिनालयों में झरोखे, गृहजाली, मोतियों की झालर, रत्न, मूँगा रूपी कमल एवं छोटी-छोटी घण्टियाँ होती थीं।[3] पद्म पुराण में भी छोटी-छोटी घण्टियों के लगाने का उल्लेख आया है।[4] पद्म पुराण के अनुसार जैन मन्दिर में एक बड़ा स्तूप निर्मित किया जाता था।[5] जैनों में दिगम्बर सम्प्रदाय में स्तम्भ की प्रथा है। स्तम्भ को 'मानक-स्तम्भ' या 'मानव-स्तम्भ' संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं। बौद्धों में भी ऐसे स्तम्भ वर्तमान समय में परिलक्षित होते हैं।[6] जैन पुराणों के वर्णनानुसार जैन मन्दिरों में वाद्य, गायन एवं नृत्य का कार्यक्रम होता था। वार-वनितायें मंगलगान एवं देवांगनाएँ नृत्य करती थीं।[7]

पद्म पुराण के अनुसार राजगृह को शत्रुओं ने काम मन्दिर तथा विज्ञान के ग्रहण करने में तत्पर मनुष्यों ने विश्वकर्मा का मन्दिर समझा था।[8] हरिवंश पुराण में मन्दिरों में छत्र, चमर, भृङ्गार, कलश, ध्वजा, दर्पण, पंखा और ठौनाइन आठ प्रसिद्ध मंगल द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था।[9] जैन पुराणों में आठ[10] और दस[11]

---

१. पद्म ७१।४३-४८, ९५।३८-४२
२. हरिवंश ५।३६७-३७२
३. वही ५।३६६
४. पद्म ९५।४३
५. वही ४०।२८, ५३।२६४, ६०।२६
६. प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा—वही, पृ० २०६
७. महा १६।१९७, ४।७७; हरिवंश ५।३६४-३६५
८. पद्म २।३९-४१
९. छत्रचामरभृङ्गारैः कलशध्वजदर्पणैः।
व्यञ्जनैः सुप्रतीकैश्च प्रसिद्धैरष्टमङ्गलैः॥ हरिवंश २।७२
१०. महा २२।२९६; हरिवंश २।७३
११. वही २२।२१९; वही ५७।४४

प्रकार के ध्वजाओं का प्रयोग किया जाता था। मयूर, हंस, गरुड़, माला, सिंह, हाथी, मगर, कमल, बैल और चक्र से चिन्हित ध्वजाओं का प्रयोग किया जाता था।[1]

[iii] **समवसरण :** समवसरण की व्युत्पत्ति सम तथा अव उपसर्गों को पूर्व में जोड़कर सृ धातु में अन प्रत्यय लगाने से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है उत्तम रीति से बैठने का स्थान। समवसरण के लक्षण का निरूपण करते हुए महा पुराण में वर्णित है कि इसमें समस्त सुरासुर उपस्थित होकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते थे। इसलिए जानकार गणधरादि देवों ने इसे समवसरण सदृश्य सार्थक नामकरण प्रदान किया है।[2] जैन धर्म में इसका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके निर्माण, आकार, प्रकार की अति रुचिकर विवेचना जैन पुराणों में उपलब्ध है। सम्प्रति समवसरण के कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि जैन धर्म की मान्यतानुसार तीर्थंकर (ये केवल कर्म-भूमि में उत्पन्न होते हैं, भोग-भूमि में नहीं) की दिव्यध्वनि समवसरण में ही उच्चरित होती थी, जिसकी रचना सौधर्म इन्द्र के आदेश से कुवेर द्वारा माया से होती थी। तीर्थंकर के प्रस्थान करते ही समवसरण विघटित हो जाता था और अन्य स्थान पर उसकी रचना पुनः की जाती थी। सूर्य-मण्डल की भाँति वर्तुलाकार यह रचना एक ऐसी वास्तु-कृति के सदृश है, जिसे विशाल सोद्यान-प्रेक्षागृह या पार्क-कम-आडिटोरियम कह सकते हैं, किन्तु इसका प्रसार बारह योजन होता था।[3] धर्मसभा का अन्य नाम समवसरण है। जैन ग्रन्थों[4] में समवसरण की संरचना विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। आलोचित जैन पुराणों में से महा पुराण[5] में इसकी संरचना का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। इसके बाहर चारों ओर बलय के समान धूलिशाल नामक घेरा होता था। इस धूलिशाल की तुलना चहार-दीवारी से किया जा सकता है। इसके बाहर की ओर चारों दिशाओं में सुवर्णमय स्तम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार तोरणद्वार निर्मित होते थे। इन्हें अलंकृत करते थे। इसमें मुख्यतः मत्स्य एवं रत्नों की मालाओं का अंकन होता था। धूलिशाल के अन्दर की ओर गलियों के बीचो-बीच प्रत्येक दिशाओं में एक-एक अत्यधिक ऊँचे एवं सुवर्ण मानस्तम्भ का निर्माण करते थे। जिस जगती पर मानस्तम्भ होते थे,

---

१. हरिवंश ५७।४४; महा २२।२१६
२. महा ३३।७३
३. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ५४४
४. तिलोयपण्णत्ति ४।७१०-६३२
५. महा २१२।८१-३१२

वह जगती चार-चार गोपुर (द्वारों) से युक्त तीन कोटों से घिरी हुई होती थी, उसके मध्य में एक पीठिका होती थी। पीठिका तक पहुँचने के लिए सुवर्ण की सोलह सीढ़ियाँ होती थीं। यह जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के जल से पवित्र, घण्टे, चमर, ध्वजा आदि से संयुक्त होती थी, जिसकी मनुष्य, देव एवं दानव आदि पुष्पादि से पूजन करते थे। मानस्तम्भों के मूल भाग में जिनेन्द्र भगवान् की सुवर्णमयी प्रतिमायें प्रतिष्ठापित की जाती थीं। यहाँ निरन्तर वाद्य, गायन एवं नृत्य होता रहता था। जगती के मध्य भाग में तीन कटनीदार एक पीठ होता था। उसके अग्रभाग पर ही मानस्तम्भ प्रतिष्ठित होते थे, उनका मूल भाग अत्यधिक सुन्दर, सुवर्ण निर्मित एवं बहुत ऊँचे होते थे। उनके मस्तक पर तीन छत्र (इन्द्रध्वज) होते थे। मानस्तम्भ के समीपवर्ती क्षेत्र में स्वच्छ जल एवं विकसित कमलों से युक्त सुन्दर वापिकायें होती थीं। वापिकाओं से थोड़ी दूर पर जल, जलचर एवं जलजों से युक्त परिखा समवसरण के चारों तरफ होती थी। इसका भीतरी भू-भाग लतावन से घिरा होता था। लतावन, लताओं, छोटी-छोटी झाड़ियों, क्रीड़ा पर्वत पर सब ऋतुओं में पुष्पित होने वाले वृक्ष, और शय्याओं से संयुक्त लतागृह से सुशोभित होते थे। इसके भीतर की ओर कुछ ही दूर पर समवसरण को चारों ओर से घेरे हुए एक स्वर्णमय सुन्दर कोट होता था। कोट के चारों दिशाओं में बहुत ऊँचे रजत एवं पद्मराग मणि निर्मित चार गोपुर द्वार होते थे, जो उच्च शिखरों, एक सौ आठ मंगलद्रव्यों, आभूषणों सहित सौ-सौ तोरणों और नौ निधियों से युक्त होते थे। इन गोपुर द्वारों के भीतर, जो लम्बे रास्ते होते थे, उनके दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ निर्मित होती थीं। ये नाट्यशालाएँ तिमंजली (तीन-तीन खण्डों) होती थीं और सुवर्ण स्तम्भों से निर्मित, स्फटिक मणि की दीवाल एवं रत्नों के बने हुए शिखरों से संयुक्त होते थे। नाट्यशालाओं से आगे चलकर गलियों के दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए होते थे। धूपघटों से कुछ आगे मुख्य गलियों के बगल में चार-चार वन-वीथियाँ होती थीं; जिसमें अशोक, सप्तपर्ण चम्पक और आम के वृक्ष होते थे। उन वनों के मध्य में कहीं पर त्रिकोण (तिकोने) और कहीं पर चतुष्कोण (चौकोने) बावड़ियाँ होती थीं, कहीं छोटे-छोटे तालाब, कहीं कृत्रिम पर्वत, कहीं मनोहर महल, कहीं क्रीड़ा-मण्डप, कहीं अजायबघर, कहीं चित्रशालायें, कहीं नदियाँ होती थीं। अशोक वन के मध्य में अशोक नामक चैत्यवृक्ष होता था। इसके मूलभाग में चारों दिशाओं में जिनेन्द्रदेव की चार प्रतिमायें प्रतिष्ठित होती थीं। जिस प्रकार अशोक वन में अशोक नामक चैत्यवृक्ष होता था, उसी प्रकार अन्य तीन वनों में भी अपनी-अपनी जाति का एक-एक चैत्य वृक्ष होता था और उन सभी के मूलभाग में जिनेन्द्रदेव की चार-चार प्रतिमायें होती

थीं। इन वनों के अन्त में चारों ओर एक-एक वनदेवी होती थीं, जो ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर द्वारों, अष्टमंगलद्रव्य, संगीत, वाद्यों, नृत्य तथा रत्नमय आभरणों से युक्त तोरणों से सुशोभित होते थे। इन वेदिकाओं से आगे सुवर्णमय खम्भों पर चित्रित माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्र चिन्हित दस प्रकार की ध्वजाओं की पंक्तियाँ महावीथी के मध्यभाग को अलंकृत करती थीं। प्रत्येक दिशा में १०८ ध्वजा एक भाँति की होती थीं; जिनकी चारों दिशाओं में चार हजार तीन सौ बीस ध्वजाएँ होती थीं। इन ध्वजाओं के उपरान्त अन्तःभाग में चाँदी का पूर्ववत् बना हुआ बड़ा भारी कोट होता था। इसके सम्मुख मकानों की पंक्तियाँ होती थीं। महावीथियों के मध्यभाग में नौ-नौ स्तूप होते थे। इसके आगे स्वच्छ कोट होता था। कोट के चारों ओर गोपुर निर्मित होते थे। कोट से लेकर पीठ-पर्यन्त लम्बी एवं महावीथियों के अन्तराल में सोलह दीवालें हुआ करती थीं, जिससे बारह सभा विभागों का निर्माण किया जाता था। दीवालों के ऊपर रत्नमय स्तम्भों द्वारा श्रीमण्डप निर्मित होता था। श्रीमण्डप क्षेत्र में पीठिका हुआ करती थी। इनके ऊपर पीठ निर्मित होते थे। इस प्रकार वीथिका, महावीथिका, पीठिका एवं पीठ से युक्त समवसरण सभा का निर्माण कलात्मक एवं आकर्षक होता था। इसके बीच में भगवान् जिनेन्द्रदेव के विराजमान होने के स्थान पर गन्धकुटी का निर्माण होता था। इसके मध्यभाग में सिंहासन होता था, जिस पर बैठकर भगवान् उपदेश दिया करते थे। इसकी लम्बाई-चौड़ाई लगभग छः सौ धनुष एवं ऊँचाई इससे कुछ अधिक होती थी।

समवसरण के निर्माण विधि का सुन्दर एवं भव्य कला का निदर्शन हरिवंश पुराण[1], पद्म पुराण[2] और पाण्डव पुराण[3] में उपलब्ध है। समवसरण में बारह सभायें होती थीं, इन सभाओं के लिए बारह कोठों का निर्माण किया जाता था, जिन पर क्रमशः मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, ज्योतिष देवों की देवाङ्गनाएँ, व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ, भवनवासी देवों की नारियाँ, ज्योतिष देव, व्यन्तर देव, भुवन वासी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के स्थान होते थे।[4] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि हरिवंश पुराण के अनुसार समवसरण में शूद्रों के प्रवेश पर निषेध था।[5]

१. हरिवंश ५७।१-१६१, ७।१-१६१
२. पद्म २।१३५-१५४, २२।७७-३१२
३. पाण्डव ६।४०-४६
४. हरिवंश २।७६-८६; महा २३।१९३; पद्म २।१३५-१४२
५. हरिवंश ५७।१७१-१७३

[ग] मूर्तिकला

आलोच्य पुराणों के परिशीलन से तत्कालीन मूर्तिकला विषयक ज्ञान उपलब्ध होता है जिसका विवरण निम्नवत् है।

१. स्रोत : जैन मूर्तिकला के ज्ञानार्थक साहित्यिक स्रोत प्राचीनतम जैन शास्त्रों (अंगों एवं उपांगों) के रूप में प्रसिद्ध जैन आगम-साहित्य से प्रारम्भ होता है। किन्तु जैन मूर्तिकला या मूर्तिशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र आगम की रचना नहीं है। सिद्धायतनों के सम्पूर्ण विवरणों में जैन मूर्तियाँ और मन्दिरों के विषय में अवश्य उल्लेख उपलब्ध हैं।[1] संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं के जैन पुराण में जैन मूर्तिशास्त्र के अनुशीलन के समृद्ध स्रोत प्राप्य होते हैं। स्तोत्रग्रन्थों के साथ-साथ आख्यान ग्रन्थों में भी इस विषय की सामग्री विद्यमान हैं। आरम्भिक ग्रन्थ मानसार के अतिरिक्त अपराजितपृच्छा, देवतामूर्ति प्रकरण, रूपमण्डप, ठक्कुर फेरु का वास्तुसार आदि शिल्प-ग्रन्थ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें जैन मूर्तिशास्त्र विषयक सामग्री विद्यमान है।[2]

२. समय : जैन मूर्ति-पूजा की प्राचीनता विषयक कोई निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। प्रभाशंकर के अनुसार जैनियों में मूर्तिपूजा ईसा पूर्व चौथी-पाँचवीं शती में ही प्रचलित हो गई थी।[3] डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल के मतानुसार मौर्य-काल में जैन मूर्तियाँ उपलब्ध होती थीं। खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में कलिंग राज्य से जिन की मूर्ति के उपलब्ध होने का उल्लेख है। मथुरा के पास कंकाली टीला से जैन मूर्ति प्राप्त हुई है। द्वितीय शती ई० पू० से ग्यारहवीं शती ई० के मध्य बहुत-सी स्थापत्य कला विषयक सामग्री प्राप्त हुई हैं।[4] डॉ० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह के विचारानुसार जैन-मान्यता के अनुसार दीक्षा से एक वर्ष पूर्व एक बार जब वर्धमान अपने स्थान पर ही ध्यान मग्न थे, तब (उनके जीवन काल में ही) उनकी एक चन्दन (काष्ठ) की मूर्ति निर्मित हुई थी।[5] इस प्रकार की अनुश्रुति बौद्धों में भी मिलती है।[6] परन्तु यह प्रश्न विवादाग्रस्त है। तीर्थंकर की

---

१. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ४७६
२. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ४६०
३. प्रभाशकर ओ० सोमपुरा—वही, पृ० १७२
४. ज्योति प्रसाद जैन—द जैन सोरसेज़ ऑफ द हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इण्डिया, दिल्ली, १६६४, पृ० २३०-२३१
५. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह—स्टडीज़ इस जैन आर्ट, बनारस, १६५५, पृ० ४-५
६. आनन्द कुमार स्वामी—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, न्यूयार्क, १६६५, पृ० ४३

काष्ठ मूर्ति से पाषण या कांस्य में कब परिवर्तित हो गई इसका साक्ष्य नहीं मिलता। वस्तुतः जैनियों में काष्ठ निर्मित मूर्ति की पूजा का निषेध है। अतः यह सम्भावना हो सकती है कि पूजा में जल एवं दुग्ध-प्रक्षालन तथा चन्दन-चर्चण आदि से काष्ठ निर्मित मूर्ति का प्रयोग उपयुक्त नहीं समझा गया। किन्तु अन्य देवी-देवताओं तथा स्थापत्य के अंग के रूप में संयोजित मूर्तियाँ अवश्य काष्ठ से निर्मित होती रहीं। इसी लिए विभिन्न संग्रहालयों एवं निजी संग्रहों में इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।[1]

३. सामग्री : जैन पुराणों में 'जिन' प्रतिमाओं के निर्माण के लिए सुवर्ण एवं रत्नों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[2] महा पुराण में तीर्थंकर से इतर मूर्तियों के निर्माण में अन्य धातु—लोहा, ताँबा आदि—के प्रयोग की व्यवस्था प्रदत्त है।[3] पद्म पुराण में महाराज दशरथ की मूर्ति (पुतला) का उल्लेख प्राप्य है, जो उनकी आकृति से बिल्कुल मिलती-जुलती थी। मूर्ति के अन्दर रुधिर के स्थान पर लाख आदि का रस उपयोग किया गया था।[4] वसुनन्दि कृत श्रावकाचार में मणि, रत्न, सोना, पीतल, मोती एवं पाषाण आदि से प्रतिमाओं के निर्माण का वर्णन मिलता है।[5] जयसेन ने स्फटिक की प्रतिमाओं को प्रशस्त माना है।[6] लोहा, पाषाण, काष्ठ, मिट्टी, गोबर, कांसा, शीशा एवं कलई से निर्मित प्रतिमाओं का निषेध किया गया है।[7] जैनेतर भविष्य पुराण में मूर्ति निर्माण सप्त वस्तुओं—स्वर्ण, रजत, ताँबा, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी तथा वार्क्षी (कनवास)—का उल्लेख हुआ है।[8]

डॉ० राय कृष्णदास के मतानुसार सोना, चाँदी, ताँबा कांसा, पीतल, अष्टधातु आदि प्राकृतिक एवं कृत्रिम धातु पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े व मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची व पकाई मिट्टी, मोम, लाख, गन्धक

१. अमलानन्द घोष—वही; पृ० ४४८
२. हरिवंश ५।३६२; पद्म २८।१६; महा ४३।१७३,
३. महा १०।१६३
४. पद्म २३।४१-४३
५. वसुनन्दि कृत श्रावकाचार, श्लोक ३६०
६. प्रतिष्ठापाठ ६६, पृ० १७
७. आचार—दिनकर, भाग २, पृ० १४३
८. कांचनी राजती ताम्री पार्थिवी शैलजा स्मृता।
वार्क्षी चालेख्यका चेति मूर्तिस्थानानि सप्तवै ॥ भविष्य पुराण १।१३१।२-३

हाथीदाँत, शंख, सीप, अस्थि, लकड़ी एवं कागज के टुकड़े आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़कर, खोदकर, उभारकर, हाथ या औजार से डोलिया कर (हाथ से जहाँ जैसी आवश्यकता हो उपकरण को ऊँचा उठाकर या नीचे दबाकर आकृति उत्पन्न करना), ठप्पा करके या साँचा में ढाल कर निर्मित की हुई आकृति को मूर्ति कहते हैं।[1]

४. मूर्तिकला : प्रकार एवं स्वरूप : जैन पुराणों के अध्ययन से अधोलिखित मूर्तियों, उनके प्रकार तथा स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है :

(i) **तीर्थंकर** : जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के नाम का विधान निम्नांकित ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—बराहमिहिर की बृहत्संहिता, मानसार, आशाधर (१२२८ ई०) के प्रतिष्ठासारोद्धार, वसुनन्दि सैद्धान्तिक के प्रतिष्ठासार-संग्रह, तिलोयपण्णत्ति, प्रतिष्ठासारोद्धार और जैन पुराण।[2] जैन मूर्तिशास्त्र की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि चौबीसों तीर्थंकरों के नामों के विषय में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय पूर्णतया एक मत हैं।[3] वसुनन्दि श्रावकाचार ने 'जिन-भवन' को निर्मित कर उसमें 'जिन प्रतिमा' प्रतिष्ठापित करने से अपार पुण्य की प्राप्ति का वर्णन किया है।[4] महा पुराण में जिन की प्रतिमा का निर्माण कर उनके पूजन का उल्लेख मिलता है।[5] डॉ० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह के मतानुसार तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मणियों, धातुओं, पाषाणों, काष्ठ और मिट्टी से निर्मित की जाती थीं।[6]

पद्म पुराण के अनुसार तीर्थंकर की प्रतिमायें पंच वर्णीय नीला, हरा, लाल, काला एवं श्वेत निर्मित करनी चाहिए।[7] इसी पुराण में अन्य स्थल पर जिनेन्द्र (तीर्थंकर) की प्रतिमा के विषय में वर्णित है कि पद्मासन मुद्रा में उच्च सिंहासन पर निर्मित उनकी प्रतिमा को मन्दिर में स्थापित करनी चाहिए। प्रतिमा के सिर की जटाओं का निर्माण मुकुट के सदृश्य होना चाहिए। प्रतिमा अग्निशिखा की भाँति गौर वर्ण तथा मुखाकृति चन्द्रमा के सदृश होना चाहिए। प्रतिमा को सुवर्ण के समान

---

१. राय कृष्णदास—भारतीय मूर्तिकला, काशी, सं० २०३०, पृ० १३
२. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ४८०-४८३
३. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ४८४
४. श्रमण, वर्ष १९, अंक ७, मई १९६८, पृ० १२
५. महा ५।१६१, ६७।४५२
६. अमलानन्द घोष—वही, पृ० ४८५
७. पद्म ९५।२७

कमलों द्वारा पूजित प्रदर्शित करना चाहिए। प्रतिमा आठ प्रातिहार्यों से संयुक्त होनी चाहिए।[1] जैन परम्पराओं के अनुसार तीर्थंकर की कुछ असाधारण विशेषता होती है।[2] जैन शान्तिपाठ में[3] में आठ प्रातिहार्य-दिव्य वृक्ष, देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि, छाता सहित सिंहासन, दो चामर, दिव्य-ध्वनि, दुन्दुभि[4], धूप रोकना तथा प्रभामण्डल विशेषतायें हैं। हरिवंश पुराण में वर्णित है कि मन्दिर के गर्भगृह में सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित ५०० धनुष ऊँची १०८ 'जिन-प्रतिमायें' थीं।[5] यहाँ पर यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या ५०० धनुष ऊँची प्रतिमा का निर्माण सम्भव है? यह ऊँचाई अतिश्योक्ति-सी प्रतीत होती है, परन्तु पुरातात्त्विक साक्ष्य तीर्थंकरों की ऊँची प्रतिमा-निर्माण का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। मैसूर के श्रवणबेलगोला, कारकल तथा पन्नूर से ३५' के ७०' ऊँची जैन तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[6] जैन पुराणों के रचनाकाल में तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ यक्षों (शासन देवताओं) तथा देवताओं की मूर्तियाँ भी निर्मित करने का उल्लेख मिलता है। डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के विचारानुसार कुषाणकाल की जिन मूर्तियों में प्रतीक-संयोजना के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणियों का अनुगामित्व नहीं मिलता। यह विशेषता गुप्त काल से आरम्भ होती है, तब से तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ यक्ष-यक्षिणियों का साहचर्य अनिवार्य बन गया है।[7]

---

१. पद्म २८।६५-६६

२. पुष्यदन्त का महा पुराण १।१८।७-१०; समवायांग–सूत्र, सूत्र ४३ पृ० ५६-६० हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि १।५७-६४

३. दिव्यतरुः सुरपुष्पवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मण्डलतेजः॥ जैन शान्तिपाठ;
द्रष्टव्य- वी० सी० भट्टाचार्य–जैन आइकनोग्राफी, दिल्ली, १९७४, पृ० २०

४. दुन्दुभि में पाँच संगीत वाद्यों का प्रयोग किया जाता था, जिसे पंचमहाशब्द कहते हैं। पाँच संगीत वाद्य इस प्रकार हैं—शृंग, तम्मत (ड्रम), शंख, भेरी तथा जयघाट–द्रष्टव्य, भण्डारकर–जैन आइकनोग्राफी, इण्डियन एण्टीक्वूटी, जून १९११

५. रत्नकाञ्चननिर्माणाः पञ्चचापशतोच्छ्रिताः।
अष्टोत्तरशत तत्र जिनानां प्रतिमा मताः॥ हरिवंश ५।३६२

६. ई० बी० हावेल–द आइडियल्स ऑफ इण्डियन आर्ट, लन्दन १९११, पृ० १२८

७. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल—भारतीय स्थापत्य, लखनऊ १९८६, पृ० ४९३

[ii] **शासनदेव** : जैन मान्यतानुसार चौबीस शासन देव होते हैं। यद्यपि सभी शासनदेवों का सविस्तार वर्णन जैन पुराणों में अनुपलब्ध है, तथापि यत्र-तत्र वर्णन अवश्य उपलब्ध होते हैं। पद्म पुराण में वर्णित है कि समीचीन धर्म-यक्ष की रक्षा में निपुण, कल्याणकारी एवं भक्ति युक्त शासनदेवों की मूर्तियाँ जैन मन्दिरों में प्रतिष्ठापित थी।[1]

[iii] **यक्ष-यक्षिणी** : जैनधर्म में चौबीस यक्षों और यक्षिणियों का उल्लेख मिलता है।[2] डॉ० आर० एस० गुप्ते ने यक्षों को शासनदेवता स्वीकार किया है, जो तीर्थंकर के भक्त होते थे।[3] तीर्थंकरों के साथ यक्षों की प्रतिमा निर्मित करने का उल्लेख पद्म और हरिवंश पुराणों में उपलब्ध है। सिंह एवं हाथियों की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से निर्मित की गयी थीं।[4]

[iv] **सप्तर्षि** : पद्म पुराण में सप्तर्षियों में सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिचय, सर्वसुन्दर, जयवान, विनयलालस और जयमित्र का नामोल्लेख है। ये निर्ग्रन्थ मुनि होते थे और विहार करते थे। शत्रुघ्न ने इनकी मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर निर्मित कराई थीं।[5]

[v] **नौग्रह** : जैन धर्म में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नौग्रहों का वर्णन मिलता है। जैन पुराणों में इनका सम्यक् विवरण उपलब्ध नहीं होता। परन्तु यत्र-तत्र इनका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, पद्म पुराण में सीता की तपोमयी अवस्था का वर्णन सूर्य से किया गया है।[6]

[vi] **श्रुतदेवी और विद्या देवी** : ये ज्ञान की देवियाँ थीं इनकी संख्या सोलह वर्णित है। जैन पुराणों में यत्र-तत्र इनका भी उल्लेख हुआ है। हरिवंश पुराण में जिन प्रतिमाओं के साथ श्रुतदेवी की मूर्ति का वर्णन प्राप्य है।[7]

---

१. अधिष्ठिता भृशं भक्तियुक्तैः शासनदेवतैः। पद्म ६७।१२

२. अगर चन्द नाहटा—भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञातव्य, अनेकान्त, वर्ष २०, कि० ५, दिसम्बर १९६७, पृ० २१४

३. आर० एस० गुप्ते—आइकनोग्राफी ऑफ हिन्दू, बुद्धिस्ट ऐण्ड जैनस, बम्बई, १९७२, पृ० १७६

४. पद्म ७१।१९-२१; हरिवंश ५।३६३

५. वही ९२।१-३

६. वही १०५।१०३

७. हरिवंश ५।३६३

६

ललित–कला

[क] संगीत-कला

प्राचीन काल से संगीत-कला का किसी न किसी रूप में मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। संगीत के माध्यम से मनुष्य अपने सुख-दुःख के भावों को भी प्रकट करता है, जिससे उसको एक प्रकार की मानसिक शान्ति उपलब्ध होती है एवं उसका मनोरंजन भी होता है। हरिवंश पुराण में वर्णित है कि नृत्य, संगीत एवं वादित्र द्वारा मनुष्य अपना मनोरंजन कर स्फूर्ति का अनुभव करता है।[1] महा पुराण में संगीत, वादित्र तथा नृत्य-गोष्ठियों के आयोजन का उल्लेख उपलब्ध है।[2] उक्त पुराण में अन्य-गोष्ठियों के अतिरिक्त काव्य-गोष्ठी[3] में गायन की प्रधानता का वर्णन

१. चित्तैश्चित्तहरैर्दिव्यैर्मानुषैश्च समन्ततः।
नृत्यसङ्गीतवादित्रैर्भूर्तलेऽपि प्रभूयते॥ हरिवंश ५९।२०

२. कदाचित्गीतगोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा।
कर्हिचिन्नृत्यगोष्ठीभिदेयस्तांपर्यमुपासत्॥ महा १२।१८८

३. महा १२।२१२

भी प्राप्य है। जैन सूत्रों में संगीत को बहत्तर कलाओं में स्थान प्राप्त है[1] तो वह महिलाओं के चौसठ गुणों में एक गुण के रूप में विद्यमान है।[2] जैन ग्रन्थों के अनुसार संगीत में इन तीन तत्त्वों—गीत, संगीत और नृत्य—का समावेश हुआ है।[3] जैनेतर ग्रन्थों में भी संगीत का यही तात्पर्य है।[4]

समाज में अत्यधिक प्रचार-प्रसार के कारण संगीत मनोरंजन का प्रधान अंग बन चुका था। यही कारण है कि जैन भिक्षुओं को विलासिता से मुक्तार्थ संगीत निषेधित था।[5] समाज में जनता के मनोरंजन के अन्यान्य साधनों के साथ ही गायन, वादन एवं नृत्य का भी आयोजन होता था।[6] जैन आगमों में तीर्थंकर के जन्मदिन[7], जिनत्व की प्राप्ति[8], पुत्र-जन्मोत्सव[9] पर संगीत के आयोजन का उल्लेख मिलता है।

संगीत-कला के अनुशीलन से इसके गुणों की ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। मन्मथ राय ने संगीत के आठ गुण निरूपित किये हैं : स्वर कला से परिपूर्ण, रक्त (पवित्र), अलंकृत, व्यक्त, अविघुट्ट (सुरीला), मधुर, सम और सुकुमार।[10] देवताओं के नाम से सम्बद्ध कर संगीत को लोक-प्रिय बनाने के उद्देश्य से इसे धर्म से सम्बन्धित कर दिया गया है। आलोचित हरिवंश पुराण में किन्नर, गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद तथा विश्वावसु को संगीत के देवता के रूप में मान्यता प्राप्त थी।[11]

१. संगीत-कला के सिद्धान्त : स्वरूप एवं प्रकार : ललित-कला में संगीत-कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगीत कला के सिद्धान्त के ज्ञानाभाव में उसकी

१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, पृ० ६८
२. कल्पसूत्र, पृ० २०३
३. आचारांगसूत्र २।११।१८; सूत्रकृतांग २।२।५५; ज्ञाताधर्मकथासूत्र, पृ० ४०१; भगवती सूत्र १५।११४
४. गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीत मुच्यते। के० वासुदेव शास्त्री—संगीतशास्त्र, पृ० १; महाभारत, आदिपर्व ७६।२४
५. आचारांग सूत्र २।११।१४
६. वही २।११।१-८
७. कल्पसूत्र, पृ० २५३
८. वही, पृ० २६५
९. वही, पृ० २५४
१०. मन्मथ राय—प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन, इलाहाबाद, सं० २०१३, पृ० १०६
११. हरिवंश ८।१५८; पद्म ३।१७६

सम्यक् समीक्षा सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ जैन पुराणों में उल्लिखित संगीत-कला के सिद्धान्तों के स्वरूप और प्रकारों का विवेचन किया जा रहा है :

[i] स्वर : जैन पुराणों में सप्तस्वर—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम धैवत और निषाद्—का उल्लेख उपलब्ध है।[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्टतः वर्णित है कि सप्तस्वर का सम्बन्ध शारीरिक अवयवों से सम्बद्ध है जिसका विवरण निम्नवत् है : कण्ठ देश में षड्ज, शिरोदेश में ऋषभ, नासिका देश में गान्धार, हृदय देश में मध्यमा, मुखदेश में पञ्चम, तालुदेश में धैवत एवं सर्वशरीर में निषाद।[2] जैनेतर ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में भी भरतमुनि ने स्वर के उक्त सप्त प्रकारों का उल्लेख किया है।[3] स्वर के विषय में वर्णित है कि—श्रुतियों को निरन्तर उत्पन्न करने और शब्द का अनुरणन रूप ही स्वर है। प्रत्येक स्वर दूसरे स्वर की सहायता के बिना रञ्जक है।[4] स्वरों के प्रयोग में वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी इन चार प्रकारों का उल्लेख हरिवंश पुराण में हुआ है।[5] महा पुराण में भी स्वर के शुद्ध और देशज दो प्रकार उल्लिखित हैं।[6] हरिवंश पुराण में स्वरों में संचार करने वाली जातियों का रोचक वर्णन हुआ है।[7]

हरिवंश पुराण में स्वर के दो भेद हैं : वैण स्वर के अन्तर्गत श्रुति, वृत्ति, स्वर, ग्राम, वर्ण, अलंकार, मूर्च्छना, धातु और साधारण आदि स्वर आते हैं। शारीरस्वर के अन्तर्गत जाति, वर्ण, स्वर, ग्राम, स्थान, साधारण क्रिया और अलंकार विधि आते हैं।[8]

---

१. षड्जश्चाप्यृषभश्चैव गान्धारो मध्यमोऽपि च।
पञ्चमो धैवतश्च स्यान्निषादः सप्तमः स्वरः॥ हरिवंश १९।१५३; पद्म १७।२७७, २४।८

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा १८६।१२३।१-३

३. षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तश्च निषादवान्॥ भरत-नाट्यशास्त्र, अध्याय २८, पृ० ४३२

४. के० वासुदेवशास्त्री—संगीतशास्त्र, पृ० १४

५. वादी चापि च संवादी तौ विवद्यनुवादिनौ। हरिवंश १९।१५४

६. महा ७५। ६१६

७. हरिवंश १९।१९१-२६१

८. वही १९।१४६-१४८

[ii] **वृत्ति** : पद्म पुराण में द्रुता, मध्यमा एवं विलम्बिता तीन वृत्तियों के प्रयोग को ही वृत्ति नाम से सम्बोधित किया गया है। इनका प्रयोग गाते समय होता है।[1]

[iii] **जाति** : आचार्य अभिनव गुप्त भरतकोश में जाति को पारिभाषित करते हुए वर्णित करते हैं कि रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को जन्म देते हुए विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर 'जाति' के बोधक होते हैं। दस लक्षणों से युक्त विशिष्ट स्वर के अनुशीलन से सन्निवेश जाति का बोध होता है।[2]

जैन पुराणों के अनुशीलन से जाति के भेदोपभेद पर प्रकाश पड़ता है। पद्म पुराण में जाति के अधोलिखित दस भेद उपलब्ध हैं[3] :

(१) **स्थान** : इसमें उरस्थल, कण्ठ और मूर्द्धा के भेद से तीन उपभेद होते हैं।[4]

(२) **स्वर** : षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद आदि स्वरों के सात भेद हैं।[5]

(३) **संस्कार** : लक्षण और उद्देश्य अथवा लक्षणा और अभिधा की अपेक्षा दो प्रकार के संस्कार मान्य हैं।[6]

(४) **विन्यास** : पदवाक्य, महावाक्य आदि के विभाग सहित जो कथन होता है, उसे विन्यास संज्ञा से अभिहित किया गया है।[7]

(५) **काकु** : सापेक्षा और निरपेक्षा के भेद से काकु दो प्रकार का होता है।[8]

---

१. भेजे वृत्तीर्यथास्थानं द्रुतमध्यविलम्बिताः। पद्म १७।२७८
२. अभिनव गुप्त——भरतकोश, पृ० २२७
३. पद्म २४।२७-३४
४. उरः कण्ठः शिरश्चेति स्थानं त्रिधा स्मृतम्। पद्म २४।२६
५. षड्जर्षभो तृतीयश्च गन्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चापि निषादश्चेत्यमी स्वराः॥ पद्म २४।८
६. संस्कारो द्विविधः प्रोक्तो लक्षणोद्देशतस्तथा। पद्म २४।३०
७. विन्यासस्तु सखण्डाः स्युः पदवाक्यास्तदुत्तराः। पद्म २४।३०
८. सापेक्षा निरपेक्षा च काकुर्भेदद्वयन्विता। पद्म २४।३१

(६) **समुदाय** : गद्य, पद्य एवं मिश्र (चम्पू) के भेद से तीन प्रकार के समुदाय होते हैं।[1]

(७) **विराम** : किसी विषय का संक्षेप से उल्लेख करना विराम कहलाता है।[2]

(८) **सामान्याभिहित** : एकार्थक (पर्यायवाची) शब्दों का प्रयोग करना सामान्याभिहित का बोधक है।[3]

(९) **समानार्थत्व** : एक शब्द द्वारा अनेकार्थ का प्रतिपादन करना समानार्थत्व है।[4]

(१०) **लेख** : जिसका पद्य रूप व्यवहार होता है, उसे लेख कहते हैं।[5]

पद्म पुराण[6] में जाति के ही आठ भेद—धैवती, आर्षभी, षड्ज-षड्जा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्जकैकशी एवं षड्जमध्यमा तथा दस भेद—गान्धारीदीच्या, मध्यपञ्चमी, गान्धारपञ्चमी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यमोदीच्या, कर्मारवी, नन्दिनी एवं कैशिकी—कुल अट्ठारह भेद वर्णित हैं। अट्ठारह जातियों का वर्णन हरिवंश पुराण[7] में भी उपलब्ध है, जिनमें आठ षड्ज ग्राम—षाड्जी, आर्षभी, धैवती, निषादजा, सुषड्जा, उदीच्यया, षड्जकैशिकी तथा षड्जमध्या और दस मध्यम ग्राम—गान्धारी, मध्यमा, गान्धारोदीच्यवा, रक्तान्धारी, रक्तपञ्चमी, मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती, कर्मारवी, आन्ध्री तथा कैशिकी—से सम्बन्धित जातियाँ हैं। जैनेतर साक्ष्यों से भी जाति के अट्ठारह भेद उपलब्ध होते हैं।[8]

हरिवंश पुराण के उल्लेखानुसार मध्यमा, षड्जमध्या एवं पञ्चमी तीन जातियाँ साधारण स्वरगत हैं।[9] उक्त ग्रन्थ में अन्य स्थल के वर्णन से यह स्पष्ट होता है

१. गद्यः पद्यश्च मिश्रश्च समुदायस्त्रिधोदितः। पद्म २४।३१
२. संक्षिप्तता विरामस्तु। पद्म २४।३२
३. सामान्याभिहितः पुनः शब्दानामेकवाच्यानां प्रयोगः परिकीर्तितः। पद्म २४।३२
४. तुल्यार्थतैकशब्देन बह्वर्थप्रतिपादनम्। पद्म २४।३३
५. पद्मव्यवहृतिर्लेखः। पद्म २४।३४
६. पद्म २४।१२-१५
७. हरिवंश १९।१७४-१७७
८. के० वासदेव शास्त्री—संगीतशास्त्र, पृ० ५३
९. हरिवंश १९।१७८

कि मध्यमोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, कर्मारवी एवं गान्धार पञ्चमी—ये चार जातियाँ सात स्वर वाली; षड्जा, आन्ध्री, नन्दयन्ती एवं गान्धारमोदीच्यवा—जातियाँ छः स्वर वाली और अन्य दस जातियाँ पाँच स्वर वाली होती हैं। इनमें से छः स्वर वाली को षाड्व एवं पाँच स्वर वाली को ओडव संज्ञा प्रदत्त है।[1] उक्त जातियों के दो उपभेद हैं—शुद्ध जाति और विशुद्ध जाति।

शुद्ध जाति : वह जाति है जो परस्पर संयुक्त उत्पन्न नहीं होती है, बल्कि पृथक्-पृथक् लक्षणों से युक्त होती है।[2]

विकृत जाति : यह समान लक्षणों से युक्त होती है। इसका निर्माण दो ग्रामों (षड्ज एवं मध्यम) की जातियों से होती है तथा दोनों के स्वर से आलुप्त रहती है।[3]

हरिवंश पुराण में वर्णित है कि स्वरों में मध्यम स्वर प्रधान होने के कारण उसका विनाश कभी भी नहीं होता है, जबकि अन्य स्वर विनष्ट हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त गन्धर्व कला के समस्त भेदों में भी इसे स्वीकृत किया गया है।[4] हरिवंश पुराण में तार, मन्द्र, न्यास, उपन्यास, ग्रह, अंश, अल्पत्व, बहुत्व, षाड्व तथा औडवित आदि दस जातियों की गणना उपलब्ध है, जिनका ज्ञान होना अनिवार्य है।[5] वस्तुतः जाति के लक्षण ये ही हैं। जाति एवं स्वरों का सुन्दर समन्वय हरिवंश पुराण में उपलब्ध है, जो अपने ढंग का उदात्त दृष्टान्त है।[6]

[iv] मात्रिकाएँ : मात्रिकाओं का संगीत कला में प्रधान स्थान है। पद्म पुराण में व्यक्तवाक्, लोकवाक् तथा मार्ग व्यवहार मातृकाएँ कहलाती हैं।[7]

[v] मूर्च्छना : मूर्च्छना शब्द 'मूर्च्छ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'मोह' और 'समुछ्राय' (उत्सेध, उभार, चमकना, व्यक्त होना) है। भरत के अनुसार सात

---

१. हरिवंश १६।१८०-१८६
२. वही १६।१७६
३. वही १६।१७६-१८०
४. वही १६।१६६-१६७
५. वही १६।१६८-१६६
६. वही १६।१८६-२६१
७. व्यक्तवातलोकवाम्मार्गव्यवहारश्य मातरः। पद्म २४।३४

स्वरों का क्रमानुसार प्रयोग (युक्त) ही मूर्च्छना कहलाता है।[1] पद्म पुराण[2] में गन्धर्व द्वारा २१ मूर्च्छना और ४९ ध्वनियों का वर्णन मिलता है, जिसमें २१ मूर्च्छना का तात्पर्य षड्ज ग्राम की २१ औडुव ताने और ४९ ध्वनियों से तात्पर्य सब मूर्च्छनाओं में दी जाने वाली ४९ तानों से है। हरिवंश पुराण के अनुसार षड्ज एवं मध्यम ग्रामों की १४ मूर्च्छनाओं के षड्ज, औडव, साधारणीकृत तथा काकली के भेद से चार-चार स्वर होने से मूर्च्छनाओं के कुल ५६ स्वर होते हैं।[3]

मूर्च्छनाओं को चार भागों में विभाजित करते हैं। इनके विभाजन में दो मतों को मान्यता मिली है : एक मत के अनुसार मूर्च्छनाओं के भेद पूर्णा, षाड्वा, औडुवित्ता एवं साधारण हैं और दूसरे मतानुसार भी इसके चार भेद—शुद्धा, अन्तरसहिता, काकली सहिता तथा अन्तरकाकली सहिता हैं। इनमें से दूसरा मत अधिक प्रचलित है। इसका कारण है कि महर्षि भरत ने औडुवित और षाड्विक अवस्था को 'तान' और सम्पूर्ण अवस्था को 'मूर्च्छना' कहा है। मूर्च्छना का प्रधान लक्षण सप्तस्वरता है।[4]

[vi] **तान** : हरिवंश पुराण में कुल ८४ तानें वर्णित हैं, इनमें पाँच स्वरों से ३५ और छः स्वरों से ४९ ताने हैं।[5] भरत के अनुसार ८४ तानें मूर्च्छनाओं पर आश्रित हैं, जिनमें ४९ षाड्व एवं ३५ औडुव हैं।[6]

[vii] **राग** : भरत ने ग्राम रागों की उत्पत्ति जाति से बताते हुए[7] राग के विषय में निरूपित किया है कि लोक में गाया जाने वाला सभी कुछ जातियों में स्थित है।[8] हरिवंश पुराण में नापित राग[9] और गोपाल[10] राग का वर्णन उपलब्ध है।

---

१. क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः। भरत—नाट्यशास्त्र, अध्याय २८, पृ० ४३५

२. पद्म पुराण १७।२७८-२८०

३. हरिवंश १९।१६९

४. कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति—भरत का संगीत-सिद्धान्त, पृ० ३६-३८

५. हरिवंश १९।१७१

६. कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति—वही, पृ० ४३

७. 'जातिसम्भूतत्वाद् ग्रामरागाणाम् इति।—कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति-वही, पृ० १९९, पा० टि० ३

८. यत्किञ्चिद् गीयते तत्सर्वंजातिषु स्थितम्।—वही, पृ० १९९, पा० टि० ४

९. हरिवंश २१।४६ १०. हरिवंश २१।४७

[viii] **ताल** : प्रतिष्ठार्थक 'तल्' धातु के पश्चात् अधिकरणार्थक 'घञ्' प्रत्यय लगने से 'ताल' शब्द की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि गीत, वाद्य एवं नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निःशब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य और नृत्य को परिमित करने वाला काल ताल का बोधक है।[1] पद्म पुराण में ताल की अत्त और चतुस्र दो ध्वनियाँ उल्लिखित हैं।[2]

[ix] **लय** : भरत के मतानुसार ताल क्रिया के अनन्तर (अगली ताल क्रिया के पूर्व तक) किया जाने वाला विश्राम लय का बोध करता है।[3] पद्म पुराण में लय के तीन भेद उपलब्ध हैं—द्रुत, मध्य और विलम्बित।[4]

[x] **अभिव्यक्ति** : पद्म पुराण के उल्लेखानुसार संगीत की अभिव्यक्ति कण्ठ, शिर तथा उरस्थल है।[5]

[xi] **पद और अलंकार** : स्थायी, संचारी, आरोही तथा अवरोही वर्णों से संयुक्त होने के कारण इन चार प्रकार के पदों का उल्लेख पद्म पुराण में हुआ है। संगीत इन्हीं चार पदों में ही स्थित है।[6] उक्त ग्रन्थानुसार संगीत का सम्यक् ज्ञान इन्हीं चार पदों एवं निम्निष्ट तेरह अलंकारों के माध्यम से होता है :

(१) **स्थायी पद के अलंकार** : प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, मध्यप्रसाद एवं प्रसन्नावसान आदि स्थायी पद के चार अलंकार हैं।[7]

(२) **संचारी पद के अलंकार** : इस पद के छः अलंकार—निर्वृत्त, प्रस्थित, विन्यु, प्रेङ्खोलित, तारमन्द्र और प्रसन्न—हैं।[8]

(३) **आरोही पद के अलंकार** : इस पद के अन्तर्गत मात्र प्रसन्नादि नामक एक अलंकार है।[9]

(४) **अवरोही पद के अलंकार** : इस पद में प्रसन्नान्त तथा कुहर नामक दो अलंकार हैं।[10]

---

१. कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति—वही, पृ० २३४
२. पद्म २४।६
३. कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति—वही, पृ० २४२
४. पद्म २४।६
५. वही २४।७
६. वही २४।१०
७. वही २४।१६
८. वही २४।१७
९. वही २४।१८
१०. वही २४।१८

[xii] **श्रुतियाँ** : भरत ने श्रुतियों की संख्या बाईस निर्धारित किया है।[1] आलोच्य हरिवंश पुराण[2] में भी श्रुतियों की निर्धारित संख्या बाईस ही है। षड्ज, मध्यम, एवं पंचम में चार-चार, ऋषभ तथा धैवत में तीन-तीन और गांधार तथा निषाद में दो-दो श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार कुल बाईस श्रुतियाँ होती हैं।

[xiii] **ग्राम** : 'ग्राम' शब्द समूह का द्योतक है। भरत के मतानुसार सम्वादी स्वरों के उस समूह से ग्राम का बोध होता है, जिनमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में हों एवं मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलंकार इत्यादि का आश्रय हो।[3] ग्राम को मूर्च्छना तथा स्वर के साथ प्रयुक्त करने का उल्लेख पद्म पुराण में हुआ है।[4] भरत ने ग्राम के तीन भेद[5]—षड्ज, मध्यम एवं गान्धार—निरूपित किये हैं। हरिवंश पुराण में ग्राम के दो भेद षड्ज ग्राम एवं मध्यम ग्राम का उल्लेख उपलब्ध है[6] :

(१) षड्ज ग्राम : हरिवंश पुराण में षड्ज ग्राम के विषय में सविस्तार वर्णन मिलता है। षड्ज ग्राम में षड्ज तथा पंचम स्वर का संवाद होता है।[7] इसमें बाईस श्रुतियाँ[8] और सात मूर्च्छनाएँ[9] प्रयुक्त होती हैं। षड्ज में चार, ऋषभ में तीन, गान्धार में दो, मध्यम में चार, पंचम में चार, धैवत में दो, निषाद में तीन श्रुतियाँ होती हैं। इस प्रकार कुल बाईस श्रुतियाँ षड्ज ग्राम में होती हैं। उत्तर भद्रा, रजनी, उत्तरायतता, शुद्ध षड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता तथा अभिरुद्गता—ये सात षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएँ हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार षड्ज ग्राम की आठ जातियाँ—षाड्जी, आर्षभी, धैवती, निषादजा, सुषड्जा, षड्जोदीच्य, षड्जकौशिकी तथा षड्जमध्या—हैं।[10] पद्म पुराण में षड्ज ग्राम की आठ जातियों में धैवती, आर्षभी, षड्जषड्जा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी षड्जकैकशी तथा षड्जमध्यमा को सम्मिलित करने का उल्लेख हुआ है।[11]

---

१. तत्र वा द्वाविंशतिश्रुतयः। भरत-नाट्यशास्त्र, अध्याय २८, पृ० ४३३
२. हरिवंश १९।१५८-१५९
३. कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति—वही, पृ० ५
४. पद्म ३७।१०८
५. कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति—वही, पृ० ६
६. हरिवंश १९।१५५
७. वही १९।१५५
८. वही १९।१५८-१५९
९. वही १९।१६१-१६२, १९।१६५-१६६
१०. हरिवंश १९।१७४-१७५
११. पद्म २४।१२

(२) मध्यम ग्राम : हरिवंश पुराण में मध्यम ग्राम विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। मध्यम ग्राम में पंचम तथा ऋषभ स्वर का संवाद प्रयोग होता है।[१] मध्यम ग्राम में बाईस श्रुतियों और सात मूर्च्छाओं का प्रयोग हुआ है। षड्ज ग्राम में पूर्वोक्त उल्लिखित बाईस श्रुतियाँ इसमें भी उपलब्ध हैं, किन्तु इसकी सप्त मूर्च्छनाएँ पूर्वकथित ग्राम से भिन्न प्राप्य हैं। मध्यम ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ—सौवीरी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्ध मध्यमा, मार्गवी, पौरवी तथा रिष्यका—हैं।[२] उक्त पुराण में मध्यम ग्राम की दस जातियाँ—गान्धारी, मध्यमा, गान्धारोदीच्या, रक्तगान्धारी, रक्तपंचमी, मध्यमोदीच्या, नन्दयन्ती, कर्मारवी, आन्ध्री तथा कौशिकी—का उल्लेख हुआ है।[३] पद्म पुराण में भी मध्यम ग्राम की दस जातियों में गान्धारीदीच्या, मध्यमपंचमी, गान्धारपंचमी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यमोदीच्या, कर्मारवी, नन्दिनी, तथा कैशिकी सम्मिलित है।[४]

२. संगीत कला के भेद भेदान्तर : जैन पुराणों में उल्लिखित संगीत कला को अध्ययन की दृष्टि से निम्निष्ट भेद-भेदान्तरों में विभक्त किया गया है :

[i] गीत या गायन संगीत : पूर्व ही हम वर्णन कर चुके हैं कि संगीत के तीन तत्त्व—गीत (गायन), वाद्य एवं नृत्य—हैं। इन तीन अंगों में गीत का प्रथम स्थान है। मनुष्य स्वतः कुछ न कुछ अपने मन में गाता है। आलोच्य जैन पुराणों में गीत या गायन से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध है।

जैन सूत्रों में चार प्रकार के गेय—उत्क्षिप्त, पादात्त, मंदक तथा रोचितावसान-वर्णित हैं।[५] गीत में इन तत्त्वों का होना अनिवार्य माना गया है। उरस्, कण्ठ एवं शिरस् से पदबद्ध, गाने योग्य पदों के साथ समरूप ताल पद का उच्चारण करना और सप्त स्वरों के समाक्षरों सहित गाना ही गीत या गायन का बोधक है। गायन के नियमानुसार प्रथम मन्द्र स्वर से प्रारम्भ करके क्रमशः मध्य एवं तार स्वर में गीत का उच्चारण करना चाहिए। विधिवत् गीत गाने को 'ललित-गीत' की श्रेणी में रखते हैं। महा पुराण में वर्णित है कि वार-वनिताओं द्वारा गाये गये गीत-विशेष आनन्ददायक होते हैं।[६]

---

१. हरिवंश १९।१५५
२. वही १९।१६३-१६४, १९।१६७-१६८
३. वही १९।१७५-१७७
४. पद्म २४।१३-१४
५. जम्बूदीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृ० ४१३
६. महा १६।१९७

मन्मथ राय[1] ने गीत के तीन आकार एवं प्रकार, आठ गुण एवं छः दोष वर्णित किये हैं। तीन आकारों में मृदुगीत ध्वनि, तीव्रगीत ध्वनि तथा क्षययुक्त मन्द गीत ध्वनि सम्मिलित हैं। आठ गुणों के अन्तर्गत—पूर्ण कला से, राग से, अलंकृत, स्पष्ट, मधुर, तालवंश के स्वर से संयुक्त, तालस्वर युक्त एवं मूर्च्छनाओं का ध्यान रखते—हैं। गाते समय गायन के इन छः दोषों—भीति, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काक स्वर तथा नकियाना—से बचना आवश्यक माना गया है। जैनेतर रामायण में गायन के विषय में वर्णित है कि गायन मधुर, तीनों प्रमाणों या लयों (द्रुत, मध्य एवं विलम्बित) से युक्त, सात जातियों से युक्त, वीणा वादन की लय से मिलता होना चाहिए।[2] रामायण में गायन में रसों का विशेष महत्त्व बताया गया है।[3] गायन की कुछ मुद्राओं का अंकन भरहुत की कला में उपलब्ध है।[4]

[ii] वाद्य-संगीत : किसी अन्य साधन को सम्मिलित किये बिना ही संगीत के मूलाधार स्वर एवं लय के द्वारा वाद्य संगीत मनुष्य को आनन्ददायक होता है। संगीत में वाद्य संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसमें किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, जबकि नृत्य एवं गीत में सहायक वाद्यों का होना अनिवार्य है। वाद्यों का प्रयोग अन्यत्र भी किया जा सकता है। वाद्य का शास्त्रीय संगीत में अपना विशेष स्थान है। शास्त्रीय संगीत से वाद्य को पृथक् करना असम्भव है, क्योंकि शास्त्रीय संगीत वाद्यों पर ही आश्रित हैं।

जैन ग्रन्थों में वाद्यों को चार भागों—तत, वितत, घन तथा सुषिर—में विभक्त किया गया है।[5] यहाँ पर वितत अवनद्ध के लिए आया है। जैन पुराणों में वाद्यों को तत, अवनद्ध, सुषिर एवं घन वर्गों में विभाजित किया गया है।[6] जैनेतर साक्ष्यों में भी वाद्यों को तत, अवनद्ध, सुषिर एवं घन में विभक्त किया गया है। वैदिक परम्परा के सूत्र साहित्य और बौद्ध जातकों, त्रिपटकों एवं अन्य ग्रन्थों में भी वाद्यों

---

१. मन्मथ राय—प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन, इलाहाबाद, सं० २०१३, पृ० १०६

२. पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥ रामायण १।४।७

३. रामायण १।४।८

४. धर्मावती श्रीवास्तव—प्राचीन भारत में संगीत, वाराणसी, १९६७, पृ० ६५

५. आचारांगसूत्र २।१५।५-१५; भगवतीसूत्र ५।४।६३६

६. हरिवंश ७।८४; पद्म १७।२७४, २४।२०

को तत्, अवनद्ध, सुषिर एवं घन ये चार भाग किये गये हैं।[1] महाभारत में उक्त चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख हुआ है।[2] भरत ने तत, अवनद्ध, घन तथा सुषिर के लक्षणों का उल्लेख किया है।[3]

(१) तत वाद्य : पद्म पुराण में तन्त्री शब्द तत के लिए व्यवहृत हुआ है। तन्त्री या वीणा से उत्पन्न होने वाले वाद्य तत के अन्तर्गत आते हैं।[4] तार से बजने वाले वाद्य (वीणा आदि) तत वाद्य संज्ञा से अभिहित हैं।[5] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि तत नामक वादित्र कर्णप्रिय होने से प्रायः सभी प्राणियों को प्रिय एवं गन्धर्व शरीर से सम्बद्ध होने के कारण तत 'गान्धर्व' नाम से विख्यात था।[6] गान्धर्व की उत्पत्ति के तीन कारण—वीणा, वंश तथा गान—हैं।[7] गान्धर्व के तीन भेद स्वरगत, पदगत तथा तालगत उपलब्ध होते हैं। इसके उपभेद और लक्षण अग्रलिखित हैं।[8]

स्वरगत गान्धर्व : इसके दो उपभेद वैणस्वर एवं शरीरस्वर हैं।[9] श्रुति, वृत्ति, स्वर, ग्राम, वर्ण, अलंकार, मूर्च्छना, धातु एवं साधारण आदि वैणस्वर के अन्तर्गत आते हैं।[10] जाति, वर्ण, स्वर, ग्राम, स्थान, साधारण क्रिया तथा अलंकार आदि की गणना शरीरस्वर के अन्तर्गत होती है।[11]

---

१. धर्मावती श्रीवास्तव—वही, पृ० २६, ६६, ११३
२. धर्मावती श्रीवास्तव—वही, पृ० ७०
३. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधन्तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्॥ नाट्यशास्त्र, अध्याय २८, श्लोक १
४. पद्म २४।२०
५. हरिवंश १६।१४३
६. प्राणिप्रीतिकरं प्रायः श्रवणेन्द्रियतर्पणात्।
गान्धर्वदेहसम्बद्धं ततं गान्धर्ववमीरितम्॥ हरिवंश १६।१४४
७. वीणा वंशश्च गानं च तस्य योनिरितीरियम्। वही १६।१४५
८. गान्धर्वं त्रिविधं चैतत्स्वरतालपदे गतम्। वही १६।१४५
९. वैणाश्चापि च शरीरा द्विविधास्तु स्वराः स्मृताः। वही १६।१४६
१०. श्रुतिवृत्तिस्वरग्रामवर्णालङ्कारमूर्च्छनाः।
धातुसाधारणाद्याश्च दारूवीणास्वराः स्मृताः॥ वही १६।१४७
११. जातिवर्णस्वरग्रामस्थानसाधारण क्रियाः।
सालङ्कारविधिश्चायं शारीरस्वरगोचरः॥ वही १६।१४८

पदगत गान्धर्व : इसके अन्तर्गत जाति, तद्धित, छन्द, सन्धि, स्वर, विभक्ति, सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग एवं वर्ण आदि आते हैं।[1]

तालगत गान्धर्व : इस ताल के इक्कीस भेद—आवाप, निष्काम, विक्षेप, प्रवेशन, शम्यातालं, परावर्त, सन्निपात, सवस्तुक, मात्रा, अविदार्य, अङ्ग, लय, गति, प्रकरण, यति, दो प्रकार की गीति, मार्ग, अवयव, पादभाग तथा सपाणि हैं।[2] जैनेतर साक्ष्य से भी इसके इक्कीस प्रकार की पुष्टि हो जाती है। भरत के मतानुसार इसके अन्तर्गत इक्कीस प्रकार होते हैं।[3]

जैन पुराणों में तत वाद्य संगीत विषयक विवरण अग्रलिखित है :

(i) **तुणव :** इसे सितार के रूप में प्रयोग करने का उल्लेख महा पुराण में उपलब्ध है।[4] सितंत्री वीणा का विकास तम्बूरा और सितार के संयुक्त रूप में हुआ था।[5] सितार के रूप में प्रयुक्त तम्बूरा को तुणव कहा जा सकता है।

(ii) **वीणा :**[6] महा पुराण में वीणा के स्वर को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[7] हाथ की अंगुलियों से ताडित वीणा से मधुर स्वर प्रवाहित होता है। अन्य स्थल पर उक्त पुराण में वीणा वादन की मुद्राओं का रुचिकर चित्रण उपलब्ध है।[8] एक विधि के अनुसार ओठों के अग्रभाग से वीणा को दबाकर अँगुलियों से वीणा वादन करते थे। अन्य रीत्यानुसार वीणा वादन के साथ गायन भी करते थे। पाण्डव पुराण में घोषा, सुघोषा, महाघोषा एवं घोषवती वीणाओं का उल्लेख हुआ है।[9] महा पुराण में वीणा

---

१. जातितद्धितवृत्तानि सन्धिस्वरविभक्तयः।
नामाख्यातोपसर्गाद्य वर्णाद्यास्ते पदे विधिः॥ हरिवंश १९।१४९

२. आवापश्चापि निःकामो विक्षेपश्च प्रवेशनम्।
शम्यातालं परावर्तः सन्निपातः सवस्तुकः॥
मंत्राविदार्यंगलया गति प्रकरणं यतिः।
गीति च मार्गावयवाः पादभागाः सपाणयः॥ हरिवंश १९।१५०-१५१

३. भरतनाट्यशास्त्र, अध्याय २८, श्लोक १५-१६

४. महा १५।१४७

५. लालमणि मिश्र—भारतीय संगीत वाद्य, नई दिल्ली, १९७३, पृ० ५७

६. पद्म ६।३७९; हरिवंश ८।४४

७. महा १२।२३९

८. वही १२।१९९-२०४

९. पाण्डव ७।६९-७०

के साथ अन्य वाद्यों के स्वरों का भी उल्लेख उपलब्ध है।[1] वीणा से सम्बन्धित अधोलिखित वाद्यों का उल्लेख जैन पुराणों में हुआ है :

अलाबु : इसका उल्लेख महा पुराण[2] एवं वैदिक ग्रन्थों में प्राप्य है। आधुनिक वीणाओं में अलाबु (लौकी का तुम्बा) प्रयुक्त होता है। सम्भवतः उक्त वस्तुओं का भी प्रयोग अलाबु में किया जाता था।[3] इसके आकार-प्रकार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। नेमिचन्द्र ने अलाबु को सुषिर वाद्य के अन्तर्गत रखा है क्योंकि तुम्बी वाद्य के लिए अलाबु शब्द व्यवहृत हुआ है।[4] अलाबु सारंगी का अत्यधिक विकसित रूप है, जो भारतीय सारंगी से मिलती-जुलती है। मुख्यतः जैसलमेर की मंजीनियां जाति द्वारा इसका प्रयोग होता था। इसका प्रयोग संगीत के लिए किया जाता था।[5]

तंत्री : तंत्री वाद्य का वर्णन हरिवंश पुराण में उपलब्ध है।[6] पद्म पुराण में भी तंत्री के लिए वीणा शब्द प्रयुक्त हुआ है।[7] यह एक विशेष प्रकार की वीणा थी। इसमें प्रयुक्त तार की संख्यानुसार इसका नामकरण होता था, जैसे एक तार की वीणा को एकतन्त्री वीणा या तीन तार की वीणा को त्रितंत्री वीणा की संज्ञा से सम्बोधित करते थे।

सुघोषा : हरिवंश पुराण में सत्ररह तार की सुघोषा नामक वीणा का उल्लेख हुआ है।[8] भरत ने घोषवती वीणा का नामोल्लेख किया है, किन्तु इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। परवर्ती आचार्यों ने घोषवती को घोषा, घोषक, ब्राह्मी तथा एकतंत्री आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। घोषवती में नौ तार प्रयुक्त होते थे।[9] इसका विकसित रूप ही सुघोषा है।

(२) अवनद्ध वाद्य : चमड़े से मढ़कर निर्मित वाद्य को अवनद्ध वाद्य नाम से

---

१. महा १४।११७
२. वही १२।२०३
३. धर्मावती श्रीवास्तव—वही, पृ० १०, लालमणि मिश्र—वही, पृ० ६२
४. नेमिचन्द्र—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, १९६८, पृ० ३२०
५. लालमणि मिश्र—वही, पृ० १८२
६. हरिवंश ८।४४
७. पद्म २४।२०
८. हरिवंश १९।१३७
९. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ४०

सम्बोधित करने का उल्लेख जैन पुराणों में हुआ है। इसके अन्तर्गत मृदंगादि वाद्य आते हैं।[1] अवनद्ध वितत वाद्य का भी बोधक है। भरत ने अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत मुख्यतः पुष्कर वाद्यों को सम्मिलित किया है। इस प्रकार के वाद्यों की संख्या एक सौ से भी अधिक थी।[2] जैन पुराणों में अधोलिखित अवनद्ध वाद्यों का वर्णन उपलब्ध है :

(i) **आनक** :[3] यह एक प्रकार का मुख वाद्य है। इसकी ध्वनि गम्भीर होती है। आधुनिक नगाड़े या नौबत वाद्य से इसकी समता की जा सकती है।

(ii) **झल्लरी** :[4] पद्म पुराण में झल्ला[5] शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसे झल्ला या झलरी कहा जा सकता है। आधुनिक समय में इसे खंजरी, दायरा, चंग आदि नाम से सम्बोधित करते हैं। यह चमड़े से मढ़ा होता था तथा बायें हाथ में अंगूठे में लटका कर दाहिने हाथ के शंकु द्वारा इसका वादन होता था। इसकी गणना घन तथा सुषिर वाद्य के अन्तर्गत हुआ है।

(iii) **ढक्का** : इस वाद्य का उल्लेख पद्म पुराण में उपलब्ध है।[6] इसका वर्णन संगीत-रत्नाकर, संगीत-मकरन्द, संगीतसार, मानसोल्लास में भी वर्णित है। ढक्स के सदृश्य इसका आकार होता है। इसके दोनों मुख तेरह-तेरह अँगुल रखे जाते हैं। इसको बायीं बगल में दबाकर दाहिने हाथ से डण्डे से बजाते हैं। इसे धौंसा नाम से भी सम्बोधित करते हैं।[7]

(iv) **दर्दुर** :[8] यह घट की आकृति का होता है। इसका मुख नौ अँगुल का होता है, जिसके ऊपर चमड़े की चूड़ी बारह अँगुल पर होती है। पणव के समान चमड़े की चूड़ियाँ सुतलियों से कसी होती हैं। यह दोनों हाथ से बजाया जाता है। कालान्तर में इसका प्रयोग घट एवं घड़ा के लिए होने लगा है।[9]

---

१. पद्म २४।२०; हरिवंश १९।१४३
२. लालमणि मिश्र–वही, पृ० ६५
३. हरिवंश ११।१२०; महा १३।७, ६८, ५४१
४. पद्म ६।३७९; हरिवंश ४।६, ५९।७६; महा १५।१४७
५. वही ६।३७९
६. वही ८०।५५
७. लालमणि मिश्र–वही, पृ० ६९
८. पद्म ५८।२८; हरिवंश २२।१२
९. लालमणि मिश्र- वही, पृ० १५

(v) **दुन्दुभि**[1] : दुन्दुभि का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसका अर्थ हिन्दी शब्द सागर में नगाड़ा और धौंसा है। इसको नगाड़ा कह सकते हैं, धौंसा नहीं। यह तबले की भाँति दो नगों से निर्मित होता है। बड़े नग से गम्भीर ध्वनि निकलती और छोटे नग की ध्वनि दूर तक प्रसरित होती है। यह द्वय शंक्वाकार लकड़ियों से बजाया जाता है। नगाड़ा एवं नगड़िया शब्द भी इसके लिए व्यवहृत हैं। उत्तर प्रदेश में इसका उपयोग नौटंकी में अधिकतर किया जाता है। इसका प्रयोग युद्ध एवं शुभावसरों पर होता है। यदि यह शहनाई सहित बजती है तो इसे नौबत संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[2]

(vi) **पटह**[3] : हिन्दी शब्द सागर में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुन्दुभी है, परन्तु संगीत-पारिजात के अनुसार पटह का तात्पर्य ढोलक से है। यह डेढ़ हाथ लम्बा भेरि की भाँति का वाद्य है। यह पतले या मोटे चमड़े से मढ़ा जाता है। इसे लकड़ी या हाथ से बजाया जाता है। इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में हुआ है। यह दो प्रकार का होता है—देशी तथा मार्गी।[4]

(vii) **पणव**[5] : मृदंग के समान यह प्राचीन कालीन अवनद्ध वाद्य है। यह सोलह अँगुल लम्बा, भीतर की ओर मध्यभाग दबा, आठ अंगुल विस्तरित तथा दोनों मुख पाँच अँगुल के होते हैं। इसके काष्ठ की मोटाई आधे अँगूठे के सदृश होती है और अन्तः भाग चार अंगुल व्यास का खोखला होता है। इसके दोनों मुख कोमल चमड़े से मढ़े जाते हैं तथा इसे सुतली से कसा जाता है। सुतली के कसाव को ढीला रखते हैं। इसे प्राचीन एवं आधुनिक काल में हुडुक नाम से अभिहित करते हैं, जब कि मध्य काल में इसे आवाज नाम दिया गया था।[6]

(viii) **पाणिघ (तबला)**[7] इसका प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में अनुपलब्ध है। संगीत-सार के अनुसार प्राचीन हुडुक्का का विकसित रूप ही आधुनिक तबला है। तबला वादन में पंजा से कम ऊँगलियों से अधिक काम लिया जाता है।

---

१. पद्म ८०।५४; हरिवंश ८।१४१; महा १३।१७७, १५।१४७
२. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ७६-७८
३. पद्म ८०।५८, ८२।३०; हरिवंश ८।१५७; महा १५।१४७, २३।६३
४. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ७६-८०
५. हरिवंश २२।१२; महा १२।२०७, २३।६२
६. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ७८-७६
७. पद्म १७।२७५; हरिवंश ११।१२०

(ix) पुष्कर[1] : भरत ने पुष्कर के सौ से अधिक प्रकार वर्णित किये हैं। जैन पुराणों में पुष्कर वाद्य का अधिक उल्लेख हुआ है। मृदंग का अन्य रूप इसे कहा जा सकता है। आधुनिक पखावज से इसकी समता की जा सकती है। पुष्कर में — क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह— स्वरों का प्रयोग होता है।[2]

(x) भेरी[3] : इसका अर्थ हिन्दी शब्द सागर में ढोल, नगाड़ा तथा ढक्का प्रदत्त है। परन्तु यह वाद्य मृदंग वर्गीय है, जो धातुनिर्मित लगभग दो हाथ लम्बी एवं द्विमुखी होती है। इसके एक मुख का व्यास एक हाथ होता है और यह चर्म से मढ़ी एवं काँसे के कड़े से युक्त डोरी से कसी होती है। इसे दाहिने ओर लकड़ी से तथा बायीं ओर हाथ से बजाते हैं।[4] उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में विवाहोत्सव के अवसर पर एक लम्बी तुरही का प्रयोग करते हैं। इसका आकार ध्वनि विस्तारक की भाँति होता है। इसकी लम्बाई लगभग पाँच हाथ होती है और मुंह से फूँकने पर एक ही स्वर निकलता है। भेरी अवनद्ध तथा सुषिर वर्ग के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।[5]

(xi) मृदंग[6] : प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग, पणव तथा दुर्दर का उल्लेख पुष्कर वाद्य के अन्तर्गत हुआ है। पुष्कर वाद्यों में मृदंग वाद्य का प्रमुख स्थान है। वैदिक काल में मृदंग का उल्लेख अनुपलब्ध है। रामायण में मुरज तथा मृदंग का उल्लेख हुआ है। कालिदास के ग्रन्थों में मर्दल, मुरज एवं मृदंग का वर्णन उपलब्ध है। भरत के काल में मृदंग तथा मुरज प्रचलित था। इसके तीन आकार हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छा हैं। इसके तीन भाग—आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिङ्गन हैं।[7] इनके दोनों मुंह चमड़े से मढ़े जाते हैं। मध्य का भाग दोनों किनारों की अपेक्षा अधिक उभरा रहता है। महा पुराण में मृदंग बजाने की विधि का वर्णन उपलब्ध है।[8]

---

१. महा ३।१७४, १४।११५
२. भरत—नट्यशास्त्र, पृ० ३४-३६
३. पद्म ४४।७२, ५८।२७; हरिवंश ८।१४१; महा १२।२०८, १३।१३
४. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ८६
५. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ८७
६. पद्म ६।३२६; हरिवंश ४।६, २२।१२; महा १३।१७७, १७।१४३
७. लालमणि मिश्र—वही, पृ० ८८-६१
८. महा १२।२०४-२०६

(xii) मुरज[1] : मुरज मृदङ्ग का अन्य नाम है। इसे मुण्ड वाद्य के साथ बजाया जाता था।[2]

(xiii) मर्दल[3] : पद्म पुराण में मर्दल के लिए मर्दक शब्द व्यवहृत हुआ है।[4] इसे मृदङ्ग भी कहा जा सकता है।

(३) सुषिर वाद्य : आलोचित जैन पुराणों में सुषिर वाद्य के विषय में उल्लिखत है कि मुंह से फूककर जिन वाद्यों से ध्वनि उत्पन्न करते हैं उनको सुषिर वाद्य कहते हैं।[5] इनका विवरण निम्न प्रकार है :

(i) कहला[6] : इसका निर्माण सोना, चाँदी एवं ताँबा से होता था। इसकी लम्बाई तीन हाथ होती थी। यह भीतर से खोखला होता था। धतूरे के फूल के सदृश इसकी मुखाकृति होती थी। इसके मध्य में दो छिद्र रहते थे। फूंकने पर इसके मुंह से 'हा हू' ध्वनि निकलती थी। संगीतसार में इसे 'भूपाड़ो' संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[7]

(ii) तूर्य[8] : दूर से इसकी ध्वनि भारतीय शहनाई के सदृश प्रतीत होती है। इसकी लम्बाई डेढ़ हाथ होती है। शनैः शनैः इसके मुख का व्यास बड़ा होता जाता है और अन्त में इसका आकार खिले हुए धतूरे के पुष्प के सदृश्य होता है। दक्षिणी भारत के मन्दिरों में उत्सव, विवाह, जुलूस एवं माँगलिक अवसरों पर यह बजाया जाता है। उत्तर भारत के शहनाई वादक के समान दक्षिण भारत में इसके प्रसिद्ध वादक हैं।[9]

(iii) वंश तथा बाँसुरी : पद्म पुराण[10] में वंश शब्द का उल्लेख उपलब्ध है।

---

१. महा १२।२०७
२. वही ५४।१६२
३. हरिवंश ८।१५७
४. पद्म ६।३७६
५. हरिवंश १६।१४३; पद्म २४।२०
६. पद्म ५८।२८, ६।३७६; हरिवंश ५६।१६; महा १५।१४७, १७।११३
७. लालमणि मिश्र—वही, पृ० १००
८. पद्म ४३।३; हरिवंश ५६।१६; महा १२।२०७, १५।४७; ६८।५४६
९. लालमणि मिश्र—वही, पृ० १००-१०१
१०. पद्म ११०।३५

महा पुराण[1] तथा हरिवंश पुराण[2] में इसके लिए बाँसुरी शब्द व्यवहृत हुआ है। वंश या बाँसुरी आधुनिक बाँसुरी के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह मुँह से फूँकने पर ध्वनित होती है।

(iv) वेणु[3] : इसका प्रयोग भी बाँसुरी के अर्थ में हुआ है। जैन पुराणों के अनुसार बाँस से निर्मित होने के कारण इसे वेणु नाम प्रदत्त किया गया है।

(v) शंख[4] : हरिवंश पुराण में पाञ्चजन्य शंख का उल्लेख हुआ है।[5] शंख समुद्र से निकाला जाता है। धार्मिक एवं युद्ध आदि अवसरों पर इसके प्रयोग का उल्लेख है।

(४) घन वाद्य : आलोच्य जैन पुराणों में उल्लेख हुआ है कि काँसे से निर्मित झांझ-मजीरा आदि घन वाद्य कहलाते हैं। इनकी उत्पत्ति ताल वाद्यों से हुई है।[6] जैन पुराणों में अधोलिखित घन वाद्यों का वर्णन है :

(i) घण्टा : इसका महा पुराण में उल्लेख हुआ है।[7] इसका प्रयोग मुख्यतः मन्दिर या देवी-देवताओं की पूजा अर्चना में होता है। इसके आकार में कतिपय परिवर्तन के उपरान्त भी इसका रूप प्राचीन ही है।

(ii) ताल : महा पुराण में ताल शब्द का वर्णन हुआ है।[8] अग्नि द्वारा शोधित काँस धातु से निर्मित यह वाद्य घन वाद्यों में प्रमुख है। इसका आकार मंजीरा से बड़ा होता है। यह तेरह अंगुल की परिधि एवं मध्य में स्तनाकार होता है। इसके बीच में डोरी लगी रहती है। यह दोनों हाथ से बजाया जाता है।

(iii) कंसवादक (झांझ) : इसका उल्लेख महा पुराण[9] एवं हरिवंश पुराण[10] में

---

१. महा १४।११६
२. हरिवंश १०।१०२
३. पद्म ६।३७६; हरिवंश ५६।१६; महा १२।१६६-२००
४. वही ६।३७६, वही ८।१४१; वही १३।१३, १५।१४७, ६८।६३१
५. हरिवंश १।११३
६. पद्म २४।२०; हरिवंश १६।१४३
७. महा १४।१५८
८. हरिवंश २२।१२
९. महा ६।७६४, १३।१३
१०. हरिवंश ५।३६५

हुआ है। झांझ तथा झालर की झनक तथा झनकार एवं आकार-प्रकार में सामान्य भेद है। झांझ, झालर तथा मंजीरा के विभिन्न रूप मिलते हैं।

(iv) **झांझ-मंजीरा** : हरिवंश पुराण में झांझ-मंजीरा शब्द का उल्लेख हुआ है। यह दोनों ही हाथ से बजाया जाता है।[1]

(५) **अन्य वाद्य** : आलोचित जैन पुराणों में कुछ इस प्रकार के वाद्य प्रयुक्त हैं, जिनका मात्र उल्लेख ही है। इनका विस्तृत विवरण एवं उक्त चारों प्रकार के वाद्यों से साम्यता न होने के कारण इनकी केवल सूचिका प्रस्तुत की जा रही है। इन वाद्यों का नाम निम्नवत् है :

अम्लातक[2], गुञ्जा[3], झर्झर[4], दुंदुकाणक[5], भंभा[6], मण्डुक[7], रटित[8], लम्प[9], लम्पाक[10], विपञ्ची[11] (वैपञ्च), वेद्रासन[12], सुन्द[13], हक्का[14], हुंकार[15], हेतुगुञ्जा[16], हैका[17] आदि।

[iii] **नृत्य कला** : प्राचीनकाल से ही समाज में नृत्य कला की प्रधानता किसी न किसी रूप में उपलब्ध है। यही कारण है कि समाज के सभी वर्गों में नृत्य कला के प्रेमी एवं अभिरुचि रखने वाले व्यक्ति होते हैं।[18] दशरूपक के वर्णनानुसार भावों पर आधारित अंग संचालन की प्रक्रिया ही नृत्य है।[19] इसका अन्य रूप 'नृत्त' है, जिसमें ताल तथा लय के अनुरूप गात्र विक्षेपण होता है।[20] मन्मथ राय ने 'नृत्य' तथा 'नृत्त' के प्रभेद को स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया है कि—प्राचीन आचार्यों ने ताल-लय के साथ मेल रखते हुए अंग संचालन (गात्र विक्षेप) की प्रक्रिया को नृत्य संज्ञा से अभिहित किया है। इसी प्रकार ताल-लय से सामञ्जस्य रखते हुए अंग-भंगिमा द्वारा अपने मनोगत भावों का प्रदर्शन कर दर्शकों के मन में उन्हीं भावों को

१. हरिवंश २२।१२
२. पद्म ५८।२७, ८२।३१
३. वही ८२।३१
४. वही ५८।२८
५. वही ५८।२७
६. वही ५८।२७
७. वही ५८।२७
८. वही ८२।३१
९. वही ८२।३०
१०. वही ५८।२७
११. हरिवंश २२।१३
१२. वही ४।६
१३. पद्म ८०।५५
१४. वही ५८।२७
१५. वही ५८।२७
१६. वही ५८।२८
१७. वही ८।३१, ८।५५
१८. वही २४।६, १०३।६६
१९. दशरूपक १।९
२०. वही १।१०

उत्पन्न करने की कला को नृत्त नाम प्रदान किया है।[1] सोमेश्वर ने उत्सव, जय, हर्ष, काम, त्याग, विलास, विवाद तथा परीक्षा आदि आठ अवसरों पर नृत्य कराने की व्यवस्था दी है।[2] पद्म पुराण के उल्लेखानुसार राजा सहस्रार ने पुत्र-जन्मोत्सव पर २६,००० नृत्यकारों द्वारा नृत्य का आयोजन किया था।[3]

जैन पुराणों में नृत्य करने वाले पुरुष को नर्तक एवं नृत्य करने वाली स्त्री को नर्तकी की संज्ञा प्रदत्त है।[4] इनके अनेक भेद होते थे। इसी लिए महा पुराण में वर्णित है कि राजा नट एवं नटी के भेद का ज्ञाता होता था।[5] नट, नर्तकी, नर्तक, वैतालिक, चारण तथा लटिका आदि छः प्रकार के नर्तकियों का उल्लेख मानसोल्लास में हुआ है।[6] महा पुराण में राजपुत्रों के लिए नृत्य-शिक्षा की व्यवस्था थी।[7] ललित-कला की चौंसठ कलाओं में नृत्य कला का भी समावेश है।[8]

(१) विशेषताएँ : जैन पुराणों के अनुशीलन से नृत्य कला की विशेषताओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सुन्दर एवं आकर्षक वस्त्राभूषणों को धारण कर नृत्य करने का उल्लेख महा पुराण में हुआ है।[9] पद्म पुराण में नृत्य की विशेषताओं का वर्णन रोचक ढंग से हुआ है। समस्त सुन्दर नृत्यों के लक्षणों का ज्ञान, मनोहर वेशभूषा धारण करना, हार-मालादि से अलंकृत, लीला सहित, सुस्पष्ट अभिनय, सुन्दरता, मुद्रा-प्रदर्शन में निपुण, लय परिवर्तन के साथ स्तन-मण्डल को कम्पित करना, जाँघों का अभिनय, शारीरिक भंगिमाओं का संगीत शास्त्र के अनुरूप प्रदर्शन करना चाहिए।[10] पुरुष का स्त्री वेष धारण कर और स्त्री का पुरुष वेष ग्रहण कर

---

१. मन्मथ राय—प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन, इलाहाबाद, सं० २०१३, पृ० ११४
२. शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९६६, पृ० ४३१
३. पद्म ७।१६-२५
४. महा १४।१५३, ६२।४२९; हरिवंश ९।४७
५. वही ४७।१५
६. मानसोल्लास ४।१८।२८५८-२८५९
७. महा १६।१२०
८. पद्म ३९।१६१; हरिवंश ८।४३
९. महा १४।१२४
१०. पद्म ३९।५३-५६

नृत्य करने का विवरण महा पुराण में उपलब्ध है।[1] हरिवंश पुराण के अनुसार उत्तम नृत्य में तीन प्रकृतियों—उत्तम, मध्यम एवं जघन्य—का होना अनिवार्य है और व्यवधान रहित गायन, वादन और नर्तन का प्रदर्शन होना चाहिए।[2] पद्म पुराण में वर्णित है कि नर्तकों को समवेत स्वर में गाना चाहिए। दर्शक की संतुष्टि से ही प्रदर्शन सार्थक होगा। इसी लिए दर्शकों को संतुष्ट करने के लिए उनके नेत्र का रूप लावण्य से, श्रवण को मधुर स्वर से एवं मन को छवि तथा स्वर से आबद्ध करना चाहिए।[3] महा पुराण के वर्णनानुसार नृत्य के समय विभिन्न वेश-ग्रहण करना चाहिए।[4] पद्म पुराण में वर्णित है कि नूपुर-धारण कर नृत्य करने से नृत्यश्री की वृद्धि हो जाती है।[5] जैन पुराणों के अनुसार नृत्य के समय भाव का प्रदर्शन कटाक्ष, कपोलों, पैरों, हाथों, मुख, नेत्रों, अंगराज, नाभि, कटि प्रदेश तथा मेखलाओं द्वारा किया जाता था।[6] प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के अभिषेकोत्सव पर आनन्द नामक नाटक अभिनीत करने का उल्लेख पद्म पुराण में हुआ है।[7]

(२) नृत्य की मुद्राएँ : जैन पुराणों के परिशीलन से नृत्य की मुद्राओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त पुराणों के अनुसार नृत्य की प्रमुख मुद्राएँ निम्नोद्धृत हैं : १—मन्द-मन्द मुस्कान से देखना, २—भौंहों का संचालना, ३—स्तन कम्पन, ४—मन्थर गति, ५—स्थूल नितम्ब का विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शन, ६—भुजाओं का चलाना, ७—कटि को हिलाना, ८—शरीर के नाभि आदि अवयवों का प्रदर्शन, ९—लीलापूर्ण ढंग से पल्लव गिराना, १०—पृथ्वी तल छोड़-छोड़ कर नृत्य करना, ११—नृत्य की अनेक मुद्राओं का शीघ्रता से परिवर्तन, १२—केश-पाश का नृत्य द्वारा प्रदर्शन, १३—कमर द्वारा नृत्य करना, १४—नाभि-स्तन आदि प्रदर्शन एवं स्पन्दन करते हुए नृत्य करना, १५—गायन के साथ नृत्य करना, १६—कटाक्ष एवं हावभाव द्वारा नृत्य करना, १७—गायन की ताल ध्वनि के आधार पर नृत्य करना, १८—पुष्प, मृत्तिका एवं स्वर्ण के घटों को सिर पर रखकर नृत्य करना, १९—शरीर को लोच के साथ नेत्रों द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए नृत्य करना, २०—हाथ को घुमाकर नृत्य करना, २१—नृत्य के समय विभिन्न रूप ग्रहण करना, २२—एक भुजा पर नर्तकी तथा दूसरे पर नर्तक को नृत्य कराते हुए स्वयं भुजा पर नृत्य करना आदि।[8]

---

१. महा ४७।११
२. हरिवंश २२।१२-१४
३. पद्म ३७।१०८-११०
४. महा १४।१९५-१९६
५. पद्म ३८।१३
६. महा १४।१४५-१४७; हरिवंश २१।४७
७. पद्म ३।२१२
८. पद्म ३७।१०४-१०७; महा १२।१८९-१९७, १४।१२६, १४।१३२, १४।१५३, १४।१९५-१९६

(३) नृत्य के प्रकार एवं स्वरूप : पद्म पुराण में नृत्य के तीन प्रकार—अङ्ग-हाराश्रय, अभिनयाश्रय तथा व्यायामिक—वर्णित हैं, जिनमें सभी नृत्य समाहित हैं।[1] जैन सूत्रों में नाटक की ३२ विधियों का उल्लेख हुआ है।[2] आलोच्य पुराणों में नृत्यों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन हुआ है। उस समय प्रचलित नृत्यों के आधार पर उनका स्वतः विभाजन किया जा सकता है :

(i) आनन्द नृत्य : इस नृत्य का उल्लेख सभी जैन पुराणों[3] में हुआ है। गान्धर्वों ने विभिन्न प्रकार के वाद्यों को बजाते हुए इस नृत्य को किया था। उस समय समाज में इस नृत्य का विशेष रूप से प्रचलन था।

(ii) अलातचक्र नृत्य[4] : फिरकी लेते हुए विभिन्न मुद्राओं द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग का संचालन अलातचक्र में करते थे। इस नृत्य में शीघ्रता अवश्यक थी।

(iii) अंगुष्ठ नृत्य : अंगुली के द्वारा जो नृत्य किया जाता था उसे अंगुष्ठ नृत्य नाम से सम्बोधित किया जाता था।[5]

(iv) इन्द्रजाल नृत्य[6] : जिस नृत्य में क्षण में व्याप्त, क्षण में लघु, क्षण में प्रगट, क्षण में अदृश्य, क्षण में दूर, क्षण में समीप, क्षण में आकाश में, क्षण में पृथ्वी पर आना ही प्रदर्शित होता है उसे इन्द्रजाल नृत्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसमें नर्तक एवं नर्तकी दोनों को अत्यधिक श्रम करना पड़ता है।

(v) कटाक्ष नृत्य :[7] महा पुराण में उल्लिखित है कि स्त्रियाँ अपने कटाक्षों का विक्षेपण करती हुई किसी पुरुष की बाहुओं पर जो नृत्य करती हैं उसका नामकरण कटाक्ष नृत्य किया गया है। सूचीनृत्य पुरुष की ऊँगलियों पर होता है तथा कटाक्ष नृत्य में पुरुष की बाहुओं पर नर्त्तन करते हैं।

(vi) चक्र नृत्य[8] : इस नृत्य में नर्तकियों की फिरकियों द्वारा मात्र सिर का मुकुट ही घूमता है। शरीर का अन्य भाग नहीं नचाया जाता।

---

१. पद्म २४।६
२. राजप्रश्नीय टीका, पृ० १३१; भगवतीसूत्र १।३
३. महा १४।१५७; पद्म ३८।१३५; हरिवंश ५३।३०
४. वही १४।१२८, १४।१४३
५. हरिवंश २१।४६
६. महा १४।१३०-१३१
७. वही १४।१४४
८. वही १४।१३६

(vii) **ताण्डव नृत्य**[1] : इसकी परिगणना उद्धत-नृत्य के अन्तर्गत होती है। तालों, कलाओं, वर्णों तथा लयों पर यह आधारित होता है। महा पुराण के वर्णनानुसार पाद, कटि, कण्ठ तथा हाथ को विभिन्न प्रकार से संचालित करना ही ताण्डव नृत्य है। इस नृत्य को भक्तिपूर्वक करने का विधान है।[2] जैनेतर ग्रन्थों में ताण्डव नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(viii) **निष्क्रमण नृत्य**[3] : इस नृत्य में फिरकियों के साथ दो-तीन हाथ आगे आ जाते हैं और पुनः दो-तीन हाथ पीछे हट जाते हैं।

(ix) **पुतली नृत्य**[4] : जब यन्त्र की पट्टी पर लकड़ी की पुतली बनाकर नृत्य प्रदर्शित करते हैं तो इसे पुतली नृत्य नाम से सम्बोधित करते हैं। इसी का विकसित रूप आजकल की कठपुतली नृत्य है।

(x) **बहुरूपिणी नृत्य**[5] : इसके अन्तर्गत ललनाएँ अपना स्वरूप परिवर्तित कर एवं मुक्तामणि धारण कर नृत्य करती हैं। अनेक प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण इसे बहुरूपिणी नृत्य नाम प्रदत्त है।

(xi) **बाँस नृत्य** : महा पुराण[6] से ज्ञात होता है कि उस समय एक बाँस के ऊपर नृत्य किया जाता था, इसमें बाँस पर फिरकी लगाते थे।

(xii) **लास्य नृत्य**[7] : सावन माह में दोला क्रीड़ा के समय कामिनियों द्वारा यह नृत्य किया जाता था। यह नृत्य लोकप्रिय तथा रसोत्पादक होता था। सुकुमार प्रयोगों से परिपूर्ण होने के कारण इस नृत्य को लास्य नृत्य नाम प्रदान किया गया है।

(xiii) **सामूहिक नृत्य** : महा पुराण[8] में वर्णित है कि अनेक व्यक्ति पारस्परिक रूप में संयुक्त हो कर इस प्रकार नृत्य करते थे मानों सभी की आत्मायें एक हों। इस प्रकार के नृत्य को सामूहिक नृत्य कहते हैं। यह नृत्य घेरा बनाकर करते थे।

(xiv) **सूची नृत्य**[9] : जब नर्तकियाँ नृत्य करते समय सिमटकर सूची के रूप में परिणत हो जाती हैं तब उसे सूची नृत्य कहते हैं। इसी प्रकार जब किसी पुरुष की ऊँगली पर लीलापूर्वक नृत्य होता है तो उसे भी सूची नृत्य कहते हैं।[10]

(xv) **नीलांजना नृत्य**[11] : इस नृत्य से वैराग्य उत्पन्न होता था।

---

१. महा १४।१३३, ५०।३४; हरिवंश ८।२३३
२. महा १४।१२०-१२१
३. वही १४।१३४
४. वही १४।१५०
५. वही १४।१४१
६. महा १४।१४३
७. वही १४।१३३, १४।१५५
८. वही १४।१४८-१४९
९. हरिवंश २१।४४
१०. महा १४।१४२
११. पद्म ३।२६२-२६४

[ख] चित्रकला

१. सामान्य परिचय : प्राचीन काल से भारतीय समाज में चित्रकला का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह सामाजिक जीवन की सरसता एवं गतिशीलता का परिचायक रहा है। यही कारण है कि चित्रकला की परिगणना ललित कलाओं के अन्तर्गत हुई है। जिनभद्र मुनि कृत 'कल्पसूत्र की टीका' में चौसठ स्त्रीकलाओं की तालिका में चित्रकला को भी स्थान प्रदत्त है।[१] जैनेतर विद्वान् वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित चौसठ कलाओं के अन्तर्गत चित्रकला (आलेख्यम्) का चतुर्थ स्थान है। कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय की टीका करते हुए यशोधर पण्डित ने आलेख्य (चित्रकला) के छः अंग—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य एवं वर्णिकाभंग आदि—का उल्लेख किया है।[२] आचारांगसूत्र में जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्रशालाओं में प्रवेश करने एवं ठहरने पर कठोर प्रतिबन्ध था।[३] ऋषभदेव ने अपने पुत्र अनन्त विजय को चित्रकला की शिक्षा प्रदान की थी।[४] जिनालय में एक चित्रशाला होने तथा रथों को चित्रित करने का निदेश वरांग-चरित में उपलब्ध होता है।[५] नायाधम्म कहाओ ग्रन्थ में ललितगोष्ठी नामक प्रमोद सभा का वर्णन वर्णित है।[६]

२. जैन चित्रकला : उद्भव और विकास : जैन कला सर्वाधिक प्राचीन राजपूती चित्रों से भी एक शताब्दी पूर्व की सिद्ध होती है। ताड़पत्र पर अंकित 'कल्पसूत्र' तथा 'कालकाचार्यकथा' पर आधारित पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, ऋषभनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों के दृष्टान्त चित्र जैनकला के सर्वाधिक प्राचीन दृष्टान्त हैं। जैन चित्रकला का अस्तित्व हर्ष के समकालीन पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा (७वीं शती) के समय में निर्मित सित्तन्नवासल गुफा की पाँच जिन-मूर्तियों से प्रमाणित होता है। समग्र भारतीय चित्र शैलियों में १५वीं सदी से पूर्व जितने भी चित्र उपलब्ध हुए हैं, उन सब में मुख्यतः जैन चित्र ही प्राचीन हैं। ये चित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बद्ध हैं, जिन्हें अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित कराने तथा करने की उत्कट अभि-

---

१. वाचस्पति गैरोला—भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, १९६३, पृ० ९२
२. वाचस्पति गैरोला—वही, पृ० ४८
३. आचारांगसूत्र २।२।३।१३
४. महा १६।१२१
५. वरांगचरित २।५८
६. नायाधम्म कहाओ १।१६।७७-८०

लाषा थी। यह १२वीं शती के पूर्व ही शिथिल पड़ गयी थी और मुगल शैली के विकास के कारण इसका अस्तित्व ही प्रायः समाप्त हो गया था। किन्तु पूर्व कथित शताब्दी के उपरान्त पुनरुज्जीवित होकर महमूद गजनवी के विध्वंसों के उपरान्त जैन चित्रकला आबू तथा गिरनार के केन्द्रों में अपने परिवेश के नव निर्माण में अग्रसर थी। जैन चित्रकला गुजरात की श्वेताम्बर कलम से आरम्भ होकर राजपूताना में वर्षों तक अपना विकास करती हुई बाद में ईरानी प्रभावों से मुक्त होकर 'राजपूत कलम' में ही विलयित हो गयी।[1] आनन्द कुमार स्वामी के मतानुसार सर्वाधिक प्राचीन जैन चित्रकला ताड़ की पत्ती पर प्राप्त हुई है, जिसकी तिथि १२३७ ई० निर्धारित की जा सकती है।[2] परन्तु यह मत अमान्य है। डॉ० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह तथा मोती चन्द्र जैन ने प्रारम्भिक जैन चित्रकला का दृष्टान्त उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में ई० पू० प्रथम शती की चित्रकारी को माना है।[3]

३. चित्र निर्माण के उपकरण : कालिदास ने अपने ग्रन्थों में चित्र निर्माण के उपकरणों में शलाका, वर्तिका, तूलिका, लम्ब-कूच, चित्रफलक, वर्ण, राग और वर्तिकाकरण्डक का प्रयोग किया है।[4] आलोच्य पुराणों में उक्त सभी सामग्रियों का उल्लेख सम्यक् रूप से उपलब्ध नहीं होता है, परन्तु महा पुराण में प्रधानतः तीन वस्तुएँ—तूलिका, पट्ट तथा रंग—का वर्णन प्राप्त होता है।[5] चित्रकार अपनी तूलिका या लेखनी से रेखांकन के पश्चात् ही रंग भरता था तथा नवरस सम्बन्धी भावों को वह अपनी चित्रकला में साकार रूप प्रदान करता था।[6] चित्रकार की विशेषता थी कि वह चित्र की लम्बाई-चौड़ाई का यथार्थ ज्ञान रखता था।[7] उक्त पुराण में अन्य स्थल पर उल्लेख आया है कि चित्रकार रंगों के सम्मिश्रण में पटु होता था।[8] इन

१. वाचस्पति गैरोला—वही, पृ० १३८
२. आनन्द कुमार स्वामी—इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन आर्ट, दिल्ली, १९६९, पृ० ७१
३. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह—स्टडीज इन् जैन आर्ट, पृ० २७; मोती चन्द्र जैन—'मिनियेचर पिंटिंग फ्राम वेस्टर्न इण्डिया, पृ० १०
४. भगवत शरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग २, पृ० ३५
५. महा ७।१५५
६. वही ७।१२०
७. वही ७।११९
८. वही ७।११८

विशेषताओं के कारण चित्रों में रेखाओं, रंगों तथा अनुकूल भावों का क्रम अत्यन्त स्पष्ट परिलक्षित होता था।[1]

जैन चित्रकला के अंतर्गत जो चित्र लकड़ी, कपड़े तथा पत्थर पर अनेक रंगों के संयोग से उरेहे जाते थे, उन चित्रों का सामूहिक नामकरण 'लेपकम्प' है। उस समय मिट्टी, पत्थर तथा हाथीदाँत पर चित्र निर्मित किये जाते थे। चावलों के चूर्ण से भी चित्र का निर्माण करते थे। जैन ग्रन्थों से हमें 'अल्पना-चित्रों' की परम्परा का भी ज्ञान होता है, जो लोक-कला के उन्नत स्वरूप का परिचायक है।[2] हरिवंश पुराण में केशर के रस से नाना प्रकार के चित्रों के निर्माण का उल्लेख हुआ है।[3] इससे चित्रकला की समृद्धि का आभास होता है। पद्म पुराण में स्वर्ण के चित्रित आसन निर्मित करने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[4]

४ वर्गीकरण : पद्म पुराण में चित्र के दो भेद वर्णित हैं : प्रथम, शुष्क-चित्र हैं और इसके भी दो उपभेद हैं—नाना शुष्कचित्र एवं वर्जित शुष्कचित्र। द्वितीय, आर्द्रचित्र—जिसे चन्दनादि के द्रव से निर्मित किया जाता था।[5] पद्म पुराण में ही वर्णित है कि कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदि के ऊपर इसकी रचना होती थी। अनेक रंगों से संयुक्त होने पर चित्र सुन्दर प्रतीत होते थे।[6]

चित्रकला का वर्गीकरण विषय, शैली, एवं कालक्रम आदि के आधार पर निर्धारित किया जाता है। परन्तु जैन चित्रकला में धर्माश्रय की प्रधानता के कारण उक्त प्रकार का वर्गीकरण करना सम्भव नहीं है। अतएव इसे निम्नवत् विभक्त किया जा सकता है : (१) गुहान्तर्गत भित्तिचित्र, (२) चैत्यालयान्तर्गत भित्तिचित्र, (३) ताड़पत्र चित्र, (४) कर्गल चित्र, (५) पटचित्र, (६) धूलिचित्र, (७) फुटकर

---

१. महा ७।१५४-१५५
२. वाचस्पति गैरोला—वही, पृ० ६२
३. हरिवंश ५६।४३
४. पद्म ४०।१६
५. शुष्कचित्रं द्विधा प्रोक्तं नानाशुष्कं च वर्जितम्।
आर्द्रचित्रं पुनर्नाना चन्दनादिद्रवोद्भवम्॥ पद्म २४।३६
६. कृत्रिमाकृत्रिमैरङ्गैर्भूजलाम्बरगोचरम्।
वर्णकश्लेषसंयुक्तं सा विवेदाखिलं शुभा॥ पद्म २४।३७

ललित कला, (८) काष्ठ चित्र, (९) लौकिक चित्र।[1] इन सभी वर्गीकरणों का उल्लेख जैन पुराणों में अनुपलब्ध है, तथापि इनसे सम्बन्धित उल्लेख यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। महा पुराण में भित्तिचित्र,[2] चित्रशाला[3] एवं चित्रपट[4] का उल्लेख हुआ है। पद्म पुराण में वंशस्थल पर्वत पर धूलि चित्र निर्मित करने का वर्णन उपलब्ध है।[5]

५. **विशेषतायें** : जैन पुराणो में उल्लिखित चित्रकला की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उनमें सभी विशेषतायें उपलब्ध हैं। महा पुराण के वज्रसंघ तथा श्रीमती के पटचित्रों की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई का प्रमाण समानुपाती था। इस चित्र में रस तथा भाव दोनों ही का रमणीय अंकन उपलब्ध है।[6] इसी पुराण में चित्र में आकृति के साथ अनेक गुप्त और रहस्यपूर्ण विषयों का भी सन्निवेश किया गया है।[7] पद्म पुराण में नारद द्वारा निर्मित सीता के भव्य-चित्र का वर्णन है, जो देखने में सीता की साक्षात् सजीवाकृति प्रतीत होती थी। यही कारण था कि सीता के चित्र को देखकर भामण्डल कामासक्त होकर मोहित हो गया था।[8] महा पुराण में उल्लिखित चित्रों से ज्ञात होता है कि कपोलों एवं गण्डस्थलों पर की गई चित्रकारी अनेक रहस्यपूर्ण आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करती थी।[9] इसी पुराण में कल्पवृक्षों की पंक्तियाँ, विकसित कमलयुक्त सरोवर, मनोहर दोलागृह एवं अत्यधिक सुन्दर कृत्रिम पर्वत का चित्रण उपलब्ध है।[10] अन्य चित्र में सरोवर के तटीय भाग पर मणियाँ बिखरी हुई हैं, इसके दूसरी ओर मेरु पर्वत पर्दे के रूप में प्रदर्शित है। यहाँ पर क्रीड़ारत दम्पत्ति को चित्रित किया गया है।[11] उक्त ग्रन्थ में ललिताङ्गदेव के जीवन विषयक पूर्ण चित्रांकन का वर्णन उपलब्ध है।[12] अन्यत्र प्रणय-कुपित नायिका के भव्य चित्रण का वर्णन प्राप्य है। नायिका (स्वयंप्रभा) पराङ्मुख बैठी हुई है और ऐसी प्रतीत हो रही है, मानो वायु के आघात से आहत लता कल्पवृक्षों के समीप असहाय पड़ी हुई है।[13]

---

१. सुशीला देवी जैन—जैन चित्रकला : संक्षिप्त सर्वेक्षण, गुरुगोपाल दास वरैया स्मृतिग्रंथ, सागर, १९६७, पृ० ६१२

२. महा ६।१८१

३. वही ७।११७

४. वही ७।११८-१२०

५. पद्म ४०।७

६. महा ७।११९-१२२

७. वही १६।१२२-१२६

८. पद्म २८।१९-२७

९. महा ७।१३४

१०. वही ७।१२५

११. वही ७।१२७-१३३

१२. वही ७।१२३-१३०

१३. वही ७।१२६

महा पुराण में चित्रकला के लिए मुख्यतः तीन बातों का ज्ञान होना आवश्यक एवं अनिवार्य है, जिससे चित्रकला में वैशिष्टयता आ जाती है। ये तीन बातें अग्रलिखित हैं—(१) रेखाओं का आवश्यतानुसार स्पष्ट प्रयोग, (२) रंगों का समुचित उपयोग और (३) भावों का परिस्थितियों के अनुसार प्रदर्शन।[1] इन विशेषताओं के कारण ही स्मिथ और व्यूलर ने जैन चित्रकला की प्रशंसा करते हुए उल्लेख किया है कि—जैन चित्रों में एक नैसर्गिक अन्तःप्रवाह, गति, डोलन एवं भाव-निदर्शन विद्यमान है।[2] जैन चित्रों की निर्मलता, स्फूर्ति एवं गतिशीलता से मुग्ध होकर डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने कहा है कि—जैन चित्रों की परम्परा का अनुकरण अजन्ता, एलोरा, बाघ, सित्तन्नवासल के भित्तिचित्रों में है।[3] समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिए इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है, विशेषरूप से वेषभूषा तथा सामान्य उपयोग में आने वाली वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान उपलब्ध होता है।

---

१. महा ७।१५५

२. स्मिथ—हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० १३३; पर्सी ब्राउन—इण्डियन पेण्टिंग, पृ० ३८, ५१

३. नाना लाल चिमन लाल मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० ३३

[ग] विविध ललित कला

जैन पुराणों के परिशीलन से उन ललित कलाओं का ज्ञान प्राप्त होता है, जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थीं। समाज में इन ललित कलाओं के ज्ञाता को श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने अपने पुराणों में इनका यथास्थान उल्लेख किया है। जैन पुराणों में उल्लिखित अधोलिखित विविध ललित कलाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :

१. पत्रच्छेद कला : पद्म पुराण में उल्लिखित है कि पत्रच्छेद क्रिया (कला) पत्र, वस्त्र तथा सुवर्णादि के ऊपर किया जाता था। यह दो प्रकार का होता था—स्थिर और चंचल।[1] पत्रच्छेद कला के निम्नोद्धृत तीन भेद पद्म पुराण में ही उल्लिखित हैं :[2]

[i] **बुष्किम :** इसमें सुई या दाँत का प्रयोग होता था।

[ii] **छिन्न :** इसमें कूँची से काटकर पृथक्-पृथक् अवयवों में विभक्त करते थे।

[iii] **अछिन्न :** इसमें कूँची आदि से काटा तो जाता था, परन्तु अन्य अवयवों से सम्बद्ध रहता था।

२. पुस्तकर्म कला : मिट्टी, लकड़ी, धातु आदि से खिलौना निर्माण करने की कला को पुस्तकर्म कला की संज्ञा प्रदान की गई है। पद्म पुराण में इसके तीन प्रकार उल्लिखित हैं :[3]

[i] **क्षयजन्य :** इसमें लकड़ी आदि को छीलकर खिलौने का निर्माण करते थे।

[ii] **उपचयजन्य :** इस विधि में ऊपर से मिट्टी लगाकर निर्मित करते थे।

[iii] **संक्रमजन्य :** इसमें सांचे आदि का प्रयोग किया जाता था।

उक्त पुराण में ही पुस्तकर्म कला के अधोलिखित अन्य प्रकारों का भी उल्लेख हुआ है[4] :

[i] **यन्त्र :** इस कोटि के खिलौनों के निर्माण में यन्त्र का प्रयोग होता था।

---

१. पत्रवस्त्रसुवर्णादिसंभवं स्थिरचञ्चलम्। पद्म २४।४३; तुलनीय—गायत्री वर्मा—कालिदास के ग्रन्थ : तत्कालीन संस्कृति, वाराणसी, १९६२, पृ० २३४

२. पद्म २४।४१-४२

३. वही २४।३८-३९

४. वही २४।४०

[ii] निर्यन्त्र : इस विधि के अन्तर्गत यन्त्र का प्रयोग किये बिना खिलौनों का निर्माण किया जाता था।

[iii] सच्छिद्र : इस श्रेणी में वे ही खिलौने सम्मिलित थे, जिनमें छिद्र होता था।

[iv] निश्छिद्र : इस कोटि में बिना छेद के खिलौने की गणना की जाती थी।

३. **परिधान कला :** जिन वाह्य विधियों द्वारा शरीर की सुन्दरता में वृद्धि किया जाये उसे परिधान कला कहते हैं। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि स्नान, केश विन्यास, शरीर को सुगन्धित एवं अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण करना आदि क्रिया द्वारा वेशकौशल किया जाता था।[1] इसे ही परिधान कला की अभिधा प्रदत्त की जा सकती है।

४. **संवाहन कला :** इस कला के अन्तर्गत शरीर की मालिश की विधि आती थी। इसके प्रयोग से शारीरिक थकावट का निवारण और आत्मशान्ति उपलब्ध होती थी। कभी-कभी इसके द्वारा रोगों का निदान भी किया जाता था। इसके प्रमुख दो भेद हैं[2]—कर्म संश्रया एवं श्य्योपचारिका संवाहन।

[i] **कर्म संश्रया :** इसके चार उपभेद अग्रलिखित हैं—त्वचा, मांस, अस्थि तथा मन।[3] (१) मृदु कर्म संश्रया—इसमें केवल त्वचा को सुख मिलता है। (२) मध्यम कर्म संश्रया—इस विधि द्वारा त्वचा तथा मांस दोनों को सुख उपलब्ध होता है। (३) प्रकृष्ट कर्म संश्रया—यह क्रिया त्वचा, मांस तथा हड्डी के लिए सुखकर होता है। (४) मनःसुख कर्म संश्रया—इस विधि का प्रयोग त्वचा, मांस, हड्डी तथा मन के लिए सुखदायक होता है।[4] पद्म पुराण में कर्म संश्रया के अन्य भेदों—संस्पृष्ट, गृहीत, मुक्तित, चलित, आहूत, भङ्गित, विद्ध, पीड़ित और भिन्नपीड़ित आदि—का उल्लेख है।[5]

---

१. पद्म २४।८२
२. वही २४।७३
३. वही २४।७४
४. वही २४।७५-७६
५. वही २४।७४-७५

कर्म संश्रया के दोष : पद्म पुराण में कर्म संश्रया के अग्रलिखित दोष हैं--शरीर के रोमों का उल्टा उद्वर्तन करना, जिस स्थान पर मांस नहीं है, वहाँ पर अधिक दबाना, केशाकर्षण, अद्भुत, भ्रष्टप्राप्त, अमार्ग प्रयात, अतिभुग्नक, अदेशाहृत, अत्यर्थ और अवसुप्तप्रतीपक ।[1]

[ii] **शय्योपचारिका संवाहन :** पद्म पुराण में उल्लिखित है कि जो संवाहन अनेक आसनों से किया जाए वह चित्त को सुखदायक होती है और उसे ही शय्योपचारिका संवाहन कला नाम से सम्बोधित करते हैं ।[2]

५. माला निर्माण कला : जैन पुराणों के रचनाकाल में माला निर्माण कला का महत्त्वपूर्ण स्थान था । सम्भवतः माला का व्यापार भी होता था। पद्म पुराण में माला निर्माण कला के चार प्रकारों का उल्लेख हुआ है[3]:

[i] **आर्द्र :** इसमें ताजे पुष्प से माला निर्मित करते थे ।

[ii] **शुष्क :** इस विधि में सूखे पत्तों आदि से माला का निर्माण करते थे ।

[iii] **तदुन्मुक्त :** इसके निर्माण में चावल या जौ आदि अनाज का प्रयोग करते थे ।

[iv] **मिश्र :** उक्त प्रकारों के संयुक्त विधि से माला निर्मित करते थे ।

पद्म पुराण में ही माल्य कला के रण प्रबोधन, व्यूह संयोग आदि भेद भी उल्लिखित हैं ।[4]

६. गन्धयोजना कला : सुगन्धित पदार्थ निर्माण कला को गन्धयोजना कला नाम से अभिहित किया है । इसके—**योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुणदोष विज्ञान तथा कौशल—भेद हैं ।**[5] योनिद्रव्य से सुगन्धित पदार्थों (तगर आदि) का निर्माण होता है । धूपबत्ती के आश्रय को अधिष्ठान कहते हैं । कषाय, मधुर, चिरपरा, कड़ुआ तथा खट्टा ये पाँच प्रकार के रस हैं । पदार्थों की शीतता या उष्णता से दो प्रकार के वीर्य होते हैं । अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों का सम्मिश्रण कल्पना कहलाता है । तेल आदि पदार्थों का शोधना तथा धोना आदि परिकर्म हैं । गुण या दोष को जानना गुण-दोष विज्ञान है । स्वकीय तथा परकीय वस्तु की विशिष्टता का ज्ञान कौशल है ।[6]

---

१. पद्म २४।७८-७९
२. वही २४।८०
३. वही २४।४४-४५
४. पद्म २४।४६
५. वही २४।४७
६. वही २४।४८-५१

पद्म पुराण में इसके दो अन्य भेद—स्वतन्त्र और अनुगत का उल्लेख हुआ है।[1]

७. लेप्यकला : मनुष्य आदि के आकार की मूर्ति (पुतला) बनाने की कला को लेप्यकला कथित है। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि राजा दशरथ के मंत्री ने दशरथ का ऐसा पुतला निर्मित किया था, जो वस्तुतः उनकी आकृति ही प्रतीत होती थी।[2] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उस समय पुतला (मूर्ति) बनाने की कला अपने विकसित रूप में थी।

---

१. पद्म २४।५२
२. वही २३।४१-४४

७

आर्थिक व्यवस्था

किसी भी समाज या सम्प्रदाय का उत्कर्ष उसकी आर्थिक सम्पन्नता एवं समुन्नति पर निर्भर करता है। व्यक्ति के भौतिक एवं सांसारिक सुख आर्थिक विकास से प्रभावित होते हैं। अतः मानव जीवन में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अर्थाभाव के कारण मानव जीवन अभिशाप बन जाता है। ऐसी स्थित में निवृत्तमूलक जैन दर्शन के प्रतिपादक मनीषियों एवं चिन्तकों ने बल देते हुए कहा है कि सद्कार्यार्थ मनुष्य का अर्थार्जन करना कर्त्तव्य है। आलोच्य पुराणान्तर्गत अर्थ-व्यवस्था विषयक उपलब्ध विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

[क] आर्थिक उपादान

आलोचित जैन पुराणों के परिशीलन से अर्थ की महत्ता, इसके उपार्जन के साधन, इसकी सुरक्षा एवं सम्वर्धन तथा समुचित भोगोपभोग पर प्रकाश पड़ता है। इससे सम्बन्धित विवरण निम्नवत् विवृत है :

१. आर्थिक समृद्धता : आलोच्य जैन पुराणों की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने प्रवृत्तिमूलक इन द्वैधी परस्पर विषम विचारधाराओं

के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। जैन दर्शन मुख्यतया निवृत्तमूलक है, किन्तु व्यावहारिक जगत में जैन चिन्तकों एवं मनीषियों ने प्रवृत्ति-मार्ग को निरुत्साहित नहीं किया है। आलोचित पुराण इस बात पर बल देते हैं कि अर्थार्जन मनुष्य का सदोद्देश्य है।[1]

सामान्य जन-जीवन का स्वरूप क्या था? यह तो स्पष्ट नहीं हो पाता, परन्तु चक्रवर्ती राजा के जो चौदह रत्न गिनाये गये हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि राजकीय जीवन में आर्थिक समृद्धि पर विशेष बल दिया जाता था। कुछ जैन पुराण उस चक्रवर्त्तित्व के द्योतक चौदह रत्नों[2] की प्रतिष्ठापना करते हैं, वे इस प्रकार हैं : चक्र, छत्र, खण्ड, दण्ड, काकिणी, मणि, चर्म, गृहपति, सेनापति, हस्ती, अश्व, पुरोहित, स्थपति तथा स्त्री और कुछ पुराणों में सात रत्नों[3]—चक्र, छत्र, धनुष, शक्ति, गदा, मणि तथा खण्ड—की प्राप्ति शुभप्रद मानी गई है। सामान्यतया इन्होंने आर्थिक समृद्धि की ओर संकेत करते हुए अधोलिखित अष्टसिद्धियों—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व तथा वशित्व—और नवनिधियों—काल, महाकाल, पाण्डुक, माणव, नौसर्प, सर्वरत्न, शंख, पद्म तथा पिङ्गल—की चर्चा की गई है।[4] इस संदर्भ में महा पुराण ने जीवन के निम्नोद्धृत दस भोगों की ओर इंगित किया है—रत्न, देवियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, बर्तन, भोजन तथा वाहन।[5]

पद्म पुराण ने धन के महत्त्व पर बल दिया है और इसके साथ-साथ यह भी कहा है कि धनार्जन धर्म के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए।[6] इसी पुराण के ही कथनानुसार सर्वसाधारण की आर्थिक समृद्धि का परिवेश उसी स्थिति में सम्भव है, जबकि राजा धर्म के पथ का उल्लंघन न करे।[7] इससे यह भी स्पष्ट है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में राजा की सक्रियता के परिणामस्वरूप ही आर्थिक समृद्धि सम्भव है।

---

१. महा ४६।५५
२. हरिवंश ११।१०८; महा ६३।४५८-४५९
३. पद्म ९४।११
४. हरिवंश ११।११०; महा ३७।७३, ३८।१९३
५. महा ३७।१४३
६. पद्म ३५।१६१-१६४
७. वही ११।३५०

वस्तुतः इन पुराणों के रचनाकाल में आर्थिक समृद्धि का स्वरूप क्या था ? और इसकी सत्ता क्या थी ? इसका यथातथ्य मूल्यांकन तो नहीं किया जा सकता है, परन्तु इतना विवादरहित है कि इनके वर्णनानुसार राष्ट्र के अर्थ का नियामक वह केन्द्रीय-भूत सत्ता है जिसको व्यवहारतः 'राजा' शब्द से अभिहित किया जाता है। आलोचित जैन पुराणों के प्रणयन-काल के समराइच्चकहा में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) को भौतिक सुखों का मूलाधार बताया गया है।[1]

आलोच्य महा पुराण में उल्लिखित है कि उस समय सर्वाधिक अर्थ की महत्ता थी।[2] इसी पुराण में आर्थिक विचार के अन्तर्गत धनोपार्जन, अर्जित धन का रक्षण, पुनः उसका संवर्धन तथा भोगोपभोग में दान देना आता है।[3]

२. अर्थोपार्जन और धर्मानुकूलता : जैन पुराणों में न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन पर बल दिया गया है। इस संसार में मनुष्य की इच्छायें अनन्त हैं, किन्तु उनकी पूर्ति के साधन अत्यल्प हैं। अस्तु समस्त इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। इसलिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही संतोष करना चाहिए। विवेक एवं न्यायपूर्वक अर्जित साधन से ही इच्छा की पूर्ति करनी चाहिए।[4] यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा की पूर्ति हेतु न्यायेतर मार्ग का अनुसरण करता है तो उसे अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। मनुष्य की समस्त सामाजिक क्रियाओं का सम्बन्ध आर्थिक जीवन से ही होता है। इसी लिए महा पुराण में उल्लिखित है कि न्यायपूर्वक धनार्जन करना ही जीवन को सुख की ओर संतुष्ट बनाने का एक मात्र मार्ग है।[5] महा पुराण के अनुसार कामनाओं की पूर्ति का साधन अर्थ है और अर्थ की उपलब्धि धर्म से होती है। इसलिए धर्मोचित अर्थोपार्जन से इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं।[6] इसी पुराण के अन्तर्गत धर्म का उल्लंघन न कर धनोपार्जन, उसकी सुरक्षा और योग्य पात्र को प्रदत्त करना ही मुख्य लक्ष्य

---

१. झिनकू यादव—समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी १९७७, पृ० १५७-१५८

२. महा ४१।१५८

३. वही ४२।१२३

४. न्यायोपार्जितवित्तकामघटनः ·· ···। महा ४१।१५८

५. महा ४२।१४; तुलनीय—गरुड़ पुराण १।२०५।१८

६. धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः ।
स च संप्रीतये पूंसां धर्मात् सैषा परम्परा ॥ महा ५।१५

होना चाहिए।[1]

३. **श्रम-विभाजन :** जैनाचार्यों ने व्यक्तियों का गुणकर्मानुसार विभाजन कर उनके श्रम को भी विभाजित किया था। समाज के व्यवस्थापकों ने समाज में वर्ग संघर्ष और व्यवसाय की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था[2] का प्रतिपादन किया था। लोगों के अपने वर्णानुसार स्वपैतृक व्यवसाय को करने से रोजगार के लिए संघर्ष नहीं होता था और कार्य की कुशलता में भी संवृद्धि होती थी। इसी लिए महा पुराण में वर्णित है कि प्रजा अपने-अपने योग्य कार्यों को सम्पादित करे[3] जिससे उनकी आजीविका में वर्णों का सम्मिश्रण न हो सके। इसके पूर्व हम परिशीलन कर चुके हैं कि कुल (परिवार) तथा वर्ण-व्यवस्था द्वारा श्रम का विभाजन हुआ था। जिससे व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा नहीं थी और लोग पैतृक व्यवसाय को करके उस क्षेत्र में प्रवीणता ग्रहण करते थे।

४. **ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था :** महा पुराण में उल्लेख आया है कि जिसमें बाड़े से परिवेष्ठित घर हों, अधिकतर शूद्र और किसान रहते हों तथा जो उद्यान एवं सरोवरों से संयुक्त हों, उसे ग्राम कहते हैं।[4] हमारे आलोचित जैन पुराणों के रचनाकाल में समाज की अर्थ-व्यवस्था के मूलाधार ग्राम थे। गाँवों के विषय में महा पुराण में उपलब्ध विवरण से परिलक्षित होता है कि उस समय गाँव बहुत बड़े-बड़े हुआ करते थे। बड़े गाँव में कम से कम पाँच सौ और छोटे गाँव में दो सौ घर होते थे। बड़े गावों में किसान धन-धान्य से सम्पन्न होते थे। छोटे गाँवों की सीमा एक कोस एवं बड़े गाँवों की सीमा दो कोस होती थी। इन गाँवों में धान के खेत सदा सम्पन्न रहते थे और जल एवं घास भी अधिक होती थी। गाँवों की सीमा नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीर वृक्ष, बबूल आदि कटीले वृक्ष, वन एवं पुल आदि से निर्धारित होती थी।[5] इसी पुराण में वर्णित है कि गाँवों में लोहार, नाई, दर्जी, धोबी, बढ़ई, राजगीर, चर्मकार, वैद्य, पंडित, क्षत्रिय आदि व्यवसाय एवं वर्ण के सभी व्यक्ति निवास करते थे। ये विविध व्यावसायिक व्यक्ति अपने-अपने कार्यों द्वारा एक दूसरे

---

१. स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्।
रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम्॥ महा ४२।१३

२. महा २६।२६

३. यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दध्युरसंकरम्। महा १६।१८७

४. ग्रामावृत्तिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिता श्रयाः।
शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशया॥ महा १६।१६४

५. महा १६।१६५-१६८

का काम करके गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे एवं गाँव को स्वावलम्बी बनाते थे। गाँव आत्मनिर्भर, सहयोगी एवं जनतंत्रीय होते थे।[1] पद्म पुराण में ग्रामों का अत्यन्त मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया गया है।[2] तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के मूलाधार निःसन्देह गाँव ही थे। यही कारण है कि गाँवों के उन्नत होने के साथ ही साथ पूरा देश उन्नत एवं समृद्ध था। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे आलोचित जैन पुराणों के रचना काल में गाँवों में जनतंत्रीय व्यवस्था थी।

१. महा २६।१०६-१२७
२. पद्म २।३-३२

[ख] आजीविका के साधन

महा पुराण में मनुष्य की आजीविका हेतु छः[1] प्रमुख साधनों का उल्लेख हुआ है, जिसमें असि (शस्त्रास्त्र या सैनिक वृत्ति), मषि (लेखन या लिपिक वृत्ति), कृषि (खेती और पशुपालन), शिल्प (कारीगरी एवं कलाकौशल), विद्या (व्यवसाय) एवं वाणिज्य (व्यापार) हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के समय प्रजा वाणिज्य एवं शिल्प से रहित थी।[2] इनमें से वाणिज्य का विवेचन पृथक् से आगे प्रस्तुत किया गया है। आजीविका के अन्य साधन अग्रलिखित हैं :

१. असि वृत्ति : पद्म पुराण के वर्णनानुसार समाज में कुछ लोग शस्त्रास्त्र के माध्यम से अपनी आजीविका चलाते थे इसके अन्तर्गत सैनिक, पुलिस, रक्षक आदि आते हैं। ये देश, समाज एवं व्यक्ति को शत्रुओं तथा असामाजिक तत्त्वों से सुरक्षा प्रदान करते थे। समाज के सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पास रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सिपाही रहते थे।[3] महा पुराण में उल्लिखित है कि क्षत्रियों को शस्त्र शक्ति से अपनी आजीविका चलाने की व्यवस्था थी।[4]

२. मषि वृत्ति : इस वर्ग के अन्तर्गत लेखक आते हैं। ये लोग राजाओं के यहाँ सरकारी लिखा-पढ़ी का कार्य सम्पन्न करते थे। कौटिल्य ने लिपिकों की योग्यता, गुण एवं कर्त्तव्यों का विस्तारशः विवेचन किया है।[5] आलोचित जैन पुराणों में इनके विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है, तथापि इतना सुनिश्चित है कि राज्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

३. कृषि और पशुपालन : आलोचित जैन पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय लोगों का कृषि और पशुपालन ही जीविका का मुख्य आधार था। इसका पृथक् विवरण अग्रलिखित है :

[i] कृषि : प्राचीन भारत में कृषि देश के आर्थिक जीवन का मूलाधार थी, जिस पर अधिकांश लोगों का जीवन आश्रित था। वर्तमान समय में भी

---

१. असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढ़ा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥ महा १६।१७९, १६।१८१

२. पद्म ३।२३२

३. रथकुञ्जरपादाततुरङ्गौघसमन्वितः॥ पद्म ९२।४०

४. क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन्। महा १६।१८४

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, वाराणसी, १९६२, पृ० १४३-१४५

अधिकांशतः व्यक्ति स्वजीविकार्थ कृषि पर ही निर्भर हैं। पर्वतीय एवं ऊँची-नीची भूमि को समतल कर, जंगलों को साफ कर एवं भूमि को खोद कर कृषि-कार्य सम्पन्न किया जाता है।[1] जैन पुराणों के लिए क्षेत्र शब्द व्यवहृत हुआ है एवं खेत (भूमि) को हल के अग्रभाग से जोतते थे।[2] हमारे पुराणों के रचनाकाल में हल प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता था। जिसके पास जितनी अधिक संख्या में हल होते थे, वह व्यक्ति उतना ही अधिक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित माना जाता था। भरत के पास एक करोड़ हल होने का उल्लेख उपलब्ध है।[3] जैनेतर ग्रन्थों में हल के अतिरिक्त अन्य कृषि यन्त्रों में हेंगा (मत्य और कोटीश), खनित्र (अवदारण), गोदारण (कुन्दाल), खुरपी, दात्र, लवित्र (असिद), हँसिया आदि का प्रयोग करने का उल्लेख हुआ है।[4]

जैन पुराणों में खेतों के दो प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है: (१) उपजाऊ—उपजाऊ भूमि में बीज बोने से अति उत्तम फसल उत्पन्न होती थी।[5] (२) अनुपजाऊ—ऊसर या खिल (अनुपजाऊ) भूमि (खेत) में बोया गया बीज समूल नष्ट हो जाता था।[6] जैनेतर साहित्य से ज्ञात होता है कि ऊसर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए राज्य की ओर से पुरस्कार प्रदान दिया जाता था।[7] जैनेतर ग्रन्थ अभिधान-रत्नमाला[8] में मिट्टी के गुणानुसार साधारण खेत, उर्वर खेत सर्वफसलोत्पादक खेत, कमजोर खेत, परती भूमि, लोनी मिट्टी का क्षेत्र, रेगिस्तान, कड़ी भूमि, दोमट मिट्टी, उत्तम मिट्टी, नयी घासों से आच्छादित भूमि, नरकुलों आदि से संकुल भूमि आदि के लिए पृथक्-पृथक् शब्द व्यवहृत हुए हैं।

१. महा १६।१८१; तुलनीय—विष्णु पुराण १।१३।८२; बृहत्कल्पभाष्य ४।४८६१

२. क्षेत्राणि दधते यस्मिन्नुत्खात् लाङ्गलाननैः। पद्म २।३, ३।६७; हरिवंश ७।११७

३. पद्म ४।६३; महा ३७।६८

४. लल्लनजी गोपाल—पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत में कृषि व्यवस्था (७००-१२००), राजबली पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ, देवरिया, १९७६, पृ० २६५

५. उर्वराभ्यां वरीयोभिः यः शालेयैरलंकृतः। पद्म २।७

६. ऊषरक्षेत्रनिक्षिप्तशालिर्नश्यति मूलतः। हरिवंश ७।११७
खिलेगतं यथाक्षेत्रे बीजमल्पफलं भवेत्। पद्म ३।७०

७. नारद स्मृति १४।४

८. लल्लनजी गोपाल—वही, पृ० २५६

कृषि को सुव्यवस्थित करने एवं अधिक उपज के लिए राज्य की ओर से सहायता प्रदान करने की भी व्यवस्था थी। महा पुराण के अनुसार राजा कृषि की उन्नति के लिए खाद, कृषि उपकरण, बीज आदि प्रदान कर खेती कराता था।[1] इसी पुराण में उल्लेख आया है कि खेत राजा के भण्डार के समान थे।[2] जैन पुराणों में कृषक को कर्षक[3] और हलवाहक को कीनाश[4] शब्द से सम्बोधित किया गया है। महा पुराण के अनुसार कृषक भोलेभाले, धर्मात्मा, वीतदोष तथा क्षुधा-तृषा आदि क्लेशों के सहिष्णु तथा तपस्वियों से बढ़कर होते थे।[5] कृषक हल, बैल और कृषि के अन्य औजारों के माध्यम से खेती करते थे। खेत की उत्तम जुताई कर, उसमें उत्तम बीज एवं खाद का प्रयोग करते थे। र० गंगोपाध्याय ने एग्रिकल्चर एण्ड एग्रीकल्चरिस्ट इन ऐंशेण्ट इण्डिया में गोबर की खाद को खेती के लिए अत्यन्त उपयोगी माना है।[6] इसके उपरान्त उसकी सिंचाई की आवश्यकता पड़ती थी। महा पुराण में सिंचाई के दो प्रकार[7] के साधनों का उल्लेख हुआ है : अदेवमातृका—नहर, नदी आदि कृत्रिम साधन से सिंचाई व्यवस्था और देवमातृका—वर्षा के जल से सिंचाई व्यवस्था। महा पुराण के वर्णनानुसार वर्षा समयानुकूल और पर्याप्त मात्रा में होती थी, जिससे खेती उत्तम होती थी।[8] कुआँ[9], सरोवर[10], तड़ाग[11] और वापी[12] के जल को सिंचाई के लिए प्रयोग करते थे। जैन पुराणों के कथनानुसार उस समय

---

१. देशेऽपि कारयेत् कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीबलैः। महा ४२।१७७
२. महा ५४।१४
३. पद्म ६।२०८; महा ५४।१२
४. वही ३४।६०
५. ऋजवो धार्मिकावीतदोषा क्लेशसहिष्णवः।
कर्षकाः सफलारम्भाः तपः स्थांश्चातिशेरते॥ महा ५४।१२
६. लल्लनजी गोपाल—वही, पृ० २६०
७. अदेवमातृकाः केचिद् विषयाः देवमातृका।
परे साधारणाः केचिद् यथास्वं ते निवेशिताः॥ महा १६।१५७
८. महा ४।७६, तुलनीय—एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७ पर सिंचाई के साधनों पर प्रकाश पड़ता है।
९. महा ४।७२
१०. वही ५।२५६; पद्म २।२३
११. वही ४।७२
१२. वही ५।१०४

घण्टीतंत्र[1] (अरहट या रहट) द्वारा कुओं, तालाबों आदि से जल निकालकर सिंचाई करते थे। खेतों की सिंचाई के लिए नहरें अत्यधिक लाभप्रद प्रमाणित हुईं, जिनका उल्लेख महा पुराण में उपलब्ध होता है।[2] नहरों से नालियों का निर्माणकर कृषक अपने खेत तक पानी ले जाते थे। उक्त सिंचाई के साधन अदेवमातृका के अन्तर्गत आते हैं। सिंचाई के उक्त साधनों की पुष्टि जैन पुराणों के प्रणयनकाल के जैनेतर ग्रन्थों से भी होती है, जिनमें झील, नदी, कुआँ, मशीन कुआँ, अरहट, तालाब तथा नदी बाँध का उल्लेख है।[3]

आलोच्य जैन पुराणों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि कृषक खेत में बीज वपन करने के उपरान्त सिंचाई कर उसकी निराई एवं गुड़ाई करते थे। इसके अनन्तर पुनः सिंचाई की जाती थी। फसलों के पक जाने पर उसकी कटाई कर उसे खलिहान में एकत्रित करते थे। फिर बैलों से दंवरी चलाकर मड़ाई की जाती थी। मड़ाई के उपरान्त अनाज और भूसे को पृथक् करने के लिए ओसाई की जाती थी। तदनन्तर अनाज को घर ले जाते थे और खाने के काम लाया जाता था। भूसे को बैल, गाय, भैंस को खिलाने के लिए रखते थे।[4]

खेती की रक्षा करना परमावश्यक था। महा पुराण के वर्णानानुसार कृषक-बालाएँ पशु-पक्षियों से खेत की रक्षा करती थीं।[5] चञ्चापुरुष का उल्लेख महा पुराण में हुआ है जो खेत के रक्षार्थ रखे जाते थे, जिनको देखकर जानवर भाग जाते थे।[6]

जैन पुराणों में अधोलिखित प्रमुख अनाजों का उल्लेख मिलता है—व्रीहि, साठी, कलम, चावल, यव (जौ), गोधम (गेहूँ), कांगनी (कंगव), श्यामाक (सावाँ), कोद्र (कोदो), नीवार, वरका (बटाने), तिल, तस्या (अलसी), मसूर, सर्षप (सरसों), धान्य (धनिया), जीरक (जीरा), मुद्गमाषा (मूँग), ढकी (अरहर), राज (रोंसा), माष (उड़द), निष्पावक (चना), कुलित्थ (कुलथी), त्रिपुट (तेवरा),

---

१. पद्म २।६, ६।८२; महा १७।२४; हरिवंश ४३।१२७
२. महा ३५।४०
३. अराजितपृच्छा, पृ० १८८
४. महा ३।१७६-१८२, १२।२४४, ३५।३०; पद्म २।५
५. वही ३५।३५-३६; तुलनीय—मनु ७।११० पर टीका
६. वही २८।१३०; तुलनीय—देशीनाममाला २६

कुमुम्भ, कपास, पुण्ड्र (पौड़ो), इक्षु (ईख), शाक, आदि ।[1]

[ii] पशुपालन : आलोचित जैन पुराणों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय पशुपालन उन्नति दशा में था । पशुपालन द्वारा लोग अपनी जीविका चलाते थे । पद्म पुराण के रचना काल में मनुष्य की सम्पन्नता एवं धनाढ्यता का मापदण्ड पशुओं की संख्या पर आधारित था ।[2] गाय और भैंसों से युक्त परिवार को महा पुराण में सुखी माना गया है ।[3] गाय, भैंस, बैल आदि पशुओं की रक्षा करने की व्यवस्था का वर्णन हरिवंश पुराण में उपलब्ध है ।[4] अन्यत्र गाय, भैंस एवं बकरी के दूध को उसके स्वभाव के अनुसार माधुर्य गुण से सम्पन्न वर्णित है ।[5] जैन पुराणों में गाय को विशेष स्थान प्रदत्त है और घोड़े तथा हाथी को सवारी के योग्य कथित है ।[6] हरिवंश पुराण के वर्णनानुसार चारागाहों (दविय) में गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पशु चरा करते थे ।[7] पद्म पुराण में भैंसों की पीठ पर आरुढ़ अहिर ग्वाले गाना गाते एवं उनकी रक्षा करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं ।[8] पद्म पुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय घी, दूध, दही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था तथा उनका प्रयोग भोजन में होता था, जिससे भोजन स्वादिष्ट हो जाता था ।[9] इससे स्पष्ट होता है कि गाय, भैंस, बकरी और भेड़ों का दूध प्रयोग में आता था । विभिन्न देशों के घी एवं दूध के स्वाद का उल्लेख हरिवंश पुराण में आया है । कलिंग देश की गाय का दूध और अपरान्त देश का घी बहुत स्वादिष्ट होता था ।[10] उक्त कथन की पुष्टि

---

१ पद्म २।३-८; महा ३।१८६-१८८; हरिवंश १४।१६१-१६३, १९।१८, ५८।३२, ५८।२३५; तुलनीय—जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १२३-१३०; बी०एन०एस० यादव—सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द नार्दर्न इण्डिया, पृ० २५९; सर्वानन्द पाठक—विष्णु पुराण का भारत, पृ० १९८

२. पद्म ४।६३-६४, ८३।१५

३. वही ८३।२०

४. हरिवंश ९।३६

५. वही ५८।२११

६. पद्म २।१०-२४, ४।८; हरिवंश ८।१३४-१३६

७. हरिवंश ३५।५०-५३; तुलनीय—अर्थशास्त्र २।२९; मनु ८।२३७; याज्ञवल्क्य ३।१६७; मत्स्य पुराण २२७।२४

८. पद्म २।१०

९. वही ३४।१३-१६

१०. हरिवंश १८।१६१-१६३

अभिलेखों से भी होती है।[1]

उक्त अनुच्छेदों में चर्चित कृषि एवं पशुपालन के संदर्भ में यह तथ्य विचार-विमर्श का विषय बन जाता है कि हमारे आलोचित पुराणों के प्रणयन काल में कृषि-वृत्ति से किस विशेष जाति अथवा वर्ग का सम्बन्ध था? प्रस्तुत विषय पर आधुनिक विद्वानों[2] का मत है कि इस काल में कृषि-कार्य, यथार्थतः कर्षण कार्य, में शूद्रों को ही नियुक्त किया जाता था। क्योंकि ह्वेनसांग ने अपने विवरण में स्पष्टतया उल्लेख किया है कि कृषि कार्य के यथार्थ कर्त्ता शूद्र थे।[3] उक्त अनुच्छेद में जैन पुराणों के उस स्थल का भी संदर्भ प्रस्तुत है, जहाँ हलवाहक को 'कीनाश' संज्ञा से सम्बोधित किया है। कीनाश एक पुरातन शब्द है। ऋग्वेद[4] में यह शब्द हलवाहक और कर्षक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु विष्णुधर्मोत्तर[5] तथा भविष्य[6] पुराणों में कीनाश शब्द का प्रयोग हलवाहक या कर्षक के अभिप्राय में न होकर वैश्य जाति के अर्थबोधक के रूप में किया गया है। परन्तु आठवीं शती के नारदस्मृति[7] के भाष्यकार ने कीनाश शब्द का प्रयोग शूद्रार्थ किया है। ऐसी स्थिति में विद्वानों का यह अनुमान कि पूर्व-मध्यकाल में वाणिज्य के ह्रास के कारण वैश्यों के एक वर्ग ने शूद्रों की वृत्ति ग्रहण कर लिया था—तर्कसंगत अवश्य प्रतीत होता है। किन्तु इससे यह तर्क समर्थित नहीं हो पाता कि हमारे आलोच्य पुराणों के रचनाकाल में वाणिज्य व्यापार का सर्वथा और सर्वशः ह्रास हो गया था। इसका स्पष्टीकरण अग्रलिखित विवरण से होगा।

४. **शिल्प-कर्म :** जैन पुराणों के अनुशीलन से तत्कालीन शिल्पों का ज्ञान उपलब्ध होता है। महा पुराण में हस्त-कौशल को शिल्प-कर्म की अभिधा प्रदत्त है।[8]

---

१. शिवनन्दन मिश्र—गुप्तकालीन अभिलेखों से ज्ञात तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा, लखनऊ, १९७३, पृ० ८४-८५

२. आर० एस० शर्मा—शूद्राज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० २३४ तथा ब्रजनाथ सिंह यादव—सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद १९७३, पृ० ४१

३. टी० वाटर्स—ऑन् युआन च्वांगस ट्रव्हल्स इन इण्डिया, लन्दन, १९०४—१९०५, वा० १, पृ० १६८

४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १५९

५. विष्णुधर्मोत्तर ३।१०।३

६. भविष्य पुराण, ब्रह्मपर्व ४४।२२

७. नारदस्मृति १।१८१

८. ··· शिल्पं स्यात् करकौशलम्। महा १६।१८२

उस समय कुम्भकार, चित्रकार, लोहार (कर्मकार), नापित (काश्यप), वस्त्रकार आदि शिल्प द्वारा जीविकोपार्जन करने वालों में प्रमुख थे। अन्य शिल्पकारों में तेली थे, जो तेल निकाल कर अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। हरिवंश पुराण में तेल पेरने के यन्त्र का उल्लेख उपलब्ध है।[1] कंसकार कांस के बर्तन निर्मित करते थे। व्याख्या प्रज्ञप्ति में कंसकार की गणना नौ कारुओं के अन्तर्गत हुई है। प्राचीन काल से ही इस देश में हाथीदाँत का काम उन्नति के शिखर पर था। हाथीदाँत से विभिन्न प्रकार के खिलौने-आदि निर्मित किये जाते थे। इस कार्य को अधिकतर पुलिन्द नामक आदिम जातियाँ किया करती थीं। कुछ आर्य जातियाँ भी हाथीदाँत का काम करती थीं। हड्डी, सींग और शंख से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। वास्तुकर और तक्षक मिलकर मकान, भवन, प्रासाद, नगर, तालाब, मन्दिर, मूर्तियाँ, जलाशय आदि का निर्माण करते थे। समाज में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये जल के भीतर खम्भे निर्मित कर पुल का निर्माण करते थे। पुल के द्वारा आवागमन में सुविधा तथा विकास की गति द्रुत होती है।[2]

जैन पुराणों एवं जैनागमों में बहुत से खनिज पदार्थों का उल्लेख मिलता है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय खनन्-विद्या का विकास भली-भाँति हुआ था। खनिज पदार्थों से विभिन्न प्रकार की वस्तुयें निर्मित की जाती थीं। बृहत्कल्पभाष्यटीका में धातुओं के उत्पत्ति स्थल को 'आकर' संज्ञा प्रदत्त है। इन आकरों से लोहा, ताँबा, जस्ता, शीशा, रजत, स्वर्ण, मणि, रत्न, वज्र, लवण (नमक), ऊस (साजीमाटी), गेरू, हरताल, हिंगुलक, (सिंगरफ), मणसिल (मनसिल), सासग (पारा), सेडिय (सफेद मिट्टी), सौरट्ठिय और अंजन आदि निकाले जाते थे। समाज के अधिकांश लोग इन धन्धों में व्यस्त रहते थे। सुवर्णकार मणि, रत्न, सुवर्ण एवं चाँदी से आभूषण आदि का निर्माण करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण प्रेमी होते थे। इसलिए बहुसंख्यक आभूषणों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। स्वर्णकार बेईमान भी होते थे। निशीथचूर्णी में संदर्भ मिलता है कि वे कुण्डल (मोरंग) में ताँबा मिला देते थे। उस समय धातुओं से मुद्रायें निर्मित की जाती थीं। इन्हें निर्मित करने के लिए राजकीय टकसाल होते थे। ऐसे शिल्पकारों का भी उल्लेख मिलता है, जो हाथ से विभिन्न प्रकार के सामान निर्मित कर जीवकोपार्जन करते थे। इनमें से मुख्यतः चटाई बनाने वाले (कटादिकार), मुंजपादुका निर्माता (मुंजपादुकाकार), रस्सी बटने वाले (बरुड़), ताड़ के पत्तों से पंखे बनाने वाले (तालवृन्तकार), बाँस

१. हरिवंश ११।९३
२. वही २७।७१; महा १६।१८२, ३२।२९

की खपच्चियों से छाते बनाने वाले, चमड़े के सामान बनाने वाले (चर्मकार), माला बनाने वाले (मालाकार), तेल बनाने एवं बेचने वाले (गंधी) और लाक्षारस आदि से रंग बनाने वाले आदि उल्लेखनीय है।[1] पद्म पुराण में यन्त्र निर्माण करने वालों का वर्णन मिलता है जो समुद्र का भी जल रोकने में समर्थ थे।[2]

५. व्यावसायिक वर्ग : समाज में इस प्रकार के व्यावसायिक वर्ग थे, जिनको गुणों के आधार पर आजीविका उपलब्ध थी। ये समाज के एक विभाग का प्रतिनिधित्व करते थे। महा पुराण में छः प्रकार के कर्मों में से एक कर्म विद्याकर्म है, जिसमें शास्त्र पढ़ा कर या नृत्य-गायन आदि आजीविका से जीवन निर्वाह करते थे।[3] हरिवंश पुराण में विद्याकर्म से आजीविका चलाने वालों का उल्लेख उपलब्ध है।[4]

जैन आगमों के अनुसार इस वर्ग में आचार्य, चिकित्सक, वास्तुपाठक, लक्षण-पाठक, नैमित्तिक, गांधर्विक, नट, नर्त्तक, जल्ल (रस्सी का खेल करने वाले), मल्ल (मल्ल युद्ध करने वाले), मौष्टिक (मुष्टि युद्ध करने वाले), विडंबक (विदूषक), कथक (कथावाचक), तैराक (प्लवक), रास गाने वाले (लासक), आख्यापक, लंख (बाँस पर चढ़ कर खेल दिखाने वाले), मंख (चित्रपट लेकर भिक्षा माँगने वाले), तूण इल्ल (तूणा बजाने वाले), भुजग (संपेरे), मागध (गाने-बजाने वाले), हास्यकार, मसखरे, चाटुकार, दर्पकार, कौत्कुच्च (काम से कुचेष्टा करने वाले), राजभृत्य, छत्रग्राही, सिंहासनग्राही आदि आते हैं।[5] गुप्तकाल में भी इसी प्रकार के पेशेवर लोगों का उल्लेख मिलता है।[6] जैनेतर ग्रन्थ हर्ष चरित में हाथियों के पालन-पोषण एवं बिक्री करने वाले पेशेवर वर्ग का वर्णन उपलब्ध है।[7]

---

१. महा १६।१८२, ३२।२६; हरिवंश २७।७१, ३८।६८, ५६।५७, ५५।६२, जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १४०-१५४

२. पद्म १०।६८

३. .....विद्या शास्त्रोपजीवने। महा १६।१८१

४. हरिवंश २७।४८, ४७।१११

५. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १५५

६. भगवत शरण उपाध्याय—गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १९६९, पृ० २४७-२५२

७. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२८

(ग) व्यापार और वाणिज्य

प्राचीन काल से भारतीय समाज में व्यापार एवं वाणिज्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ऐसी स्थिति में इनका उल्लेख हमारे धार्मिक साहित्यिक एवं आर्थिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार जैन पुराणों के परिशीलन से भी इन पर विशेष प्रकाश पड़ता है जिसका विवरण निम्नवत् प्रस्तुत है :

१. **महत्त्व एवं प्रचलन :** आलोचित जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। देश में उत्पादन अधिक होता था, आवश्यकता से अधिक उत्पादन दूसरों को दिया या विक्रय किया जाता था। उत्पादन के विक्रय का कार्य वणिक् वर्ग करता था। महा पुराण में उल्लेख आया है कि व्यापारी दूसरों द्वारा निर्मित माल में कुछ परिवर्तन कर अपनी मुद्रा (छाप) अङ्कित कर बिक्री करते थे।[1] जैन पुराणों में नकली व्यापारियों के विषय में उल्लिखित है कि वे दूसरों से थोड़ी-सी वस्तु लेकर उसमें कुछ परिवर्तन कर व्यापारी बन जाते थे।[2] जैनेतर साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बेईमान व्यापारी राजस्व की चोरी भी करते थे। ऐसे व्यापारियों के पकड़े जाने पर कठोर राजदण्ड की व्यवस्था थी।[3] व्यापारी के लिए वणिज्[4], वणिक्[5] और वैश्य[6] शब्द जैन पुराणों में व्यवहृत हुए हैं। कालिदास ने व्यापारियों के विभिन्न प्रकार के संगठनों का उल्लेख किया है—सार्थ, सार्थवाह, शिल्प संघ, नैगम, श्रेष्ठी आदि।[7] इनके काल में एक ही क्षेत्र में कार्यरत कारीगर अपना संघ बनाकर काम करते थे। इनकी श्रेणी ही बैंक का कार्य करती थी। ये श्रेणी धन संग्रहण एवं प्रदायक ऋण का कार्य करती थीं।[8] बौद्ध सूत्रों की भाँति जैन सूत्रों में भी अट्ठारह प्रकार की श्रेणियों का उल्लेख हुआ है।[9] जैन पुराणों के

---

१. केचिदन्यकृतैरर्थैः·····प्रतिशिष्ट्येव वाणिजाः। महा १।६८

२. छायामारोपयन्त्यन्यां वस्त्रेष्विव वणिग्भुवाः। महा १।६६; हरिवंश २१।७६

३. मोतीचन्द्र—सार्थवाह, पटना, १९५३, पृ० १७३

४. पद्म ६।१५४; महा १।६८

५. वही ५५।६०

६. वही ३।२५७

७. भगव तशरण उपाध्याय—वही, पृ० २६२; राइस डेविड्स—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३०७; गायत्री वर्मा—कालिदास के ग्रन्थ : तत्कालीन-संस्कृति, वाराणसी, १९६३, पृ० २९३

८. गायत्री वर्मा—वही, पृ० २६५

९. जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १६४

वर्णनानुसार शिल्पकारों की श्रेणियों के समान व्यापारियों की भी श्रेणियाँ होती थीं। उस समय व्यापार के मार्ग असुरक्षित थे। मार्ग में चोर-डाकुओं और वन्य पशुओं का भय रहता था। इसलिए व्यापारी लोग एक साथ मिलकर किसी सार्थवाह को अपना नेता बनाकर व्यापार के लिए निकलते थे। श्रेष्ठी अट्ठारह श्रेणी-प्रश्रेणियों का प्रधान माना जाता था।[1] जैनेतर ग्रन्थ अमरकोश में सार्थवाह के लिए सार्थ, सार्थपार्थिव और सार्थानिक शब्द प्रदत्त हैं। समान या सहयुक्त अर्थ (पूँजी) वाले व्यापारी, जो बाहरी मण्डियों में व्यापार करने के लिए टाँडा बाँधकर चलते थे, उन्हें सार्थ संज्ञा से सम्बोधित करते थे। उनके नेता श्रेष्ठ व्यापारी को सार्थवाह की अभिधा प्रदत्त की गयी थी।[2]

पद्म पुराण के उल्लेखानुसार उस समय वाणिज्य विद्या का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में था तथा वाणिज्य विद्या का अध्ययन करने के उपरान्त वे धनोपार्जन के लिए जाया करते थे।[3] जैनेतर ग्रन्थों के वर्णनानुसार वणिक् श्रेणी या निगमों द्वारा बैंक का कार्य सम्पादित किया जाता था और ये पन्द्रह प्रतिशत की दर से ब्याज लेते थे।[4] ऋणी यदि अपने देश में रहता था तो उसे ब्याज चुकाना पड़ता था, परन्तु यदि समुद्र यात्रा से बाहर गया हो और उसका जहाज डूब गया हो तथा किसी तरह जान बचाकर आया हो तो उसे ऋण नहीं देना पड़ता था। जैनसूत्रों में इसे 'वणिक्-न्याय' कथित है।[5] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि व्यापारीगण सत्यवादी एवं निर्लुब्ध व्यक्ति के पास अपने धरोहर रखते थे। निर्लुब्ध व्यक्ति नगर में धरोहर रखने के स्थान—भाण्डशालाओं—का निर्माण करते थे। कभी-कभी धरोहर न देने पर राजा द्वारा दण्डित किया जाता था।[6]

---

१. वरशवरसेनया···दुतमागतया। हरिवंश ४६।२७; महा ४६।११२-१४२; तुलनीय—बृहत्कल्पभाष्य ३।३७५७; राइस डेविड्स—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० २०७

२. सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहील सार्थवाहः। अमरकोश ३।७।७८; तुलनीय—गोकुलचन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, १९६७, पृ० १९३

३. आगतोऽस्म्यर्थलाभाययुक्तो वाणिज्य विद्या। पद्म ३३।१४५

४. याज्ञवल्क्य २।३७; मनु ८।४१

५. बृहत्कल्पभाष्य १।२६९०,

६. हरिवंश २७।२३-४०

२. **राष्ट्रीय व्यापार :** राष्ट्रीय व्यापार उन्नति पर था। गाय, बैल, भैंस, ऊँट आदि पशुओं के क्रय के समय प्रतिभू का होना अनिवार्य था।[1] यह प्रतिभू आजकल के कर-अधीक्षक के समान रहा होगा, जो पशुओं के क्रयोपरान्त अनुबन्ध पत्र तथा रसीद आदि देता था। वर्तमान समय की भाँति बाजार में सामान आने-ले जाने पर उस समय भी कर देने की व्यवस्था रही होगी। देश का अन्तः व्यापार गाड़ियों (शकट) द्वारा करने का उल्लेख पद्म पुराण में उपलब्ध है।[2] महा पुराण के रचना काल में पशु व्यापार का अत्यधिक प्रचलन था।[3] हरिवंश पुराण में नदियों से व्यापार के लिए नौकाओं के प्रयोग का उल्लेख प्राप्य होता है।[4] उक्त पुराण से स्पष्ट है कि उस समय राजपथ द्वारा व्यापार होता था, जिस पर दस्युओं का घोर आतंक रहता था। कारवाँ की सूचना पाते ही वे उन्हें लूट लेते थे।[5]

३. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार :** पद्म पुराण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रोत्साहनार्थ यह उल्लेख आया है कि धनोपार्जन, विद्या ग्रहण एवं धन संचय करना—ये तीनों कार्य यद्यपि मनुष्य के अधीन हैं, तथापि अधिकांशतः इनकी सिद्धि विदेशों में ही होती है।[6]

जैन पुराणों में उल्लिखित है कि व्यापारी जलमार्ग से धनोपार्जनार्थ विदेश (बाहर) जाया करते थे।[7] जहाज के लिए पोत[8] एवं यानपत्र[9] शब्द पद्म पुराण में व्यवहृत हुए हैं। हरिवंश पुराण में उशीरावर्त देश से कपास क्रय कर ताम्रलिप्त नगर में विक्रय करने का उल्लेख हुआ है।[10] महा पुराण में रत्नों का व्यापार समीपवर्ती देशों (प्रत्यन्तवासिन) के साथ होता था।[11]

---

१. यद्वच्चप्रतिभूः कश्चिद् यो क्रये प्रतिगृह्यते। महा ४२।१७३

२. पद्म ३३।४६

३. महा ४२।१५०-१७१

४. हरिवंश ८।१३४

५. वही ४६।२७-२६

६. द्रविणोपार्जनं विद्याग्रहणं धर्मसंग्रहः।
स्वाधीनमपि तत्प्रायो विदेशे सिद्धमश्नुते ॥ पद्म २५।४४

७. महा ७०।१५०; हरिवंश २१।७८-८०

८. पद्म ८३।८०

९. वही ५५।६१

१०. हरिवंश २१।७५-७६

११. महा ३२।७०

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पूर्व मध्यकालीन आर्थिक परिवेश में कुछेक ऐसे तत्त्वों का आविर्भाव हुआ था, जिनके कारण भारतीय व्यापार पर आघात पहुँचा। बोधिसत्त्वावदान, कल्पलता, कथासरित्सागर, मध्ययुगीन पुरातन प्रबन्ध संग्रह, नैनसी का ख्यात, राजतरंगिणी, वस्तुपाल चरित, प्रबन्ध कोश तथा त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र ग्रन्थों के सम्बन्धित स्थलों के आधार पर डॉ० दशरथ शर्मा एवं डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव सदृश विद्वानों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सामुद्रिक लुटेरों के आतंक के कारण विदेशों के साथ भारतीय व्यापार निर्बाध रूप में नहीं चल सकता था।[1] इस मत का समर्थन हमारे आलोचित पुराण से पूर्णतः हो जाता है। उक्त अनुच्छेद में हम वर्णित कर चुके हैं कि दस्युओं का उल्लेख हरिवंश पुराण में हुआ है। इनकी प्रवृत्ति विध्वंसकारी थी। ये व्यापारियों के कारवाँ के प्रतीक्षा में हमेशा रहते थे और अवसर पाते ही उन्हें लूट लेते थे।[2]

किन्तु हमारे पुराणों के अन्य उल्लेखों से यह भी स्पष्ट होता है इस विषम परिस्थिति में भी विदेशों के साथ व्यापार सम्पर्क किया जाना एक अनुसरणीय आदर्श माना जाता था। यही कारण था कि उक्त अनुच्छेद में चर्चित पद्म पुराण का स्थल विदेश में धनोपार्जन करने पर बल देता है।[3] इसी पुराण में जहाज के लिए पोत[4] और यानपत्र[5] शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो समुद्री मार्ग से व्यापार का स्पष्ट प्रमाण है। महा पुराण में वर्णित है कि जल-स्थल आदि के यात्रियों को वैश्य अभिधा से सम्बोधित करते थे।[6] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय व्यापार एवं वाणिज्य का बिल्कुल ह्रास नहीं हुआ था।

४. आयात-निर्यात : जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय भारत में विदेशों से सामानों का आयात-निर्यात दोनों ही होता था। यूनान, कश्मीर, वाह्लीक से भारत में घोड़ों का आयात होता था।[7] भारत से निर्यातित वस्तुओं में हाथीदाँत, रेशम, सूत, हीरा, नीलम, चन्दन, केसर, मूँगे आदि थे।

---

१. द्रष्टव्य—यादव—वही पृ० २७०-२७५
२. हरिवंश ४६।२७-२६
३. पद्म २५।४४
४. वही ८३।८०
५. वही ५५।६१
६. महा १६।२४४
७. वही ६८।५६२; तुलनीय—भगवत शरण उपाध्याय—वही, पृ० २५५-२५७

५ मुद्रा : आयात-निर्यात के वस्तुओं के क्रय-विक्रय का जो माध्यम था, उस मुद्रा के लिए आलोचित जैन पुराण में 'दीनार' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] दीनार एक सुवर्ण मुद्रा थी। इसके अतिरिक्त अन्य किसी मुद्रा का उल्लेख उक्त पुराणों में उपलब्ध नहीं है। यह केवल संयोग की बात है। किन्तु अन्य जैन ग्रन्थों[2] में हिरण्य, सुवर्ण, कार्षापण, मास, अर्द्धमास, रूपक, पण्णग, पायंक, स्वर्णमाषक, कौड़ी, काकिणी, निष्क आदि मुद्राओं के उल्लेख मिलते हैं।

यदि दीनार जैसे सुविदित आदर्श स्वर्ण मुद्रा के व्यवहार का उल्लेख हमारे पुराण करते हैं तो यह तथ्य पुनर्विवेचन का विषय बन जाता है कि पूर्व मध्यकाल में सिक्कों का ह्रास हो रहा था और इस ह्रास का कारण व्यापार और वाणिज्य का अधःपतन था। यद्यपि हमारे पुराणों से इस विषय पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता तथापि प्रायः सभी जैन पुराणों में प्रयुक्त दीनार शब्द के प्रयोग के आधार पर यह प्रस्तावित किया जा सकता है कि वाणिज्य और व्यापार का ह्रास उतना नहीं हुआ था जितना कि विद्वानों ने माना है। व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति स्थिति का विवेचन उक्त अनुच्छेदों में हो चुका है।

६. माप प्रणाली : जैन पुराणों से माप-प्रणाली के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं होती है, तथापि जो प्रकाश पड़ता है, उसके आलोक में निष्कर्ष यह है कि माप के लिए 'मान' शब्द व्यवहृत होता था। मान को चार भागों में विभाजित किया गया है : मेय, देश, काल और तुला।[3]

---

१. पद्म ७१।६४; हरिवंश १८।६८; महा ७०।१४६

२. द्रष्टव्य—जगदीश चन्द्र जैन—वही, पृ० १८७-१८८; गोकुल चन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, १९६७, पृ० १९५; कैलाश चन्द्र जैन—प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, भोपाल, १९७१, पृ० २८२

३. मेयदेशतुलाकालभेदान्मानं चतुर्विधम्।
तत्प्रस्थादिभिर्भिन्नं मेयमानं प्रकीर्तितम्॥
देशमानं वितस्त्यादि तुलामानं पलादिकम्।
समयादि तु यन्मानं तत्कालस्य प्रकीर्तितम्॥
तच्चारोहपरीणाहतिर्यग्गौरवभेदतः।
क्रियातश्च समुत्पन्नं साध्यगान्मानमुत्तमम्॥ पद्म २४।६०-६२
हरिवंश ४।३४१, ४।३२६; महा ६१।७१

[i] **मेयमान** : इसके अनेक उपभेद हैं । इसके द्वारा रसायन एवं खाद्य तथा अन्य वस्तुओं की माप की जाती थी । दैनिक जीवन में इसका अत्यधिक उपयोग था ।

[ii] **देशमान** : देशमान से दूरी तथा लम्बाई मापी जाती थी । अंगुल, वितास्त, रत्नि, कुक्षि, धनुष तथा गव्यूत द्वारा दूरी और परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, बालाग्र, लिक्षा, यूका एवं यव द्वारा लम्बाई मापी जाती थी ।

[iii] **कालमान** : काल मापने के लिए समय, आवलिका, श्वास, उच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहुर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत (शताब्दी) से शीर्ष पहेलिका तक, नालिका और शंकुच्छाया का उपयोग किया जाता था ।

[iv] **तुलामान** : पल, छटांक, सेर आदि से माप करना तुलामान था । दूसरे की आँख बचाकर कम-ज्यादा तौलने और मापने की सूचना मिलती है ।

पूर्व मध्यकाल में साहित्यिक एवं अभिलेखीय माप प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है । भारक का प्रयोग नारियल, अन्न, रुई, शकर, गुड़ एवं मंजिष्ठ आदि के लिए होता था । घटक एवं कुम्भ से मक्खन और तेल; मूतक और माणक से नमक; पुलक से फूल; कर्ष और पलक से तेल एवं घी; वुम्बक से शराब और मणि से अनाज तौला जाता था । सेइ और द्रोणकारी भी अन्न तौलने के बाट थे ।[1]

---

१. कैलाश चन्द्र जैन—वही, पृ० २८८

८

धार्मिक व्यवस्था

[क] दार्शनिक पक्ष

जैन पुराणकारों ने अपने ग्रन्थों में जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तारशः प्रतिपादन किया है। पूर्वाचार्यों से परम्परागत उपलब्ध तात्त्विक सिद्धान्तों में किसी प्रकार का परिवर्तन इन पुराणकारों ने नहीं किया। आचारमीमांसीय दृष्टि से भी यथापूर्व अहिंसामूलक प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है, किन्तु युग और परिस्थितियों के अनुकूल पुराणकारों ने आचारशास्त्रीय नियमों-उपनियमों आदि में यथावश्यक परिवर्तन भी किये हैं। इन्हीं प्रसंगों में अन्य धर्मों के आचार विषयक नियम आदि एवं अन्य दर्शनों के तत्त्वमीमांसीय और ज्ञान या प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों की समीक्षा भी की है। जैनेतर धर्म एवं दर्शन पर अधिक प्रकाश न पड़ने के कारण यहाँ मात्र जैन धर्म-दर्शन की ही विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

इस प्रकार यथार्थ में 'जैन पुराणों में प्रतिपादित धर्म एवं दर्शन तथा पुराणकालीन जैन धर्म-दर्शन' जैसे विषयों पर पूर्णतया स्वतन्त्र अनुसन्धान अपेक्षित है।

प्रस्तुत प्रकरण में उस सामग्री का एक विहंगावलोकन करने का प्रयास हुआ है। पुराणों के माध्यम से जैनाचार्यों ने अपने धर्म को जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया है। इसी लिए जैन पुराणों में जैन धर्म-दर्शन की अत्यधिक सामग्री उपलब्ध होती है। अध्ययन की दृष्टि से हम इसे दो भागों में विभक्त करते हैं : दार्शनिक पक्ष और धार्मिक पक्ष।

जैन पुराण मूलतः दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं; तथापि इनके अध्ययन से दार्शनिक पक्ष पर जो प्रकाश पड़ता है उसकी विवेचना अग्रपंक्तियों में किया गया है :

१. लोक : लोक सृष्टि अर्थात् जगत्कर्तृत्व का सिद्धान्त जैन धर्म में पूर्णतया अमान्य रहा है, किन्तु लोक विज्ञान और लोक विद्या का प्रतिपादन जैन ग्रन्थों में विस्तारशः हुआ है। विश्व, जगत, संसार, भुवन के लिए जैन परम्परा में लोक शब्द व्यवहृत हुआ है। जैन पुराणों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दो भागों में बाँटा गया है—अलोकाकाश एवं लोकाकाश। हरिवंश पुराण में अलोकाकाश के विषय में वर्णन उपलब्ध होता है कि जिसका सब ओर से अनन्त विस्तार, अनन्त प्रदेश तथा अन्य द्रव्यों से रहित है, उसे अलोकाकाश कहा गया है। इसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ नहीं दिखाई पड़ते, गति एवं स्थिति के निमित्त धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में जीव तथा पुद्गल की न तो गति होती है और न स्थिति।[1]

लोकाकाश के विषय में जैन पुराणों में उल्लिखित है कि यह अनन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है। यह लोक अकृत्रिम, अनादि, प्रकाशमान एवं अनन्त है तथा यहाँ बन्ध और मोक्ष का फल भोगा जाता है। लोक से जो बहिर्गत है उसे अलोक कहते हैं।[2] हरिवंश पुराण के वर्णनानुसार लोक का निर्माण काल द्रव्य और अपने अवान्तर विस्तार सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय—धर्म, अधर्म, आकाश, जीव तथा पुद्गल—से हुआ है।[3] जैन पुराणों में लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इनका आकार क्रमशः वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान है।[4] तीन प्रकार से स्थित होने के कारण लोक को त्रिलोक या त्रिविध सम्बोधित किया गया है।[5] हरिवंश पुराण में लोक विषयक यह उल्लेख

१. हरिवंश ४।१-३
२. पद्म १०५।१०६; हरिवंश २।११०, ६३।८८; महा ४।३६-४०
३. कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाखिलाः। हरिवंश ४।५
४. हरिवंश ४।५-६; महा ४।४१; पद्म १४।१४६, १०५।१०६
५. पद्म १०५।११०-१११

हुआ कि अधोलोक मूंठा के समान, ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान और मध्यलोक (तिर्यक् लोक) झालर के सदृश्य हैं। नीचे अर्द्ध मृदंग रखकर उस पर यदि पूरा मृदंग रखने पर जैसा आकार दृष्टिगत होता है वैसा ही लोक का आकार है। किन्तु विशेषता यह है कि लोक चौकोर है अर्थात् कमर पर हाथ रख कर तथा पैर फैलाकर अचल खड़े हुए मनुष्य का जो आकार निर्मित होता है, उसी आकृति को यह लोक ग्रहण करता है। तीनों लोकों की लम्बाई चौदह रज्जु प्रमाप कथित है।[1]

[i] अधोलोक : अधोलोक में सप्त भूमियाँ हैं, यहाँ नारकी निवास करते हैं। धरतीतल में प्रथम रज्जु के अन्त में जहाँ पृथ्वी समाप्त हो जाती है वहाँ से अधोलोक प्रारम्भ होता है। यहाँ से सात भूमियाँ हैं।[2] पद्म पुराण के वर्णनानुसार सप्त भूमियाँ निम्नवत् हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा।[3] ये भूमियाँ घोर कष्टदायक तथा निरन्तर अन्धकार से व्याप्त रहती हैं। पाप कर्म करने से नरक उपलब्ध होता है। नरक में कठोरतम वेदनाएँ एवं दुःख प्राप्त होता है। यहाँ अगणित प्रकार के दुःख होते हैं जिनका वर्णन करना सम्भव नहीं है।[4] महा पुराण में वर्णित रौरव नरक का अन्तिम (सातवाँ) स्थान है।[5] महा रौरव नरक का उल्लेख हरिवंश पुराण में उपलब्ध है।[6] इसी पुराण में कर्मानुसार नरकों का अधोलिखित उल्लेख है—सीमान्तक, इन्द्रक, रौरव, भ्रान्त, उद्भ्रान्त, सम्भ्रान्त, असम्भ्रान्त, विभ्रान्त, त्रस्त, त्रासित, वक्रान्त, अवक्रान्त तथा विक्रान्त।[7] पद्म पुराण में तिर्यञ्च नरक का उल्लेख आया है।[8]

[ii] मध्यलोक : इसका आकार वलय की भाँति होता है। इसमें बहुत से द्वीप और समुद्र विद्यमान हैं। इनके मध्य में लवण समुद्र से आवृत्त जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु पर्वत है। इसके अन्तर्गत सात क्षेत्र आते हैं—भरत, हैमवत,

---

१. हरिवंश ४।५-११
२. वही ४।१२-१७
३. पद्म १०५।११०-१११
४. वही १४।२४-३३, १०५।११२-१३६, १२३।५-११; महा १०।१८-१२०
५. महा ६७।३७६
६. हरिवंश १७।१५२
७. वही ३।११०-११८, ४।२४६-२५८
८. पद्म २०।१३६

हरिवर्ष, विदेह, रम्यक, हैरण्यक, ऐरावत। यहाँ पर बहुत से पर्वत और नदियाँ हैं।[1] महा पुराण के वर्णनानुसार संसार क्षण-क्षण में परिवर्तित होते हैं। इसलिए यह संसार विनश्वर कथित है।[2]

(iii) **ऊर्ध्वलोक** : इस लोक में देवता का निवास होता है। जैन पुराणों के उल्लेखानुसार मेरु पर्वत की चूलिका के साथ ही ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ हो जाता है। चूलिका के ऊपर-ऊपर स्वर्ग तथा ग्रैवेयक आदि हैं, जिनका विवरण क्रमशः निम्नवत् है—सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।[3] चौबीस तीर्थंकरों के लिए चौबीस स्वर्गों का उल्लेख पद्म पुराण में मिलता है।[4] हरिवंश पुराण में ऊर्ध्वलोक का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।[5]

महा पुराण के अनुसार जैनी आस्तिक होते हैं। परलोक के बिगड़ने के भय से वे धार्मिक क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। ऐसी मान्यता है कि उत्तम कर्म करने से स्वर्ग (ऊर्ध्वलोक) की उपलब्धि होती है।[6]

२. **षड्द्रव्य** : जैन दर्शन में षड्द्रव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके विषय में अग्रलिखित पंक्तियों में विवेचना की गयी है :

(i) **द्रव्य का स्वरूप** : द्रव्य का लक्षण सत् है। गुण और पर्याय के समूहों को भी द्रव्य कथित है। उदाहरणार्थ, जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख, ज्ञान आदि गुण हैं और नर, नारकी आदि पर्याय हैं। इसमें द्रव्य की गुण एवं पर्याय से पृथक् सत्ता नहीं है। अनादि काल से गुणपर्यायात्मक ही द्रव्य है। सामान्यतः गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य। जैन दृष्टि से सत् में उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता उपलब्ध हैं। अतएव प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें स्थिरता भी रहती है।

हरिवंश पुराण में द्रव्य के स्वरूप का उल्लेख करते हुए इसका निरूपण—सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव एवं अल्प-बहुत्व—इन आठ अनुयोग द्वारों

---

१. महा ४।४८-५६, ६२।१६-१७, ६२।१६१-१६२; हरिवंश १०।२६-३३, ५।५६-१७६

२. वही ५६।३७

३. हरिवंश ६।३५-३८; पद्म १०५।१६७-१६६

४. पद्म २०।३१-३५

५. हरिवंश ६।४३-५४; ६।११६-१२१

६. महा ५४।२६२

और—नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव—इन चार निक्षेपों से होता है। पुद्गल आदिक द्रव्य अपने-अपने लक्षणों से भिन्न हैं और सामान्यतः सभी उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप त्रिलक्षण से संयुक्त हैं।[1]

गुण के विषय में पद्म पुराण में उल्लिखित है कि एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीवों में बिना किसी विरोध के 'सत्त्व' सत्ता नामक गुण रहता है और वह अपने प्रतिपक्ष विरोधी तत्त्वों सहित होता है।[2] उत्तराध्ययन में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या; संस्थान, संयोग और विभाग—ये पर्याय के लक्षण वर्णित हैं।[3]

[ii] द्रव्य के प्रकार : जैन धर्म में कुल छः द्रव्य उपलब्ध होते हैं, जिनका उल्लेख जैन पुराणों ने किया है। ये छः द्रव्य अग्रलिखित हैं[4]—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। इनमें से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय और बहुप्रदेशी हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है, जिससे इसकी परिगणना पंचास्तिकायों के अन्तर्गत नहीं की जाती है।[5] चेतन और अचेतन की दृष्टि से द्रव्य के मुख्य दो प्रकार हैं : जीव और अजीव।

(अ) जीवद्रव्य : जैन ग्रन्थों में जीव द्रव्य की विशद् विवेचना मिलती है। इसके विषय में विस्तारशः विवरण निम्नवत् है :

(१) जीव के नाम : महा पुराण में जीव के लिए पर्यायवाची शब्द व्यवहृत हुए हैं—जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी। क्योंकि जीव वर्तमानकाल में जीवित है, भूतकाल में जीवित था और भविष्य-काल में जीवित रहेगा, इसलिए इसे 'जीव' अभिधा से अभिहित करते हैं। जीव में पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—ये दस प्राण विद्यमान रहते है, अतः यह प्राण का बोधक है। यह बार-बार अनेक जन्म ग्रहण करता है, अतएव

---

१. सत्सङ्ख्याद्यनुयोगैश्च सत्रमादिकमादिभिः।
द्रव्यं स्वलक्षणैर्भिन्नं पुद्गलादि त्रिलक्षणम्॥ हरिवंश २।१०८; तुलनीय—पंचास्तिकाय ८।११; प्रवचनसार २।७-१३; नियमसार ६

२. एकद्वित्रिचतुः पञ्चहृषीकेष्वविरोधतः।
सत्त्वं जीवेषु विज्ञेयं प्रतिपक्षसमन्वितम्॥ पद्म १०५।१४४

३. उत्तराध्ययन २८।१३

४. पद्म २।१५५-१५७, १०५।१४२; महा २४।८५-९१

५. महा ३।५-७

इसका नामकरण 'जन्तु' किया गया है। इसके स्वरूप को क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है, इसलिए इसे 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा से भी अभिहित करते हैं। पुरु (अच्छे-अच्छे भोगों) में शयन (प्रवृत्ति) करने से यह 'पुरुष' नाम से सम्बोधित किया जाता है। अपनी आत्मा को पवित्र करने से 'पुमान्' कहा जाता है। यह जीव नर-नारकादि पर्यायों में निरन्तर गमन करता है, इसलिए यह 'आत्मा' का बोधक है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से 'अन्तरात्मा' नाम से भी इसे सम्बोधित करते हैं। यह ज्ञानगुण सहित है, इसलिए 'ज्ञ' कहलाता है और इसी कारण 'ज्ञानी' भी कथित है।[1] जैन आगमों में जीव का पर्यायवाची नाम इस प्रकार बताया गया है—कर्त्ता, वक्ता, प्राणी, भोक्ता, पुद्गल-रूप, वेत्ता, विष्णु, स्वयंभू, शरीरी, मानव, सक्ता, जन्तु, मानी, मायावी, भोगसहित, संकुट, असंकुट, क्षेत्रज्ञ और अन्तरात्मा।[2]

(२) **जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व :** महा पुराण में आत्मा के अस्तित्व के विषय में उल्लिखित है कि आत्मा है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूत-चतुष्टय के अतिरिक्त ज्ञानदर्शन रूप चैतन्य की भी प्रतीति होती है। वह चैतन्य, शरीर रूप नहीं है और न शरीर चैतन्य रूप है, क्योंकि दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित्तस्वरूप (ज्ञानदर्शन रूप) है और शरीर अचित्त स्वरूप (जड़) है। जैसे तलवार म्यान में रहती है, वैसे शरीर में चैतन्य है। यह चैतन्य न तो पृथ्वी आदि भूत-चतुष्टय का कार्य है और न ही उसका कोई गुण ही है। क्योंकि दोनों की जातियाँ पृथक्-पृथक् हैं। यथार्थ में कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थों में ही होता है, विजातीय पदार्थों में नहीं। यह चैतन्य शरीर आदि का विकार नहीं हो सकता, क्योंकि भस्म आदि जो शरीर के विकार हैं उनसे वह विसदृश होता है। शरीर का विकार मूर्तिक होगा। परन्तु यह चैतन्य अमूर्तिक (रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से रहित) है, इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। जातिस्मरण, जीवनमरण रूप आवागमन और आप्तप्रणीत आगम से भी जीव का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।[3]

(३) **जीव का स्वतन्त्र महत्त्व :** हरिवंश पुराण के वर्णनानुसार जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं उससे मुक्त होता है।[4] पद्म पुराण के उल्लेखानुसार यह जीव आयु, स्त्री, मित्रादि इष्टजन,

---

१. महा २४।१०३-१०८
२. धवला १।१।१।२।८१-८२; फूलचन्द—श्रमण, आत्मवाद, लुधियाना, १९६५, पृ० ११९
३. महा ५।५०-७०
४. स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥ हरिवंश ५८।१२

माता, पिता, धन और भाई आदि को त्याग कर अकेला ही जाता है।[1] क्योंकि यह जीव अकेला ही उत्पन्न होकर मृत्यु भी एकाकी प्राप्त करता है।[2] यह प्राणी जिस योनि में जन्म ग्रहण करता है, उसी से वह स्नेह भी करने लगता है।[3] इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायों से आत्मा की सुरक्षा ही आत्मा का पालन करना है।[4] जीवों के परिणाम मन्द, मध्यम और तीव्र होते हैं, इसलिए हेतु में भेद होने से आस्रव भी मन्द, मध्यम और तीव्र होता है।[5] महा पुराण में आत्मा से कहा गया है कि हे आत्मन्। तू आत्मा के हितकर मोक्ष मार्ग में दुरात्मता को त्याग कर अपने आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा में परमात्मा रूप अपने आत्मा को ही स्वीकार कर।[6]

(४) जीव और आत्मा : महा पुराण में उल्लिखित है कि जिसमें चेतना पायी जाए वह जीव का बोधक है। वह अनादि, निधन, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता और शरीर के प्रमाण के बराबर है।[7] आत्मा है, क्योंकि उसमें ज्ञान का सद्भाव है, आत्मा अन्य जन्म ग्रहण करता है क्योंकि उसका स्मरण बना रहता है और आत्मा सर्वज्ञ है, क्योंकि ज्ञान में वृद्धि देखी जाती है।[8] पद्म पुराण के वर्णनानुसार—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख—यह चतुष्टय आत्मा का निज स्वरूप है।[9] हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख—ये सब चिदात्मक हैं, ये ही जीव के लक्षण हैं क्योंकि इनसे ही जीव की पहचान होती है।[10]

---

१. जीवितं····· जीवोऽयमेककः। पद्म ३५।१४५

२. एक एव भवभूत्प्रजायते मृत्युमेति पुनरेक एव तु। हरिवंश ६३।८२

३. पद्म ७७।६८

४. आत्मिकामुत्रिकापायात् परिरक्षणमात्मनः।
आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृण्महे॥ महा ४२।११३

५. हरिवंश ५८।८३

६. आत्मंस्त्वं परमात्मानम् आत्मन्यात्मानमात्मना।
हित्वा दुरात्मतामात्यनीनेऽध्वनि चरन् कुरु॥ महा ४६।२१५

७. चैतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः।
ज्ञाता द्रष्टा च कर्त्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः॥ महा २४।९२

८. अस्त्यात्मा बोधसद्भावात्परजन्मास्ति तत्स्मृतेः।
सर्वविच्चास्ति धीवृद्धेस्त्वदुपज्ञमिदं त्रयम्॥ महा ५४।२६५

९. अनन्तं दर्शनं ज्ञानं वीर्यं च सुखमेव च।
आत्मनः स्वमिदं रूपं तच्च सिद्धेषु विद्यते॥ पद्म १०५।१९१

१०. इच्छा द्वेषः प्रयत्नश्च सुखं दुःखं चिदात्मकम्।
आत्मनो लिङ्गमेतेन लिङ्ग्यते चेतनो यतः॥ हरिवंश ५८।२३

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार—इन चौदह मार्गणाओं से जीव का अन्वेषण या स्वरूप जानने का विधान जैन पुराणों में उपलब्ध है। मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों से उसका उल्लेख हुआ है। सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, भाव, अन्तर एवं अल्पबहुत्व—इन आठ अनुयोगों और प्रमाण, नय, निक्षेप एवं निर्देश आदि द्वारा जीव तत्त्व के स्वरूप का निरूपण करना चाहिए।[1]

ज्ञेय और दृश्य स्वभावों में जीव का जो अपनी शक्ति से परिणमन होता है वह उपयोग कहलाता है, यही जीव का स्वरूप है। ज्ञान दर्शन के भेदानुसार उपयोग दो प्रकार का होता है: (१) ज्ञानोपयोग—यह साकार (विकल्पसहित) पदार्थ का ज्ञान रखता है। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय, केवल ज्ञान, कुमति, कुश्रुत एवं कुअवधि आदि भेद से यह आठ प्रकार का होता है। (२) दर्शनोपयोग—यह अनाकार (विकल्परहित) पदार्थ का जानकार है। यह चक्षु, अचक्षु, अवधि एवं केवल के भेद से चार प्रकार का होता है।[2]

उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त, गुणवान्, स्वकर्मफल का भोक्ता, ज्ञाता, सुख-दुःख आदि से युक्त चारों योनियों में भ्रमण करने वाला, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से युक्त जीव का उल्लेख महा पुराण में हुआ है। इसी से इसका स्वरूप जानना चाहिए।[3] पद्म पुराण के वर्णनानुसार यह जीव बालू के कण, सूर्य एवं चन्द्र की किरण एवं आकाश के समान अनन्त है, यह अक्षय है।[4] उपशामिक क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयक और परिणामिक—ये पाँच भाव जीव के निज तत्त्व महा पुराण में वर्णित हैं, इन गुणों से जीव को जाना जाता है।[5] उक्त पुराण में—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पाँच स्थावर और एक त्रस—कुल छः जीवों के निकाय उल्लिखित हैं।[6]

---

१. महा २४।९५-९८; हरिवंश ५८।३६-३८; पद्म २।१५९-१६०

२. वही २४।१०१; पद्म १०५।१४७-१४८

३. वही ७१।१९४-१९६

४. जीवराशिरनन्तोऽयं विद्यते नास्य संशयः।
दृष्टान्तः सिकताकाशचन्द्रादित्यकरादिकः॥ पद्म ३१।१६

५. तस्योपशामिको भावः क्षायिको मिश्र एव च॥
स्व तत्त्वमुदयोत्थश्च पारिणामिक इत्यपि।
निश्चितो यो गुणैरेभिः स जीव इति लक्ष्यताम्॥ महा २४।९९-१००

६. पृथिव्यापश्च तेजश्च मातरिश्वा वनस्पतिः।
शेषास्त्रसाश्च जीवानां निकायाः षट्प्रकीर्तिताः॥ पद्म १०५।१४१

(५) जीव : प्रकार एवं स्वरूप : जीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व का बोधक है। यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञान का अंग (कारण) है और यही जीवों की मुक्ति का अंग है। सामान्यतः तत्त्व एक प्रकार का होता है, किन्तु जीव एवं अजीव के भेद से दो प्रकार का होता है। जीवों के संसारी जीव एवं मुक्त जीव के भेदानुसार तत्त्व के भी संसारी जीव, मुक्त जीव एवं अजीव भेद निर्मित हुए। संसारी जीव के दो प्रभेद हैं : भव्य जीव और अभव्य जीव। इस प्रकार तत्त्व के—मुक्त जीव, भव्य जीव, अभव्यजीव, अजीव आदि—चार भेद माने गये हैं। अन्य दृष्टि से जीव के दो भेद हुए : मुक्त जीव और संसारी जीव। इसी प्रकार अजीव के दो भेद : मूर्तिक अजीव और अमूर्तिक अजीव हैं। अतएव जीव और अजीव के भेदों को मिला देने से तत्त्व के चार भेद हुए। पंच अस्तिकायों (जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म एवं अधर्म) के भेद से तत्त्व के पाँच भेद होते हैं। इसमें काल को सम्मिलित करने पर तत्त्व के छः भेद हो जाते हैं। इस प्रकार तत्त्व के अनेक भेद हो सकते हैं।[१]

(i) संसारी जीव और उनके भेद : संसारी जीव के सामान्यतया दो भेद हैं—(१) स्थावर, (२) त्रस। पद्म पुराण में विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।[२] वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिक आदि स्थावर एवं शेष त्रस नाम से सम्बोधित होते हैं जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण आदि पाँच इन्द्रियों से युक्त हैं इन्हें पञ्चेन्द्रिय अभिधा से अभिहित करते हैं।

पोतज, अण्डज एवं जरायुज जीवों को गर्भजन्मा, देवों तथा नारकियों को उपपाद-जन्मा और शेष को सम्मूर्च्छन-जन्मा संज्ञा से अभिहित करते हैं। जन्म के आधार पर इनके तीन भेद हैं, परन्तु तीव्र क्लेश से जन्म होने के कारण योनियाँ अनेक कथित हैं।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस तथा कार्मण—ये पाँच शरीर होते हैं। ये शरीर आगे चलकर सूक्ष्मतर होते जाते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक आदि शरीर प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित हैं। तैजस एवं कार्मण—ये दो शरीर उत्तरोत्तर अधिक गुणित हैं और जीवों के साथ अनादिकाल से संलग्न हैं। इन पाँचों शरीरों में एक साथ केवल चार शरीर तक हो सकते हैं।

---

१. महा २४।८६-९१; पद्म २।१५५-१६०, १०५।१४५-१४८; तुलनीय—तत्त्वार्थ-सूत्र २।१०-१४; धवला ९।४।१।४५, ९।४।१।७६-७७; पंचास्तिकाय ३७।६९। १०९-१२२; उत्तराध्ययन ३६।४८

२. पद्म २।१५९-१९६, १०५।१४९-१५३

हरिवंश पुराण के अनुसार चौदह मार्गणा स्थान, चौदह गुण स्थान और चौदह जीव समास द्वारा जीव द्रव्य का ज्ञान होता है।[१] जैन पुराणों के अनुसार सांसारिक जीव के भव्याभव्य, सूक्ष्म, स्थूल, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, संज्ञी-असंज्ञी आदि भेद उपलब्ध होते हैं, परन्तु सिद्ध जीव इन भेदों से रहित हैं।[२] प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या, निर्देश और चौदह मार्गणाओं आदि से संसारी जीव का निर्धारण करना चाहिए।[३] संसारी जीव केवल दुःख का ही अनुभव करते हैं। पञ्चेन्द्रियों के विषयों से जो सुख होता है उन्हें संसारी जीव भ्रमवश सुख समझता है।[४] महा पुराण में विवृत है कि जो आठ कर्मों से बद्ध हैं उन्हें संसारी जीव का नाम प्रदत्त किया गया है।[५] इसी पुराण में उल्लिखित है कि त्रसकाय, वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय—इन छः से जीव का निर्माण होता है।[६] संसारी जीव सुख उपलब्धि की इच्छा से इन्द्रियजनित ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख और सुन्दरता को शरीर रूपी घर में ही अनुभव करने का प्रयत्न करता है।[७]

जैन पुराणों में विवेचित है कि अभव्य जीव मुक्तिप्रदायक शक्ति से रहित है और भव्य जीव को मुक्ति प्राप्त होती है।[८] पद्म पुराण में प्राणियों की दशाएँ-उत्तम, मध्यम एवं जघन्य—तीन प्रकार की वर्णित हैं। उनमें से अभव्य जीव की दशा जघन्य है, भव्य की मध्यम है और सिद्धों की उत्तम है।[९]

---

१. हरिवंश २।१०७

२. पद्म १०५।१४४-१४८; हरिवंश ३।१०१-१०६; महा २४।८७-९०

३. प्रमाणनयनिक्षेपसत्संख्यादिकिमादिभिः।
संसारी प्रतिपत्तव्यो मुक्तोऽपिनिजसद्गुणैः॥ हरिवंश ५८।३८; महा २४।९८

४. तत्र संसारिजीवानां केवलं दुःखवेदिनाम्।
सुखं संज्ञावमूढानां तत्रैव विषयोद्भवं॥ पद्म २।१६१

५. बद्धं संसारिणं प्राहुस्तैर्मुक्तो मुक्त इष्यते। महा ६७।५

६. त्रसान् हरितकायांश्च पृथिव्याप्पवनानलान्।
जीवकायानपापेभ्यस्ते स्म रक्षन्ति यत्नतः॥ महा ३४।१६४

७. संसारीन्द्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखचारुताः।
तन्वावासौ च निर्वेष्टु यतते सुखलिप्सयाः॥ महा ४२।५४

८. सिद्धिशक्तिविनिर्मुक्ता अभव्याः परिकीर्त्तिताः॥
भविष्यत्सिद्धयो जीवा भव्यश्च दमुपाश्रिताः॥ पद्म १०५।२०३
सद्दृष्टिज्ञानचारित्र·····अभव्यास्तद्विलक्षणाः। हरिवंश ३।१०१

९. स्थितयस्तिस्र·····जिनेदिशा। पद्म ३१।१०-११

हरिवंश पुराण के अनुसार अभव्य जीव राशि का संसार सागर व्यक्ति तथा समूह दोनों की अपेक्षा अनन्त है।[1] उक्त पुराण में संसारी जीव के संयत, संयतासंयत और असंयत भेदानुसार तीन प्रकार उपलब्ध होते हैं।[2] महा पुराण में ज्ञानावरणादि नामक संसारी जीव के आठ मूल कर्म का उल्लेख हुआ है और इसके एक सौ अड़तालीस (१४८) उपभेद हैं, इन्हीं से आबद्ध होने के कारण जीव का नामकरण संसारी जीव हुआ है।[3]

(ii) मुक्त या सिद्ध जीव : जैन पुराणों में सिद्ध जीव के विषय में वर्णित है कि सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र्य रूपी उपाय द्वारा जिन्होंने स्वयं को इस प्रकार सुयोग्य निर्मित कर मुक्ति को प्राप्त कर लिया है तथा जो स्वरूप को प्राप्त कर सिद्धिक्षेत्र लोक के अग्रभाग पर तनुवातवलय में स्थित हो गये हैं, वे सिद्ध नामक संज्ञा से अभिहित होते हैं। पाँच प्रकार का ज्ञानावरण, नौ प्रकार का दर्शनावरण, साता-असाता वेदनीय, अट्ठाइस मोहनीय, चार आयु, बयालीस नाम, दो गोत्र, पाँच अन्तराय कर्म, आठ गुण (सम्यक्त्व, अनन्त-केवलज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-वीर्य, अत्यन्त-सूक्ष्मत्व, स्वाभाविक अवगाहनत्व, अव्याबाध अनन्तसुख और अगुरुलघु), असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तिक, न्यून शरीरी, आकाश के समान, दुःखों से रहित, अपरिवर्तनीय आदि सुख स्वरूप होते हैं।[4]

पद्म पुराण के अनुसार ये तीन लोक के शिखर पर विराजमान, आत्मा के स्वरूपभूत स्थिति से युक्त, मोक्ष सुख के आधार; केवलज्ञान, केवलदर्शन, अवगाहन, अमूर्तिक, सूक्ष्मत्व, असंख्यातप्रदेशी, अपरिमित, धार्मिक, सिद्ध-धारक आदि गुणों से संयुक्त होते हैं।[5]

---

१. अनादिरपि चानन्त : सन्तनाद् व्यक्तितोऽपि च ।
अभव्यजीवराशीनां भवव्यसनसागरः ॥ हरिवंश ३।१०६

२. हरिवंश ३।७८

३. महा ६७।५-६

४. सद्दृग्बोधक्रियोपायसाधितोपेयसिद्धयः ।
× ×
वियुक्ता पञ्चभिर्मुक्ताः परिवर्तैः सुखात्मकाः ॥ हरिवंश ३।६७-७७;
पद्म १०५।२०३, महा २४।६७, ७१।१६६-१६७

५. स्थितांस्त्रैलोक्यशिखरे स्वयं परमभास्वरे ।
× ×
सर्वान् वन्दामहे सिद्धान् सर्वसिद्धिसमावहान् ॥ पद्म ४८।२००-२०७

महा पुराण में मुक्त जीव का जो सुख है, वह अतुल्य अन्तराय से रहित एवं आत्यन्तिक (अन्तातीत) होता है।[1] जो आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त हैं, उन्हें मुक्त जीव संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[2] पद्म पुराण में विवेचित है कि साधारण मनुष्यों की अपेक्षा राजा, राजाओं की अपेक्षा चक्रवर्ती, चक्रवर्तियों की अपेक्षा व्यन्तरदेव, व्यन्तरदेवों की अपेक्षा ज्योतिषदेव, ज्योतिषदेवों की अपेक्षा कल्पवासी देव, कल्पवासी देवों की अपेक्षा ग्रैवेयकवासी, ग्रैवेयकवासियों की अपेक्षा अनुत्तरवासी, अनुत्तरवासियों की अपेक्षा अनन्तानन्त गुणित सुखी सिद्ध जीव हैं। सिद्ध जीवों के सुख से उत्कृष्ट दूसरा सुख नहीं है।[3]

(iii) संसारी जीव की गतियाँ : जैन पुराणों के अनुसार प्राणी कर्मोदय के वशीभूत होकर स्थावर तथा त्रसकायों अथवा नरकादि चतुर्गतियों में क्लेश भोगते हुए भ्रमण करते रहते हैं।[4] इन प्राणियों का चौरासी लाख कुयोनियों तथा अनेक कुल-कोटियों में निरन्तर भ्रमण करने का उल्लेख हरिवंश पुराण में उपलब्ध है।[5] इसी लिए अपने कर्मों के अनुसार धनी, निर्धन, कोढ़ी आदि होते हैं।[6] यह जीव अपने-अपने योग्य स्थानों में एक सौ बीस कार्य प्रकृतियों से सदा बँधा रहता है। इन्हीं प्रकृतियों के कारण यह जीव गति आदि पर्यायों में बार-बार घूमता रहता है।[7] किन्तु मुक्त होने के उपरान्त उसे पुनः इन योनियों में न परिभ्रमण करना पड़ता है और न ही पुनः कर्मों से किसी भी स्थिति में बद्ध होना पड़ता है।

[ब] अजीव द्रव्य : जिन द्रव्यों में चैतन्य का अभाव है उन्हें अजीव द्रव्य की अभिधा प्रदान किया गया है। इसके पाँच प्रकार हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल।[8]

---

१. मुक्तस्यातुलमत्यन्तरायमात्यन्तिकं सुखम्। महा ६७।१०

२. संसारी मुक्त इत्यात्मा प्राहुस्तैर्मुक्ती मुक्त इष्यते। महा ६७।५

३. पद्म १०५।१८८-१९०; तुलनीय—उत्तराध्ययन ३६।५६, ३६।६५

४. हरिवंश १८।५३; पद्म ५।३३०-३३२

५. कुयोन्यशीतिलक्षासु चतुरभ्यधिकास्वमी।
अनेककुलकोटीषु बभ्रम्यन्ते तनूभृतः॥ हरिवंश १८।५६

६. पद्म १४।३९-४१

७. स विंशतिशतेनार्यकर्मणां स्वोचिते पदे।
जन्तुस्तैर्भ्राम्यते भूयो भूयो गत्यादिपर्ययः॥ महा ६२।३११-३१२

८. अजीवलक्षणं तत्त्वं पञ्चधैव प्रपञ्च्यते।
धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि॥ महा २४।१३२; पद्म २।१५७; हरिवंश ५८।५३

(१) पुद्गल : महा पुराण में वर्णित है कि पंचेन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जिसका यथार्थ ज्ञान हो उसे मूर्तिक संज्ञा प्रदत्त है। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का इन्द्रियों के द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, इसलिए पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं।[१] इसमें वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श का अनुभव होने के कारण इसका नामकरण पुद्गल हुआ है। पूरण (अन्य परमाणुओं का आकर मिलना) और गलन (पूर्व के परमाणुओं का बिछुड़ जाना) स्वभाव होने से पुद्गल नाम सार्थक है।[२] इसके दो भेद हैं—परमाणु और स्कन्ध (स्थूल)।[३]

(i) परमाणु : किसी वस्तु के सर्वाधिक लघु एवं अविभाज्य कण को परमाणु कहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों द्वारा इनका ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार के परमाणु नित्य और गोल होते हैं तथा पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं।[४] हरिवंश पुराण में विवेचित है कि जो आदि, मध्य एवं अन्त से रहित, अखण्डनीय, अतीन्द्रिय, मूर्त होने पर भी अप्रदेश-अद्वितीयक प्रदेशों से रहित हैं, उसे परमाणु संज्ञा से अभिहित करते हैं।[५] इसी पुराण में उल्लेख आया है कि परमाणु एक काल में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध, परस्पर बाधित न होने के कारण दो स्पर्शों को धारण करता है, अभेद्य है, शब्द का कारण है और स्वयं शब्द से रहित है।[६] परमाणु के छः भेद हैं—सूक्ष्मसूक्ष्म (स्कन्ध से पृथक् रहने वाला), सूक्ष्म (कर्मों के स्कन्ध), सूक्ष्मस्थूल (शब्द, स्पर्श, रस तथा गन्ध), स्थूलसूक्ष्म (छाया चाँदनी आतप आदि), स्थूल (पानी आदि तरल पदार्थ) और स्थूलस्थूल (पृथ्वी आदि)।[७]

(ii) स्कन्ध : स्निग्ध और रुक्ष अणुओं के समुदाय को स्कन्ध कथित है। पुद्गल द्रव्य का प्रसार दो परमाणु वाले द्वयणुक स्कन्ध से अनन्तानन्त परमाणुक महास्कन्ध तक होता है। छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी आदि इसके विभिन्न पर्याय हैं।[८]

---

१. महा २४।१४४
२. वही २४।१४५; हरिवंश ५८।५५-५६
३. वही २४।१४६; वही ५८।५५-५६
४. वही २४।१४८
५. हरिवंश ७।३२
६. वही ७।३३; तुलनीय—उत्तराध्ययन २८।१२, ३६।११-१५; तत्त्वार्थसूत्र ५।११
७. महा २४।१४६-१५३
८. वही २४।१४६-१४७; हरिवंश ५८।५५-५६, ७।३६

(२) **धर्म** : जैन पुराणों में वर्णित है कि जो जीव और पुद्गलों के गमन में सहायक हो उसे धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ, मछली के चलने में जल सहायक होता है; उसे प्रेरित नहीं करता उसी प्रकार धर्म भी गमन में सहायक होता है, उत्प्रेरित नहीं करता।[1]

(३) **अधर्म** : जो पूर्ववत् जीव और पुद्गल को स्थित होने में सहयोगी कारण हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। उदाहरणार्थ, वृक्ष की छाया पुरुष को ठहराती है, उस व्यक्ति को प्रेरित नहीं करती। उसी प्रकार अधर्म भी अधर्म स्थिर (रुकने) का कारण होता है, उसे प्रेरणा नहीं देते।[2]

धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्य अपनी इच्छा से गमन करते हैं और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गल के गमन करने और ठहरने में सहायक होकर प्रवृत्त होते हैं, स्वयं किसी के प्रेरक नहीं होते हैं।[3]

(४) **आकाश**: जैन पुराणों में उल्लेख आया है कि जो जीवादि पदार्थों को ठहरने के लिए स्थान प्रदान करता है, उसे आकाश की संज्ञा प्रदत्त है। वह आकाश स्पर्शरहित, अमूर्तिक, सर्वत्र व्याप्त और क्रियारहित है।[4]

(५) **काल** : आलोचित जैन पुराणों के वर्णनानुसार रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित व लघुता तथा गुरुता और वर्तना लक्षण को काल कहते हैं। यह वर्तना काल तथा काल से भिन्न जीव आदि पदार्थों के आश्रय रहती है और सब पदार्थों का जो अपने-अपने गुण तथा पर्याय रूप परिणमन होता है उसमें सहकारी कारण होती है जिस प्रकार कुम्हार के चक्र भ्रमण में उसके नीचे लगी हुई कील कारण होती है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी सब पदार्थों के परिवर्तन में कारण होता है।[5] हरिवंश पुराण के अनुसार परस्पर के प्रवेश से रहित कालाणु पृथक्-पृथक् समस्त लोक को व्याप्त कर राशि रूप में स्थित है। बहिरंग निमित्त काल द्रव्य है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान रूप—तीन प्रकार का समय होने से वे कालाणु तीन प्रकार के मान्य हैं और अनन्त समय के उत्पादक होने से अनन्त भी कहे जाते हैं। कारणभूत

---

१. महा २४।१३३-१३५; हरिवंश ५८।५४
२. वही २४।१३३-१३७; वही ५८।५४
३. गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे।
धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ॥ महा २४।१३४
४. महा २४।१३८; हरिवंश ५८।५४
५. वही २४।१३९-१४०; वही ७।१, ५८।५६; पद्म २०।७३-८२

कालाणुओं से समय की उत्पत्ति होती है।[1]

काल के भेद : इसके दो प्रकार हैं—व्यवहार काल और निश्चयकाल। व्यवहार काल से ही निश्चय काल का निर्णय होता है, क्योंकि मुख्य पदार्थ के रहते हुए ही वाह्लीक आदि गौण पदार्थों की प्रतीति होती है।[2] लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित लोकप्रमाण (असंख्यात) अपने अणुओं से इसका ज्ञान होता है और काल के वे अणु रत्नों की राशि के समान परस्पर में एक दूसरे से नहीं मिलते, सब पृथक्-पृथक् ही रहते हैं।[3] परस्पर में प्रदेशों के न मिलने से यह काल द्रव्य का नामकरण अकाय (प्रदेशी) हुआ है।[4]

काल के अन्य भेद के अनुसार यह दो प्रकार का होता है : संख्यात (संख्येय) काल और असंख्यात (असंख्येय) काल। संख्यात काल की संख्या या समय निश्चित रहता है, उदाहरणार्थ, मास, वर्ष, अट्ठ आदि। परन्तु जो वर्षों की संख्या से रहित है उसे असंख्येय काल कहते हैं, उदाहरणार्थ, पल्य, सागरकल्प तथा अनन्त आदि।[5]

३. सप्ततत्त्व एवं नौ पदार्थ : जैन पुराणों में सप्त तत्त्व एवं नौ पदार्थों की विवेचना अधोलिखित प्रकार से की गयी है :

[i] तत्त्व का अर्थ : तद् शब्द से त्व प्रत्यय होने पर तत्त्व शब्द निर्मित हुआ है। तत्त्व का अर्थ किसी वस्तु का भाव या धर्म कथित है। जिस वस्तु का जो भाव है वह उसका तत्त्व है।[6] प्रयोजनभूत वस्तु के स्वभाव से तत्त्व का बोध होता है। परमार्थ में एक शुद्धात्मा ही प्रयोजनभूत तत्त्व है। वह संसारावस्था में कर्मों से बँधा हुआ है। उसको उस बन्धन से मुक्त करना इष्ट है।

[ii] तत्त्व : प्रकार एवं स्वरूप : जैन दर्शन में सात तत्त्व मान्य हैं : (१) जीव; (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष।[7] इनमें पाप और पुण्य को सम्मिलित करने पर उन्हें नौ पदार्थ

---

१. हरिवंश ७।७-११
२. महा २४।१४१
३. वही २४।१४२
४. वही २४।१४३
५. हरिवंश ७।१९-३१; महा ३।२२२-२२७
६. तद् भावस्तत्त्वम्। सर्वार्थ सिद्धि २।१।१५०।११
७. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। तत्त्वार्थसूत्र १।४

सम्बोधित करते हैं।[1] ये तत्त्व केवल जीव और पुद्गल रूप हैं, क्योंकि यथार्थतः अपने द्रव्य क्षेत्रादि के द्वारा कर्त्ता तथा कर्म के अन्यत्व हैं अनन्यत्व नहीं है।[2] आस्रवादि (पाँच या सात तत्त्व) जीव व अजीव के पर्याय हैं।[3] जीव और अजीव तत्त्वों की विवेचना पूर्व ही कर चुके हैं। यहाँ पर अन्य तत्त्वों की विवेचना प्रस्तुत है।

(स) **आस्रव** : कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं। इसके द्वारा कर्म पुद्गलों का आस्रवण होता है। शरीरधारी जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ कर्म पुद्गलों को आकृष्ट करती हैं। मन, वचन, काय की क्रिया को योग कहते हैं। योग ही आस्रव का कारण होने से आस्रव कथित है। हरिवंश पुराण में काय, वचन और मन की क्रिया को योग अभिधा से अभिहित किया गया है। वह योग ही आस्रव कहलाता है। इसके शुभ योग शुभास्रव और अशुभयोग अशुभास्रव के कारण होते हैं।[4]

इसी पुराण के अनुसार आस्रव के स्वामी दो हैं : सकषाय (कषायसहित) और अकषाय (कषायरहित)। इसी प्रकार आस्रव के भी दो भेद हैं—साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव। मिथ्यादृष्टि से सूक्ष्मकषाय गुणस्थान तक के जीव सकषाय हैं और वे प्रथम साम्परायिक आस्रव के स्वामी हैं तथा उपशान्तकशाय से सयोग केवली तक के जीव अकषाय हैं और वे ईर्यापथ आस्रव के स्वामी हैं। पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, हिंसा आदि पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाएँ—ये साम्परायिक आस्रव के द्वार हैं।[5] पच्चीस क्रियाएँ इस प्रकार हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, प्रयोग, समादान, ईर्यापथ, प्रादोषिकी, कायिकी, क्रियाधिकारिणी, पारितापिकी, प्राणातिपातिकी, दर्शन, स्पर्शन, प्रत्यायिकी, समन्तानुपातिनी, अनाभोग, स्वहस्त, निसर्ग, विदारण, आज्ञा व्यापादिकी, अनाकाँक्षा, प्रारम्भ, पारिग्राहिकी, माया, मिथ्या और अप्रत्याख्यान।[6]

जीवों के परिणाम मन्द, मध्यम एवं तीव्र होने से आस्रव भी मन्द, मध्यम एवं

---

१. नियमसार ५।१२।१; उत्तराध्ययन २८।१४
२. पञ्चाध्यायी ३।१५२
३. पंचास्तिकाय १२८-१३०
४. हरिवंश ५८।५७
५. वही ५८।५८-६०
६. वही ५८।६१-८२

तीव्र होते हैं।[1] आस्रव के दो भेद हैं—जीवाधिकरण आस्रव और अजीवाधिकरण आस्रव।

(i) **जीवाधिकरण आस्रव** : इसके प्रारम्भ में तीन भेद—संरम्भ, समारम्भ तथा आरम्भ हैं। इनमें प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदिता (मनोयोग, वचनयोग, काययोग) और कषाय (क्रोध, मान, माया एवं लोभ)—कुल नव परस्पर गुणित होने पर छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। तीनों को संयुक्त करने से कुल एक सौ आठ भेद होते हैं।[2]

(ii) **अजीवाधिकरण आस्रव** : दो प्रकार की निर्वर्तना (मूल तथा उत्तर), चार प्रकार का निक्षेप (सहसा, दुष्प्रमृष्ट, अनाभोग तथा अप्रत्यवेक्षित), दो प्रकार का संयोग (भक्तपान तथा उपकरण), तीन प्रकार का निसर्ग (वाक्, मन, तथा काय) ये अजीवाधिकरण आस्रव के भेद माने गये हैं।[3]

(द) **बन्ध** : जीव और कर्म के परस्पर सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। महा पुराण में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्धन का कारण कथित है।[4] पद्म पुराण में वर्णित है कि क्रोध, मान, माया तथा लोभ—ये चार कषाय महाशत्रु हैं। जीव संसार में इनके द्वारा भ्रमण करता है।[5] आस्रव और बन्ध संसार के कारण हैं। कर्मसिद्धान्त विषयक प्रकरण में इसका विस्तारशः विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा। आस्रव और बन्ध संसार के कारण हैं।

(य) **संवर** : आस्रव का रुक जाना संवर है। इसके दो भेद हैं : भाव संवर एवं द्रव्य संवर।

(i) **भावसंवर** : संसार की कारणभूत क्रियाओं का अवरुद्ध होना भाव संवर है।

(ii) **द्रव्यसंवर** : कर्म रूप पुद्गल द्रव्य के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्यसंवर है। तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, पाँच चारित्र और बाईस

---

१. हरिवंश ५८।८३
२. वही ५८।८४-८५
३. वही ५८।८६-९०
४. महा १७।२२; महा पुराण, भाग २, पृ० ४६४
५. पद्म १४।११० तुलनीय—दशवैकालिक ८।३६-३८

परिषहजन्य—ये संवर के कारण हैं ।[1] कर्म सिद्धान्त में इसका विशेष विवरण उपलब्ध होगा ।

(र) निर्जरा : हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि विपाक और तप से कर्मों की निर्जरा होती है । इसी आधार पर इसके दो भेद किये गये हैं : विपाकजा निर्जरा एवं अविपाकजा निर्जरा ।

(i) विपाकजा निर्जरा—जीव का कर्म जब फल देकर स्वयं समाप्त-असम्बद्ध हो जाये, तब उसे विपाकजा निर्जरा संज्ञा प्रदान करते हैं ।

(ii) अविपाकजा निर्जरा : निश्चित समय से पूर्व जप-तप आदि उदीरणा द्वारा की गयी निर्जरा को अविपाकजा निर्जरा नाम से सम्बोधित करते हैं ।[2]

उक्त पुराण में उल्लेख आया है कि निर्जरा के साथ-साथ संवर के हो जाने पर स्वकृत कर्मों का क्षय कर जीव सिद्ध हो जाता है । प्रकारान्तर से निर्जरा के दो भेद इस प्रकार हैं—(१) अनुबन्धिनी निर्जरा—जिन कर्मों के उपरान्त पुनः कर्मों का बन्ध होता रहता है, उसे अनुबन्धिनी निर्जरा संज्ञा से अभिहित किया है । (२) निरनुबन्धिनी निर्जरा—जिस निर्जरा के बाद पूर्वकृत कर्म बिखरते तो हैं, परन्तु नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है, उसे निरनुबन्धिनी निर्जरा नाम प्रदत्त है । अनुबन्धिनी निर्जरा के दो उपभेद हैं—अकुशलानुबन्धिनी निर्जरा—नरकादि गतियो में जो प्रति-समय कर्मों की निर्जरा होती है, उसका बोध अकुशलानुबन्धिनी निर्जरा से होता है और कुशलानुबन्धिनी निर्जरा—संयम के प्रभाव से देव आदि गतियों में जो निर्जरा होती है, वह कुशलानुबन्धिनी निर्जरा की बोधक है ।[3] कर्मसिद्धान्त में इसका भी विस्तृत वर्णन समुपलब्ध होगा ।

(ल) मोक्ष : सांसारिक माया-मोह के कारण मनुष्य अपनी आत्मा की संतुष्टि के लिए धर्माधर्म का विचार न करते हुए अनेक प्रकार के कार्यों को करता है । वह अपने कर्मफलों को भोगता है और उसे संसार के आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती है । ऐसी स्थिति में हमारे चिन्तकों एवं मनीषियों ने संसार की नश्वरता एवं मनुष्य के भौतिक क्लेशों को देखकर इनसे छुटकारा पाने के साधनों का उल्लेख किया है । इसी प्रकार जैन पुराणों में इस सन्दर्भ में विस्तारशः विवरण निम्नवत् उपलब्ध होता है :

---

१. हरिवंश ५८।२६६-३०२, ६३।८६; तुलनीय—मूलाचार २४१ तथा ७४३
२. वही ५८।२६३-२६५
३. वही ६३।८६-८७

(i) महत्त्व : जैन पुराणों में जीवन की अन्तिम परिणति मोक्ष को माना है। इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए हरिवंश पुराण में इस संदर्भ में उल्लेख आया है कि सम्पत्ति हाथी के कान के समान चंचल है, संयोग प्रियजनों के वियोग से दुःखदायी है और जीवन-मरण के दुःख से नीरस है। एक मोक्ष ही अविनाशी है। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।[१] अन्यत्र उल्लिखित है कि निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक मुनि के बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा जो समस्त कर्मों का अत्यन्त क्षय होता है, वह मोक्ष का बोधक है।[२]

(ii) मोक्ष-प्राप्ति के साधन : आलोच्य जैन पुराणों में मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न उपायों का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा मोक्ष होता है और मोक्ष होने से जीव को सिद्ध सम्बोधित करने का वर्णन महा पुराण में उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने से मोक्ष का बोध होता है और एक देश का क्षय होना निर्जरा का बोधक है।[३] हरिवंश पुराण में धर्म को मोक्ष का कारण स्वीकार किया है।[४] जैन पुराणों के कथनानुसार मोक्ष का कारण तो तपश्चरण है।[५] महा पुराण की मान्यतानुसार छः बाह्य और छः आन्तरिक तपों के अनन्तर आयु के अन्त में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद सकषायता एवं संयोग केवली अवस्था को त्यागने के उपरान्त मोक्ष की उपलब्धि होती है।[६]

जैन पुराणों में वर्णित है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की एकता ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। इनमें से किसी एक की भी अनुपलब्धि से मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है।[७] उनका वर्णन निम्नवत् है :

(१) सम्यग्दर्शन : पद्म पुराण में वर्णित है कि तत्त्वों का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा तथा प्रत्यक्ष ही उदार मनुष्यों में दोषादि लगाना—ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार कथित हैं। परिणामों की

---

१. सम्पदत्र·····मोक्षमक्षयमतोऽर्जमेदबुधः। हरिवंश ६३।७०
२. बन्धहेतोरभावाद्धि·····निर्ग्रन्थरूपिणः। हरिवंश ५८।३०३
३. महा ६७।८-९
४. धर्म एष जिनभाषितः शिवप्राप्तिहेतुबधादिलक्षणः। हरिवंश ६३।९०
५. पद्म ८६।६; हरिवंश ६४।५१
६. महा ६२।१६८
७. पद्म १०५।२१०, १२३।४३-४६; महा २४।१२०, ७४।५४३; तुलनीय—तत्त्वार्थसूत्र १।१; दर्शनपाहुड ३०; मोक्षपाहुड ३४

स्थिरता, जिनायतन आदि धर्म क्षेत्रों में रमण, उत्तम भावनाएँ तथा शंकादि दोषों से रहित—ये सब सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के साधन हैं। महा पुराण में उल्लिखित है कि वीतराग, सर्वज्ञदेव, आप्तोपज्ञ, आगम और जीवादि पदार्थों का अत्यधिक निष्ठा से कृत श्रद्धान सम्यग्दर्शन का बोधक है। जीवादि सप्त तत्त्व, तीन मूढ़ता तथा आठ अंग सहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। प्रशम, संवेग, अस्तिकाय और अनुकम्पा—ये चार इसके गुण हैं और श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रत्यय—ये चार उसके पर्याय हैं। इसके—निःशंकित, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना—आठ अंग हैं। इसकी सम्पन्नता से जीवों को इस संसार में सर्वस्व की उपलब्धि होती है।[1]

(२) **सम्यग्ज्ञान** : सर्वज्ञ के शासन में कथित विधि का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान का बोधक है।[2]

(३) **सम्यक्चारित्र** : पूर्वोक्त विधियों के अनुकूल आचरण को सम्यक्-चारित्र नाम प्रदत्त है। इन्द्रिय-निग्रह, वचन एवं मन पर नियंत्रण, अहिंसा, कान एवं मन के आह्लादिक, स्नेहपूर्ण, मधुर, सार्थक तथा कल्याणकारी वचन; अदत्त वस्तु के ग्रहण में वचन, मन एवं काय से निवृत्ति एवं न्यायपूर्ण वस्तु को ग्रहण करना, ब्रह्मचर्य, दान, विनय, नियम, शील, ज्ञान, दया, दम तथा मोक्षार्थ ध्यान आदि सम्यक्चारित्र संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।[3] श्रावक तथा मुनि के आचार पर आधारित सम्यक्चारित्र के दो भेद किये जा सकते हैं।

(iii) **फल** : महा पुराण में वर्णित है कि उपयोग की शुद्धता से ही जीव-बन्धन के कारणों को विनष्ट करता है। इसके विनाश से उसे संवर एवं निर्जरा का अनुभव होने लगता है। इनकी पूर्णता पर जीव को मुक्ति या मोक्ष की उपलब्धि होती है।[4] पद्म पुराण में विवृत है कि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की आराधना के अनन्तर अन्त में समाधि के माध्यम से देवत्व की प्राप्ति होती है।[5]

(iv) **तीर्थंकरत्व प्राप्ति के साधन** : तीर्थंकर की प्राप्ति अधोलिखित सोलह

---

१. महा ६।१२१-१२४
२. पद्म १०५।२१५
३. वही १०५।२१५-२२४
४. महा २१।१६
५. पद्म ६।३३४

उपायों के चिन्तन से होती है[1] : (१) दर्शनविशुद्धि, (२) विनयसम्पन्नता, (३) शील-व्रतेष्वनीतचार, (४) संवेग, (५) त्याग, (६) तप (७) साधुसमाधि, (८) वैयावृत्य-(९) आवश्यकापरिहाणि, (१०) अर्हद्भक्ति, (११) आचार्यभक्ति, (१२) बहुश्रुत-भक्ति, (१३) प्रवचनभक्ति, (१४) अभीक्ष्णज्ञोपयोग (१५) मार्ग प्रभावना एवं (१६) प्रवचनवत्सलत्व।

तीर्थंकरत्व की प्राप्ति से जीव संसारी अवस्था में भी बहुत प्रभावशाली होता है। पृथ्वी स्वर्णमयी हो जाती है। तीर्थंकर के आठ प्रतिहार्य और चौंतिस महातिशय प्रकट होते हैं, जो हजारों सूर्यों से भी अत्यधिक देदीप्यमान होता है।[2] संसार में शान्तिपूर्ण वातावरण रहता है, व्याधि-विनाशक, दीप्ति प्रदायक है और इन्द्र अभिषेक करते हैं।[3] जैन दृष्टि से प्रत्येक भव्य जीव में तीर्थंकरत्व-प्राप्ति की सामर्थ्य विद्यमान होती है। अपनी साधना द्वारा वह तीर्थंकरत्व को प्राप्त कर सकता है।

(व एवं श) पुण्य और पाप : जैन कर्मवाद के अनुसार संसार का प्रत्येक कार्य कर्मजन्य नहीं होता बल्कि उनमें से कुछ घटनाएँ पौद्गलिक हैं, कुछ कालजन्य, कुछ स्वाभाविक, कुछ आकस्मिक या संयोगवश एवं कुछ वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रयत्नजन्य होती हैं। जैन कर्मवाद विशुद्ध व्यक्तिवादी है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। शुभ कर्म से पुण्य बन्ध उपलब्ध होता है तो अशुभ कर्म से पाप। इस प्रकार पुण्य एवं पाप शुभ एवं अशुभ कर्मों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।[4] महा पुराण में वर्णित है कि सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र्य तथा तप द्वारा पुण्य का उदय होता है।[5] इसी पुराण में पाप के विषय में उल्लिखित है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय से पाप का बन्ध उत्पन्न होता है।[6] हरिवंश पुराण में पाँच प्रकार के पाप का उल्लेख आया है—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रह।[7] इस प्रकार सप्ततत्त्वों में पुण्य और पाप को संयुक्त करने पर नौ पदार्थ हो जाते हैं।

---

१. पद्म २।१९२
२. वही १४।२६१-२६२
३. वही ८०।१४-१६
४. मोहन लाल मेहता—जैन धर्म दर्शन, वाराणसी, १९७३, पृ० ४७७-४८०
५. महा ७४।४८७
६. महा ७४।४८६
७. हरिवंश ३।८९

४. ईश्वर : जैनी दृष्टिकोण : महा पुराण में ईश्वर बोधक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं—विधि, स्रष्टा विधाता, देव, पुराकृत कर्म, परमात्मा तथा ईश्वर।[1] ईश्वर के अस्तित्व को जैनी स्वीकार नहीं करते हैं। जैन पुराणों में ईश्वर[2] के जगतकर्तृत्व को मान्यता उपलब्ध नहीं हुई है। जीवादि पदार्थों को अवगाहप्रद यह लोक अकृत्रिम, स्वतः निर्मित, नित्य, प्रलय रहित और अनन्त आकाश के मध्य स्थित है। लोगों की इस आशंका—'इस लोक का निर्माता कोई न कोई अवश्य है'—का समाधान जैन पुराणों में युक्तियों सहित प्रदत्त है। प्रथम, लोककर्ता को स्वीकार करने पर यह विचारणीय होगा कि सृष्टि के पूर्व वह कर्त्ता (ईश्वर) सृष्टि के बाहर कहाँ निवास करता था? किस जगह बैठकर वह लोक का सृजन करता था? यदि यह कहा जाये कि वह आधार रहित और नित्य है, तब उसने इस सृष्टि का निर्माण कैसे किया और निर्मित कर कहाँ स्थान प्रदान किया? द्वितीय, ईश्वर को निश्शरीर मानने पर वह स्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि एक ईश्वर भिन्न-भिन्न संसारों की रचना किस प्रकार कर सकता है। शरीर रहित (अमूर्त) ईश्वर से मूर्त वस्तुओं का निर्माण कैसे हो सकता है? क्योंकि लोक में प्रत्यक्ष द्रष्टव्य है कि मूर्तिक कुम्हार से ही मूर्तिक घटक की रचना होती है। तृतीय, जब संसार में समस्त पदार्थ कारण-सामग्री के बिना निर्मित नहीं किये जा सकते, तब ईश्वर उसके बिना ही लोक की रचना किस प्रकार कर सकेगा? यदि यह अनुमान कर लिया जाय कि प्रथमतः वह कारण-सामग्री का सृजन कर लेता है, तदनन्तर लोक सृष्टि करता है, तो यह भी समुचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इसमें अनवस्था-दोष उत्पन्न हो जाता है। यदि कारण-सामग्री स्वतः निर्मित हो जाती है, तब यह भी स्वयं सिद्ध है, उसका सृजन किसी ने नहीं किया है। यदि ईश्वर स्वतः सिद्ध है, तब लोक भी स्वयं सिद्ध है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि ईश्वर सामग्री के बिना मात्र इच्छा शक्ति से लोक सृष्टि करता है तब यह युक्ति शून्य है। यदि ईश्वर कृतकृत्य है (सब काम पूर्ण कर चुका है), तो उसे सृष्टि रचना की इच्छा ही क्यों होगी? यदि वह अकृतकृत्य है तो वह लोक निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता, जैसे अकृतकृत्य कुम्हार लोक सृजन नहीं कर सकता। ईश्वर को अमूर्तिक, निष्क्रिय, व्यापी और विकाररहित स्वीकार करने पर

---

१. विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्मपुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः॥ महा ४।३७

२. भगवान् के चार अनन्त चतुष्टय, ३४ अतिशय तथा आठ प्रातिहार्य ये ४६ गुण हैं। द्रष्टव्य—जितेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० १४१

वह लोक स्रष्टा नहीं हो सकता है, क्योंकि लोक को मूर्तिक निर्मित कर सकता है जो कि शेष (बाकी) अधिष्ठान में राग-द्वेषादि विकार से युक्त होकर सक्रिय हो। यदि ईश्वर स्वभावतः निष्प्रयोजन लोक सृष्टि करता है तब उसकी यह कृति निरर्थक सिद्ध होगी। कर्मानुसार यदि ईश्वर जीवों का सृजन करता है, तब वह ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार के कृत्यों से जुलाहे की भाँति वह परतंत्र हो जायेगा। यदि जीव के कर्मों के अनुसार सुख-दुःखादि स्वतः उत्पन्न होते रहते हैं तो ईश्वर निमित्त मात्र है, इस स्थिति में ईश्वर की पुष्टि करने का कोई तात्पर्य नहीं है। यदि सृष्टि के पूर्व जगत था तो स्वतः सिद्ध वस्तु के सृजन में ईश्वर ने क्यों व्यर्थ परिश्रम किया ? और यदि नहीं था तो आकाश कमल के समान सर्वथा असत् उसकी रचना कैसे हो सकती है ? यदि स्रष्टा ईश्वर मुक्त है तो वह राग-द्वेष से रहित होने के कारण जगत की सृष्टि नहीं करता और यदि वह संसारी है तो हम लोगों के समान ही उसका नामकरण ईश्वर न होगा, तब वह सृष्टि रचना किस प्रकार करेगा ? इस संसार में शरीर, इन्द्रियाँ, सुख-दुःखादि जितने भी पदार्थ दृष्टिगत होते हैं उन सब की उत्पत्ति चेतन आत्म से सम्बन्धित कर्मरूपी विधाता के द्वारा ही होती है। अतएव, संसारी जीव के आंगोपांग में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह सब निर्माण नामक कर्मरूपी विधाता की कुशलता से ही उत्पन्न होती है। ये संसारी जीव ही स्वकर्मोदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं। कर्मरूपी ईश्वर के बोधक—विधि, स्रष्टा, विधाता, देव, पुराकृत कर्म और ईश्वर आदि—शब्द पर्यायवाची हैं, इनके अतिरिक्त अन्य कोई लोक स्रष्टा नहीं है। ईश्वरवादी व्यक्ति आकाश आदि की सृष्टि ईश्वर के बिना मानते हैं, तब उनका यह कथन असंगत प्रतीत होता है कि संसार की सब वस्तुएँ ईश्वर के द्वारा ही सृजित हैं। इसलिए यह लोक काल द्रव्य की भाँति ही अकृत्रिम, अनादि, निधन तथा आदि-अन्त से रहित है।[1]

५. **कर्म सिद्धान्त** : जैन ग्रन्थों में कर्म पर विशेष बल दिया गया है। इसी मूलाधार पर जैन दर्शन का विशाल प्रासाद निर्मित है। आलोचित जैन पुराणों में जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसका विवेचन निम्नवत् है :

[i] **कर्म का महत्त्व** : भारतीय दर्शन में कर्म का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी वर्गों के दार्शनिक कर्म से प्रभावित रहे हैं।

---

१. महा ४।१५-३६; पद्म ११।२१७-२५६

कर्म के प्रभाव के महत्ता को देखते हुए कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने त्रुटिपूर्ण मत प्रतिपादित किये हैं। मैकडानल के मतानुसार पुनर्जन्म और कर्म के संयुक्त सिद्धान्त व्यक्ति को निष्क्रिय और अपने आप में सीमित कर देता है। डॉ० कीथ के कथनानुसार कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त व्यक्ति को भाग्यवादी बनाता है।[1] परन्तु उक्त दोनों मत अमान्य हैं। भारतीय विचारकों ने कर्म के साथ-साथ कर्त्तव्य के परिपालन को आवश्यक माना है। इसी लिए आलोचित पद्म पुराण में वर्णित है कि जो प्राणी जैसा कर्म करेगा, उसको वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। उसके कर्म का फल उसे ही मिलेगा।[2] पाण्डव पुराण में कर्म के महत्त्व पर बल देते हुए उपर्युक्त मत का समर्थन किया है।[3] जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्मानुसार फल का उल्लेख हुआ है।[4] बौद्ध धर्म में भी कर्मानुसार फल प्राप्ति को समर्थित किया है।[5]

[ii] कर्मबन्ध के कारण : मिथ्यात्व, अव्रताचरण (अविरति), प्रमाद, कषाय एवं शुभाशुभ योग आदि ही जीवों के कर्मबन्ध के कारण हैं। मिथ्यात्व के पाँच, अविरति के एक सौ आठ, प्रमाद के पन्द्रह, कषाय के चार और योग के पन्द्रह भेद कथित हैं।[6]

[iii] कर्मों के भेद एवं स्वरूप : कर्मों को मूल और उत्तरभेद में विभाजित किया जा सकता है—कर्मों के मूल के आठ भेद हैं और उत्तर भेद एक सौ आठ।[7] जैन आगमों और जैन पुराणों में आठ प्रकार के कर्मों का उल्लेख उपलब्ध है—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्म घातिकर्म हैं और शेष अघातिकर्म। घातिकर्म के विनष्ट होने पर केवलज्ञान और अघातिकर्म के विनाश पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।[8]

---

१. लक्ष्मी दत्त ठाकुर—प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, लखनऊ, १९६५, पृ० ५६
२. पद्म ९६।५; तुलनीय—सूत्रकृतांग १।२ (१)। ४; उत्तराध्ययन ४।३, ३३।२५
३. पाण्डव ७।२१८-२२४; दशाश्रुतस्कन्ध ५।१४-१५
४. मनु ४।१७३; गीता २।४७, ३।२०, ४-२०, १८।९; गीता-रहस्य, पृ० २८५-२८६
५. कमलाकान्त मिश्र—जातक माला : एक अध्ययन, इलाहाबाद, १९७७, पृ० १४६
६. महा ४७।३०९-३११
७. वही ४७।३११, १७।२२; हरिवंश ५८।१९२-२०१
८. पद्म १२२।७१, १०५।१७७; हरिवंश १८।३१; ५८।२१५-२१८; तुलनीय—तत्त्वार्थसूत्र ८।४; उत्तराध्ययन ३३।२-३

उदय, उपशम, क्षय और क्षमोपशम के भेद से कर्मों की अवस्था चार प्रकार की होती है।[1] हरिवंश पुराण में कर्म की उत्तर-प्रकृतियों की विस्तारशः विवेचना उपलब्ध है।[2] डॉ० मोहनलाल मेहता ने कर्म के ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया है—बन्धन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाचन तथा अबाध।[3]

जैन पुराणों में उल्लिखित है कि जिनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र सब प्रकार का यत्न करने पर भी कर्मों का क्षय नहीं होता है। तीन गुप्तियों का धारक एक मुहूर्त्त में कर्म को क्षीण कर देता है। वस्तुतः परमात्मा का दर्शन उन्हें ही उपलब्ध होता है जिनके कर्म क्षीण हो गये हैं।[4] विपाक और तप से कर्मों की निर्जरा होती है। इसके दो भेद हैं—(१) विपाकजा निर्जरा—इसके अन्तर्गत संसार में भ्रमित जीव का कर्म जब फलदायी होता है तब क्रम से उसकी निवृत्ति होती है। (२) अविपाकजा निर्जरा—इसमें आम आदि की तरह असमय में तप आदि उदीरणा द्वारा शीघ्र निर्जरा होती है। आस्रव का अवरुद्ध होना संवर कहलाता है। इसके भी दो भेद हैं : (१) भावसंवर : संसार की कारणभूत क्रियाओं की अक्रियाशीलता का नामकरण भावसंवर किया गया। (२) द्रव्य संवर : कर्मरूपपुद्गल द्रव्य के ग्रहण का विच्छेद हो जाना द्रव्य संवर का बोधक है। तीन गुप्तियाँ, पाँच समितियाँ, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, पाँच चारित्र और बाईस परीषहजन्य—ये अपने अवान्तर विस्तार सहित संवर के कारण कथित हैं।[5] अन्य के कारणों का अभाव तथा निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष का बोधक है।[6]

[iv] कर्मों का फल : कर्मानुसार फल प्राप्ति के कारण मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार का फल भी उसे उपलब्ध होता है। अपने पूर्वोपार्जित

---

१. उदयादिविकल्पेन कर्मावस्था चतुर्विधा। महा ६७।८

२. हरिवंश ५८।२२१-२६२

३. मोहनलाल मेहता—जैन धर्म-दर्शन, वाराणसी, १६७३, पृ० ४८६-४६१; नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य—जैन फिलास्फी : हिस्टोरिकल आउटलाइन, नई दिल्ली, १६७६, पृ० १५४

४. पद्म १०५।२०४-२०६

५. हरिवंश ५८।२६३-३०२; महा ५२।५५

६. बन्धहेतोरभावाद्धि निर्जरातश्च कर्मणाम्।
कात्स्न्र्येन विप्रमोक्षस्तु मोक्षो निर्ग्रन्थरूपिणः॥ हरिवंश ५८।३०३

कर्मों के अनुसार कोई आर्य होता है तो कोई म्लेच्छ। कोई धनाढ्य होता है और कोई अत्यन्त दरिद्र। कर्मों से घिरे अनेक प्राणी सैकड़ों कामना करते हुए दूसरे के घरों में अत्यन्त क्लेशपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। कोई धनाढ्य होकर भी कुरूप होता है तो कोई रूपवान होकर भी दरिद्र होता है। कोई दीर्घायु होता है तो कोई अल्पायु। कोई सर्वप्रिय तथा यशस्वी होता है और कोई अप्रिय एवं अपयशी होता है। कोई आज्ञा देता है और कोई उस आज्ञा का पालन करता है। कोई रण में प्रवेश करता है तो कोई पानी में गोता लगाता है। कोई विदेश जाता है तो कोई खेती करता है।[1] पूर्व कृत कर्म के उदय होने पर पति, पुत्र, पिता, नारायण या अन्य परिवार के लोग कुछ नहीं कर पाते।[2] संसार में कौन किसके लिए सुखकारी होता है? या कौन किसके लिए दुःखदायी है? और कौन किसका मित्र है? अथवा कौन किसका शत्रु है? यथार्थ में स्वकृत कर्म ही सुख या दुःख का प्रदायक होता है।[3] इसी लिए पद्म पुराण में निर्देशित है कि स्व-उपार्जित कर्मों का भोग करो।[4] इसी पुराण में उल्लिखित है कि इस लोक के कृत कर्मों का उपभोग परलोक में जीव करता है और पूर्वभव में किये हुए पुण्यकर्मों का फल इस भव में प्राप्त होता है।[5]

[v] **कर्म और पुनर्जन्म** : कर्म और पुनर्जन्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कर्म की सत्ता अंगीकार करने पर पुनर्जन्म अथवा परलोक की सत्ता भी स्वीकृत करनी पड़ती है। जिन कर्मों की फल-प्राप्ति इस जन्म में नहीं होती, उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य है। पुनर्जन्म एवं पूर्वभव अस्वीकार करने पर कृत कर्म का निर्हेतुक विनाश—कृतप्रणाश एवं अकृत कर्म का भोग—अकृतकर्मभोग मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी। इन्हीं दोषों से विमुक्ति के लिए कर्मवादियों को पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकृत करनी पड़ती है।[6]

हरिवंश पुराण में वर्णित है कि समस्त संसारी जीवों का समावेश चार

---

१. हरिवंश ४६।१७; पद्म १४।४१-४५

२. महा ६१।२३७; पद्म ६७।१५७

३. सुखं वा यदि वा दुःखं दत्ते कः कस्य संसृतौ।
मित्रं वा यदि वामित्रः स्वकृतं कर्म तत्त्वतः॥ हरिवंश ६२।५१

४. पद्म १७।८७

५. इह यत् क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते।
पुराकृतानां पुण्यानां इह सम्पद्यते फलम्॥ पद्म ४०।३७

६. मोहन लाल मेहता—जैन धर्म-दर्शन, पृ० ४६१

गतियों—मनुष्य, तैर्यग्योन, नरक और देव—में किया गया है। मृत्यु के बाद जीव स्वकर्मानुसार उपर्युक्त कथित चार गतियों में से एक में जन्म ग्रहण करता है।[1]

६. **अनेकान्तवाद और स्याद्वाद :** 'न' तथा 'एकान्त'—इन दो शब्दों से तत्पुरुष समास से अनेकान्त शब्द निर्मित हुआ है। अनेकान्त का अर्थ—किसी वस्तु का निश्चय न होना। अनेकान्त जैन दर्शन का मूलाधार है। अनेक ग्रन्थों में अनेकान्त के लक्षण प्रदत्त हैं। धवलापुस्तक में अनेकान्त का लक्षण वर्णित है कि—'अनेक धर्मों या स्वादों के एकरसात्मक मिश्रण से जो जात्यन्तरपना या स्वाद उत्पन्न होता है, वही अनेकान्त शब्द का वाच्य है।[2] सप्तभंगीतरंगिनी के अनुसार—'जिसके सामान्य विशेष पर्याय व गुणरूप अनेक अन्त या धर्म हैं वह अनेकान्तरूप सिद्ध होता है।'[3]

आलोचित पद्म पुराण में अनेकान्त की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि अनेकान्त में अनेक धर्म मिलकर एक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कार्यों के विधाता एवं पापों के विनाशक, स्वतः गुरु परन्तु स्वयं का कोई गुरु नहीं, सभी के नमस्कृत परन्तु किसी को प्रणाम न करने वाला, आदि एवं अन्त से रहित, आदि तथा अन्तिम योगी, स्वयं का परमार्थ न जानने वाले तथा दूसरे का परमार्थ करने वाले और पर्यायार्थिकनय से संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं तथा द्रव्यार्थिकनय से समस्त पदार्थों को नित्य माना गया है।[4] हरिवंश पुराण में वर्णित है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है।[5] महा पुराण में उल्लिखित है कि आत्मा एक नहीं है, अपितु प्रत्येक मनुष्य की आत्मा पृथक्-पृथक् है।[6]

जैन दर्शन एक वस्तु में अनन्त धर्म मानता है। इन धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर चयन करता है। वस्तु के जितने धर्मों का चयन हो सकता है, वे सभी धर्म वस्तु के अन्दर रहते हैं। ऐसा नहीं कि व्यक्ति अपनी इच्छा से उन धर्मों को पदार्थ पर आरोप करता है।

अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ कथंचित् है। किसी एक दृष्टि से वस्तु इस प्रकार हो सकती है, तो

१. हरिवंश ५८।२४२
२. धवला १५।२५।१
३. सप्तभङ्गीतरङ्गिनी ३०।२
४. पद्म ६।१८०-१८४
५. हरिवंश ५८।१९५
६. महा ५।८६

दूसरी दृष्टि से वस्तु का चयन दूसरी प्रकार होता है। इस कथन को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग करने के कारण ही हमारा कथन 'स्याद्वाद' कहलाता है। अतः अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन 'स्याद्वाद' है।

'स्याद्वाद' को 'अनेकान्तवाद' भी कहा गया है। क्योंकि 'स्याद्वाद' से जिसका कथन होता है वह अनेकान्तात्मक है। 'स्यात्' 'अनेकान्त' का द्योतक है। इसलिए 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' दोनों एक ही हैं।

महा पुराण में वर्णित है कि स्याद्वाद के कारण बाधा नहीं होती। भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान स्कन्धों में परस्पर कारण-कार्य भाव रहता है। इनमें कार्यकारण भाव रहने से यह एक अखण्ड सन्तान मानी जाती है।[1]

७. स्याद्वाद और सप्तभंगी : आलोचित महा पुराण के कथनानुसार कोई वस्तु न नित्य है, न क्षणिक है, न ज्ञान मात्र है और न अदृश्य होने से शून्य है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु तत्त्व और अतत्त्व अर्थात् अस्ति और नास्ति रूप है।[2] जब कोई वस्तु का पक्ष सत् होता है तो उसका विरोधी रूप असत् भी सामने आता है। तृतीय रूप सदसत् का होता है अनुभय अर्थात् न सत् न असत्। चतुर्थ पक्ष अव्यक्तव्य है। पाँचवा सत् अव्यक्तव्य, छठा असत् अव्यक्तव्य और सातवाँ सतसत् अव्यक्तव्य। जैन पुराणों में इसी सप्तभंगी—अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अव्यक्तव्य (अनुभव्य), अस्ति अव्यक्तव्य, नास्ति-अव्यक्तव्य और अस्ति-नास्ति-अव्यक्तव्य—का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि स्याद्वाद का कथन सात प्रकार से होता है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

८. नयवाद : श्रुत के दो उपयोग हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण या स्याद्वाद कहते हैं और विकलादेश को नय।[3]

[i] नय का लक्षण : पद्म पुराण में उल्लिखित है कि किसी एक धर्म को सिद्ध करना नय है।[4] हरिवंश पुराण में उल्लेख आया है कि वस्तु के अनेक स्वरूप

---

१. महा ६३।५६-६४

२. वही ३३।१३६, ५८।५६; पद्म १०५।१४३; हरिवंश ४६।४८

३. स्याद्वाद : सकलादेशो नयो विकलसंकथा। लघीयस्त्रय ३।६।६२;
उद्धृत—मोहनलाल मेहता—जैन धर्म-दर्शन, पृ० ३६५

४. पद्म १०५।१४३

हैं, उनमें से किसी एक निश्चित स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय का बोधक है।[1]

[ii] **नय : प्रकार एवं स्वरूप :** नय के दो भेद हैं : द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। इनमें से द्रव्यार्थिकनय यथार्थ है और पर्यायार्थिकनय अयथार्थ। दोनों मूल नय हैं और परस्पर सापेक्ष हैं।[2] वस्तु के निरूपण की जितनी भी दृष्टियाँ हैं, उनको उक्त दो दृष्टियों में ही विभक्त किया जाता है। द्रव्यार्थिकनय में सामान्य या अभेदमूलक सभी दृष्टियों का समावेश हो जाता है। विशेष या भेदमूलक जितने भी नय हैं, उन सभी का समावेश पर्यायार्थिकनय में होता है।

हरिवंश पुराण में नय के सप्त भेद उल्लिखित हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। इनमें से नैगम, संग्रह तथा व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूतनय पर्यायार्थिक नय के प्रभेद हैं।[3] इनके स्वरूप अधोलिखित हैं[4] :

(१) **नैगम नय :** पदार्थ के संकल्पमात्र का ग्रहण करने वाला नय ही नैगम नय है। उदाहरणार्थ प्रस्थ तथा ओदन आदि।

(२) **संग्रह नय :** अनेक भेद और पर्यायों से युक्त पदार्थ को एकरूपता प्राप्त कराकर समस्त पदार्थ का ग्रहण करना संग्रह नय है, जैसे सत् या द्रव्य।

(३) **व्यवहार नय :** संग्रह नय के विषयभूत सत्ता आदि पदार्थों के विशेष रूप से भेद करना व्यवहार नय है।

(४) **ऋजुसूत्र नय :** पदार्थ की भूत-भविष्य पर्याय को वक्र और वर्तमान पर्याय को ऋजु संज्ञा प्रदत्त है। जो नय पदार्थ की भूत-भविष्य रूप वक्र पर्याय का परित्याग सरल सूत्रपात के समान मात्र वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय संज्ञा से अभिहित है।

(५) **शब्द नय :** यौगिक अर्थ का धारक होने से लिंग, साधन (कारक), संख्या (वचन), काल और व्यभिचार को नहीं चाहता अर्थात् लिंग, संख्या आदि दोषों से वह सदा दूर रहता है। शब्द नय व्याकरणशास्त्र के अधीन रहता है।

---

१. नयोऽनेकात्मनि द्रव्ये नियतैकात्मसंग्रहः। हरिवंश ५८।३६

२. द्रव्यार्थिको यथार्थोऽन्यः पर्यायार्थिक एव च।
ज्ञेयौ मूलनयावेतावन्योन्यापेक्षिणौ मतौ॥ हरिवंश ५८।३६-४०

३. हरिवंश ५८।४१-४२

४. वही ५८।४३-४६

(६) **समभिरूढ़ नय :** जो शब्दभेद होने पर अर्थभेद स्वीकार करता है वह समभिरूढ़ नय है।

(७) **एवंभूत नय :** जो पदार्थ जिस क्षण में जैसी क्रिया करता है उसी क्षण में उसको उस रूप में कहना अन्य क्षण में नहीं—यह एवंभूत नय है। यह नय पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता है।

हरिवंश पुराण में आगे उल्लेख आया है कि द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ हैं। उक्त सातों नय प्रत्येक शक्ति के भेदों को स्वीकार करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म पदार्थ को ग्रहण करते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार तथा ऋजु—ये चार अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत—ये तीन शब्द नय हैं। इनके सैकड़ों उपभेद हैं। क्योंकि जितने वाक्य के मार्ग भेद हैं उतने नय हैं। इसलिए नयों की संख्या निश्चित है।[1]

---

१. हरिवंश ५८।५०-५२

[ख] धार्मिक पक्ष

१. मुनि का आचार या श्रमणाचार : जैन धर्म मूलतः निवृत्तिमूलक है। जैन धर्म में मुनियों एवं श्रमणों का विशेष स्थान है। आलोचित जैन पुराणों में इनसे सम्बन्धित अग्रलिखित विवरण उपलब्ध होते हैं :

[i] **मुनियों का महत्त्व :** महा पुराण में विवृत है कि साधुओं का समागम हृदय के संताप को विनष्ट कर परमानन्द की संवृद्धि कर मन की वृत्ति को संतुष्ट करता है, पाप का विनाश करता है, योग्यता की पुष्टि करता है, कल्याण की वृद्धि करता है, मोक्ष-मार्ग को बताता है,[१] जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित है, महा-तपश्चरण में लीन है और तत्त्वों के ध्यान में सदा लीन रहते हैं, ऐसे श्रमण (मुनि) उत्तम पात्र कहलाते हैं।[२] राजा के यहाँ मुनियों के उपस्थित होने पर वह स्वयं उनका पडगाह एवं प्रासुक आहार प्रदान कर आदर-सत्कार करता था और रानियाँ भी स्वयं मुनि की सेवा में तत्पर रहती थीं।[३] मुनि धर्म तो साक्षात् मोक्ष का कारण है।[४] पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ एवं तीन गुप्तियाँ मुनियों के धर्म हैं। जो मनुष्य मुनिधर्म से संयुक्त होकर शुभ-ध्यान में तत्पर रहते हैं, वे इस दुर्गन्धपूर्ण बीभत्स शरीर को त्याग कर स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[५] मुनि परोपकार की भावना से लोगों के पास जा-जा कर उन्हें मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते थे, यह उनका स्वभाव था।[६] मुनि यमी, वीतराग, निर्मुक्तशरीर, निरम्बर, योगी, ध्यानी, ज्ञानी, निःस्पृह और बुध हैं। अतः ये वन्दनीय होते हैं।[७] मुनियों के लिए मित्र, शत्रु, भाई, बान्धव आदि सब समान और सबके ऊपर समान दया वाले होते हैं।[८]

---

१. महा ६।१६०-१६३

२. सर्वग्रन्थविनिर्मुक्ता महातपसि ये रताः।
श्रमणस्ते परं पात्रं तत्त्वध्यानपरायणः॥ पद्म १४।५८

३. महा ६२।३४८-३५०; पद्म १०६।८६-८७; हरिवंश ५०।५६

४. मौनस्तु साक्षान्मोक्षाय कल्पये। हरिवंश १८।५१; पद्म ६।२६५

५. पद्म ४।४८-४६

६. महा ६।१६३

७. यमिनो वीतरागश्च निर्मुक्ताङ्गा निरम्बराः।
योगिनो ध्यानिनो वन्द्या ज्ञानिनो निःस्पृहा बुधाः॥ पद्म १०६।८८

८. वयं सर्वस्य सदयाः सममित्रारिबान्धवाः। पद्म १०६।११०

[ii] मुनियों के प्रकार : जैन आगमों में उत्तम चरित्र वाले मुनियों के श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दान्त, यति आदि नामार्थ व्यवहृत हुए हैं।[1] 'मन्' धातु से 'इ' प्रत्यय होकर अकार के उकार आदेश होने से मुनि शब्द निर्मित हुआ है। मुनि का अर्थ मननशील व्यक्ति होता है। हरिवंश पुराण में मुनियों के दस प्रकार[2] वर्णित हैं—(१) आचरण करने कराने एवं दीक्षा प्रदायक आचार्य[3] (२) पठन-पाठन की व्यवस्था रखने वाले उपाध्याय (३) जटाओं में लीख, जूँआ, छोटी-छोटी मरी मछलियाँ, कीड़े और महान् पञ्चाग्नि तप तपने वाले तपस्वी[4] (४) शिक्षा-ग्रहण करने वाले शैक्ष्य (५) रोगादि से ग्रस्त ग्लान (६) वृद्ध मुनियों के समुदाय रूप गण (७) दीक्षा प्रदत्त करने वाले आचार्य के शिष्य समूह रूप कुल (८) गृहस्थ, क्षुल्लक[5] [क्षुल्लक कोपीन तथा खण्ड वस्त्र (उत्तरीय) धारण करते थे और पीछी एवं कमण्डल रखते थे], ऐलक [केवल कोपीन पहनते थे और साधु की भाँति पीछी एवं कमण्डल रखते थे] तथा मुनियों के समुदाय रूप संघ (९) चिरकाल से दीक्षित गुणी मुनि रूप और निर्वाण को सिद्ध करने से साधु[6] और (१०) लोकप्रिय मनोज्ञ। पद्म पुराण में अर्हन्त, सिद्ध; आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच प्रकार के परमेष्ठियों का उल्लेख हुआ है।[7] मुनियों के अन्य प्रकार निम्नवत् हैं :

(१) यति : 'यम्' धातु से 'ति' प्रत्यय होने पर यति शब्द की उत्पत्ति हुई है। यति का अर्थ नियन्त्रित मन वाला। ये साधुजन सदा यही प्रयास करते थे कि संसार के समस्त जीव सदा सुखी रहें, इसी लिए इन्हें यति (यतते इति यतिः) संज्ञा से सम्बोधित करते थे।[8]

(२) पारिव्राजक : 'परि' उपसर्गपूर्वक व्रज्ज धातु से 'अ' प्रत्यय होने से परिव्रज्य शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, उसी में पुनः 'अण्' प्रत्यय होकर पारिव्रज्य शब्द

---

१. मूलाचार ८८६
२. हरिवंश ६४।४२-४४
३. पद्म १०६।८६
४. महा ७०।३२३-३२७; हरिवंश ६।१२४; पद्म ४।१२७-१२८
५. पद्म ७८।६५
६. वही १०६।८६
७. वही ८६।१०४
८. महा ६।१६६

निर्मित हुआ है। अच्छी तरह से त्याग करना पारिव्रज्य हुआ। जो सब कुछ अच्छी तरह से त्याग दे उसे पारिव्रजक कहते हैं। ये गेरुआ वस्त्र धारण करते थे। एक दण्ड सदैव अपने साथ रखते थे, स्नानादि से पवित्र होते थे तथा शिर मुड़ाये रहते थे।[1]

(३) **ऋषि** : 'ऋषि' धातु से 'इ' प्रत्यय होने पर ऋषि शब्द की उत्पत्ति हुई है। ऋषि का अर्थ ज्ञानशील व्यक्ति होता है। यथार्थ में जो जीवों की सुरक्षा में तत्पर थे, वे ही ऋषि कहलाते थे।[2] ऋद्धि पुरुष को ऋषि कहा गया है।[3]

(४) **भिक्षुक** : 'भिक्ष्' धातु से 'उक' प्रत्यय होकर भिक्षुक शब्द निर्मित हुआ है। भिक्षुक का शाब्दिक अर्थ भिक्षा माँगने वाला व्यक्ति होता है। पद्म पुराण में कथिक है कि गृहत्यागी एवं भिक्षा से भोजन करने के कारण भिक्षुक कहलाते थे।[4]

(५) **श्रमण** : कर्मों के नष्ट करने के कारण इनका नामकरण श्रमण किया गया था।[5]

(६) **क्षपण** : क्षीण राग और क्षमा सहित हो तप द्वारा अपने को कृश करने से क्षपण नाम प्रदत्त किया गया था।[6]

(७) **संन्यासी** : प्रायोपगमन नामक संन्यास धारण करने से संन्यासी संज्ञा से अभिहित किया गया था।[7]

(८) **अमोघवादी मुनि** : ये मुनि अमोघ परम्परा का निर्वाह करते थे।[8]

(९) **सिद्ध** : सिद्धों में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख विद्यमान रहता था।[9]

---

१. हरिवंश ९।१२७
२. ऋषयस्ते हि भाष्यन्ते ये स्थिताजन्तुपालने। पद्म ११।५८
३. चारित्रसार ४७।१; धवला पुस्तक ७।२०; प्रवचनसार २४९
४. पद्म १०९।९०
५. वही १०९।९०
६. वही १०९।८७
७. हरिवंश ६१।९३
८. वही ४२।५३
९. पद्म १०५।१९१

जैन आगमों में श्रमणों (मुनियों) के पाँच प्रकार कथित हैं—णिग्गंथ (निर्ग्रन्थ), सक्क (शाक्य), तावस (तापस), गेरुअ (परिव्राजक) और आजीविय (आजीविक)।[1]

निर्ग्रन्थ मुनियों के पाँच भेद हैं—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक।[2]

(१) **पुलाक मुनि** : जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हों तथा मूल व्रत में भी जो कहीं कभी पूर्णता को प्राप्त हों, वे धान्य के छिलके के समान पुलाक मुनि कहलाते थे।[3]

(२) **वकुश मुनि** : जो मूल व्रतों का तो अखण्ड रूप से पालन करते थे, परन्तु शरीर और उपकरणों को साफ-सुथरा रखने में लीन रहते थे, जिनका शरीर नियत था—जो अनेक मुनियों के परिवार से युक्त हों और मलिन—सातिचार चारित्र के धारक थे, उन्हें वकुश मुनि संज्ञा प्रदत्त किया गया था।[4] इनके दो उपभेद हैं—(१) शरीर वकुश—शरीर का संस्कार करने वाले और (२) उपकरण वकुश—उपकरण को चाहने वाले।[5]

(३) **कुशील मुनि** : प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील नामक कुशील के दो भेद होते हैं। जो मूलगुण और उत्तरगुण दोनों की पूर्णता से संयुक्त थे। परन्तु कदाचित् उत्तरगुणों की विराधना कर बैठते थे एवं संघ आदि परिग्रह से युक्त होते थे वे प्रतिसेवना कुशील थे। जिनके अन्य कषाय शान्त हो गये थे, केवल संज्वलन का उदय रह गया है, वे कषायकुशील कहलाते थे।[6]

(४) **निर्ग्रन्थ मुनि** : 'निर्' तथा 'ग्रन्थ' दो शब्दों से यह तत्पुरुष समास होकर निर्मित हुआ है। जिनकी ग्रन्थियाँ निकल गयी हैं उन्हें निर्ग्रन्थ नाम प्रदत्त है, अथवा जिसने ग्रन्थ को पढ़कर भुला दिया है (निरर्थक कर दिया है)। सब वस्तुओं

---

१. निशीथभाष्य १३।४४२०; बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति ।१।१४६०; आचारांगचूर्णी २०१, पृ० ३३०

२. पुलाको वकुशश्चैव कुशीलो गुणशीलवान्।
निर्ग्रन्थः स्नातकश्चेति निर्ग्रन्थाः पञ्चधा मताः॥ हरिवंश ६४।५८

३. हरिवंश ६४।५६

४. वही ६४।६०

५. सर्वार्थसिद्धि ६।४७।४६।१२

६. हरिवंश ६४।६१-६२

से विरक्ति के लिए निर्ग्रन्थ शब्द प्रयुक्त होता है। जिनके जल में खींची गयी दण्ड की रेखा के समान कर्मों का उदय अव्यक्त—अप्रकट रहता है तथा जिन्हें एक मुहूर्त्त के बाद केवल ज्ञान प्राप्त (उत्पन्न) होने वाला है, उन्हें निर्ग्रन्थ संज्ञा से सम्बोधित करते थे।[1] जो अपने शरीर में भी निःस्पृह हैं तथा कभी बाह्य विषयों में भी नहीं लुभाते और मुक्ति के लक्षण (चिह्न) स्वरूप दिगम्बर मुद्रा से विभूषित रहते थे उन्हें निर्ग्रन्थ नाम से सम्बोधित करते थे।[2] निर्ग्रन्थ मुनियों से उत्पन्न वचन कभी अन्यथा नहीं होते।[3] याचना न करना, बिना दिये कुछ ग्रहण न करना, सरलता रखना, त्याग करना, किसी चीज की इच्छा न करना, क्रोधादि का त्याग करना, ज्ञानाभ्यास करना, ध्यान करना—ये दिगम्बर के नियम निर्धारित हैं।[4]

(५) स्नातक मुनि : जिनके घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे केवली भगवान् को स्नातक नाम प्रदत्त किया गया था।[5]

[iii] मुनियों के कर्त्तव्य : मुनि लोग सूर्यास्त होने पर वहीं एक स्थान पर रुक जाते थे, एकान्त एवं पवित्र स्थान पर गाँव में एक दिन और नगर में पाँच दिन तक रहते थे, श्मशान या शून्य-गृह, वन्य जन्तुओं से युक्त जंगल, पर्वत की गुफा में निवास करते थे, पर्यङ्कासन, वीरासन या एक करवट से रात्रि व्यतीत करते थे, परिग्रह रहित, निर्ममत्व, निर्वस्त्र, विशुद्ध मोक्ष का ही मार्ग खोजते थे, त्रसकाय, वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय एवं अग्निकाय इन छः कायों की रक्षा करते थे, दीनता रहित, शान्त, परम उपेक्षा सहित, गुप्तियों के धारक एवं काम भोगों में कभी आश्चर्य नहीं करते थे, दूसरों द्वारा दिये गये विशुद्ध अन्न का भोजन कर-रूपी पात्र में ही करते थे, निषिद्ध आहार प्राण जाने पर भी नहीं लेते, घर का उल्लंघन न करके सरस या नीरस थोड़ा-सा आहार शरीर रक्षार्थ लेते थे, मुनियों की उत्कृष्ट भावना की प्रतीक्षा कर उसका अच्छी तरह निर्वाह करते थे।[6] जिनके समस्त कर्म नष्ट हो

---

१. अव्यक्तोदयकर्माणो ये पयोदण्डराजिवत्।
निर्ग्रन्थास्ते मुहूर्तेर्ध्वोद्भिद्यमानात्मकेवलाः॥ हरिवंश ६४।६३

२. पद्म ३५।११५; तुलनीय-औपपातिकसूत्र १४, पृ० ४६

३. न हि निर्ग्रन्थसम्भूतं वचनं जायतेऽन्यथा। पद्म ७६।६१

४. अयाचितमनादानमार्जवं त्यागमस्पृहाम्।
क्रोधादिहायनं ज्ञानाभ्यासं ध्यानं च सोऽन्वयात्॥ महा ६२।१५६

५. प्रक्षीणघातिकर्माणः स्नातकाः केवलीश्वराः॥ हरिवंश ६४।६४

६. महा ३४।१७४-२१८; पद्म १०६।१११-११६

गये हैं, जो सर्वबाधा से परे हैं, जो अनन्त सुख से सम्पन्न हैं, अनन्त ज्ञान एवं दर्शन जिनकी आत्मा में प्रकाशमान हैं, तीनों प्रकार से शरीर को नष्ट करने वाले, निश्चय से स्वभाव में स्थिर एवं व्यवहार से लोक-शिखर में विराजमान हैं, जो पुनरागमन से रहित हैं और जिनका स्वरूप शब्दों द्वारा अकथनीय है, वे सिद्ध थे ।[1]

घर से निकलकर दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त निरन्तर शास्त्र का अभ्यास करते हुए तपश्चरण के समय किसी प्रकार का आवरण न रखना, नियमित आवास में न रहना, कभी प्रमाद न करना, शास्त्रविहित कर्म का उल्लंघन न करना, परिग्रह न रखना, दीर्घावधि उपवास रखना, आभूषण रहित, कभी कषाय न करना, कोई प्रकार का आरम्भ न रखना, पाप न करना, गृहीत प्रतिज्ञाओं को खण्डित न करना, निर्ममत्व, अहंकार रहित, शठता रहित, जितेन्द्रिय, क्रोध रहित, अचंचल, निर्मल होकर क्रम-क्रम से केवल ज्ञानार्जन करते थे ।[2] आगे कथित है कि मुनियों में—संतोष, याचना का अभाव, परिग्रह का त्याग, अपने आपकी प्रधानता, पाणिपात्र (अपने हाथ) से आहार लेना, खड़े होकर भोजन करना, कायक्लेश को प्राप्त करना, अकिञ्चनता की प्रधानता, मोक्ष का साक्षात् कारण, दोष रहित, बलवान्, निर्विकार, उपद्रव रहित, दिगम्बर, स्नान न करना, एक वर्ष तक भोजन न ग्रहण करना, केश लुञ्चन करना, जितेन्द्रिय, गुप्तियों के रक्षक, सब की रक्षा करने वाले, महाव्रती, महान्, मोहरहित, इच्छा रहित, अभयदान देने वाले, सर्वहित करने वाले, सर्वहित-कारी ज्ञान-दान देने में समर्थ, आहार दान देने वाले, संसार सागर से पार होने वाले, मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले, दोनों हाथ उत्तान करना—ये गुण पाये जाते हैं ।[3] राग-द्वेष से रहित हृदय वाले मुनित्व को प्राप्त होते हैं ।[4] यही विचार उत्तराध्ययन सूत्र में भी उपलब्ध होता है कि पूर्वपरिचित संयोगों का परित्याग कर जो कहीं किसी वस्तु में स्नेह नहीं करता, स्नेह करने वालों के प्रति भी जो स्नेह नहीं दिखाता है, वह भिक्षु दोषों और प्रदोषों से मुक्त होता है ।[5]

मुनियों के अन्य प्रकार के धर्मों में धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करने में निरन्तर तत्पर रहना और परीषहों के आने पर मार्ग से च्युत न

---

१. पद्म १४।६८-६६
२. महा ६३।७३-७६
३. वही २०।८६-६६
४. पद्म ७८।२३
५. उत्तराध्ययनसूत्र ८।१-२

होने का वर्णन महा पुराण में उपलब्ध है ।[1] नवीन कर्मों का अर्जन बन्द कर दिया और पहले के संचित कर्मों का तप के द्वारा नष्ट कर देना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा वे केवलज्ञान को प्राप्त होते थे ।[2] सिद्धि-प्राप्त करने वालों की अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त अद्भुत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व एवं अगुरुलघुत्व—इन आठ सिद्ध-परमेष्ठी गुणों को ग्रहण करना चाहिए । इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव का भी चिन्तन करना चाहिए ।[3] मुनि लोग अपने शरीर में राग नहीं रखते थे, परिग्रहण रहित, धीरवीर एवं सिंह के समान पराक्रमी होते थे ।[4] मोक्षाभिलाषी मुनियों को चाहिए कि इस शरीर को न तो केवल कृष ही करें और न ही रसीले एवं मधुर मनोवांछित भोजन से पुष्ट करें ।[5] निर्ग्रन्थ मुनियों से उत्पन्न वचन कभी अन्यथा नहीं होते ।[6]

मुनियों के लिए जैन धर्म में २८ मूलगुण तथा ८४ लाख उत्तर गुणों की व्यवस्था प्रदत्त है । २८ मूलगुण (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) ब्रह्मचर्य, (५) परिग्रह त्याग, (६) ईर्या समिति, (७) भाषा समिति, (८) एषणा, समिति, (९) आदान निक्षेप समिति, (१०) व्युत्सर्ग समिति, (११) सामायिक, (१२) चतुर्विंशतिस्तव, (१३) वन्दन, (१४) प्रतिक्रमण, (१५) स्वाध्याय, (१६) कायोत्सर्ग, (१७) स्पर्शेन्द्रिय विजय, (१८) रसनेन्द्रिय विजय, (१९) घ्राणेन्द्रिय विजय, (२०) क्षुरिन्द्रिय विजय, (२१) श्रोत्रेन्द्रिय विजय, (२२) आजानत्व, (२३) अदन्त धावन, (२४) भूमि शयन, (२५) नग्नत्व, (२६) केश लुंचन, (२७) एक भोजन तथा (२८) खड़े होकर भोजन करना है । इसके अतिरिक्त ८४ लाख उत्तर-गुण हैं जिनमें मुनि आत्मज्ञान तथा तप द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करता है और कर्म क्षय करके अर्हन्त्य पद प्राप्त करता है ।[7]

[iv] मुनि-धर्म (नियम) : मुनि ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखरों पर आरूढ़ होकर प्रचण्ड सूर्य किरण को सहते हुए आतापन योग करते थे । पर्वतों के अग्रभाग

---

१. महा २०।१६६
२. पद्म ९।१२०
३. महा २०।२२३-२२४
४. पद्म १४।१७१-१७२
५. महा २०।५
६. न हि निर्ग्रन्थसम्भूतं वचनं जायतेऽन्यथा । पद्म ७९।६१
७. हेमचन्द्र कौंदेय—जैनाचार्य, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली, १९५४, पृ० ३३०

के चट्टानों की तप्त शिलाओं पर दोनों पैर रखकर दोनों भुजाएँ लटका कर खड़े होते थे। अत्यधिक ग्रीष्म-ऋतु में जब पृथ्वी तपी हुई धूलि से व्याप्त हो, वन दावाग्नि से जल रहे हों, तालाब सूख गये हों, दिशाएँ धुएँ के अन्धकार से व्याप्त हों ऐसे समय में मुनि आतापन योग करते थे। वे घनघोर वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे रात्रि व्यतीत करते थे। कठोर शीत ऋतु में खुले आकाश में शयन करते थे। शीत ऋतु में बर्फ के ऊपर निर्वस्त्र शयन करते थे।[1] पद्मपुराण में उल्लेख आया है कि वे चारित्र, धर्म, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, समिति और परिषह द्वारा महासंवर को प्राप्त होते हैं। नवीन कर्मों का अर्जन बन्द कर और संचित कर्मों का तप द्वारा नाश करके संवर एवं निर्जरा द्वारा केवल ज्ञान को प्राप्त होते हैं। अन्त में आठ कर्मों का नाश करके अनन्त सुख को प्राप्त होते हैं।[2] जैन पुराणों में मुनियों के सामान्य धर्म का निम्न विवेचन हुआ है :

(१) **पाँच महाव्रत** : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह त्याग—ये पाँच महाव्रत कहलाते हैं :

अहिंसा महाव्रत : मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, कायनियन्त्रण एवं विष्वाणसमिति (आलोकितपान भोजन)—ये पाँच अहिंसाव्रत हैं।[3]

सत्य महाव्रत : क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य का परित्याग करना तथा शास्त्रानुसार वचन कहना—सत्य महाव्रत का बोधक है।[4]

अचौर्य महाव्रत : परिमित आहार लेना, तपश्चरण के योग्य आहार लेना, श्रावक के प्रार्थना पर आहार लेना, योग्यविधि के विरुद्ध आहार न लेना और प्राप्त हुए भोजन में संतोष करना अर्थात् बिना दिये हुए द्रव्य को ग्रहण करना अचौर्य महाव्रत संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[5]

ब्रह्मचर्य महाव्रत : स्त्रियों की कथा का त्याग, उनके सुन्दर अंगोपांगों के देखने का त्याग, उनके साथ रहने का त्याग, पहले भोगे (उपभुक्त) भोगों के स्मरण का त्याग और गरिष्ठ रस का त्याग—ब्रह्मचर्य महाव्रत नाम प्रदत्त है।[6]

---

१. महा ३४।१५१-१६०
२. पद्म ६।२१६-२२१
३. हरिवंश २०।१६१; महा २।११६-११७; पद्म ४।४८
४. वही २०।१६२; वही २।११८; वही ४।४८
५. वही २०।१६३; वही २।११९; वही ४।४८
६. वही २०।१६४; वही २।२०; वही ४।४८

परिग्रहत्याग महाव्रत : पाँचों इन्द्रियों के बाह्य एवं आभ्यान्तर सचित्त-अचित्त पदार्थों में आसक्ति का परित्याग करना परिग्रह-त्याग (अपरिग्रह) महाव्रत का बोधक है।[1]

महा पुराण में उपर्युक्त–अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह–महाव्रतों के साथ छठा रात्रिभोजनत्याग को महाव्रत की संज्ञा प्रदत्त है।[2]

(२) पाँच समिति : पाँच समितियों के अन्तर्गत ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण एवं उत्सर्ग को सम्मिलित करते हैं :

ईर्या समिति : नेत्रगोचर जीवों के समूह को बचाकर गमन करना ईर्या समिति कहलाती है। इससे व्रतों में शुद्धता आती है।[3]

भाषा समिति : सदा कर्कश और कठोर वचन का परित्याग करना भाषा समिति है।[4]

एषणा समिति : शरीर की स्थिरता के लिए पिण्डशुद्धिपूर्वक मुनि के आहार ग्रहण को एषणा समिति कथित है।[5]

आदान निक्षेपण समिति : देखकर योग्यवस्तु का रखना और उठाना आदान निक्षेपण समिति कहलाती है।[6]

उत्सर्ग समिति : प्रासुक भूमि पर शरीर के भीतर का मल छोड़ना उत्सर्ग (प्रतिष्ठापन) समिति का बोधक है।[7]

(३) गुप्ति : मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाना अथवा उसमें कोमलता आ जाना—ये तीन गुप्ति हैं। इनका पालन (आचरण) बड़े आदर से करना चाहिए।[8]

---

१. हरिवंश २०।१६५; महा २।१२१; पद्म ४।४८

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तताम्।
राज्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन्॥ महा ३४।१६६

३. हरिवंश २।१२२; पद्म १४।१०८; महा ११।६५

४. वही २।१२३; वही १४।१०८; वही ११।६५

५. वही २।१२४; वही १४।१०८; वही ११।६५

६. वही २।१२५; वही १४।१०८; वही ११।६५

७. वही २।१२६; वही १४।१०८; वही ११।६५

८. पद्म १४।१०६; हरिवंश २।१२७; महा ११।६५

(४) **मूलगुण** : पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रिय दमन, छः आवश्यक कार्य (सामायिक, वन्दन, चतुर्विंशतिस्तव, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग) और सात व्रत (केश लुञ्चन, स्नान न करना, एक बार भोजन करना, खड़े-खड़े भोजन करना, वस्त्र धारण न करना, पृथ्वी पर शयन करना एवं दन्तमल दूर करने का त्याग करना)—इन अट्ठाइस मूल गुणों का पालन करना चाहिए ।[1]

(५) **उत्तर गुण** : मूल गुण के अतिरिक्त चौरासी लाख उत्तरगुणों का भी पालन करना चाहिए ।[2]

(६) **परीषह** : संवर के मार्ग से च्युत् न होने और कर्मों के क्षय हेतु जो सहन योग्य हों, वे परीषह हैं ।[3] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश, मशक, नाग्न्य, रीत, स्त्री, चर्या, निषधा, शय्या, क्षमा, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और दर्शन—ये बाईस परीषह होते हैं ।[4]

(७) **तप** : उपवास, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश-एवं विविक्तशय्यासन—ये छः बाह्य-तप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान—ये छः अन्तरंग तप होते हैं । ये सब धर्म कहलाते हैं ।[5] बाह्य तपों में कायक्लेश सर्वाधिक प्रधान है ।[6] हरिवंश पुराण में क्षमादि दस धर्म का उल्लेख उपलब्ध है ।[7]

(८) **अनुप्रेक्षा** : शरीरादि अनित्य है, कोई किसी का शरण नहीं है, शरीर अशुचि है, शरीर रूपी पिंजड़े से आत्मा पृथक् है, यह अकेला ही दुःख-सुख भोगता है, संसार के स्वरूप का चिन्तवन करना, लोक की विचित्रता का विचार करना, आस्रव के दुर्गुणों का ध्यान करना, संवर की महिमा का चिन्तन करना, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का उपाय सोचना, बोधि (रत्नत्रय) की दुर्लभता का विचार करना

---

१. महा १८।७०-७२; हरिवंश २।१२७-१२६; पद्म ३७।१६५

२. वही ३६।१३५; २१गुण × ४ अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार × १०० जीव समास × १० शील विराधना × १० आलोचना के दोष × १० धर्म = ८४,००,००० जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृ० ४०५

३. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परिषहाः । तत्त्वार्थसूत्र ६।८

४. हरिवंश ६३।६१-११४; महा २०।१६६; पद्म ६।२१६

५. पद्म १४।११४-११७; हरिवंश ६४।२१-५७; महा १८।६७-६६

६. महा २०।१८३

७. अनुप्रेक्षाश्च धर्मश्च क्षमादिदशलक्षणः । हरिवंश २।१३०

और धर्म का माहात्म्य सोचना—ये बारह अनुप्रेक्षा (भावनाएँ) कही गयी हैं, इन्हें सदा हृदय में धारण करना चाहिये।[1]

(९) चारित्र : जैन आगम में चारित्र के अन्तर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति मिलकर कुल तेरह होते हैं।[2] परन्तु जैन पुराणों में केवल पाँच का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात—ये पाँच प्रकार के भेद हैं। (१) सब पदार्थों में समताभाव रखना तथा सब प्रकार के सावद्ययोग का पूर्ण त्याग करना सामायिक चारित्र है। (२) अपने प्रमाद के द्वारा किये हुए अनर्थ का सम्बन्ध दूर करने के लिए जो समीचीन प्रतिक्रिया होती है, छेदोपस्थापना चारित्र है। (३) जिसमें जीव हिंसा के परिहार से विशिष्ट-शुद्धि होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र का बोधक है। (४) सम्पराय कषाय को कहते हैं, ये कषाय जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म रह जाती है वह पाप को दूर करने वाला सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहलाता है। (५) जहाँ समस्त मोह कर्म का उपशम (क्षय) हो चुकता है उसे यथाख्यात (अथाख्यात) को चारित्र संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[3]

(१०) कषाय : पद्म पुराण में वर्णित है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय महा शत्रु हैं, इन्हीं के द्वारा जीव संसार में परिभ्रमण करता है।[4]

[v] मुनि-संघ : सम उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु से 'अ' प्रत्यय होकर हन् को 'घ' आदेश होकर संघ शब्द की उत्पत्ति हुई है। संघ का अर्थ समूह है। प्राचीन भारत में जैन श्रमणों का संघ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अद्वितीय संगठन था। वस्तुतः समस्त भारत के इतिहास में बौद्ध धर्म के उदय से भी पूर्व जैन संघ का संगठित संघ था। जैन संघ चार भागों में विभक्त था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका।[5]

जैन पुराणों के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि उस समय 'मुनि-संघ'[6] हुआ करते थे, जिसमें मुनिगण निवास करते थे। इनकी संख्या एवं व्यवस्था के

---

१. पद्म १४।२३७-२३९
२. द्रव्यसंग्रह मूल ४५
३. हरिवंश ६४।१५-१९; पद्म ९।२१९; महा २१।९८
४. पद्म १४।११०
५. जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी १९६५, पृ० ३८९
६. हरिवंश १२।६, २०।९

विषय में पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता। हरिवंश पुराण में मुनियों के सात प्रकार के संघ का उल्लेख उपलब्ध होता है, जो कि नाना प्रकार के गुणों से परिपूर्ण थे।[1] पद्म पुराण में चार प्रकार के संघ का संदर्भ द्रष्टव्य है।[2] मुनि संघ की निन्दा करने पर मृत्यु तथा स्तुति करने पर दीर्घायु होने का वर्णन पद्म पुराण में हुआ है।[3]

[vi] मुनि-दीक्षा : मुनि संघ में प्रवेश के पूर्व कतिपय संस्कार प्रतिपादित करने पड़ते थे। पद्म पुराण में कथित है कि दीक्षा लेने के पूर्व माता-पिता तथा बन्धुजनों से आज्ञा लेनी पड़ती थी और इसके उपरान्त 'नमः सिद्धेभ्यः'—सिद्धों को नमस्कार—ऐसा कहकर दीक्षा ग्रहण करते थे। जैन पुराणों का कथन है कि तदनन्तर वे पञ्चमुष्ठियों से शिर के बालों का लुंचन करते थे।[4] पद्म पुराण के अनुसार दीक्षा के लिए कोई आयु निश्चित नहीं थी।[5]

[vii] पतित (भ्रष्ट) मुनि : उस समय सामान्यतः मुनिगण मुनि-धर्म का पालन करते थे, परन्तु भ्रष्ट मुनियों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है जो कि वेश्याओं द्वारा भ्रष्ट होते थे। भ्रष्ट मुनियों को मुनिपद का परित्याग करना पड़ता था।[6] पक्ष, महीना आदि निश्चित समय तक अपराधी मुनि को संघ से दूर कर देते थे, इसे परिहार-प्रायश्चित कहते हैं। इसके बाद दोष शान्त होने पर पुनः नवीन दीक्षा देना उपस्थापना नामक प्रायश्चित है। जिसे उपासना दण्ड दिया गया था, उसे संघ के सब मुनियों को नमस्कार करना पड़ता था, क्योंकि वे नवीन दीक्षित होते थे।[7] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी मुनि भ्रष्ट होते थे। उन्हें सुशासित करने के लिए कठोर नियम की व्यवस्था थी। जिसमें वे संयमित होते थे। मुनि ही समाज के आदर्श थे।

---

१. सङ्घः परिषदि श्रीमान् बभौ सप्तविधस्तदा।
विचित्रगुणपूर्णानामृषीणां वृषभेशिनः॥ हरिवंश १२।७१

२. पद्म ६७।६७, ३६।६५-६७

३. पद्म ३।२८२, ५।२८६, ५।२६३

४. इत्यदीर्यं जगृहे मुनिस्थितिं पञ्चमुष्टिभिरपास्य मूर्धजान्। हरिवंश ६३।७४
चकारासौ परित्यागं केशानां पञ्चमुष्टिभिः॥ पद्म ३।२८३

५. पद्म ४१।११८

६. हरिवंश २७।१०१; तुलनीय—सूत्रकृतांगटीका ४।१-२; निशीथभाष्य १।५५६-५५६

७. पक्षमासादिभेदेन दूरतः परिवर्जनम्।
परिहारः पुनर्दीक्षा स्यादुपस्थापना पुनः॥ हरिवंश ६४।३७

२. **योग :** प्राचीन काल से योग का विशेष स्थान रहा है। आलोचित जैन पुराणों में योग के विषय में अग्रलिखित सामग्री उपलब्ध होती है :

[i] **योग की व्युत्पत्ति :** 'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से योग शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। 'युज् धातु के दो अर्थ हैं—संयोजित करना अथवा जोड़ना और समाधि अथवा मनः स्थिरता।

[ii] **योग के लक्षण :** कर्मों के संयोग के कारण मूल जीवों के प्रदेशों का प्रतिस्पन्दन योग कहलाता है अथवा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के प्रति जीव का उपयोग या प्रयत्न विशेष योग का बोधक है, जो एक होता हुआ भी मन, वचन आदि के निमित्त की अपेक्षा तीन या पन्द्रह प्रकार का होता है। जैन पुराणों में काय, वचन तथा मन की क्रिया को योग कहते हैं।[1] पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।[2] बौद्ध-विचारक आचार्य हरिभद्र ने योग का अर्थ समाधि किया है।[3]

जैनागम में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को 'आस्रव' कहा गया है।[4] आस्रव के निरोध करने का नाम 'संवर' है।[5] इसलिए पतञ्जलि के योग-सूत्र में जिसे 'चित्तवृत्ति' कथित है, जैन परम्परा में उसे 'आस्रव' नाम प्रदत्त है।

[iii] **योग : प्रकार एवं स्वरूप :** महा पुराण में छः प्रकार के योगों का निरूपण करते हुए योग, समाधान, प्राणायाम, धारणा, आध्यान (चिन्तवन), ध्येय, स्मृति, ध्यान का फल, ध्यान का बीज तथा प्रत्याहार की समीक्षा की गयी है।[6]

(१) **योग :** मन, वचन तथा काय की क्रिया को योग संज्ञा प्रदत्त है। इसके शुभ तथा अशुभ दो भेद हैं।[7]

---

१. कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः। महा २१।२२५; हरिवंश ५८।५७
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पातञ्जल योगसूत्र १।२
३. मोक्खेण जोयणाओ जोगो। योगविंशिका, गाथा १
४. पंच आसवदारा पण्णता, तं जहा-मिच्छत्तं अविरई, पमायो, कसाया, जोगा। समवायांग, समवाय ५
५. आस्रव-निरोधः संवरः। तत्त्वार्थसूत्र ९।१
६. षड्भेद योगवादी यः सोऽनुयोज्यः समाहितैः।
योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः॥
का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः।
किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः॥ महा २१।२२३-२२४
७. कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः।
स शुभाशुभभेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते॥ महा २१।२२५

(२) **समाधान या समाधि :** उत्तम परिणामों में चित्त का स्थिर रहना है, उसे यथार्थ में समाधान या समाधि संज्ञा प्रदत्त है अथवा पंच परमेष्ठियों के स्मरण को भी समाधि अभिधा प्रदत्त है।[1]

(३) **प्राणायाम :** मन, वचन तथा काय इन तीनों योगों का निग्रह करना अथवा शुभ भावना रखना प्राणायाम का बोधक है।[2]

(४) **धारणा :** शास्त्रों में वर्णित बीजाक्षरों की अवधारणा को धारणा कथित है।[3]

(५) **आध्यान :** अनित्यत्व आदि भावनाओं का बार-बार चिन्तवन करना आध्यान का बोधक होता है।[4]

(६) **ध्येय :** मन तथा वचन के अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आत्म-तत्त्व है उसे ध्येय नाम प्रदत्त है।[5]

(७) **स्मृति :** जीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का स्मरण करना अथवा सिद्ध तथा परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करना स्मृति कहलाती है।[6]

(८) **ध्यान का फल :** ध्यान करने वाले योगी के चित्त के संतुष्ट होने से जो परमानन्द की प्राप्ति होती है, वही सर्वाधिक ऐश्वर्य है, फिर योग से होने वाली अनेक ऋद्धियों का तो कहना ही क्या है? अर्थात् ध्यान के प्रभाव से हृदय में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही ध्यान का सर्वोत्कृष्ट फल है।[7]

(९) **ध्यान का बीज :** 'अर्हं, अर्हद्भ्यो नमः, नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत्परमेष्ठिने और अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः'—ये ध्यान के बीजाक्षर हैं। इनका ध्यान करने से मोक्ष की उपलब्धि होती है।[8]

---

१. यत्सम्यक्परिमाणेषु चित्तस्या धानमञ्जसा।
स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्॥ महा २१।२२६
२. प्राणायामो भवेद् योगनिग्रहः शुभभावनः। वही २१।२२७
३. धारणा श्रुतिनिर्दिष्टबीजानामवधारणम्। वही २१।२२७
४. आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिन्तनैः। वही २१।२२८
५. ध्येयं स्यात् परमं तत्त्वमवाङ्मनसगोचरम्। वही २१।२२८
६. स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता।
गुणानुस्मरणं वा स्यात् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम्॥ वही २१।२२९
७. योगिनः परमानन्दो योऽस्यस्याच्चित्त निर्वृते।
स एवैश्वर्य पर्यन्तो योगजाः किमुतर्द्धयः॥ वही २१।२३७
८. महा २१।२३१-२३६

(१०) **प्रत्याहार** : मन की प्रवृत्ति का संकोच कर लेने पर जो मानसिक संतोष प्राप्त होता है उसे प्रत्याहार की अभिधा प्रदत्त है।[1]

३. **ध्यान** : भारतीय समाज एवं सम्प्रदायों में मोक्ष उपलब्धि के साधनों में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में इसका विशद विवरण उपलब्ध होता है। हम अग्रलिखित पंक्तियों में इसका विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं :

[i] **ध्यान की व्युत्पत्ति** : ध्या धातु में अन् प्रत्यय लगाने से ध्यान शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ है किसी विषय में मन लगाना। एकाग्रता का नाम ध्यान है। व्यक्ति जिस समय जिस भाव का चिन्तन करता है, उस समय वह उस भाव के साथ तन्मय होता है। इसलिए जिस किसी भी देवता या मंत्र या अर्हन्त आदि को ध्याता है, उस समय वह अपने को वह ही प्रतीत होता है। योग, ध्यान, समाधि, धीरोध (बुद्धि की चंचलता को रोकना), स्वान्तः निग्रह (मन को वश में करना) अन्तः संलीनता (आत्मा के स्वरूप में लीन होना) आदि ध्यान के पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

[ii] **ध्यान के अंग** : ध्यान के मुख्यतया तीन अंग हैं—ध्याता, ध्यान तथा ध्येय। इनका विवरण अधोलिखित है :

(१) **ध्याता** : धर्म व शुक्लध्यानों को ध्याने वाले योगी को ध्याता संज्ञा प्रदत्त है। यदि ध्यानकर्त्ता मुनि चौदह या दस या नौ पूर्व का ज्ञाता हो तो ध्यान सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। इसके अतिरिक्त अल्प श्रुतज्ञानी, अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणी के पूर्व का धर्म-ध्यान धारक उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता संज्ञा से सम्बोधित होता है।[3] आर्त्त और रौद्र ध्यानों से दूर, अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित, अप्रमत्त अवस्था की भावना भरने वाला, बुद्धि के पार को प्राप्त, योगी, बुद्धिबलयुक्त, सूत्रार्थ अवलम्बी, धीरवीर, समस्त परीषहों का सहनशील, संसार से भयभीत, वैराग्य भावनाएँ भरने वाला, वैराग्य के कारण भोगोपभोग की सामग्री को अतृप्तिकर देखता हुआ सम्यग्ज्ञान की भावना से मिथ्याज्ञान रूपी प्रगाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाला तथा विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्या शल्य को दूर भगाने वाला मुनि ध्याता है।[4]

---

१. प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिर्वृतिः। महा २१।२३०
२. योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधःस्वान्तनिग्रहः।
अन्तः संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधाः॥ महा २१।१२
३. महा २१।१०१-१०२
४. वही २१।८६-८६

(२) **ध्यान :** हरिवंश पुराण में उत्तमसंहनन के धारक पुरुष की चिन्ता अर्थात् चंचल मन का किसी एक पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त के लिए रुक जाने को ध्यान कथित है।[१] महा पुराण में विवृत है कि तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है, उसे ध्यान संज्ञा प्रदत्त है।[२] आगे कहा गया है कि जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त संज्ञाओं से सम्बोधित किया है।[३]

(३) **ध्येय :** जो अशुभ तथा शुभ परिणामों का कारण हो उसे ध्येय कहते हैं।[४] महा पुराण में ध्येय तीन प्रकार का कथित है—शब्द, अर्थ तथा ज्ञान।[५] महा पुराण में अन्यत्र विवृत है कि मैं (जीव) तथा मेरे अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष—इस प्रकार उक्त सात तत्त्व या पुण्य-पाप सम्मिलित करने से नौ पदार्थ ध्यान योग्य हैं।[६] जगत के समस्त तत्त्व जो जिस रूप में अवस्थित हैं और जिनमें मैं और मेरेपन का संकल्प न होने से जो उदासीन रूप से विद्यमान हैं वे सब ध्यान के आलम्बन (ध्येय) हैं।[७] महा पुराण में अर्हन्तदेव की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्हें ध्यान के योग्य कथित है।[८]

[i i] **ध्यान का स्वरूप :** जिसकी वृत्ति अपने बल के अन्तर्गत रहती है, उसी को महा पुराण में ध्यान का स्वरूप कहा गया है।[९]

---

१. ध्यानमेकाग्रचिन्तायां घनसंहननस्य हि।
निरोधोऽन्तर्मुहूर्तं स्याच्चिन्ता स्यादस्थिरं मनः॥ हरिवंश ५६।३

२. ऐकाग्र्येण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि। महा २१।८

३. स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव या॥ महा २१।९; तुलनीय—तत्त्वार्थ-सूत्र ९।२७

४. ध्येयमप्रशस्तप्रशस्तपरिणामकारणं। चारित्रसार १६७।२

५. श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा महा २१।१११

६. अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः।
कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा॥ महा २०।१०८

७. ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थितम्।
विनात्मात्मीयसंकल्पादौदासीन्ये निवेशितम्॥ महा २१।१७

८. महा २१।११२-१३०

९. धीबलायत्तवृत्तित्वाद् ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते। महा २१।११

[iv] **ध्यान की क्रिया :** हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि ध्यानकर्त्ता पुरुष गम्भीर, निश्चल शरीर और सुखद पर्यङ्कासन से युक्त होता है। उसके नेत्र न तो खुले होते हैं और न बन्द ही रहते हैं। नीचे के दाँतों के अग्रभाग पर उसके ऊपर के दाँत स्थित रहते हैं। वह इन्द्रियों के समस्त व्यापार से निवृत्त होता है तथा श्रुत का पारगामी होता है। वह धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास का संचार करता है। वह मनोवृत्ति को मस्तक पर, हृदय में या ललाट में स्थिर कर आत्मा को एकाग्र करता हुआ ध्यान करता है।[1] इसी प्रकार ध्यान की क्रियाओं का सुन्दर वर्णन महा पुराण में उपलब्ध है।[2]

[v] **ध्यान : प्रकार एवं स्वरूप :** वह (ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान फल रूप) चार अंग वाला अप्रशस्त तथा प्रशस्त के भेद से दो प्रकार का होता है।[3] ध्यान चार प्रकार का कथित है—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य तथा शुक्ल।[4] आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म्य ध्यान तथा शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं।[5] महा पुराण के कथनानुसार इन चारों ध्यानों में से प्रथम दो (आर्त्त तथा रौद्र) ध्यान त्याज्य हैं क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं तथा संसार को बढ़ाने वाले हैं और आगे के दो (धर्म्म तथा शुक्ल) ध्यान मुनियों को धारण करने योग्य हैं।[6]

(१) **आर्त्तध्यान :** पीड़ा को आर्ति कहते हैं। आर्ति के समय जो ध्यान होता है, उसे आर्त्तध्यान संज्ञा प्रदत्त है। यह आर्त्तध्यान अत्यन्त कृष्ण, नील तथा कपोत लेश्या के बल से उत्पन्न होता है।[7] बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से इसके दो प्रकार हैं। बाह्य आर्त्तध्यान अनुमान से और आभ्यन्तर स्वसंवेदन से जाना जाता है।[8]

(i) **बाह्य आर्त्तध्यान :** अमनोज्ञ दुःख के बाह्य साधन मनुष्य आदि चेतन

---

१. हरिवंश ५६।३२-३५
२. महा २१।५७-८४
३. वही २१।२७; हरिवंश ५६।२; तुलनीय—चारित्र सार १६७।२; ज्ञानार्णव २५।१७
४. महा २१।१८; हरिवंश ५६।२; तुलनीय—तत्त्वार्थसूत्र ९।२८
५. वही २१।२७; तुलनीय—मूलाचार ३९४
६. वही २१।२९
७. हरिवंश ५६।४; महा २१।३१-३२, २१।३८
८. वही ५६।५; वही २१।३२-३६

और विष शस्त्र आदि अचेतन भेद से दो प्रकार के होते हैं ।[1] सभी प्रकार के अमनोज्ञ—अनिष्ट विषयों की उत्पत्ति न हो—इस प्रकार बार-बार चिन्ता करना प्रथम बाह्य आर्त्तध्यान है ।[2] यदि किसी प्रकार के अमनोज्ञ-अनिष्ट विषय की उत्पत्ति हो गयी हो तो उसका अभाव किस प्रकार होगा। इसी बात का निरन्तर संकल्प करना द्वितीय बाह्य आर्त्तध्यान कथित है ।[3] इसी प्रकार मनोज्ञ सुख के बाह्य साधन चेतन (पशु, स्त्री, पुत्र आदि) तथा अचेतन (धन-धान्यादि) के भेद से दो प्रकार का होता है ।[4]

(ii) **आभ्यन्तर आर्त्तध्यान :** इसके चार भेद होते हैं—प्रथम, अभीष्ट वस्तु की उत्पत्ति न हो, ऐसा चिन्तवन (ध्यान) करना। द्वितीय; यदि अभीष्ट वस्तु उत्पन्न हो चुकी है तो उसके वियोग का बार-बार चिन्तवन करना। तृतीय, इष्ट विषय का कभी वियोग न हो, ऐसा चिन्तवन करना। चतुर्थ, इष्ट विषय का यदि वियोग हो गया है तो उसके अन्त का विचार करना ।[5] मानसिक और शारीरिक साधन की दृष्टि से आभ्यन्तर आर्त्तध्यान दो प्रकार का होता है ।[6] हरिवंश पुराण में वर्णित है कि आर्त्तध्यान का आचार प्रमाद है, फल तिर्यञ्च गति है। यह परोक्ष क्षायोपशमिक भाव है और प्रथम से अष्टम गुण स्थान तक पाया जाता है ।[7]

(२) **रौद्रध्यान :** क्रूर अभिप्राय वाले जीव को रुद्र कहते हैं, उसका जो ध्यान होता है वह रौद्रध्यान का बोधक है ।[8] इसके चार भेद हैं। प्रथम, हिंसा में तीव्र आनन्द मनाना ही हिंसानन्द रौद्रध्यान है। द्वितीय, श्रद्धान करने योग्य पदार्थों के विषय में अपनी कल्पित युक्तियों से दूसरों को ठगने का संकल्प करना मृषानन्द रौद्रध्यान कथित है। तृतीय, प्रमादपूर्वक दूसरे के धन को बलात् हरने का अभिप्राय रखना स्तेयानन्द (चौर्यानन्द) रौद्रध्यान है। चतुर्थ, चेतन, अचेतन दोनों

१. हरिवंश ५६।६
२. वही ५६।१२
३. वही ५६।१३
४. वही ५६।१४
५. वही ५६।७-८
६. वही ५६।१०-११, ५६।१५
७. वही ५६।१८; महा २१।३६-४१
८. वही ५६।१६; वही २१।४२

प्रकार के परिग्रह की रक्षा का निरन्तर अभिप्राय रखना तथा मैं इसका साथी हूँ, और यह मेरा स्व है इस प्रकार बार-बार चिन्तवन करना परिग्रह संरक्षणानन्द रौद्रध्यान है ।[1]

बाह्य (क्रूर व्यवहार, अशिष्ट वचन कहना) और आभ्यन्तर (हिंसा आदि कार्यों में संरम्भ, समारम्भ और आरम्भरूपी प्रवृत्ति) के भेद से रौद्रध्यान दो प्रकार का होता है। अन्य में पाया जाने वाला रौद्रध्यान अनुमान से और अपने में पाया जाने वाला रौद्रध्यान स्वयं अनुभव से ज्ञात होता है ।[2]

यह रौद्रध्यान तीव्र कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्या के बल से होता है, प्रमाण से सम्बन्धित तथा नीचे के पाँच गुण स्थानों में होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। यह परोक्ष ज्ञान से होता है अतः क्षयोपशमभाव रूप है। भावलेश्या तथा कषाय के अधीन होने से औदार्यकभाव रूप है। इस ध्यान का उत्तर फल नरकगति है ।[3]

(३) धर्म्यध्यान : बाह्य और आध्यात्मिक भावों के यथार्थ भाव को धर्म कथित है। इस धर्म के सहित को धर्म्यध्यान नाम प्रदत्त है ।[4] महा पुराण में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य सहित वस्तु के यथार्थ स्वरूप को धर्म संज्ञा प्रदत्त है ।[5] धर्म्यध्यान के दो प्रकार होते हैं :[6]

(i) बाह्य धर्म्यध्यान : शास्त्र के अर्थ की खोज, शीलव्रत का पालन, गुणों के समूह में अनुराग, अँगड़ाई, छींक, डकार एवं श्वासोच्छ्वास में मन्दता, शरीर की निश्चलता और आत्मा को व्रतों से युक्त करना है ।[7]

(ii) आभ्यन्तर धर्म्यध्यान : मन, वचन तथा योगों की प्रवृत्ति ही प्रायः संसार का कारण है। इन प्रवृत्तियों के अपाय अर्थात् त्याग को आभ्यन्तर धर्म्यध्यान की अभिधा प्रदत्त है। इसके दस भेद हैं—अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, वैराग्य विचय, भव विचय, संस्थान विचय, आज्ञा विचय और हेतु विचय ।[8]

---

१. हरिवंश ५६।२२-२५; महा २१।४३, ४६।५१
२. वही ५६।२१-२२; वही २१।५२-५३
३. वही ५६।२६-२८; वही २१।४३-४६
४. वही ५६।३५
५. महा २१।१३३
६. हरिवंश ५६।३६
७. वही ५६।३६-३७; महा २१।१६१
८. वही ५६।३८-५०, वही २१।१५६-१६०

महा पुराण में धर्म्यध्यान के चार भेद वर्णित हैं—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय।[1]

यह धर्म्यध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में होता है, प्रमाद के अभाव से उत्पन्न होता है, पीत तथा पद्म नामक शुभ लेश्याओं के बल से होता है, काल तथा भाव के विकल्प में स्थित है और स्वर्ग एवं मोक्ष रूप फल का प्रदायक है।[2]

(४) शुक्लध्यान : शुचित्व अर्थात् शौच के सम्बन्ध को शुक्लध्यान संज्ञा प्रदत्त है।[3] शुक्ल तथा परम शुक्लध्यान के भेद से इसके दो प्रकार हैं। शुक्ल के भी पृथक्त्व वितर्क तथा एकत्व वितर्क के भेद से दो प्रकार हैं। इसी प्रकार परम शुक्ल-ध्यान के दो भेद हैं—सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति तथा व्युपरत क्रिया निर्वति।[4] बाह्य और आध्यात्मिक के भेद से शुक्लध्यान भी दो भागों में बाँटा जाता है।[5]

जैनाचार्यों ने ध्यान को अपने ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया है। अपने मत के प्रतिपादन में उन्होंने अन्य मतावलम्बियों के मतों का विद्वत्तापूर्ण ढंग से खण्डन किया है। उन्होंने विज्ञानाद्वैतवादी, शून्यवादी बौद्ध, सांख्य, द्वैतवादी और अद्वैत-वादियों आदि के मतों का खण्डन करते हुए अन्त में अपने मत अर्थात् स्याद्वाद के आधार पर जीव तत्त्व को नित्य और अनित्य दोनों ही रूप मानकर ध्यान की सिद्धि का मार्ग बताया है।[6]

४. **गृहस्थ का आचार या श्रावकाचार :** जैन धर्म की मान्यतानुसार मुनियों और गृहस्थों के लिए सामान्यतया एक ही धर्म विहित हैं। धर्म के नियम, विधि आदि का कठोरता से पालन करने को महाव्रत की संज्ञा प्रदत्त है, जिसे मुनि पालन करते थे। इन्हीं नियमों और विधियों का शिथिलता से पालन करने को अणुव्रत कथित है, जिसे गृहस्थ या श्रावक ग्रहण करते हैं। मुनियों के लिए कुछ विशेष व्रत थे, जिनका उल्लेख उपर्युक्त अनुच्छेदों में हो चुका है। आश्रम के प्रकरण के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम में गृहस्थों या श्रावकों की विवेचना कर चुके हैं, उनकी

१. महा २१।१४१-१५४
२. हरिवंश ५६।५१-५२; महा २१।१५५-१६८, २१।१६२-१६३
३. वही ५६।५३; महा २१।१६६; पद्म ११।२४३
४. वही ५६।५३-५४, ५६।५७-११३; महा २१।१६७-१७४, २१।१७८-२१५
५. वही ५६।५५; महा २१।१७४-१७७
६. महा २१।२४०-२५४

पुनरावृत्ति यहाँ नहीं करनी है। गृहस्थों के अन्य धर्म, दान, पूजा, देवी—देवताओं की मान्यता, व्रतोपवास आदि थे। इनका वे पालन करते थे। इनका परिशीलन यथास्थान प्रस्तुत किया गया है।

५. देवता : देव शब्द का प्रयोग वीतरागी भगवान् अर्थात् अर्हंत् सिद्ध के लिए और देव-गति संसारी जीवों के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त पंच परमेष्ठी, चैत्य, चैत्यालय, शास्त्र तथा तीर्थक्षेत्र—ये सब देवता मान्य हैं। सन्मार्ग पर चलते हुए जिन्होंने तप किया था, वे देवगति उसके फलस्वरूप सुख भोगते हैं। इनका विवरण, स्थान, आयु आदि भिन्न-भिन्न होती है।[1]

[i] **देवताओं के प्रकार :** पद्म पुराण में विवृत है कि देवताओं के चार भेद हैं—ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर और कल्पवासी। अपने-अपने कर्मों के अनुसार संसार के प्राणी इनमें जन्म ग्रहण करते हैं।[2] विद्याधरों के निवास स्थल से १० योजन ऊपर गान्धर्व और किन्नर देश के हजारों नगर स्थित हैं।[3]

(१) **ज्योतिषी देवता :** हरिवंश पुराण में उल्लिखित है कि मानुषोत्तर पर्वत से ५०,००० योजन आगे चलकर सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष वलय के रूप में स्थित हैं। उसके आगे एक-एक लाख योजन चलकर ज्योतिषियों के वलय हैं। प्रत्येक वलय में चार-चार सूर्य-चन्द्र हैं और एक दूसरे की किरणें परस्पर संयुक्त हैं।[4] इस वर्ग के अन्तर्गत पाँच प्रकार के देवता आते हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा प्रकीर्णक तारे। ये सब देव ज्योतिर्मय हैं। इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है।[5] इनमें सूर्यपूजा का उल्लेख उपलब्ध है।[6]

(२) **भवनवासी देवता :** इनके अन्तर्गत दस देवता आते हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। चूंकि ये देवगण अपने वस्त्राभूषणों, शस्त्रास्त्रों,

---

१. हरिवंश ३।१४१-१८०

२. ज्योतिषा भावनाः कल्पा व्यन्तराश्च चतुर्विधाः।
देवा भवन्ति योग्येन कर्मणा जन्तवो भवे॥ पद्म ३।८२, ३।१६२-१६३, १४।४७-४८

३. पद्म ३।३१०

४. हरिवंश ६।३१-३४, ३।१५१; महा ५४।२६७

५. तत्त्वार्थसूत्र ४।१२; तिलोयपण्णत्ति ७।७, ७।३८

६. महा ७३।६०

वाहनों आदि से युवा दीखते हैं, अतएव इन्हें कुमार कहा गया है।[1] जैन पुराणों में इन देवताओं का क्रमबद्ध वर्णन अनुपलब्ध है। इनका यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है।[2]

(३) **व्यन्तर देवता** : व्यन्तर देवताओं में किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच आते हैं। राक्षस पंकबहुल क्षेत्र में रहते हैं और अन्य देवों के निवासस्थान असंख्य द्वीपों तथा सागरों से परे ऊपरी ठोस भाग में होता है।[3] जैन पुराणों में इनका उल्लेख क्रमबद्ध ढंग से नहीं हुआ है। इनका यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। भूत-पिशाच आदि के विषय में वर्णित है कि ये रात में श्मशान भूमि में अपनी इच्छानुसार नृत्य करते थे।[4] भूत-पिशाच की उपासना से पुत्र-प्राप्ति का उल्लेख हुआ है।[5] जैन पुराणों में भी पिशाच का वर्णन उपलब्ध है।[6] महा पुराण और हरिवंश पुराण में विवेचित है कि भूत-पिशाच से प्रेरित होने पर मंत्र से निग्रह करते थे।[7]

(४) **कल्पवासी देवता** : हरिवंश पुराण के अनुसार कल्पवासी देव इन्द्रियादि के भेद से अनेक हैं और कल्पातीत देवता केवल अहमिंद्र हैं।[8] महा पुराण के वर्णनानुसार इस वर्ग में दस प्रकार के देवताओं का उल्लेख हुआ है—इन्द्र, सामानिक, त्रायास्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्बिषिक।[9] इन्द्र के साथ इन्द्राणी का भी उल्लेख हुआ है। इन्द्र देवताओं का राजा होता था और उसके पास अपार ऐश्वर्य होता था।[10]

(५) **अन्य देवी-देवता** : आलोचित जैन पुराणों के परिशीलन एवं अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि जैनेतर वैदिक देवी-देवताओं को समाज में सर्वाधिक सम्मानित स्थान उपलब्ध था। जैनी आचार्यों ने भी इन देवी-देवताओं को अपने ग्रन्थों

१. तत्त्वार्थसूत्र ४।११
२. महा ३३।१०७-१०६
३. सर्वार्थसिद्धि ४।११
४. महा २०।२१५, ३४।१८१, ३३।११०
५. वही ६२।२१४
६. पद्म ४८।१६८; हरिवंश ३०।४७; महा ४३।२६२
७. वही ४६।२७; महा १।८६-८८
८. हरिवंश ३।१५१
९. महा २२।२२-३१, ३३।१०७-१०६
१०. वही १०।१८३-१८५, २३।१०६-११५

में स्थान देकर इन्हें आत्मसात कर लिया। यही कारण है कि जैन पुराणों में जिन अन्य देवी-देवताओं के नाम उपलब्ध हैं, वे जैनी-पारम्परिक देवताओं की श्रेणियों में नहीं आते। पद्म पुराण में यम, वैश्रवण, सोम, वरुण आदि के अभिषेक का उल्लेख है।[1]

जैन पुराणों में लौकान्तिक देवता का उल्लेख मिलता है, जो श्वेतवर्ण, तुषित, वह्नि, अरूप, आदित्य आदि गुण से युक्त थे।[2] इन्हें लौकिक देवता कहा जा सकता है। हरिवंश पुराण में सोम को पूर्व दिशा, यम को दक्षिण दिशा, वरुण को पश्चिम दिशा और कुबेर को उत्तर दिशा का स्वामी बताया गया है।[3] महा पुराण में कुबेर को धन का स्वामी कथित है।[4] अन्य देवताओं में माहेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, ईशान, सिद्ध एवं बुद्ध थे।[5] इन्हें जैनेतर देवताओं में रखा जा सकता है। हरिवंश पुराण में वर्णित है कि वरदान देने वाली देवी को क्रूर-भील आदि जंगली जातियों ने भैंसों का मांस-रुधिर देना प्रारम्भ किया, तभी से देवी को बलि देने की प्रथा चल पड़ी।[6] अन्य देवी-देवताओं में मुख्य निम्नवत् हैं—वन,[7] जल,[8] राहु,[9] नारद,[10] यमराज,[11] वेणु-वेणुदारी,[12] आदि।

---

१. पद्म ३।८५
२. वही ३।२६८; हरिवंश ५५।१०१; महा ५२।५०
३. हरिवंश ५।३२३-३२७
४. महा ५२।६
५. हरिवंश १७।१३१-१३२; पद्म २।६१
६. वही ४६।३२
७. महा १८।५२
८. वही ४३।६५
९. वही ५४।२६७
१०. वही ६०।७२, ६२।४३०-४४२
११. वही ६२।४४३
१२. हरिवंश ५।१६०

६. पूजा : भारतीय समाज में प्राचीन काल से मनुष्य के दैनिक जीवन में पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य की यह सुदृढ़ आस्था है कि इस कृत्य को सम्पन्न करने से वह सुखी-समृद्धशाली होगा और विघ्न-बाधाओं से मुक्त रहेगा। इसके साथ ही उसका परलोक भी उत्तम होगा। इस प्रकार आलोच्य पुराणों में यह धर्म-राग प्रचुर होने के कारण जिन पूजा को ही महत्त्व प्रदान किया है। इस सन्दर्भ में निम्नवत् विवरण प्रस्तुत हैं :

[i] पूजा : लक्षण एवं नाम : राग प्रचुर होने के कारण गृहस्थों के लिए प्रधान धर्म जिन पूजा है। यद्यपि इसमें पंच परमेष्ठि की प्रतिमाओं का आश्रय होता है, परन्तु अपने भाव ही प्रधान हैं, जिनके कारण पूजक को असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा होती रहती है।

हमारे आलोच्य जैन पुराणों में पूजा के विभिन्न नाम उपलब्ध होते हैं। महा पुराण में कथित है कि याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख तथा मह— ये सब पूजा के पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

[ii] पूजा : प्रकार एवं विधि-विधान : महा पुराण में पूजा के चार प्रकार वर्णित हैं—(१) सदार्चन (नित्यमह), (२) चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), (३) कल्पद्रुम तथा (४) अष्टाह्निक।[2]

(१) सदार्चन (नित्यमह) : अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालय (मन्दिर) में जिनेन्द्र देव की पूजा करने को सदार्चन नाम प्रदत्त है अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेव की प्रतिमा तथा मन्दिर का निर्माण करना और दानपत्र लिखकर ग्राम-खेत आदि का दान देना भी सदार्चन का बोधक है। इसी के अन्तर्गत यथाशक्ति मुनियों की पूजा एवं दान की व्यवस्था भी की गयी है।[3]

(२) चतुर्मुख (सर्वतोभद्र) : राजाओं द्वारा जो महायज्ञ किया जाता था, उसको चतुर्मुख (सर्वतोभद्र) की अभिधा से अभिहित किया गया है।[4]

---

१. यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः।
मह इत्यापि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः॥ महा ६७।१९३

२. प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्।
चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च॥ महा ३८।२६

३. महा ३८।२७-२९

४. वही ३८।३०

(३) कल्पद्रुम : चक्रवर्तियों द्वारा जिस यज्ञ में वाञ्छित दान की पूर्ति की जाती है, उसे कल्पद्रुम संज्ञा प्रदत्त है।[1]

(४) अष्टाह्निक : यह जगत में प्रसिद्ध है और इसे सभी मनुष्य प्रतिदिन दैनिक विधि के साथ करते हैं।[2]

उपर्युक्त चारों प्रकारों के अतिरिक्त महा पुराण में पूजा का पाँचवाँ प्रकार कथित है, जिसे केवल इन्द्र ही कर सकते हैं। इसी को ऐन्द्रध्वज महायज्ञ की अभिधा प्रदान की गयी है।[3] महा पुराण में उन सभी पूजा की विधियों को इसी में समाहित किया है, जो अन्य लोग मानते हैं। उदाहरणार्थ, बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना तथा तीनों संध्याओं में उपासना करना आदि को चारों भेदों के अन्तर्गत ही माना है।[4] व्यवहार में पूजा के पाँच अंग बताये गये हैं—आह्वानन, स्थापना, संनिधिकरण, पूजन तथा विसर्जन।[5] हरिवंश पुराण में तीन प्रदक्षिणा करके दूध, चन्दन, इक्षुरस, घी, दही, जल, चावल, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य से पूजा करने का विधान मिलता है।[6] इसी प्रकार पूजा करने का उल्लेख महा पुराण में उपलब्ध है।[7]

यहाँ यह गवेषणा का विषय बनाया जा सकता है कि पूजा-प्रकार के अन्तर्गत जिन यज्ञों का उल्लेख हुआ है, क्या वे वैदिक यज्ञों के समान थे? क्या इन यज्ञों में पशु बलि दी जाती थी? क्या जैनियों को यज्ञ करने का विधान था? यह विचारणीय प्रश्न है कि जिस अर्थ में यज्ञ का प्रयोग वैदिक-यज्ञों के लिए किया गया है वह अर्थ जैनियों को मान्य नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने यज्ञ शब्द का अर्थ अत्यधिक दान तथा पूजा के लिए किया है।[8] हरिवंश पुराण में यज्ञ का अर्थ देवपूजा बताया गया है।[9] इसका वर्णन आगे किया गया है।

पद्म पुराण में जिनेन्द्र की पूजा-विधि का कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। भगवान् के मन्दिर को विविध प्रकार से सुसज्जित कर, नृत्य-गीत वादित्रों द्वारा

---

१. महा ३८।३१
२. वही ३८।३२
३. महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतोमहः। महा ३८।३२
४. महा ३८।३३
५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११९।१७३।१५
६. हरिवंश २२।२१-२३
७. महा ३१।५३, ३३।१२५
८. यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात्। महा ६७।१९४
९. हरिवंश १७।१२९

महोत्सव कर; जल, दूध, दही से अभिषेक कर; गन्ध विलेपनों, पुष्पों, रत्नों एवं नैवेद्यों से पूजा कर; धूप-दीपदान कर, उपहार चढ़ाने एवं पूजा करने की उत्तम विधि है।[1] हरिवंश पुराण में उल्लेख आया है कि जो पूजा नैवेद्य से की जाती है, वह स्वर्गप्रदायिनी होती है।[2] पद्म पुराण में विवेचित है कि जो व्यक्ति जिन प्रतिमा की पूजा करता है उसे अधिक फल की प्राप्ति होती है।[3] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि भावपूर्वक एक प्रतिमा बनवाने में पुण्यात्मा को अतुलनीय फल की उपलब्धि होती है।[4]

(iii) **यज्ञ और यज्ञों का विरोध** : जैन धर्म अहिंसा प्रधान होने के कारण उन सभी यज्ञों का विरोध करता है, जिसमें हिंसा होती है। जैन पुराणों में यज्ञ पूजा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महा पुराण के अनुसार दान देना तथा देव एवं ऋषियों की पूजा के अर्थ में यज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] महा पुराण में विवृत है कि यज्ञ दो प्रकार के होते थे—आर्य यज्ञ और अनार्य यज्ञ।[6]

(१) **आर्य यज्ञ**—तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा कथित वेद—जिसमें जीवादि छः द्रव्य, तीन अग्नि, ऋषि, यति, मुनि एवं अनगार रूपी द्विज वन में निवास करते हैं—द्वारा आत्मयज्ञ कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। दूसरे आर्य यज्ञ में तीर्थंकर गणधर एवं अन्य केवलियों का पूजन, दान, ऋषि प्रणीत वेदमंत्र का उच्चारण, अक्षत-गन्ध-माला आदि से आहुति होती है। ऋषियों ने मुनि और गृहस्थ आश्रमों के भेद से इसे दो प्रकार का बताया है : मुनि यज्ञ—मोक्ष का साक्षात् कारण मुनि आश्रम है और गृहस्थ यज्ञ—परम्परा से मोक्ष का कारण। पद्म पुराण में आर्य यज्ञ को ही धर्म यज्ञ की अभिधा दी गयी है।[7]

(२) **अनार्य यज्ञ** : जिस यज्ञ में हिंसा होती है, वह अनार्य यज्ञ का बोधक है। जैन पुराणों में हिंसा यज्ञ का उल्लेख मिलता है। यज्ञ में बहुत से प्राणियों की

---

१. पद्म १०।८६-६०, ३२।१५३-१७१, ४५।१०१, ६६।५, ६५।३२-३३
२. नैवेद्यादिविधानेन यागः स्वर्गफलप्रदः। हरिवंश १७।१२६
३. पद्म ३२।१७८-१८२
४. वही १४।२०६-२१०, ३२।१७४
५. वर्तते यज्ञशब्दश्च दानदेवर्षिपूजयोः। महा ६७।१६२
६. महा ६७।२००-२१०
७. पद्म ११।२४१-२४४

बलि दी जाती थी।[1] यज्ञशाला में बकरे बाँधे रहते थे जिनकी बलि दी जाती थी।[2] पद्म पुराण में वर्णित है कि यज्ञ में हिंसा होती थी, गोसव यज्ञ में अगम्या (परस्त्री) का सेवन किया जाता था, पितृमेध यज्ञ में पिता का वध मेधी पर करते थे। सौत्रामणियज्ञ में मदिरा पीना दोषपूर्ण नहीं था।[3] जैनियों ने हिंसा के कारण ही यज्ञों का विरोध किया है। जैन पुराणों में पशुबलि का विरोध किया गया है।[4] पद्म पुराण में यज्ञ-दीक्षा को महापाप कथित है।[5] महा पुराण में यज्ञ-कर्त्ता को दण्ड देने की व्यवस्था थी।[6] यज्ञों का विरोध अन्य तत्कालीन जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। यशस्तिलक में यज्ञों में पशुबलि का विरोध मिलता है।[7] डॉ० हण्डीकी का कथन है कि लगभग सातवीं-आठवीं शती में जब ब्राह्मण विचारकों का प्रादुर्भाव बहुसंख्या में हुआ था, तब जैन विरोध की आवाज मन्द पड़ गयी थी।[8] परन्तु यह कथन श्रद्धेय नहीं है। क्योंकि आलोचित पुराणों में—जिसका रचना-काल उक्त ही है—जैनाचार्यों द्वारा विरोध किया जा रहा था। यही नहीं बाद के जैन ग्रन्थों में भी विरोधी ध्वनि उपलब्ध होती है।

जैनेतर वैदिक ग्रन्थों में भी हिंसापरक यज्ञों का विरोध मिलता है। ऋग्वेद (१०।४६।६) और मुण्डकोपनिषद् (१।२।७) में ऐसे यज्ञों का विरोध हुआ है।[9] इससे स्पष्ट है कि यज्ञों में हिंसा का प्रचलन बाद में हुआ।

(iv) वेद और वेदों का विरोध : जैनी अपने ग्रन्थों को ही वेद कहते हैं। महा पुराण में उल्लिखित है कि जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष हैं और जिसमें श्रेष्ठ आचरणों का विधान हैं, वही वेद हैं। उन्हीं पुराणों और धर्मशास्त्रों को वास्त-

---

१. पद्म ६७।३८८
२. वही ६८।२२७
३. वही ११।८४-८६
४. महा ६७।३२७-४७३; हरिवंश १७।१३५; पद्म ११।४१-४३
५. पद्म ११।६
६. महा ३६।१३६
७. कृष्ण कान्त हण्डीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, सोलापुर, १६४६, पृ० ३८०-३८८
८. कृष्ण कान्त हण्डीकी—वही, पृ० ३६०
९. आचार्य तुलसी—यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ, गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० १५१

विक पुराण और धर्मशास्त्र माना गया है, जिसमें हिंसा का अभाव है ।[1]

जैन पुराणों में हिंसापरक वेद को पौरुषेय वर्णित है और स्थान-स्थान पर इसकी निन्दा की गयी है । वेद के आधार पर पूजा-पाठ कर आजीविका चलाने वाले ब्राह्मणों को अक्षरम्लेच्छ कहकर उनकी निन्दा की गयी है । अथर्ववेद को पाप प्रवर्त्तक शास्त्र कहा गया है ।[2] अहिंसा प्रधान जैन धर्म ने पारम्परिक वैदिक धर्म का विरोध किया है ।

७. दान : भारतीय समाज में दान प्रदान करने की प्रथा प्राचीन काल से प्रचलित है । इसके अन्तर्गत मनुष्य की परोपकारी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । धर्मार्थ दान का भी प्रचलन यहाँ था, जिसके अन्तर्गत धार्मिक कृत्यों के लिए दान दिया जाता था । यह धार्मिक सम्प्रदायों को अधिकांशतः दिया जाता था, जिसका उपयोग वे आवश्यकतानुसार करते थे । इस प्रकार का वर्णन हमारे आलोचित जैन पुराणों में भी उपलब्ध होता है । इसका विवेचन निम्नवत् प्रस्तुत है :

[i] **दान की व्युत्पत्ति :** 'दा' (देने अर्थ में) धातु से 'अन' प्रत्यय होकर दान' शब्द निर्मित हुआ । दान का अर्थ है देना । दान से तात्पर्य किसी वस्तु से अपना अधिकार छोड़ दूसरे का अधिकार स्थापित करना है ।

[ii] **दान का लक्षण :** स्वयं अपना और दूसरों के उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है ।[3] दान के सम्बन्ध में सर्वार्थसिद्धि में वर्णित है कि दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु के अर्पण को दान कहा गया है ।[4]

[iii] **दान : प्रकार एवं स्वरूप :** दान के प्रकार के सम्बन्ध में जैन आगमों में दो प्रकार के विचार मिलते हैं । एक के अनुसार दान चार प्रकार का होता है और दूसरे के अनुसार दान के तीन प्रकार हैं । पहला—आहार, औषधि, शास्त्रादिक तथा स्थान—ये चार प्रकार के दान हैं ।[5] दूसरा—आहार, अभय एवं ज्ञान ये तीन

---

१. महा ३६।२२-२३
२. पद्म ११।१६७-२५१; हरिवंश २३।३४-३५; महा ४२।५२-१८४, ६७।१८७-४७३
३. तत्त्वार्थसार ७।३८
४. पद्म ३।६५-७२; सर्वार्थसिद्धि ६।१२।३३०।१४
५. पद्म ३२।१५४-१५६; १४।७६; तुलनीय—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११७

दान हैं।[1] इसी श्रेणी में सात्त्विक, राजस एवं तामस दान को माना गया है।[2]

हमारे आलोचित महा पुराण में दान को चार भागों में बाँटा गया है : (१) दयादत्ति, (२) पात्रदत्ति, (३) समदत्ति तथा (४) अन्वयदत्ति।[3]

(१) **दयादत्ति** : अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को दयादत्ति नाम प्रदत्त है।[4]

(२) **पात्रदत्ति** : महा तपस्वी मुनियों के लिए सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदत्ति संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[5]

(३) **समदत्ति** : क्रिया, मन्त्र एवं व्रत आदि में जो अपने समान है तथा जो संसार-समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ को कन्या, हस्ति, घोड़ा, रथ, रत्न, पृथ्वी, सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समान (सम) दत्ति नाम से सम्बोधित होता है।[6]

(४) **अन्वयदत्ति** : अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करने को सकलदत्ति (अन्वयदत्ति) अभिधा से अभिहित किया गया है।[7]

महा पुराण में दान के दूसरे वर्ग का भी सम्यक् वर्णन किया गया है, जिसमें दान के तीन प्रकार बताये गये हैं। श्रेष्ठ मुनियों ने—(१) शास्त्र दान (२) अभय दान तथा (३) अन्न दान—ये तीन प्रकार के दान बताये हैं। इनमें से अन्न दान की अपेक्षा अभय दान श्रेष्ठ है और अभय दान से शास्त्र दान श्रेष्ठ है।[8]

(१) **शास्त्र दान** : सर्वज्ञ देव का कहा हुआ, पूर्वापरविरोध आदि से रहित, हिंसादि पापों को दूर करने वाला, तथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष प्रमाणों से सम्पन्न

---

१. सर्वार्थसिद्धि ६।२४।३३८।१
२. सागार धर्मामृत ५।४७
३. महा ३८।३५
४. वही ३८।३६
५. वही ३८।३७
६. वही ३८।३८-३९
७. वही ३८।४०
८. शास्त्राभयान्नदानानि प्रोक्तानि मुनिसत्तमैः।
पूर्वपूर्वबहूपात्तफलानीमानि धीमताम्॥ महा ५६।६७

को शास्त्र कथित है। ऐसे शास्त्र का व्याख्यान, संसार के दुःख से भयभीत सत्पुरुषों का उपकार करने की इच्छा को शास्त्र दान संज्ञा प्रदत्त है।[1]

(२) **अभय दान :** मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक तथा तत्त्वों के स्वरूप को जानने वाला मुनि कर्मबन्ध के कारणों को छोड़ने की इच्छा से जो प्राणिपीड़ा का त्याग करता है, उसे अभय दान कहते हैं।[2]

(३) **अन्न दान :** हिंसादि दोषों से दूर रहने वाले ज्ञानी साधुओं के लिए शरीरादि बाह्य साधनों की रक्षा के अर्थ जो शुद्ध आहार दिया जाता है, उसे आहार दान (अन्नदान) की संज्ञा प्रदत्त है।[3]

पद्म पुराण में प्रशंसनीय और निंदित दानों की विवेचना मिलती है :

(१) **प्रशंसनीय दान :** पद्म पुराण में विवेचित है कि जिस प्रकार उत्तम खेत में बोये हुए बीज से अत्यधिक सम्पदा उपलब्ध होती है, उसी प्रकार उत्तम पात्र के लिए शुद्ध हृदय से दिया हुआ दान अत्यधिक सम्पदा प्रदान करता है।[4] उत्तम पात्र को दिया दान उत्तम फलप्रदायक है और नीच को दिया गया दान निम्न फल देता है।[5] भाव से दान देना शुभ होता है।[6] दीन अंधे का दान करुणादान है।[7] सामर्थ्यानुसार भक्तिपूर्वक सम्यक्दृष्टि लोगों के लिए जो दान देता है, उसी का उत्तम दान है, शेष चोरों को लुटाना जैसा है।[8]

(२) **निन्दित दान :** पापी पात्र को दान देने से कुछ प्राप्त नहीं होता है। रागी, द्वेषी, लोभी को दान देने से फल की प्राप्ति नहीं होती।[9] इसी पुराण में भूमि-दान की निन्दा की गयी है।[10] उक्त पुराण में वर्णित है कि यद्यपि पशु तथा भूमि-दान निन्दित है फिर भी यदि जिन प्रतिमा आदि को उद्देश्य करके देने से यह उत्कृष्ट माना गया है।[11]

(iv) **दान की पात्रता और उसका परिणाम :** हमारे आलोचित जैन पुराणों में दान उसी पात्र को देने का उल्लेख है, जो इसके लिए सर्वथा योग्य हो। महा पुराण में कथित है कि दान उसी पात्र को देना चाहिए जो इसके लिए

१. महा ५६।६८-६६
२. वहीं ५६।७०
३. वही ५६।७१
४. पद्म १४।६०
५. वही १४।६४
६. वही १४।६५
७. पद्म १४।६६
८. वही १४।६५
९. वही १४।६१-७४
१०. वही १४।७५
११. वही १४।७८

उचित एवं योग्य हो और उस पात्र को उत्तम दान देना चाहिए, जिससे दान देने और लेने वाले दोनों को यथेष्ट लाभ हो सके।[1] पद्म पुराण में उल्लेख आया है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषों को दिया गया दान ही सार्थक दान है और उसी का फल उसको मिलता है। इसके विपरीत अन्य को दिया गया दान चोरों को लुटाने वाले धन के समान है अर्थात् उसका उसे कोई लाभ नहीं मिल सकता।[2] महा पुराण में तो यहाँ तक कथित है कि कुपात्र को दान देने से दाता, दान एवं पात्र इन तीनों का विनाश हो जाता है।[3] पद्म पुराण में उत्तम पात्र को दान देने का विधान है। उत्तम पात्र की योग्यता के विषय में वर्णित है कि उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र से शुद्ध, समानदृष्टिवाला, परिग्रह से रहित तथा महातपश्चरण और तत्त्व में लीन होना चाहिए।[4]

(v) **दान की वस्तुएँ :** दान में कौन सी वस्तुएँ दी जानी चाहिए ? इसका विवेचन हमारे आलोच्य पुराण में हुआ है। महा पुराण में दस प्रकार की वस्तुओं को दान में देने की व्यवस्था प्रदत्त है। कन्या, हाथी, सुवर्ण, अश्व, गो, दासी, तिल, रथ, भूमि तथा गृह—इन दस वस्तुओं को दान में देनी चाहिए।[5] यहाँ यह विचारणीय विषय है कि उक्त दस दान की वस्तुएँ लौकिक जीवन से सम्बद्ध रखने वाली हैं और इनसे पारलौकिक लाभ नहीं हो सकता। चूँकि जैन धर्म निर्वृत्तिमूलक है। ऐसी परिस्थिति में प्रवृत्तिमूलक विचारधारा को प्रश्रय न देना समीचीन है। यही कारण है कि महा पुराण ने उक्त दान की वस्तुओं को उपेक्षा का विषय बताया है। इससे दान के वास्तविक फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये दान की वस्तुएँ स्वार्थ-परक हैं।[6] इसी लिए महा पुराण में उल्लिखित है कि शास्त्र ही प्रमुख साधन है, जिससे सिद्धि मिलती है। शास्त्र ज्ञान से प्राप्त होता है, अतएव शास्त्र दान की मुख्य वस्तु है।[7]

---

१. महा ६३।२७५
२. पद्म १४।६६
३. कुपात्रेऽर्थं विसृष्ट्वैवं त्रयाणां विहतिः कृता। महा ५६।६०
४. पद्म १४।५३-५८
५. कन्याहस्तिसुवर्णवाजिकपिलादासीतिलस्यन्दन-
क्ष्मागेहप्रतिबद्धमत्र दशधा दानं दरिद्रेप्सितम्॥ महा ५६।६६
६. महा ५६।८१-६६
७. वही ५६।७३

(vi) **दान का महत्त्व तथा फल** : दान की महत्ता को महा पुराण में प्रदर्शित करते हुए वर्णित है कि ज्ञान से बढ़कर अन्य दान नहीं है। ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है। अतः शास्त्र ही प्रधान है। यही कारण है कि शास्त्र-दान को सर्व-श्रेष्ठ दान माना गया है। इसी से मोक्ष की उपलब्धि होती है। आहार-दान में थोड़ा आरम्भजन्य पाप रहता है। इसलिए अभय-दान आहार-दान से श्रेष्ठ है। इन दानों का क्रम क्रमशः शास्त्र-दान, अभय-दान तथा आहार-दान है।[1]

महा पुराण के अनुसार उक्त तीनों महादानों के करने वाले परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।[2] पद्म पुराण में दान के फल को निरूपित करते हुए कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् को उद्देश्य कर दिये गये दान से मनुष्य को स्वर्ग तथा मनुष्य लोक सम्बन्धी उत्तमोत्तम भोग की प्राप्ति होती है। इससे उत्कृष्ट भोग की प्राप्ति होती है। यही दान गुणों का पात्र है।[3] पद्म पुराण में दान से निम्नांकित फल की प्राप्ति वर्णित है—उपद्रव से मुक्ति[4], अपार सुखों की प्राप्ति[5], उत्तम गति[6], भोगप्राप्ति[7] आदि।

८. **व्रतोपवास** : प्राचीन भारतीय परम्परा एवं आस्था के अनुसार व्रतोपवास द्वारा आत्म-शुद्धि होने के साथ ही पाप-क्षय भी होता है। इस प्रकार मानव जीवन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक ग्रन्थों में इसकी महत्ता को प्रदर्शित किया गया है। जैन पुराणों ने इस पर अधिक बल दिया है। इन पुराणों में अधोलिखित विवरण उपलब्ध है।

पद्म पुराण में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होने को व्रत संज्ञा प्रदत्त है।[8] हरिवंश पुराण में चतुर्थक, षष्ठ एवं अष्टम् शब्द उपवास के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि एक दिन के उपवास के लिए चतुर्थक, द्विदिवसीय

---

१. महा ५६।७३-७७
२. वही ५६।७६
३. पद्म १४।६४-६५
४. वही ३२।१५५
५. वही ३२।१५६
६. वही १४।४२
७. वही ३२।१५४
८. हिंसातोऽलीकतः स्तेयान्मैथुनाद् द्रव्य संगमात्।
विरतिर्व्रतमुद्दिष्टं विधेयं तस्य धारणम्॥ पद्म १४।१०७

उपवासार्थ षष्ठ तथा त्रिदिवसीय उपवास के लिये अष्टम शब्द है। इस प्रकार दशम को आदि मानकर षड्मास के उपवास की व्यवस्था है।[1] इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि साधारणतः दिन में कोई मनुष्य दो बार भोजन ग्रहण करता है किन्तु उपवास रहने पर मनुष्य को उपवास से पूर्व दिन में एक बार भोजन करने के पश्चात् उपवास का दिन मिलाकर आगामी दिन क्रमानुसार चतुर्थ वेला होने पर वह भोजन करता है अर्थात् वह चार बार का भोजन ग्रहण नहीं करता है। अतः इसे चतुर्थक कहा है। इसी प्रकार अन्य शब्दों का भी आशय समझना चाहिए। जैन परम्परा के अनुसार उपवास का तात्पर्य निर्जला से ही है अर्थात् भोजन के अतिरिक्त जल पीना भी त्याज्य माना जाता था। यदि मनुष्य उपवास काल में जल ग्रहण कर लेता है तो उपवास खण्डित हो जाता है। जैन पुराणों में अधोलिखित व्रतोपवास का वर्णन मिलता है :

आचाम्लवर्धमानविधि,[2] चान्द्रायणविधि,[3] सप्तसप्तमतपोविधि,[4] अष्टाष्टम से द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशद्विधि,[5] जिनेन्द्रगुणसम्पत्तिविधि,[6] श्रुतविधि;[7] दर्शनशुद्धविधि,[8] तपः शुद्धविधि,[9] चारित्रशुद्धविधि,[10] एककल्याणकविधि,[11] पञ्चकल्याणकविधि,[12] शील-कल्याणकविधि,[13] भावनाविधि,[14] पञ्चविंशति कल्याण भावनाविधि,[15] दुःखहरणविधि,[16] कर्मक्षयविधि,[17] नन्दीश्वर व्रतविधि,[18] मेरुपंक्तिव्रतविधि,[19] विमानपंक्तिविधि,[20] शात-कुम्भविधि,[21] सिंहनिष्क्रीडितविधि,[22] सर्वतोभद्र,[23] नवान्तभद्र,[24] महासर्वतोभद्र,[25]

---

१. एकश्चतुर्थकाभिरव्यो द्वौ षष्ठं तु त्रयोऽष्टमः।
दशमाद्यास्तथा वेद्याः षण्मास्यन्तोपवासकाः॥ हरिवंश ३४।१२५

२. हरिवंश ३४।६४-६६

३. महा ७।४२-४३, ७।७७, हरिवंश ३४।६०

४. हरिवंश ३४।६१; महा ६।७६

५. वही ३४।६२-६४

६. वही ३४।१२२; महा ६।१४१

७. वही ३४।६७; वही ६।१४६-१५१

८. वही ३४।६८

९. वही ३४।६६; महा ७।७७

१०. वही ३४।१००-१०६

११. वही ३४।११०

१२. वही ३४।१११

१३. वही ३४।११२

१४. हरिवंश ३४।११२

१५. वही ३४।११३-११६

१६. वही ३४।११८-१२०

१७. वही ३४।१२१; महा ७।१८

१८. वही ३४।८४

१९. वही ३४।८५

२०. वही ३४।८६

२१. वही ३४।८७-८९

२२. वही ३४।७८-८३; महा ७।२३

२३. वही ३४।५२-५५; वही ७।२३

२४. वही ३४।५६

२५. वही ३४।५७-५८

त्रिलोकसारविधि,[1] वज्रमध्यविधि,[2] मृदङ्गमध्यविधि,[3] मुरजमध्यविधि,[4] एकावलीविधि,[5] द्विकावलीविधि,[6] मुक्तावली विधि,[7] रत्नावलीविधि,[8] रत्नमुक्तावलीविधि,[9] कनकावलीविधि,[10] द्वितीयकनकावलीविधि,[11] द्विलक्षणपंक्तिविधि,[12] धर्मचक्रविधि,[13] परस्पर कल्याणविधि,[14] प्रोषधोपवास,[15] चातुर्मासोपवास,[16] षष्ठाष्ट (बेला-तेला) उपवास,[17] षष्ठोपवास[18]।

आलोचित जैन पुराणों में विशिष्ट तिथियों एवं मासों में व्रतोपवास के विधान एवं फल का उल्लेख मिलता है। प्रतिपदा से पञ्चमी तक की तिथियों में उपवास रहने से सब सुखों की प्राप्ति होती है। प्रतिवर्ष भादों सुदी सप्तमी को उपवास रहने को परिनिर्वाण विधि वर्णित है। इससे भी अनन्त सुख की प्राप्ति बतायी गयी है। भादों सुदी एकादशी के दिन उपवास रहने से पल्यो प्रमाण काल तक सुख मिलता है। हर मास की कृष्ण पक्ष की एकादशी व्रत करने से छियासी उपवास के बाद अनन्त सुख की प्राप्ति का उल्लेख है। मार्गशीर्ष सुदी तृतीया के दिन का उपवास अनन्त मोक्षफलदायक होता है। मार्गशीर्ष सुदी चतुर्थी के दिन बेला करने को विमान पंक्ति वैराज्य विधि संज्ञा से अभिहित किया है और इससे विमान पंक्ति का राज्य प्राप्त होता है।[19] जैन कथाओं में रोहिणी, न्यायपञ्चमी, अष्टाह्निका, पुष्पाञ्जलि, सुगन्ध दशमी आदि व्रतों का वर्णन है।[20] जैन मतावलम्बी वर्ष में तीन बार—आषाढ़, कार्तिक तथा फाल्गुन में पूजा करते हैं। पूजा के साथ वे व्रत भी रखते हैं। वे रोहिणी हरिषेण तथा पञ्चमी व्रत को विशेष महत्त्व देते हैं।[21] मनुष्यों को समर्थ्यानुसार ही उपर्युक्त विधियों को करने का निर्देश है। इनके करने से स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख की उपलब्धि होती है।

---

१ हरिवंश ३४।५६-६१
२. वही ३४।६२-६३
३. वही ३४।६४-६५
४. वही ३४।६६
५. वही ३४।६७
६. वही ३४।६८
७. वही ३४।६६-७०; महा ७१।४०८
८. वही ३४।७१; वही ७।४४, ७१।३६७
९. वही ३४।७२-७३
१०. वही ३४।७४-७५; महा ७।३६
११ हरिवंश ३४।७६-७७
१२. वही ३४।१२३
१३. वही पृ०४४३ की टिप्पणी
१४. वही ३४।१२४
१५. महा ७३।१६
१६. पद्म २२।८४
१७. वही ६४।७६
१८. वही ५।८०
१९. हरिवंश ३४।१२६-१३०
२०. श्रीचन्द्र जैन—जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर, १६६१, पृ० ५७
२१. वृजेन्द्र नाथ शर्मा—सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, नई दिल्ली, १६७२, पृ० १०८-१०६

९

भौगोलिक दशा

[क] देश [राष्ट्र]

१. **समीकृत देश [राष्ट्र]** : जैन पुराणों में ऐसे देशों का संदर्भ मिलता है, जिनका तादात्म्य साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होता है। ऐसे देश अग्र-लिखित हैं :

अंग[1] : महा पुराण के अनुसार अंग देश भरत क्षेत्र के अन्तर्गत पड़ता था।[2] जैन पुराणों में अंग देश की राजधानी चम्पा को बताया गया है।[3] हरिवंश पुराण में कहा गया है कि अंग देश में ताम्रलिप्ति नामक नगर था।[4] आधुनिक भागलपुर से

---

१. महा २९।३८, ४४।३३२; पद्म १०१।६९
२. वही ६७।२
३. हरिवंश १९।११७; पद्म ९१।३४; पाण्डव ७।२७५
४. वही १७।२

मुंगेर तक के भू-भाग को अंग कहा गया है।[1] बौद्ध-ग्रन्थ त्रिपिटक में अंग और मगध को एक साथ 'अंगमगधा' रखा गया है।[2]

अवन्ती[3] : जैनेतर मत्स्य पुराण के अनुसार कार्तवीर्यार्जुन के कुल में अवन्ति नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ था। उसी के नाम पर इस देश का नाम अवन्ती पड़ा। अवन्ती स्थूल रूप से आधुनिक मालवा, निगाड़ एवं मध्य प्रदेश में इनके निकटवर्ती भागों को द्योतित करती है। यह दो भागों में विभक्त था—उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिणी भाग की राजधानी माहिष्मती थी।[4]

अम्बष्ट[5] : इसे पद्म पुराण में अवष्ट कहा गया है।[6] इसका उल्लेख बहुत से जैनेतर ग्रन्थों में मिलता है।[7] अम्बष्ठों का देश अवर चेनाव नदी की घाटी में स्थित था।[8]

अपरान्तक[9] : इसे अपरन्त या अपरान्त नाम से भी पुकारा जाता था। अशोक के पाँचवें शिलालेख में अपरान्तक के अन्तर्गत योन, कम्बोज तथा गान्धार को भी सम्मिलित किया गया है। युवान्च्वाङ्ग के अनुसार अपरान्तक में सिन्धु, पश्चिमी राजपूताना, कच्छ, गुजरात और नर्मदा के दक्षिण का तटीय भाग (तीन राज्य सिन्धु, गुर्जर एवं वलभी) सम्मिलित थे। भरत सिंह उपाध्याय अपरान्तक में पश्चिमी समुद्र तट पर बम्बई या महाराष्ट्र के आस-पास से लेकर सुराष्ट्र एवं कच्छ तक के क्षेत्र को

---

१. नन्द लाल डे—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंशेण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ७; स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ३२

२. दीघनिकाय ३।५; मज्झिम निकाय २।३१७

३. महा १६।१५२, ७१।२०८

४. विमल चन्द्र लाहा—प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ १६७२, पृ० ५०७-५१५

५. पद्म ३७।२३, १०१।८२

६. वही १०१।८२

७. ऐतरेय ब्राह्मण ७।२१-२३; महाभारत २।४८।१४; विष्णु पु० २।३।४८; वायु पु० ६६।२२; मत्स्य पु० ४८।२१; ब्रह्माण्ड पु० ३।७४।२२; भागवत पु० १०।८३।२३

८. लाहा—वही, पृ० ११०

९. महा १६।१५५

सम्मिलित मानते हैं। सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार उत्तरी कोंकण ही अपरान्तक था। शूर्पारक या आधुनिक सोपारा इसकी राजधानी थी। भगवान् इन्द्रजी के अनुसार भारत का पश्चिमी समुद्रांचल अपरान्तक या अपरान्तिक नाम से विख्यात था।[1]

अश्मक[2] : राजशेखर ने इसकी स्थिति दक्षिण भारत में बतलायी है।[3] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने गोदावरी नदी से दक्षिण सह्याद्रि पर्वत श्रृंखला तक अश्मक जनपद का विस्तार माना है और इसकी राजधानी प्रतिष्ठान बतलायी है।[4] रिज़ डेविड्स ने अश्मक को अवन्ती के ठीक उत्तर-पश्चिम में स्थित बतलाया है।[5]

अभिसार[6] : इसकी पहचान दर्वाभिसार के साथ की जा सकती है। इस जनपद के अन्तर्गत राजपुरी (रजौरी) का प्रदेश आता था।[7]

अर्धबर्बर : विजयार्ध पर्वत के दक्षिण और कैलाश पर्वत के उत्तर बीच में अर्धबर्बर देश आता था।[8]

आनर्त्त[9] : यह काठियावाड़ में स्थित एक देश था।[10] कुछ विद्वानों के अनुसार यह द्वारिका के समीप स्थित था और दूसरे लोग बड़नगर के समीप मानते हैं।[11] आनर्त्त की राजधानी कुशस्थली थी।[12] राजशेखर के काव्यमीमांसा में आनर्त्त की राजधानी आनर्त्तपुर या आनन्दपुर बतलायी गयी है जो वर्तमान बडनगर के नाम से प्रसिद्ध है।[13]

---

१. भरत सिंह उपाध्याय—बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, सं० २०१८, पृ० १५३; लाहा—वही, पृ० २२
२. महा १६।१५२
३. काव्यमीमांसा, पटना संस्करण, अध्याय १७, पृ० २२७
४. भगवत शरण उपाध्याय—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, अध्याय २, पृ० ७६
५. रिज़ डेविड्स—बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २७-२८
६. महा १६।१५५
७. स्थनिक सेटिल्मेण्ट इन् ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० १३०
८. पद्म २७।६
९. महा १६।१५३
१०. ल्युडर्स की तालिका, सं० ९६५
११. बाम्बे गजेटियर १।१।६
१२. स्थनिक सेटिल्मेण्ट इन् ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० १५
१३. काव्यमीमांसा, पृ० २८०

आन्ध्र[1] : कृष्णा और गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश को आन्ध्र कहा जाता है। यह वर्तमान तेलगू भाषी प्रदेश है।[2]

आत्रेय[3] : वर्तमान बंगलादेश में आत्रेयी नदी और छोटी जमुना नदी राजशाही के पास जहाँ परस्पर मिलती हैं, इसी क्षेत्र को आत्रेय देश की सीमा समझना चाहिए।[4]

आवर्त[5] : महा पुराण में इसकी सीमा हिमालय पर्वत से विजयार्ध पर्वत तक और गंगा नदी से सिन्धु नदी तक बतलायी गयी है।[6] हरिवंश पुराण में कहा गया है कि पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीता नदी और कुलाचल के मध्य आवर्त्ता है।[7]

आरट्ठ[8] : आरट्ठ को संस्कृत में आराष्ट्र कहते हैं। सम्भवतः यह जनपद पंजाब का वह भू-भाग है, जो पंचनद से प्लावित होता था।[9]

आभीर[10] : महाभारत के अनुसार आभीर जनपद की स्थिति सरस्वती नदी के तट पर ज्ञात होती है।[11] चतुर्थ शती ई० में आभीर जनपद झाँसी और भोपाल के मध्य स्थित था।[12]

ओलिक : महा पुराण के अनुसार कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाण्ड्य और अन्तरपाण्ड्य देश के राजाओं को दण्डरत्न के द्वारा भरत ने अपने वशीभूत किया था।[13] इससे ज्ञात होता है कि ओलिक देश दक्षिण भारत में पाण्ड्य के आस-पास महिष के उत्तर में रहा होगा।

---

१. पद्म १०१।८४; महा १६।१५४, २६।६२
२. लाहा—वही, पृ० २४१
३. हरिवंश ३।५
४. लाहा—वही, पृ० ३५४
५. महा ३२।४६
६. वही ३२।५५
७. हरिवंश ५।२४५
८. महा १६।१५६, ३०।१०७
९. महाभारत, ७।४०।४५
१०. महा १६।१५४; हरिवंश ५०।७३
११. महाभारत २।३२।१०
१२. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८९७, पृ० ८९१
१३. कुडुम्बानोलिकांश्चैव स माहिषकमेकुरान्।
पाण्ड्यानन्तरपाण्ड्यांश्च दण्डेन वशमानयत्॥ महा २६।८०

औद्र[1] या औण्ड्र[2] : अपदान में ओड्ड (संस्कृत ओड्र) और ओक्कल (संस्कृत उत्कल) जनपदों को संयुक्त रूप से प्रयुक्त किया गया है, जिन दोनों से तात्पर्य उड़ीसा के दो भागों से ही हो सकता है । युवान-च्वाङ्ग का वु-तु, अपदान का औड्ड, महाभारत का उड्र, मनुस्मृति का ओड्र, प्लिनी का ओरितिस, तारानाथ का ओडिविश (संस्कृत ओड्रविषय) एक ही देश को सूचित करता है । यह जनपद उड़ीसा में ही था ।[3]

उड्र[4] : उड्र जनपद का उल्लेख उपर्युक्त औण्ड्र या औद्र जनपद के साथ हुआ है । उड्र को उड़ीसा के एक खण्ड से समीकृत किया जा सकता है ।[5]

उत्तरकुरु[6] : दीपवंस में वर्णित कुरुदीप को उत्तरकुरु से समीकृत किया जा सकता है । ललितविस्तर में उत्तरकुरु को एक प्रत्यन्तद्वीप कथित है ।[7]

उशीनर[8] : पाणिनि ने उशीनर को वाह्लीक जनपद बताया है ।[9] महाभारत में शिवि को उशीनर का राजा बताया गया है ।[10]

उशीरावर्त : उशीरावर्त देश में ताम्रलिप्ति की स्थिति हरिवंश पुराण में वर्णित है ।[11] यह सम्भवतः पश्चिमी बंगाल में रहा होगा ।

ककूश[12] : अधिकांश विद्वानों ने ककूश जनपद के पूर्वाञ्चल को बिहार की दक्षिणी सीमा शाहाबाद से समीकृत किया है ।[13]

---

१. महा २६।७६
२. वही २६।७१
३. भरत सिंह उपाध्याय—वही, पृ० ४६७-४६८
४. महा १६।१५२
५. एपीग्राफिका इण्डिका, जिल्द ८, पृ० १४१, जिल्द ३, पृ० ३५३
६. महा ५।६८
७. लाहा—ज्योग्राफिकल ऐसेज रिलेटिंग टू ऐंशेण्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, दिल्ली, १६७६, पृ० २२५
८. महा १६।१५३, २६।४२; पद्म १०१।८२
९. अष्टाध्यायी ४।२।११७-११८
१०. महाभारत ३।१६४।२, ७।२८।१
११. हरिवंश २१।७५-७६
१२. महा २६।५७
१३. नेमि चन्द्र जैन—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५०

कच्छ[1] : कच्छ को ही कच्छकावती भी कहा गया है। महा पुराण में कच्छ, महाकच्छ राजाओं का वर्णन मिलता है।[2] इसी पुराण के अनुसार पूर्वविदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर कच्छ नामक देश है।[3] इसके बाद कहा गया है कि जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से पूर्व कच्छकावती देश है, उसमें वीतशोक नामक नगर है।[4] हरिवंश पुराण में पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीता नदी तथा नील कुलाचल के मध्य कच्छ या कच्छकावती देश की स्थिति बतायी गयी है।[5]

कम्बोज[6] : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने आधुनिक पामीर और बदख्शां के सम्मिलित भू-भाग को कम्बोज देश माना है।[7] हरिवंश पुराण में कम्बोज को काम्बोज भी कहा गया है।[8] कम्बोज लोग पश्चिमी हिमालय के रहने वाले बताये गये हैं। भौगोलिक रूप में वे उत्तर में रहते थे। कुछ लोगों ने इन्हें राजपुर में स्थित बताया है। वे सिन्धु नदी के पश्चिमोत्तर में स्थित थे और प्राचीन फारसी अभिलेखों के कम्बुजियों के समान थे।[9]

कन्याकुब्ज[10] : इसे गाधिपुर, कुशस्थल तथा महोदया भी कहा जाता था, यह आधुनिक कन्नौज है। कन्याकुब्ज या कान्यकुब्ज पञ्चाल क्षेत्र के अन्तर्गत आता था।[11]

कश्मीर[12] : यह ऊँचे एवं दुरारोह पर्वतों से परिवृत्त एक पठार पर स्थित है। इस देश का दक्षिणी एवं पूर्वी भाग हिन्दुओं और पश्चिमी भाग विविध राजाओं के अधीन था।[13]

---

१. महा १६।१५३, २६।७६; पद्म १०१।८१; हरिवंश ६०।७५
२. वही ११७
३. वही ४६।२
४. वही ६६।२
५. हरिवंश ५।२४५
६. महा १६।१५६; हरिवंश ३।५
७. वासुदेव शरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, सं० २०१२, पृ० ६१
८. हरिवंश ५०।७३
९. विमल चन्द्र लाहा—प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० १५१
१०. महा ६५।१८
११. लाहा—वही, पृ० १५८
१२. महा १६।१५३; पद्म १०१।८२
१३. लाहा—वही, पृ० ५८२

कलिंग[1] : राजशेखर ने काव्यमीमांसा में दक्षिण तथा पूर्व के सम्मिलित भू-भाग को कलिंग माना है।[2] आधुनिक उड़ीसा में पुरी के पास का भू-भाग कलिंग क्षेत्र में सम्मिलित किया जाता है।

कामरूप[3] : यह उत्तर में भूटान से पूर्व में दरंग और नवगाँव जिलों से दक्षिण में खासी पहाड़ियों तथा पश्चिम में गोलपारा से घिरा हुआ है। इसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर थी, जिसे आधुनिक गौहाटी से समीकृत किया जाता है।[4]

कालकूट[5] : महाभारत में इसका उल्लेख हिमालय क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।[6] सम्भवतः यह हिमालय की तराई में स्थित रहा होगा।

काशी[7] : काशी आधुनिक वाराणसी से समीकृत किया जाता है। काशी बुद्धकालीन षोडश महाजनपदों में से एक था।[8]

किरात[9] : कालिदास ने इसे पूर्वी घाटी तथा टालमी ने उत्तरापथ में स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत में इन्हें आर्यावर्त के बाहर बताया गया है।[10] डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार ने बिहार के राजगिरि के तप्तकुण्डों से रामगिरि पर्यन्त विन्ध्याचल प्रदेश को किरात जनपद कहा है।[11]

कुमुदा : हरिवंश पुराण में इसे पूर्व विदेह में सीता नदी तथा निषध पर्वत के मध्य वर्णित है।[12]

कुरु[13] : प्राचीन कुरुदेश में कुरुक्षेत्र या थानेश्वर सम्मिलित थे। इस क्षेत्र में

---

१. महा १६।१५२, २६।८२; हरिवंश ३।४, १८।१६१; पद्म ३७।८६, १०१।८४
२. काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २२६, २८२
३. महा २६।४२
४. लाहा—वही, पृ० ३८०
५. महा २६।४८
६. महाभारत २।२०।२४-३०
७. महा १६।१५१, ४३।१२१, ६०।७०; हरिवंश ३।३; पद्म ६।३१७
८. अंगुत्तर निकाय १।२१३
९. महा २६।४८
१०. लाहा—वही, पृ ६०६
११. सर्वानन्द पाठक—विष्णु पुराण का भारत, बनारस, १९६७, पृ० ३१
१२. हरिवंश ५।२४७
१३. महा १६।१५२-१५३; हरिवंश ९।४४

सोनपत, आमिन, करनाल तथा पानीपत सम्मिलित थे। यह उत्तर में सरस्वती एवं दक्षिण में दृषद्वती नदियों के मध्य था।[1]

कुरु जांगल[2] : महा पुराण में कहा गया है कि जम्बू देश के दक्षिण भरत क्षेत्र में वर्ण एवं आश्रमों से भरा हुआ कुरु जांगल नामक एक विशाल देश था।[3] इसमें हस्तिनापुर नामक एक बड़े नगर का उल्लेख मिलता है।[4] सम्भवतः कुरु और कुरु-जांगल दोनों एक ही देश थे।

कूट : महा पुराण में इसकी स्थिति दक्षिण-पश्चिम में वर्णित है, जो कि बम्बई के आस-पास ज्ञात होती है।[5]

केकय[6] : केकय को झेलम के पास पंजाब के शाहपुर से समीकृत किया गया है।[7]

केरल[8] : डॉ० सरकार के मतानुसार मलयालमभाषी समस्त भू-भाग केरल जनपद के अन्तर्गत सम्मिलित था।[9]

कोंकण[10] : शक्तिसंगमतंत्र में कोंकण के पश्चिम सौराष्ट्र तथा पश्चिमोत्तर आभीर जनपद की स्थिति मानी गयी है।[11]

कोशल[12] : कोशल षोडश महा जनपदों में से एक था। यह कुरु एवं पाञ्चाल देशों के पूर्व तथा विदेह के पश्चिम में स्थित था। इसे बड़ी गण्डक विदेह से अलग

---

१. लाहा—वही, पृ० १७२
२. महा ६३।३४२
३. वही ४३।७४
४. वही ४३।७६; हरिवंश ३।४, ४५।६
५. वही २६।८०
६. वही १६।१५६
७. अग्रवाल—वही, पृ० ६७; लाहा—वही, पृ० १६५
८. महा १६।१५४; हरिवंश ५०।१२८; पद्म १०१।८१
९. दिनेश चन्द्र सरकार—स्टडीज इन् द ज्योग्राफी ऑफ ऐंशेण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, नई दिल्ली, १९६०, पृ० २६, १०४
१०. महा १६।१५६
११. शक्तिसंगमतंत्र २।७।२०, ३।७।१३
१२. महा १६।१५४, २६।४७, ५६।२०७; पद्म १०१।८३; हरिवंश ३।३, २७।६१

करती थी। श्रावस्ती और साकेत कोशल की राजधानियाँ थीं। कोशल के दो भाग थे—उत्तर कोशल तथा दक्षिण कोशल।[1]

गन्धमालिनी : हरिवंश पुराण के अनुसार पूर्व विदेह के सीता नदी तथा निषध पर्वत के मध्य यह स्थित था।[2] महा पुराण में कहा गया है कि जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर एक गन्धमालिनी देश है।[3]

गन्धा : हरिवंश पुराण के अनुसार पूर्व विदेह के सीता नदी तथा निषध पर्वत के मध्य में इसकी स्थिति थी।[4]

गन्धिल : इसे गन्धिल या सुगन्धिला कहते हैं। जैन पुराणों के अनुसार इसकी स्थिति विदेह क्षेत्र के सीता नदी तथा निषध पर्वत के मध्य में बतलायी गयी है।[5] गन्धिल देश के पूर्व मेरु पर्वत, पश्चिम में ऊर्मिमालिनी नामक विभंग नदी, दक्षिण में सीतोदा नदी और उत्तर में नीलगिरि पर्वत था।[6]

गान्धार[7] : महा पुराण में इसकी स्थिति विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में बतायी गयी है।[8] इसमें आधुनिक पाकिस्तान के रावलपिण्डी तथा पेशावर जिले सम्मिलित थे। इसकी एक राजधानी पुष्करावती या पुष्कलावती और दूसरी तक्षशिला थी।[9]

गौड़[10] : ईशानवर्मा के हरहा अभिलेख से गौड़ जनपद की स्थिति उत्तरी एवं पश्चिमी बंगाल के लिए ज्ञात होती है।[11]

गौरी : महा पुराण में विजयार्ध पर्वत के उत्तर श्रेणी में गौरी नामक देश की स्थिति बतायी गयी है।[12]

---

१. लाहा—वही, पृ० ७६-८०, १६७-१६८
२. हरिवंश ५।२५१
३. महा ५६।१०६
४. हरिवंश ५।२५१
५. वही ५।२५१; महा ४।५१, ७।४०-४१, ५६।२७६, ७०।४
६. महा ४।५२
७. पद्म १०१।८४; हरिवंश ४४।४५; महा १६।१५५
८. महा ४४।१५५
९. लाहा—वही, पृ० १३०-१३१
१०. महा २६।४१
११. एपीग्राफिका इण्डिका, जिल्द १४; पृ० ११७, जिल्द २२; पृ० १३५
१२. महा ४६।१४७

चेदि[1] : यह यमुना के समीप तथा कुरु जनपद से मिला हुआ था। स्थूल रूप से यह आधुनिक बुन्देलखण्ड, बांदा एवं निकटवर्ती क्षेत्र को द्योतित करता है। चेदि की राजधानी सोत्थिवती पुरी थी, जिसे महाभारत के शुक्तिमती नगर से समीकृत किया जा सकता है।[2]

चेरि[3] : चेरि की राजधानी स्कन्दपुरी रही होगी, जो आधुनिक कोयम्बटूर जिले के पश्चिम में पड़ता है।[4]

चोल[5] : चोल राज्य द्राविड़ के नाम से पुकारा जाता था।[6] चोल प्रदेश में तंजोर एवं त्रिचनापल्ली जिलों के भू-भाग सम्मिलित किये जाते थे।[7]

टंकण : हरिवंश पुराण के अनुसार ऐरावती नदी के आगे गिरिकूट और वेत्रवन के बाद टंकण देश है।[8]

त्रिगर्त[9] : यह देश रावी एवं सतलज के मध्य में स्थित था और इसकी राजधानी कहीं जालंधर के समीप थी। प्राचीन काल में यह कांकड़ा क्षेत्र का वाचक था।[10]

त्रिकलिंग[11] : इसमें कलिंग, तोसल तथा उत्कल सम्मिलित थे। कुछ लोग इसमें उड्र (मुख्य उड़ीसा), कंगोद तथा कलिंग को सम्मिलित मानते हैं।[12]

तैतिल[13] : नेमि चन्द्र जैन ने इस जनपद की स्थिति पंजाब, सिंध एवं कम्बोज के आस-पास मानी है।[14]

---

१. महा २६।५५
२. लाहा—वही, पृ० ५२१
३. महा २६।७६
४. दिनेश चन्द्र सरकार—वही, पृ० ६८
५. महा १६।१५४, २६।६४; पद्म १०१।७७
६. दिनेश चन्द्र सरकार—वही, पृ० ५१
७. लाहा—वही, पृ० २४६
८. हरिवंश २१।१०२
९. वही ३।३
१०. लाहा—वही, पृ० २२२
११. महा २६।७६
१२. लाहा—वही, पृ० ३२६
१३. महा ३०।१०७
१४. नेमि चन्द जैन—वही, पृ० ५८

दारु[1] : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह जम्बू का राज्य प्रतीत होता है।[2]

द्रमिल[3] : हरिवंश पुराण में इसे द्रविड़ देश कहा गया है।[4] यह दक्षिण भारत का द्राविड़ क्षेत्र था।

धवल : महा पुराण में वर्णित है कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में धवल देश है।[5]

नेपाल[6] : इसका प्राचीन नाम श्लोषमातकवन बताया गया है। नेपाल की सीमा पूर्व में कौशिकी नदी, पश्चिम में त्रिशूलगंगा, उत्तर में शिवपुरी (कैलाश) तथा दक्षिण में शीतल जल वाली नदी बतायी गयी है।[7]

नलिनी : हरिवंश पुराण के अनुसार पूर्व विदेह के सीतोदा और निषध के मध्य नलिनी देश स्थित है।[8]

पल्लव[9] : काव्यमीमांसा में पल्लव के स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान होता है।[10] पल्लव नरेशों की राजधानी काञ्ची थी, जिसके उत्कर्ष में उन्होंने महान् योगदान दिया था।[11] पल्लव दक्षिण भारत के पूर्वी तटीय भू-भाग पर राज्य करते थे।

पद्म या पद्मावती : महा पुराण में कहा गया है कि जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में पद्म नामक देश है।[12] हरिवंश पुराण में पद्म या पद्मावती की स्थिति पूर्व विदेह के सीता एवं निषध के मध्य बतायी गयी है।[13]

---

१. महा १६।१५४
२. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० ६१
३. हरिवंश ५०।१२८
४. वही ५०।७३
५. महा ६७।२५६
६. पद्म १०१।८१
७. लाहा—वही, पृ० १६१
८. हरिवंश ५।२४६
९. महा १६।१५५, ७२।१६६; हरिवंश ६३।७४
१०. काव्यमीमांसा अध्याय १७, देशविभाग, एवं परिशिष्ट २, पृ० २६
११. उदय नारायण राय—प्राचीन भारत में नगर तथा नागरिक जीवन, इलाहाबाद १६६५, पृ० ५३
१२. महा ७३।३१
१३. हरिवंश ५।२४६

पुण्डरीकिणी : इसे पुण्डरीक भी कहा जाता था। जैन पुराणों में इसकी स्थिति विदेह क्षेत्र में बतायी गयी है।[1]

पुण्ड्र[2] : पद्म पुराण में पौण्ड्र देश का उल्लेख मिलता है[3], जो पुण्ड्र देश था। महाभारत में कई बार पौण्ड्र या पौण्ड्रकों को कभी बंगों और किरातों से सम्बन्धित बताया गया है[4] और अन्य स्थानों पर उड्रों, उत्कलों, मेकलों, कलिंगों एवं आन्ध्रों के साथ।[5]

पुन्नाग : महा पुराण के अनुसार यह देश दक्षिण भारत में केरल में स्थित था।[6]

पुरी[7] : सम्भवतः यह उड़ीसा में स्थित आधुनिक जगन्नाथ पुरी है।

पुष्कला या पुष्कलावती : विदेह क्षेत्र में सीता नदी और नील कुलाचल के मध्य में पुष्कला या पुष्कलावती देश की स्थिति बतायी गयी है।[8] सिन्धु नदी के पश्चिम में यह गान्धार की एक प्राचीन राजधानी थी। इसे स्वात एवं काबुल नदी के संगम से थोड़ा पहले स्थित आधुनिक चारसद्दा (चारषदा) से समीकृत करते हैं।[9]

प्रातर[10] : यह पुन्नाग देश के साथ है, जो दक्षिण भारत में केरल में स्थित था।

मगध[11] : मगध को विहार के पटना एवं गया जिलों से समीकृत किया जाता है।

---

१. पद्म ६४।५०; महा ६।५८
२. महा १६।१५२
३. पद्म ३७।१७
४. महाभारत, २।१३।५८४
५. वही, ६।६।३६५; ७।४।१२२
६. महा २६।७६
७. पद्म १०१।८४
८. महा ६।२६, ५१।२; हरिवंश ५।२४५
९. लाहा—वही, पृ० २०१
१०. महा २६।७६
११. वही १६।१५३, २६।४७, ७६।२१६; पद्म २।१, १८।१; हरिवंश ३।३६

मत्स्य : यह मध्य देश में स्थित था।[1] इसे आधुनिक जबलपुर से समीकृत करते हैं। इसकी राजधानी विराट या विराट नगर थी।[2]

मद्र[3] : आधुनिक स्यालकोट और रावी तथा चेनाव नदियों के मध्य स्थित उसके समीपवर्ती क्षेत्रों को मद्र देश से समीकृत करते हैं।[4]

मल्ल[5] : दीघनिकाय के अनुसार पावा और कुशीनगर के आस-पास मल्ल स्थित था[6] यह आधुनिक देवरिया के अन्तर्गत आता है।

मलय[7] : महा पुराण में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मलय नामक देश का उल्लेख मिलता है।[8]

मंगलावती : जैन पुराणों के अनुसार जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी और निषध पर्वत के मध्य सीता नदी के दक्षिण तट पर मंगलावती नामक देश है।[9]

मध्यदेश[10] : बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार सरस्वती नदी के विनशन प्रदेश के पूर्व, प्रयाग के निकट कालक वन के पश्चिम, पारिपात्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में मध्यदेश था। बिहार एवं बंगाल इसकी सीमा के बाहर थे। मनु के धर्मशास्त्र में सूत्रों के आर्यावर्त को मध्य देश कहा गया है। सूत्रों के आधार पर आर्यावर्त और मनु का मध्यदेश काव्यमीमांसा (पृ० ९३) के अनुसार अन्तर्वेदी के नाम से विश्रुत है, जो पूर्व में वाराणसी तक फैला था।[11]

महाकच्छ : महा पुराण में इसे पूर्व विदेह का जनपद बताया गया है।[12]

---

१. हरिवंश ३।४
२. लाहा—वही, पृ० ८६
३. महा २९।४१
४. लाहा—वही, पृ० १७७
५. महा २९।४८
६. भरत सिंह उपाध्याय—वही, पृ० ३१५
७. महा ५६।६३; हरिवंश ५९।११२
८. वही ५६।२३
९. वही ७।९०, ५०।२; हरिवंश ५।२४७
१०. वही २९।४२
११. लाहा—वही, पृ० २०
१२. महा ५।१९३

हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति पश्चिम विदेह क्षेत्र सीता नदी और नील कुलाचल के मध्य बतायी गयी है।[1]

मंगला : महा पुराण में इसकी स्थिति जम्बूद्वीप में बतायी गयी है।[2]

महापद्मा : हरिवंश पुराण में पूर्व विदेह के सीता नदी और निषध पर्वत के मध्य में इसकी स्थिति वर्णित है।[3]

महाराष्ट्र[4] : महाराष्ट्र या मो-हो-ला-च अपने संकीर्ण अर्थ में दकन है। महाराष्ट्र गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्य स्थित था।[5] यह आधुनिक महाराष्ट्र प्रदेश है।

महावप्रा : हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति पश्चिम विदेह के सीतोदा नदी और नील पर्वत के मध्य में बतायी गयी है।[6]

महिष[7] : यह माहिषक से पृथक् था।

मालव[8] : शक्तिसंगमतंत्र में अवन्ती के पूर्व और गोदावरी नदी के उत्तर में इसकी स्थिति मानी गयी है।[9]

यवन[10] : पश्चिमोत्तर सीमान्त पर स्थित यूनानियों को योन या यवन कहा जाता था। इनकी स्थिति निश्चित करना दुष्कर है। ये पश्चिमोत्तर भारत में थे।

रम्यक या रम्या या रमणीया : पूर्व विदेह में सीता नदी और निषध पर्वत के मध्य में इसकी स्थिति बतायी गयी है।[11]

---

१. हरिवंश ५।२४५
२. महा ७०।१८२
३. हरिवंश ५।२४६
४. महा १६।१५४
५. लाहा—वही, पृ० २८६
६. हरिवंश ५।२५१
७. महा २६।८०
८. वही १६।१५३, २६।४७; पद्म १०१।८१; हरिवंश ५०।५८
९. शक्तिसंगमतंत्र ३।७।२१
१०. महा १६।१५५; पद्म १०१।८१; हरिवंश ५०।७३
११. वही १६।१५२, ५६।२; हरिवंश ५।२४७

लाङ्गलावती : हरिवंश पुराण में पश्चिम विदेह में सीता नदी और नील पर्वत के मध्य में इसकी स्थिति बतायी गयी है।[1]

लाट[2] : बन्धुवर्मा के मन्दसोर अभिलेख में लाट का वर्णन मिलता है। कुछ लोगों के अनुसार लाट माही एवं निचली ताप्ती नदियों के मध्य स्थित खानदेश सहित दक्षिण गुजरात था। कुछ लोग इसे मही और किम नदियों के मध्य मानते हैं। इसमें सूरत, भड़ौच, खेदा जिले एवं बड़ौदा के कुछ भाग सम्मिलित थे।[3]

वत्स[4] : वत्स को सुवत्सा, वत्सकावती और महावत्स भी कहा जाता था। इसकी स्थिति जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पूर्व विदेह में सीता नदी और निषध पर्वत के मध्य में था।[5] आधुनिक इलाहाबाद जिले में दक्षिण पश्चिम कोने पर ३५ मील दूर कोसम ग्राम (कौशाम्बी) को वत्स की राजधानी से समीकृत किया गया है।

वंग[6] : डॉ० बी० सी० लाहा के अनुसार यह बंगाल का प्राचीन नाम था। डॉ० डी० सी० सरकार ने इसे दक्षिणी पूर्वी बंगाल बताया है।[7]

वनवास[8] : डॉ० नन्दलाल डे ने वनवास की स्थिति वरदा नदी के तट पर बतायी है।[9]

वप्रा : हरिवंश पुराण के अनुसार पश्चिम विदेह के नील पर्वत और सीतोदा नदी के मध्य में इसकी स्थिति थी।[10]

वप्रकावती : इसकी भी स्थिति पश्चिम विदेह के सीतोदा नदी एवं नील पर्वत के मध्य में बतायी गयी है।[11]

---

१. हरिवंश ५।२४५
२. महा ३०।६७; हरिवंश ५६।११०
३. लाहा—वही, पृ० ४७६
४. महा १६।१५३, २६।६०, ५८।२; हरिवंश ५।२४७; पद्म ३७।२२
५. वही ७।३३, ६१।२; हरिवंश ५।२४७
६. वही १६।१५२, २६।४७, ७५।८१; पद्म ३७।२१; हरिवंश ५६।१११
७. अवध विहारी लाल अवस्थी—स्टडीज इन स्कन्दपुराणज (भाग १) लखनऊ १६६५, पृ० ३५
८. महा १६।१५४
९. सरकार—वही, पृ० २००
१०. हरिवंश ५।२५१
११. वही ५।२५१

वाड़वान[1] : इसे वल्लवाड़ या वलयवाड़ या वलवाड़ कहते थे, जो कोल्हापुर से लगभग २७ मील दक्षिण-पश्चिम में वर्तमान राधा नगरी में स्थित था।[2]

वाल्हीक[3] : इसका उल्लेख मेहरौली स्तम्भ लेख में हुआ है, जो पंजाब में स्थित था।

विदेह[4] : इसकी स्थिति बिहार में मिथिला के आस-पास थी।

विदर्भ[5] : इसमें वरदा नदी बहती थी। इसे आधुनिक बरार से समीकृत करते हैं।[6]

विन्ध्य[7] : यह उत्तर और दक्षिण भारत की सीमा रेखा है। ऋक्ष, विन्ध्य एवं पारिपात्र उस सम्पूर्ण भू-भाग के अंग हैं, जिसे सम्प्रति विन्ध्य कहा जाता है।[8] इसीके आस-पास क्षेत्र को विन्ध्य देश कहा गया है।

शक[9] : शकों को गुजरात, काठियावाड़ के आस-पास के क्षेत्र से समीकृत किया गया है।

शकट : हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति भरत क्षेत्र में बतायी गयी है।[10]

शङ्खा : हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति पश्चिम विदेह के सीतोदा नदी एवं नील पर्वत के मध्य में बतायी है।[11]

शाल्व (साल्व)[12] : पाणिनि के सूत्र में शाल्व जनपद में औदुम्बर, मद्रकार, युगन्धर, भूलिंग एवं शरदण्ड सम्मिलित थे। शाल्व आधुनिक अलवर के पास था। महाभारत के अनुसार यह कुरुक्षेत्र के पास था।[13]

---

१. हरिवंश ३।६
२. लाहा—वही, पृ० ५०१
३. महा १६।१५६, ३०।१०७; पद्म १०१।८३; हरिवंश ३।५
४. वही १६।१५५, ६६।२०; हरिवंश २।१
५. वही ७१।३४१; हरिवंश १७।२३
६. लाहा—वही, पृ० ५६८
७. पद्म १०१।८३
८. लाहा—वही, पृ० ५०२-५०३
९. महा १६।१५६; पद्म १०१।८१
१०. हरिवंश २७।२०
११. वही ५।२५१
१२. वही ३।३
१३. लाहा—वही, पृ० २०८

शूरसेन[1] : मथुरा को शूरसेन की राजधानी बतायी गयी है।[2]

श्रावस्ती[3] : प्राचीन श्रावस्ती आधुनिक सहेत-महेत है, जो गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित है।[4]

सरिद : महा पुराण के अनुसार पुष्करवर द्वीप के पश्चिम मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सरिद देश विद्यमान है।[5]

सरिता : पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी और नील पर्वत के मध्य इसकी स्थिति बतायी गयी है।[6]

सारसमुच्चय : धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व उत्तर क्षेत्र में सारसमुच्चय देश था, इसमें आधुनिक नागपुर नगर है।[7]

सिन्धु[8] : सिन्धु नदी के तट पर ही प्राचीन सिन्धु देश रहा होगा।

सुकच्छ : धातकीखण्ड के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नामक देश है।[9] इसे कच्छ से समीकृत करते हैं।

सुकोशल[10] : इसकी पहचान कोशल या महाकोशल से की जाती है।

सुगन्धि : पूर्व मेरु के पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धि नामक देश है।[11] इसे गन्धि या गन्धिल देश से भी समीकृत किया जाता है।

सुगन्धा : पश्चिम विदेह क्षेत्र के सीतोदा नदी एवं नील पर्वत के मध्य में इसकी स्थिति है।[12] इसे गन्ध देश से भी समीकृत करते हैं।

---

१. महा १६।१५५; पद्म १०१।८३; हरिवंश ५९।११०
२. लाहा—वही, पृ० १८०
३. महा ४९।१४; पद्म ९१।२३
४. लाहा—वही, पृ० २१०
५. महा ६२।३६४
६. हरिवंश ५।२५१
७. महा ६८।३
८. वही १६।१५५, ६२।११६; हरिवंश ४४।३३
९. वही ५३।२; हरिवंश ५।२४५
१०. वही १६।१५२
११. महा ५४।९-१०
१२. हरिवंश ५।२५१

सुपद्मा : पूर्व विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी और निषध पर्वत के मध्य में इसकी स्थिति कथित है।[1] इसे पद्म देश से समीकृत करते हैं।

सुरम्य : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सुरम्य देश था, जिसमें पोदनपुर नामक नगर था।[2]

सुराष्ट्र[3] : इसे आधुनिक सौराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात से समीकृत करते हैं।

सुह्म[4] : कालिदास ने इसकी चर्चा कपिशा नदी के पास किया है।[5] यह आधुनिक पश्चिम बंगाल के ताम्रलिप्ति का क्षेत्र है।

सौवीर[6] : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसकी पहचान सिन्धु प्रान्त या सिन्धु नदी के निचले भाग से किया है। इसकी राजधानी रौद्रव (वर्तमान रोड़ी) माना है।[7] पद्म पुराण में इसे सुवीर कथित है।[8]

हरिवर्ष : महा पुराण के अनुसार भरत क्षेत्र में हरिवर्ष देश में भोगपुर और वत्सालय नगर स्थित थे।[9]

२. असमीकृत देश : आलोचित जैन पुराणों में अधोलिखित राष्ट्रों का उल्लेख हुआ है, परन्तु इनको समीकृत नहीं किया जा सका :

अनल[10], अलक[11], अंजन[12], आरुल[13], आर्य[14] इक्ष्वाकु[15], उलूक[16], क्वाथतोष[17], कर्ण[18], कर्णाट[19],

---

१. हरिवंश ५।२४६
२. महा ५७।८४, ६२।८६
३. महा १६।१५४, ७१।२००, हरिवंश ४४।२६
४. वही १६।१५२; पद्म १०१।४३
५. रघुवंश ४।३५
६. महा १६।१५५; हरिवंश ३।५; पद्म १०१।८४
७. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० ६४
८. पद्म ३७।२३
९. महा ७०।७४
१०. पद्म १०१।७७
११. महा ५४।८६
१२. हरिवंश ५६।१११
१३. पद्म १०१।८१
१४ वही १०१।८०
१५. महा १।६
१६. पद्म १०१।८३
१७. हरिवंश ३।६
१८. वही ३।६
१९. महा १६।१५४

करहाट,[1] कमेकुर,[2] काल,[3] कालाम्बु,[4] कुशाग्र,[5] कुशार्थ,[6] कुशाद्य,[7] कुणाल,[8] कुसन्ध्य,[9] कूबेर,[10] कोहर;[11] कौबेर,[12] कोकाक्ष,[13] खश,[14] गौशील,[15] चन्द्रयश,[16] चारु,[17] चिलात,[18] तार्ण,[19] तुरुष्क,[20] त्रिजट,[21] त्रिशिर,[22] दण्डक,[23] दरी,[24] दरीरुक,[25] नट,[26] नन्दि,[27] नन्दन,[28] पटच्चर,[29] प्रोष्ठिल,[30] प्रच्छाल,[31] पारशैल,[32] बाण,[33] भगलि,[34] भद्रकार;[35] भरद्वाज,[36] भाषकुन्तल,[37] भीम,[38] भीरु,[39] भूतरव,[40] मनोरम (शिवंकरपुर),[41] महादेश,[42] मेखल,[43] म्लेच्छ,[44] मौक,[45] रत्नांक,[46] लम्पाक,[47] वर्वर,[48] वृकार्थक,[49] वृषाण,[50] विशाल,[51] वैद्य,[52] वानायुज,[53] वापि,[54] शर्बर,[55] शलभ,[56] शिखापट,[57] सनर्त,[58] समुद्रक,[59] सिंहल,[60] सुजन,[61] सूर,[62] सूर्यारक,[63] सौस्न,[64] हिडिम्ब,[65] हेमाङ्गद[66]।

१. महा १६।१५४
२. वही २६।८०
३. पद्म १०१।८४
४. वही १०१।७७
५. हरिवंश ५६।११०
६. महा ७०।६२
७. हरिवंश १८।६
८. महा ५६।१०७
९. हरिवंश ३।३
१०. पद्म ३३।३३२
११. वही १०१।८४
१२. वही १०१।८४
१३. वही १०१।६६
१४. वही १०१।८३
१५. वही १०१।८२
१६. हरिवंश ५०।१२८
१७. पद्म १०१।८१
१८. महा ३२।४६
१९. हरिवंश ३।६
२०. महा १६।१५६
२१. पद्म १०१।८१
२२. वही १०१।८२
२३. वही ४१।६२
२४. वही १०१।८४
२५. हरिवंश ३।५
२६. पद्म १०१।८१
२७. वही १०१।७७
२८. वही १०१।७७
२९. हरिवंश ३।३
३०. पद्म ३७।२३
३१. हरिवंश ३।६
३२. पद्म १०१।८२
३३. महा ३०।१०७
३४. वही ४८।१२७, ७३।१२०; हरिवंश ६०।२०
३५. हरिवंश ३।३
३६. वही ३।६
३७. पद्म १०१।७७
३८. वही १०१।७७
३९. वही १०१।८१; हरिवंश ३।५
४०. वही १०१।७७
४१. महा ४७।४६
४२. वही १६।१५१
४३. पद्म १०१।८३
४४. वही १०१।८०
४५. हरिवंश ३।४
४६. पद्म १०२।१५७
४७. वही १०१।८३
४८. वही १०१।८२; हरिवंश ५०।१२८
४९. हरिवंश ३।४
५०. पद्म १०१।८२
५१. हरिवंश ५६।१०१
५२. पद्म १०१।८२
५३. महा ३०।१०७
५४. वही ३०।१०७
५५ पद्म १०१।८१
५६. वही १०१।७७
५७. वही १०१।८३
५८. वही १०१।८३
५९. महा १६।१५२
६०. हरिवंश ५०।१२८; पद्म १०२।१५६
६१. महा ७५।४२०
६२. हरिवंश ३।५
६३. पद्म १०१।८३
६४. वही १०२।१५६
६५. वही १०१।८३
६६. महा ७५।१८८

[ख] नगर

१. समीकृत नगर : हमारे अधीत जैन पुराणों में अधोलिखित नगरों का वर्णन मिलता है, जिनका तादात्म्य तत्कालीन साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से होता है :

अलका[१] : विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत गन्धिल देश है और गन्धिल के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। विजयार्ध पर्वत की उत्तरी श्रेणी पर अलकापुरी के होने का उल्लेख उपलब्ध है।[२] श्री सूर्य नारायण व्यास ने इसे जोधपुर (जावालिपुर) से ७० मील दक्षिण में स्थित माना है। यह हिमालय के आस-पास है।[३]

अजाखुरी : सुराष्ट्र देश में अजाखुरी नगर बताया गया है।[४]

अमरकङ्कपुरी : अंग देश में अमरकङ्कपुरी नगरी थी।[५]

अमरावती[६] : इसका प्राचीन नाम धान्यघट या धान्यघटक था, जिसे धान्यकट या धान्यकटक से समीकृत करते हैं। अमरावती बेजवाड़ा से लगभग १८ मील पश्चिम आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के दाहिने तट पर धरणी के दक्षिण, इसके मुहाने से ६० मील दूर स्थित है।[७]

अश्वपुर : जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में पद्म देश में इस नगर का उल्लेख मिलता है।[८]

अरिष्टपुर[९] : पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश में अरिष्टपुर नगर है।[१०] कच्छकावती देश में अरिष्टपुर बताया गया है।[११] यह शिवि राजा की राजधानी थी।

---

१. पद्म २।३८; महा ४।१०४, ५६।२२६
२. महा ४।१०४, ६२।५८
३. सूर्य नारायण व्यास—विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन, इन्दौर, पृ० ७७
४. हरिवंश ४४।२६
५. वही पृ० ५४।८
६. महा ६।२०५
७. लाहा—वही, पृ० २३५
८. पद्म ५५।८७; महा ७३।३१-३२
९. वही २०।१४; हरिवंश ३१।८; महा ५।१६३
१०. महा ७१।४००
११. हरिवंश ६०।७५

शिवि राज्य को पंजाब के शोरकोट प्रदेश से समीकृत करते हैं। यही प्राचीन शिविपुर या शिवपुर था।[1]

अयोध्या[2] : अयोध्या नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी और अड़तीस योजन परिधि में थी।[3] यह पूर्व धातकीखण्ड के पश्चिम, विदेह क्षेत्र में गन्धिल देश में था।[4] सुकोशल देश में अयोध्या नगर था।[5] आधुनिक फैजाबाद जिले में अयोध्या नगर है।

आदित्याभ : धातकीखण्ड के पूर्व भाग में मेरु पर्वत से पूर्व पुष्कलावती देश में आदित्याभ नगर था।[6] पद्म पुराण में इसे आदित्य नगर[7] एवं आदित्यपुर[8] वर्णित है।

इन्द्रपुर[9] : यह बुलन्दशहर जिले के डिभई परगना से पाँच किमी० पश्चिमोत्तर में स्थित था।[10]

उज्जयिनी[11] : उज्जयिनी जो अवन्ती या पश्चिमी मालवा की राजधानी थी एवं चर्मण्वती (चम्बल नदी) की सहायक शिप्रा के तट पर स्थित थी, वही मध्य प्रदेश में आधुनिक उज्जैन नगर है।[12]

उत्पलखेटक : पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश में उत्पलखेटक नगर था।[13]

उशीरवती : पुष्कलावती देश के विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी श्रेणी में एक गान्धार देश था, उसी में उशीरवती नगर था।[14]

---

१. लाहा—वही, पृ० ११२
२. पद्म ३।१६६-१७२; हरिवंश १०।१६३; महा ७।४१
३. वही ८१।१२०
४. महा ५६।२७६-२७७
५. वही ७१।४१६
६. वही ६२।३६१
७. पद्म १६।६१
८. वही १५।६, १५।४७
९. हरिवंश १७।२७, ३८।३६; महा ६५।१७६
१०. लाहा—वही, पृ० १४६
११. पद्म ३३।७४; हरिवंश २०।३; महा ७०।२८०
१२. लाहा—वही, पृ० ५०६
१३. महा ६।२७
१४. वही ४६।१४५

काञ्चनपुर[1] : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कनकपुर नगर था।[2] विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी क्षेत्र में कनकपुर नगर था।[3] पद्म पुराण में काञ्चन नगर वर्णित है।[4]

काञ्चनतिलक : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के सुकच्छ देश के विजयार्ध पर्वत के उत्तरी श्रेणी पर काञ्चनतिलक नगर था।[5]

काञ्चीपुर : कलिंग देश में काञ्चीपुर नगर था।[6] मद्रास के दक्षिण-पश्चिम में ४३ मील दूर पलार नदी के तट पर द्रविड़ या चोल की राजधानी थी।[7]

काम्पिल्य : भरत क्षेत्र में काम्पिल्य नगर बताया गया है।[8] यह बदायूँ और फर्रुखाबाद के मध्य गंगा तट पर आधुनिक काम्पिल्य नगर है। डॉ० नन्दलाल डे के अनुसार उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ से २८ किमी० उत्तर-पूर्व में यह नगर स्थित है। यह कायमगंज स्टेशन से पाँच मील दूर है।[9]

किन्नरगीत : जम्बूद्वीप के सुकच्छ देश में विजयार्ध के पास किन्नरगीत नगर था।[10]

किष्किन्धा[11] : धुलेव से लगभग मील चार दक्षिण-पूर्व में कल्याणपुर नामक आधुनिक गाँव के पास प्राचीन नगर के भग्नावशेष हैं।[12]

कुण्डलपुर : विदेह क्षेत्र में कुण्डलपुर (कुण्डिनपुर) या कुण्ड नगर था।[13]

कुण्डिन[14] : इसे कुण्डलपुर से समीकृत करते हैं।

---

१. पद्म ५।३५१, ६४।४; हरिवंश २४।११; महा ४७।७८
२. महा ५८।६१, ५८।१२२
३. पद्म १५।३७
४. वही ६४।४
५. महा ६३।१०५
६. वही ७०।१२५
७. लाहा—वही, पृ० २७२-२७३
८. पद्म ८।२८१; महा ५६।१४, ७२।१६७
९. लाहा—वही, पृ० १५६
१०. महा १६।३३, ६३।६१-६३; पद्म ५।१७६
११. पद्म, १।६६ ८।४६७; महा ६८।४४४
१२. लाहा—वही, पृ० ५६७-५६८
१३. हरिवंश २।५, ७५।८; महा ६२।१७८, ७१।३४१
१४. पद्म २०।६०; हरिवंश १७।२३

केतुमाला : इसे विजयार्ध पर्वत का उत्तरी नगर बताया गया है।[1]

कोशलपुर[2] : यह आधुनिक कोशल या अयोध्या है, जो फैजाबाद जिले में स्थित है।

कौशाम्बी[3] : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी थी।[4] यह वत्सों की राजधानी थी, जो इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम तीस मील दूर यमुना के तट पर स्थित आधुनिक कोसम है।[5]

गगनवल्लभ : जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश में विजयार्ध पर्वत की उत्तरी श्रेणी में गगनवल्लभ नगर था।[6]

गन्धसमृद्ध : विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी श्रेणी में गान्धार देश में गन्धसमृद्ध नगर था।[7]

गण्यपुर : पश्चिम विदेह क्षेत्र में रूप्याचल पर्वत की उत्तरी श्रेणी में गण्यपुर नगर था।[8]

गान्धार[9] : गान्धार में पाकिस्तान के पेशावर एवं रावलपिण्डी जिले सम्मिलित हैं।[10] गान्धार के रहने वाले को गान्धारी कहा गया है।[11]

गिरिनगर[12] : गिरिनगर (गिरनार) को अभिलेखों में ऊर्जयत भी कहा गया है। सौराष्ट्र में जुनागढ़ के समीप ही (गुजरात में) गिरनार या रैवतक पहाड़ी पर यह नगर स्थित है।[13]

---

१. महा १९।८०
२. पद्म २१।१६४
३. वही २०।१६, ९१।३०; हरिवंश १४।२; महा ५२।१८, ६२।३५१
४. हरिवंश १।११९; महा ६९।२
५. लाहा—वही, पृ० १६८
६. पद्म ३।३१४; हरिवंश २७।२; महा १९।८२, ७०।३९, ७१।४१९
७. हरिवंश ३०।६, ३२।२३
८. वही ३४।१५
९. पद्म ९४।७
१०. लाहा—वही, पृ० ५७८
११. पद्म ३१।४१
१२. हरिवंश ३३।१५०; महा ७१।२७०
१३. लाहा—वही, पृ० ४७३

गोकुल[1] : उत्तर प्रदेश में मथुरा से पाँच मील दक्षिण, दक्षिण-पूर्व में गोकुल है।[2]

चक्रधर : पुण्डरीक देश में चक्रधर नगर है।[3]

चन्दनवन[4] : भरत क्षेत्र के दक्षिणी तट पर चन्दनपुर नगर है।[5] चन्दनपुरी आधुनिक चन्दनपुरी है, जो एलोरा के लगभग ४५ मील दूर पश्चिमोत्तर में भालेगाँव से तीन मील दूर दक्षिण-पश्चिम में गिरणा नदी के तट पर स्थित एक कस्बा है।[6]

चन्द्रपुर : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी श्रेणी पर चन्द्रपुर नगर है।[7] इसका तादात्म्य आधुनिक चाँदपुर से किया जा सकता है, जो सिवनी के दक्षिण और वेन गंगा नदी के पश्चिम में स्थित है।[8]

चम्पा : भरत क्षेत्र में अंग देश की राजधानी चम्पा थी।[9] यह बिहार में भागलपुर से पश्चिम चार मील दूर स्थित थी।[10]

चित्रकूट[11] : यह इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम पैंसठ मील दूर बाँदा जिले में स्थित है। यह कालिंजर से बीस मील उत्तर-पूर्व में है।[12]

छत्रपुर : भरतपुर में छत्रपुर नगर था।[13] छत्राकारपुर में महावीर पूर्व जन्म में उत्पन्न हुए थे।[14] सम्भवतः यह मध्य प्रदेश का छतरपुर जिला है।[15]

जयपुर[16] : यह आधुनिक राजस्थान की राजधानी है।

---

१. महा ७०।१३४
२. लाहा—वही, पृ० १८२
३. पद्म ६४।५०
४. हरिवंश २६।२४
५. वही ६०।८१
६. लाहा—वही, पृ० २४७
७. पद्म ६।४०२, २०।२२१, ६४।६; महा १६।५२, ५४।१६३, ७१।४०५
८. लाहा—वही, पृ० ५२०-५२१
९. पद्म ८।३०१, २०।१५; हरिवंश १६।११७; महा ६७।२, ७५।८२
१०. लाहा—वही, पृ० ३६१
११. महा १६।५१
१२. लाहा—वही, पृ० १२५
१३. महा ५६।२५४
१४. पद्म २०।१६; हरिवंश ६०।१४६
१५. लाहा—वही, पृ० ५३०
१६. हरिवंश २४।३०

ताम्रलिपि : अंग देश में ताम्रलिप्ति नगर वर्णित है।[1] यह पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में रूपनारायण तथा हुगली के संगम पर बारह मील दूर आधुनिक तामलुक है।[2]

त्रिपुर[3] : त्रिपुर या त्रिपुरी आधुनिक जबलपुर से छः मील दूर आधुनिक तेवर है।[4]

दन्तपुर[5] : यह कलिंग देश की राजधानी थी। इसे उड़ीसा में पुरी से समीकृत किया गया है।[6]

दशार्णपुर : दशार्णपुर को दशारण्यपुर[7] या दशाङ्ग[8] (दशपुर) कहा गया है। यह मृगावती देश में पड़ता है।[9] स्थूलरूप से इसे मालवा से समीकृत करते हैं, जिसकी राजधानी विदिशा थी।[10]

दुर्ग[11] : यह मध्य प्रदेश का दुर्ग जिला है।

द्वारावती : इसे भरत क्षेत्र में समुद्र के अन्दर बारह योजन पर स्थित बताया गया है।[12] कुछ लोगों के अनुसार द्वारका के आस-पास का क्षेत्र आनर्त्त कहा गया है। अन्य विद्वान् इसे बड़नगर का परवर्ती जिला मानते हैं।[13]

नागपुर : धातकीखण्ड के भरत क्षेत्र में सारसमुच्चय देश में नागपुर नगर बताया गया है।[14] यह आधुनिक महाराष्ट्र का नागपुर नगर है।

---

१. हरिवंश १७।२०
२. लाहा—वही, पृ० ४३६-४४१
३. पद्म २।१६; महा ६३।१४
४. लाहा—वही, पृ० ५५२
५. महा ७०।६५
६. लाहा—वही, पृ० ०५२
७. पद्म ३३।८०
८. वही ८०।१०६, ३३।७५
९. महा ७१।२६१; पद्म ३३।१३५
१०. लाहा—वही, पृ० ६१४
११. महा १६।८५
१२. पद्म १०६।२७; हरिवंश १।६६; महा ५८।८३, ७१।२७
१३. लाहा—वही, पृ० ६११
१४. पद्म २०।१६; हरिवंश ३४।४३; महा ६८।३-४

पलाश : पलाशद्वीप में पलाश नगर बताया गया है।[1] नंगल देश में पलाश-कूट नगर वर्णित है।[2] धातकीखण्ड के विदेह क्षेत्रान्तर्गत गन्धिल देश में इसकी स्थिति वर्णित है।[3] पलाशी कलकत्ता से तिरानबे मील दूर नदिया जिले में है।[4]

पद्मखण्डपुर : भरत क्षेत्र में गन्धल देश में यह स्थित था।[5] जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पद्मक नगर की स्थिति थी।[6]

प्रयाग : पद्म पुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव घर से निकले और तिलक नामक उद्यान में प्रजा या जनसमूह से दूर होकर पहुँचे, इसलिए इसका नाम 'प्रजा' हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने इस स्थान पर बहुत भारी याग (त्याग) किया, इसलिए 'प्रयाग' प्रसिद्ध हुआ।[7] आधुनिक इलाहाबाद ही प्रयाग है।

पावा[8] : पावा या पावापुरी गोरखपुर में पूर्व छोटी गण्डक के तट पर देवरिया जिले के कसिया से समीकृत किया जाता है।[9]

पाटलीग्राम[10] : पाटलीग्राम का विकसित रूप पाटलिपुत्र है, जो कि मगध की राजधानी थी। इसे कुसुमपुर या पुष्पपुर कहते हैं। गंगा, सोन एवं गण्डक के तट पर पाटलिपुत्र का निर्माण हुआ था। यह आधुनिक पाटलिपुत्र है।[11]

पुण्डरीक : धातकीखण्ड के पश्चिम भाग में विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश में पुण्डरीक या पुण्डरीकिणी नगर है।[12]

पुष्कलावती : गान्धार देश में पुष्कलावती नगर था।[13] यह गान्धार की प्राचीन राजधानी थी, जो सिन्धु के पश्चिम स्थित है।

---

१. महा ७५।१०६
२. वही ७१।२७८
३. वही ६।१३५
४. लाहा—वही, पृ० ४११
५. हरिवंश २७।२४; महा ५६।१४८
६. पद्म ५।११४
७. वही ३।२७५-२८१
८. वही २०।६१; हरिवंश ६६।१६; महा ७६।५०६
९. लाहा—वही, पृ० ४२१
१०. हरिवंश ६०।२४०; महा ६।१२७, ७६।३६८
११. लाहा—वही, पृ० ४१८
१२. पद्म १६।३७, ६४।५०; हरिवंश ६०।१४३; महा ७।८१, ४६।१६, ६२।८६
१३. वही ५।१०६; हरिवंश ४४।४५

प्रतिष्ठपुर[1] : यह आधुनिक प्रतिष्ठानपुर या पैठन है।

प्रभाकरपुरी : पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिमी भाग के पूर्व विदेह क्षेत्रान्तर्गत वत्सकावती देश में प्रभाकरी नगरी का उल्लेख है।[2] पद्म पुराण के अनुसार मथुरा के पास प्रभापुर है।[3]

पोदनपुर[4] : यह आन्ध्र प्रदेश में गोदावरी तथा मंजिरा नदियों के संगम पर दक्षिण में स्थित है।[5]

बनारस[6] : आधुनिक वाराणसी का पूर्व नाम बनारस था। यह गंगा एवं वरुणा नदियों के संगम पर बसा है। पद्म पुराण में बनारस के लिए वाराणसी शब्द प्रयुक्त हुआ है।[7]

भद्रपुर : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के मलय देश में भद्रपुर नगर है।[8] पद्म पुराण में भद्रिकापुरी का उल्लेख है।[9]

भद्रिलपुर : इसे भद्रिकपुर भी कहा गया है।[10] जम्बूद्वीप के मंगला देश में भद्रिलपुर नगर है।[11]

भोगपुर : विजयार्ध पर्वत के उत्तरी श्रेणी पर गौरी नामक देश में भोगपुर नगर था।[12] महा पुराण में वर्णित है कि हरिवर्ष देश में भोगपुर नगर था।[13] सम्भवतः गौरी और हरिवर्ष देश एक ही रहे होंगे।

---

१. पद्म ६४।५२
२. महा ७।३४, ६२।७५, ६२।४१२
३. पद्म ६४।४
४. वही ४।६७, ८०।१७६; महा ३७।६८, ६२।६०; हरिवंश ११।७८, २७।५५
५. वसुदेवहिण्डी, २४वाँ पद्मावती लम्ब, पृ० ३५४
६. पद्म ७१।१०७; हरिवंश १८।११८; महा ४३।१२४, ६०।७०
७. वही २०।५१
८. हरिवंश १७।३०, महा ५६।१३।२४
९. पद्म २०।४६
१०. वही २०।४६
११. हरिवंश १८।११२; महा ७०।१८३, ७१।२६३
१२. महा ४४।१४७, ६७।६४
१३. वही ७०।७४

मन्दारपुर : यह विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी श्रेणी में स्थित था।[1] मन्दार नगर को मन्दरपुर भी कहा गया है।[2] यह जाह्नवी नदी के दक्षिण की ओर विन्ध्य पर्वत पर स्थित था।[3]

मथुरा[4] : मथुरा शूरसेन देश की राजधानी थी। यह उत्तर प्रदेश का जिला है जो यमुना के तट पर स्थित है।[5]

महीपुर : गान्धार देश में महीपुर नगर था।[6]

महानगर : विजयार्ध पर्वत के पूर्व और नीलगिरि के पश्चिम की ओर सुसीमा देश में महानगर नामक नगर था।[7] अन्यत्र उल्लिखित है कि पश्चिमी धातकीखण्ड द्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती देश में इसकी स्थिति बतायी गयी है।[8]

माहिष्मती[9] : अवन्ति देश की दो राजधानियाँ थीं—उत्तरी भाग की उज्जयिनी या उज्जैन और दक्षिणी भाग की माहिष्मती।[10]

मिथिला[11] : मिथिला विदेह की राजधानी थी, जिसे तिरभुक्ति (आधुनिक-तिरहुत) भी कहते थे। इसे नेपाल की सीमा पर स्थित आधुनिक जनकपुर नामक छोटे कस्बे से समीकृत करते हैं। इसके उत्तर में मुज्जफरनगर और दरभंगा जिले हैं।[12]

लंका : त्रिकुटाचल के नीचे तीस योजन विस्तार की लंका नगरी का उल्लेख है।[13] इसे आधुनिक श्रीलंका से समीकृत करते हैं।

---

१. महा ६३।१७०
२. पद्म १७।१४१; हरिवंश ६०।२४२
३. लाहा—वही, पृ० ५३४
४. पद्म १।६५; हरिवंश ३३।२५; महा ५७।७६, ७०।३३१
५. लाहा—वही, पृ० १७६-१८१
६. महा ७५।१३
७. वही ४७।६५
८. वही ५६।२-३
९. हरिवंश १७।२१; पद्म १०।६५
१०. लाहा—वही, पृ० ५०६
११. पद्म २०।५५, २८।११६; हरिवंश २०।२५
१२. लाहा—वही, पृ० ३६६-३६७
१३. पद्म ५।१५२-१५८, २०।२४३

वत्सा : मगध देश में वत्सा नामक नगरी का उल्लेख मिलता है।[1] इसे वत्स-नगरी वर्णित है, जिसे कौशाम्बी से समीकृत करते हैं।[2]

वर्धमानपुर[3] : डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने वर्धमानपुर का तादात्म्य सौराष्ट्र में वढ़वाण से किया है, परन्तु डॉ० बी० बी० मिराशी ने अपने लेख 'लोकेशन ऑफ वर्धमानपुर मेन्शण्ड इन जिनसेनस हरिवंश' में इसका खण्डन किया है और वर्धमानपुर का तादात्म्य आधुनिक धार से पन्द्रह मील उत्तर की ओर स्थित वधनावार से किया है। डॉ० हीरा लाल जैन भी उपर्युक्त मत का समर्थन करते है।[4]

विजयपुर : पुष्कलावती देश में विजयपुर नगर का उल्लेख मिलता है।[5] पद्म पुराण में जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में विजयावती नगरी का वर्णन हुआ है।[6] कर्णाट देश के मध्य में स्थित विजयनगर बीजानगर है। प्राचीन पम्पा, जिसे अब हाथी कहते हैं, विजयनगर का प्राचीन नाम था।[7]

विन्ध्यपुरी : जिनसेन ने विन्ध्याचल पर्वत के समीप विन्ध्यपुरी नगर बताया है।[8] जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने एक स्थान पर भरत क्षेत्र में मलय देश में विन्ध्यपुरी नगर का उल्लेख किया है[9], तो दूसरे स्थान पर ऐरावत क्षेत्र में गान्धार देश में विन्ध्यपुर का वर्णन किया है।[10] इसे मिर्जापुर में विन्ध्याचल से समीकृत किया जा सकता है।

विलासपुर[11] : इसे मध्य प्रदेश के आधुनिक विलासपुर से समीकृत कर सकते हैं।

---

१. महा ७५।७१
२. पद्म २०।४२
३. हरिवंश ६६।५२, ६०।२४२
४. वासुदेव विष्णु मिराशी—लिटरेरी ऐण्ड हिस्टोरिकल स्टडीज़ इन इण्डोलोजी, दिल्ली, १९७५, पृ० १३९-१४४
५. पद्म २०।१८५, ३७।६; हरिवंश ६०।२३९; महा ७१।३६३
६. वही १०६।१९०, १२३।१२
७. लाहा—वही, पृ० ३३८
८. महा ४५।१५३
९. वही ५८।६३
१०. वही ६३।९९
११. पद्म ५५।८७

विराट[1] : विराट नगर को मत्स्य-नगर से भी सम्बोधित करते हैं। यह विराट की राजधानी थी। यह दिल्ली से एक सौ पाँच मील दक्षिण-पश्चिम में और जयपुर से इकतालिस मील उत्तर में स्थित है।[2]

वीतशोक : गुणभद्र ने जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर गन्धमालिनी देश में वीतशोक नगर बताया है[3], दूसरे स्थान पर उन्होंने पुष्कवर द्वीप में पश्चिम मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सरिद् देश के मध्य इसकी स्थिति का उल्लेख किया है[4] और तीसरे स्थान पर जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व कच्छकावती देश में वीतशोक नगर का वर्णन किया है।[5] राजधानी के रूप में वीतशोक का वर्णन मिलता है।[6]

वीतभय : सिन्धु देश में इस नगर के विद्यमान होने का उल्लेख मिलता है।[7]

रथनूपुर[8] : इसे रथनूपुर चक्रवाल संज्ञा से भी सम्बोधित किया गया है, जो विजयार्ध पर्वत के दक्षिणी क्षेत्र में स्थित था।[9]

रत्नपुर : पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्सकावती नामक देश में रत्नपुर नामक नगर अवस्थित था।[10] अन्यत्र इसकी स्थिति भरत क्षेत्र के मलय राष्ट्र में कथित है।[11] इसकी स्थिति का तादात्म्य मध्य प्रदेश में बिलासपुर से सोलह मील उत्तर में बताया गया है।[12]

रत्नसंचय : पूर्व विदेह क्षेत्र में मंगलावती देश में रत्नसंचय नगर का उल्लेख है।[13] इसका अन्य नाम रत्नसंचया भी उपलब्ध होता है।[14]

---

१. हरिवंश ४६।२३
२. लाहा—वही, पृ० ५३५
३. महा ५६।१०६
४. वही ६२।३६४
५. वही ६६।२
६. पद्म २०।१५; हरिवंश ५।२६२
७. हरिवंश ४४।३३
८. पद्म १३।६६, ६४।६
९. हरिवंश ६।१३३; महा १६।१८०, ६२।२५, ६२।६६, ७१।३१३; पद्म ३।३१३-३१४
१०. महा ५८।२, १६।८७, ६१।१३; पद्म ६।७, ६३।१
११. वही ६७।६०
१२. लाहा—वही, पृ० ५४६
१३. महा ७।६०, ५४।१३०; पद्म १३।६२, २०।१२
१४. हरिवंश ५।२६०

राजगृह : इसे कुशाग्रपुर[1] एवं गिरिव्रज[2] नाम से भी सम्बोधित किया गया है। जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मगध देश के अन्तर्गत राजगृह नगर विद्यमान था।[3] राजगृह में पाँच शैल थे—ऋषिगिरि, वैभार, विपुलाचल, बलाहक तथा पाण्डुक।[4] यह वर्तमान राजगिरि है, जिसे बिहार में पटना से समीकृत करते हैं।[5] परन्तु यह मत अमान्य है। राजगृह पटना से पृथक् है।

राजपुर : जम्बूद्वीप में वत्सकावती देश के विजयार्ध पर्वत पर राजपुर नामक नगर का उल्लेख है।[6] अन्यत्र इसकी स्थिति हेमाङ्गद देश में कथित है।[7] इसे कश्मीर के दक्षिण में स्थित रजौरी से समीकृत करते हैं। रजौरी जिला उत्तर में पीरपंजक पश्चिम में पुनाच, दक्षिण में भीमवर तथा पूर्व में रिहासी एवं अखनूर से घिरा है।[8]

रोरू : कच्छ देश में रोरू नगर का उल्लेख है।[9]

शतपत्र : पुष्करद्वीप सम्बन्धी विदेह क्षेत्र में शतपत्र नामक नगर का वर्णन है।[10]

शामली[11] : बंगाल के बर्दवान जिले में गलसी थाने के दामोदर तट के उत्तरी तट से डेढ़ मील दूर मल्लसारुल गाँव से इसका तादात्म्य करते हैं।[12]

शालिग्राम : मगध देश में शालिग्राम का उल्लेख है।[13]

शिवमन्दिर : विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी श्रेणी में शिवमन्दिर का उल्लेख है।[14]

शुक्रप्रभ : जम्बूद्वीप के सुकच्छ देश में विजयार्ध पर्वत की उत्तरी श्रेणी में शुक्रप्रभ नामक नगर वर्णित है।[15]

---

१. पद्म २।३२, ८५।६६
२. लाहा—वही, पृ० ४२६
३. महा ५७।७०, ६१।२०; ६१।८५; हरिवंश २।६१
४. हरिवंश ३।५२
५. लाहा—वही, पृ० ४२६, ४०
६. महा ४७।७२-७३; पद्म ११।८; हरिवंश २१।८०
७. वही ७५।१८८
८. लाहा—वही, पृ० २०२
९. महा ७५।११
१०. पद्म १२३।१३२
११. वही १०८।४०
१२. लाहा—वही, पृ० ४३३
१३. हरिवंश १८।१२७
१४. वही २१।२२; पद्म ५५।८६,६६।४ महा ६२।४३३
१५. महा ६३।६१

शोभानगर : इसका दूसरा नाम शोभपुर भी है।[1] पुष्कलावती देश में विजयार्ध के निकट धान्यकमाल वन के पास शोभानगर वर्णित है।[2]

शौर्यपुर : इसे शौरिपुर भी कहा गया है।[3] कुशार्थ (कुशद्य) देश में शौर्यपुर की स्थिति उल्लिखित है।[4]

शंख : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्रान्तर्गत शंखनगर वर्णित है।[5] अन्यत्र धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्ध भाग में ऐरावत क्षेत्र में शङ्खपुर नगर उल्लिखित है।[6]

श्रावस्ती : जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में यह स्थित था।[7] इसे कुणाल[8] एवं काशी[9] देश के अन्तर्गत बताया गया है। प्राचीन स्थान श्रावस्ती (सावत्थी) आधुनिक सहेत-महेत है। यह क्षेत्र उत्तर प्रदेश में गोंडा-बहराइच जिले की सीमा पर बहराइच से छब्बीस मील दूर स्थित है।[10]

श्रीनगर[11] : यह आधुनिक जम्बू-कश्मीर की राजधानी है।

श्रीपुर : जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत के नीचे श्रीपुर नगर है।[12] यह मध्य प्रदेश के रायपुर जिले में आधुनिक सिरपुर (शिरपुर) है।[13]

स्वस्तिकावती : भरत क्षेत्र के धवल देश में स्वस्तिकावती नगर था।[14]

साकेत[15] : इसे फैजाबाद जिले में अयोध्या को प्राचीन साकेत से समीकृत करते हैं।

सिंहपुर : जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर सुपद्मा देश में इसकी स्थिति वर्णित है।[16] हरिवंश पुराण में ही इसे शकट देश के

---

१. पद्म ८०।१८६
२. महा ४६।६४-६५; पद्म ५५।८५
३. पद्म २०।५७
४. वही ७०।६३; हरिवंश १८।६
५. महा ६२।४६४
६. वही ६३।२४६
७. महा ४६।१४; हरिवंश २८।५, पद्म २०।३६, ६१।२३
८. महा ५६।७२
९. पद्म ६।३१७
१०. लाहा—वही, पृ० २१०
११. पद्म १६।११८
१२. महा ४६।२१७, ६६।७४, पद्म ४६।१, ८८।३६
१३. लाहा—वही, पृ० ५५१
१४. महा ६७।२५६
१५. वही ४८।४०, ६०।३३, ६१।६२; हरिवंश ८।१५०, पद्म २०।१६
१६. हरिवंश ३४।३

अन्तर्गत बताया गया है।[1] इसे जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से पश्चिम भरत क्षेत्र में गन्धिल देश में बताया गया है।[2] कुछ विद्वान इसे पूर्वी बंगाल में बेलाव के पास मानते हैं।[3]

सुसीमा : सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्स देश में इसकी स्थिति वर्णित है।[4]

क्षेम : क्षेत्र देश में क्षेम (क्षेमा) नगर का उल्लेख है।[5]

क्षेमपुर : विदेह क्षेत्र में सीता के उत्तरी तट पर कच्छ देश में क्षेमपुर (क्षेमपुरी) का वर्णन मिलता है।[6]

हस्तिनापुर[7] : कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर की स्थिति वर्णित है।[8] उत्तर प्रदेश में मेरठ जिले में गंगा तट पर कुरुओं की प्राचीन राजधानी हस्तिनापुर थी।[9]

हेमकच्छ : दशार्ण देश में हेमकच्छ नगर वर्णित है।[10]

२. **असमीकृत नगर** : आलोचित जैन पुराणों में निम्नांकित नगरों का उल्लेख मिलता है, जिनको समीकृत नहीं किया जा सका :

अमल,[11] अपराजित,[12] अम्बरतिलक,[13] अमृतपुर,[14] अलङ्घन,[15] अलंकारपुरी (पाताल लंका),[16] अलकपुर[17], अन्द्रकपुर,[18] अरुण,[19] अरजस्का,[20] असुर[21], असुरसंगीत,[22] अर्धस्वर्गोत्कृष्ट,[23] अम्भोद,[24] अक्षोभ्य,[25] अग्निज्वाल,[26] अरिञ्जयपुर,[27]

---

१. हरिवंश २७।२०; पद्म १८।३०
२. महा ५।२०३, ५७।१७, ७०।४, ६२।२०२; पद्म २०।४७, ५५।८५
३. लाहा—वही पृ० ४४६
४. महा ७।६०-६१, १०।१२१, ५६।२; हरिवंश ६०।१४३; पद्म २०।११; २०।१५
५. महा ७५।४०३; पद्म ६।६८, २०।११; हरिवंश ५।२५७
६. महा ४६।२, १६।४८, ५३।२, ५७।२; पद्म १०६।७५; हरिवंश ५।२५७
७. पद्म ४।६, २०।५२; हरिवंश ६।१५७; महा ८।२२३, ४३।७६
८. महा ४३।७६, ६१।७४, ६३।३६३
९. लाहा—वही, पृ० १३८
१०. महा ७५।१०
११. पद्म ६।६७
१२. महा १६।४८
१३. वही १६।८२
१४. पद्म ५५।८५, ६४।५
१५. वही ६।६८
१६. वही ६।४६०
१७. वही २०।२४२
१८. वही ३१।२६
१९. वही १७।१५४
२०. वही १६।४५
२१. वही ७।११७
२२. वही ८।१
२३. वही ५।३७२, ६।६७
२४. वही ५।३७३
२५. महा १६।८५
२६. वही १६।८३
२७. पद्म १३।७३; हरिवंश २५।२

असितपर्वत नगर,[1] अक्षपुर,[2] अशोकपुर,[3] अरिञ्जय,[4] अर्जुनी,[5] अशोका,[6] अरिन्दमपुर[7] आनन्दपुरी,[8] आलोक,[9] आवर्त्त,[10] आवली,[11] आदित्यपुर,[12] इभ्यपुर,[13] इलावर्धन,[14] ईशावती,[15] उत्कट,[16] एकक्षेत्र,[17] कम्पनपुर,[18] कमलसंकुल,[19] कल्पपुर,[20] कनकाभनगर,[21] कर्णकुण्डल,[22] काकन्दी,[23] काञ्चनस्थान,[24] काम्यकृत,[25] कारकट (कुम्भकारकटपुर),[26] कान्तपुर,[27] कालन्दी,[28] किन्नामित,[29] किन्नरोगीत,[30] किन्नरगीतपुर,[31] किष्कुप्रमोद,[32] किष्कुपुर,[33] किलकिल,[34] कुञ्जरावर्त,[35] कुन्द,[36] कुमुद,[37] कुमुदावती[38] कौमुदी,[39] कुम्भपुर,[40] कुण्डपुर,[41] कुलपुर,[42] कुशस्थल,[43] कुशाग्र,[44]

---

१. हरिवंश २२।१४८
२. पद्म ७७।५७
३. महा ७१।४३२
४. वही १६।४१; पद्म ६४।७
५. वही १६।७८
६. वही १६।८१
७. महा ७०।३०
८. वही २०।२३०
९. वही ८५।१४१
१०. वही ५।३७३, ६।६७
११. वही ५।३७३
१२. वही १५।६
१३. हरिवंश ६०।६५
१४. वही १७।१८
१५. पद्म २०।१७१
१६. वही ५।३७३
१७. वही १०६।१०
१८. वही ५८।८४
१९. वही २२।१७३
२०. हरिवंश १७।२६
२१. पद्म ६।५६७
२२. वही ६।५२६, ११२।२०
२३. पद्म १०८।७
२४. वही ११०।१
२५. हरिवंश ६०।२४३
२६. महा ६२।२११
२७. वही ४७।१८०, ७५।८१; पद्म ६।६७
२८. वही २०।४५, ५५।२३; हरिवंश ६०।१६०
२९. वही १६।३२
३०. पद्म ५।१७६; हरिवंश १६।८०
३१. वही १६।१०५, ५५।८५
३२. वही ६।१३
३३. वही ६।१५२
३४. महा १६।७८, ६८।२७१
३५. हरिवंश १६।६८
३६. महा १६।८२; पद्म ३३।१४३
३७. वही १६।८२
३८. पद्म ५।२७
३९. वही ३६।१८०
४०. वही ८।१४२
४१. वही २०।६०
४२. हरिवंश ३२।३४
४३. पद्म ५६।६
४४. वही २१।१०, २०।५६

कुशाग्रपुरी[1], कुसुमपुर,[2] कूर्म्मपुर,[3] कूवर,[4] कोकाक्ष,[5] कौतुक मंगल,[6] कौशिक,[7] कौञ्चपुर,[8] कौसलवारुणी,[9] खंगपुर,[10] गगनचरी,[11] गगनानन्दन,[12] गजपुर,[13], गंगा[14] गन्धर्वपुर,[15] गन्धर्वगीत,[16] गन्धवती,[17] गरुड़ध्वज,[18] गान्धर्वनगर,[19] गिरिशिखर,[20] गिरितट,[21] गीतनगर,[22] गूंजा,[23] गोक्षीर,[24] चक्रवाल,[25] चन्द्राभ,[26] चन्द्रादित्य,[27] चन्द्रपुरी,[28] चन्द्रावर्त,[29] चमर,[30] चमर चञ्चपुर[31], चारणयुगल,[32] चतुर्मुखी,[33] चारुणी,[34] चित्रकारपुर,[35] चूलिका,[36] चूड़मणि,[37] छत्राकारपुर,[38] जम्बूपुर,[39] जनकपुर,[40] जयन्ती,[41] जलधिध्वान,[42] ज्योतिपुर,[43] ज्योतिष्प्रभ,[44] ज्योतिर्दण्डपुर,[45] जाम्बव,[46]

१. पद्म ६८।५१; हरिवंश १६।५६
२. वही ४८।१५८
३. वही ४८।१६६
४. वही ८०।११०, ३४।५७
५. वही १०१।६६
६. वही ७।१२६, २४।२
७. हरिवंश ४५।६१
८. पद्म ४८।३६
९. महा १६।७८
१०. वही ६१।७०
११. वही १६।४६
१२. वही १६।८
१३. वही ४७।१२८; पद्म ६४।१०१
१४. पद्म ११।३८२
१५. महा १६।८३
१६. पद्म ५।३६७, ६४।५
१७. वही ४१।११५
१८. महा १६।३६
१९. पद्म ७।११८
२०. महा १६।८५
२१. वही ६७।२७०; हरिवंश २३।२६
२२. पद्म ५५।८४
२३. वही १०४।१०३
२४. महा १६।८५
२५. पद्म ५।७६
२६. महा १६।५०, ७५।३६०
२७. पद्म ८५।६६
२८. वही २०।४४
२९. वही १३।७५
३०. महा १६।७६
३१. महा ६२।२२६
३२. वही ६७।२१३
३३. वही १६।४४
३४. वही १६।७८
३५. हरिवंश २७।६७
३६. वही ४६।२६०
३७. महा १६।७८
३८. पद्म २०।४६
३९. हरिवंश ४४।४
४०. महा ६८।३५
४१. वही ७१।४५२, १६।५०; हरिवंश ६०।११७
४२. पद्म ६।६६
४३. वही १०।२, ६४।७
४४. वही ८।१५०; महा ६२।२४१
४५. वही ५५।८७
४६. महा ७१।३६८; हरिवंश ६०।४३

जीमूतशिखर[1], तट[2], तालपुर[3], ताम्रताड़पुर[4], तिलवस्तु[5], तिलकोत्सव[6], तिलकपुर[7], तिलका[8], त्रिशृङ्ग[9], त्रिकूटा[10], तोय[11], तोयावली[12], दधिमुख[13], दुर्लङ्घ्यपुर[14], दशाङ्गभोग[15], दिति,[16] दिव्यतिलक[17], दुर्ग्रह[18], दुर्धर[19], देवोपगीत[20], देवगीतपुर[21], दोस्तटिका,[22] द्वापुरी;[23] द्युतितिलक[24], धनञ्जय[25], धरणीतिलक,[26] धान्यपुर[27] धान्यवटपुर[28], धारणयुग्म[29], नगरशोभ[30], नगोत्तर[31], नन्दशोक[32], नन्दिमित्र;[33] नन्द्यावर्तपुर[34], नन्दनपुर[35] नन्दपुरी[36], नलिन[37], नरगीत[38], नभःतिलक[39], नभोभानु[40], नाकार्धपुर[41], निमिष[42],

---

१. पद्म ६४।५
२. वही ५।३७३
३. महा ६७।३४
४. पद्म १२३।६३
५. हरिवंश २४।२
६. महा ७३।२५-२६
७. पद्म ६४।८
८. महा १६।८२, ६३।१६८
९. हरिवंश ४५।६५
१०. महा १६।५१
११. पद्म ५।३७३
१२. वही ६।६७
१३. वही ५१।२
१४. वही १२।७६
१५. वही ८२।१५
१६. वही १०६।१८७
१७. महा ५६।२८६
१८. पद्म ५।३७३
१९. महा १६।८५
२०. पद्म ४८।६७, ८८।८२
२१. वही ६४।२४
२२. हरिवंश ६६।५३
२३. पद्म २०।२२१
२४. महा १६।८३; ६२।३६, ७४।१३४
२५. वही १६।६४
२६. हरिवंश २७।७८
२७. महा ८।२३०, ४७।१४६, ७६।२४२; पद्म २०।१७०
२८. हरिवंश ६०।२४१
२९. वही २३।४६
३०. महा ७४।४३८
३१. पद्म ३०।१३२
३२. हरिवंश ६०।६७
३३. पद्म २०।२३२
३४. वही ३७।६
३५. महा ५६।८४२; पद्म २०।२४२
३६. पद्म २०।२३०
३७. महा ५४।२१७
३८. वही १६।३४
३९. हरिवंश ६।१३३; पद्म ६।३८४
४०. पद्म ६।६८
४१. वही ६।४१६
४२. महा १६।८३

नित्यवाहिनी[1], नित्योद्योतिनी[2], नित्यालोक[3], नृत्यगीतपुर[4], पर्वतालपुर[5], पराजयपुर[6], पातालनगर[7], परिमताल[8], पद्मिनीपुर[9], परिक्षोदपुर[10], प्रियङ्गु[11], प्रीतिकूटपुर[12], पुलोमपुर[13], पुष्पान्तक[14], पुष्पचूल[15], पुष्पप्रकीर्ण[16], पुष्करपुर[17], पुन्नागपुर[18], पुरञ्जय[19], पुरुषर्षभ[20], पौण्ड्रसुन्दर[21], पृथ्वीपुर[22], पृथुस्थान[23], पृथ्वीतिलक[24], प्रत्यन्तनगर[25], ब्रह्मरथ[26], बहुकेतुक[27], बलाहक[28], बहुरव[29], बहुमुखी[30], बहुनादपुर[31], बालिखिल्य[32], बैजयन्तपुर[33], भद्राश्व[34], भरक्षम[35], भास्कराभ[36], भुजंगशैल[37], भूमितिलक[38], मतूप[39], मलय[40], मलयानन्दपुर[41], मर्त्यानुगीत[42], मयूरभाल[43], महाज्वाल[44],

---

१. महा १६।५२
२. वही १६।५२
३. पद्म ६।१०२; महा ७१।४२०; हरिवंश ३३।१३१
४. वही ५५।८५
५. हरिवंश ६।२०५
६. पद्म ५५।८७
७. वही १६।१६४
८. महा २४।१७१
९. वही ६२।१६१; पद्म ३६।८४
१०. पद्म ५५।८७
११. हरिवंश २१।७७
१२. पद्म ६।५६६
१३. महा १६।३५
१४. पद्म १।६१, ७।१६४
१५. महा १६।७६
१६. पद्म ८०।१६२
१७. महा ५६।२३०
१८. वही ७१।४२६
१९. वही १६।४३
२०. पद्म २०।२३२
२१. वही ८६।२
२२. वही ५।१३८, २०।१२७
२३. पद्म ४८।१६५
२४. हरिवंश २७।६१
२५. महा ७५।८६
२६. पद्म ८।२८६
२७. महा १६।३५
२८. वही १६।३६
२९. पद्म ६४।६
३०. महा १६।४५
३१. पद्म ५५।८६
३२. वही ८२।१४
३३. वही ३६।११
३४. महा १६।८४
३५. पद्म ६।६६
३६. वही ५५।८४, ६४।७
३७. महा ७२।२१५
३८. वही १६।८३, ७६।२५२
३९. पद्म ६४।६; महा ६०।५२
४०. वही ६४।६
४१. वही ५५।८६
४२. वही ६४।६
४३. वही २७।७
४४. महा १६।८४

मणिवज्र,[1] मनोहर,[2] मनोह्लाद,[3] मंगलपुर,[4] मन्दरकुंज,[5] मन्दिरपुर,[6] मनोहर,[7] महारत्नपुर,[8] महाशैलपुर,[9] मागधेशपुर,[10] माकन्दी,[11] मरुत्वेग,[12] मार्तण्डाभपुर,[13] मुक्ताहार,[14] मृगाङ्क[15] मृणालकुण्ड,[16] मृत्तिकावती,[17] मृणालवती,[18] महेन्द्र,[19] महापुर,[20] महाबल,[21] मेखलाग्रनगर,[22] मेघकूट,[23] मेघपुर,[24] मेघ,[25] यक्षगीत,[26] यक्षपुर,[27] यक्षस्थान,[28] योध,[29] योधन,[30] रत्नद्वीप,[31] रत्नस्थलपुर,[32] रत्नपुर,[33] रन्ध्रपुर,[34] रतिकूट,[35] रथनूपुर-चक्रवाल,[36] रसातलपुर,[37] रामपुरी,[38] रविप्रभ,[39] रिपुञ्जयपुर,[40] रिष्टा (रिष्टपुरी),[41] रोधन,[42] लक्ष्मीगीतपुर,[43] लक्ष्मीधरा,[44] लोहार्गल,[45] व्याघ्रपुर,[46] वज्रपुर,[47] वज्राढ्य,[48] वटपुर,[49] वज्र,[50] वज्रपंजर,[51] वज्रार्गल,[52] वसुन्धरपुर,[53] वसुमति,[54] वनगिरि,[55]

---

१. महा १६।८४
२. वही ४७।२६२; पद्म ५।३७१
३. पद्म ५।३७१
४. हरिवंश ६०।२४०
५. पद्म ६।४०६
६. महा ६३।४७८
७. पद्म ५।३७१
८. महा ६२।६८
९. पद्म ५५।८६
१०. वही १८।१७
११. हरिवंश ४५।१२०
१२. पद्म २०।२३२
१३. वही ५५।८७
१४. महा १६।८६
१५. पद्म १७।१५०
१६. वही १०६।१३३
१७. वही ४८।४३
१८. महा ४६।१०३
१९. वही १६।८६, पद्म १५।१४
२०. वही ५८।८०; वही २२।१४६
२१. पद्म २०।२३२
२२. महा १६।४८
२३. वही १६।५१, ७१।२५२; हरिवंश ४३।४६
२४. वही ६२।६६; हरिवंश १५।२५; पद्म ६४।४
२५. पद्म ६४।४; वही ४६।१४
२६. वही ७।११८
२७. वही ८।२४१, ६४।८
२८. पद्म ३६।१३७
२९. वही ५।३७१
३०. वही ६।६६
३१. वही ५।३७३, ६।६७
३२. वही १२३।१२१
३३. महा ४७।२६२
३४. पद्म २८।२१६
३५. महा १६।५१
३६. वही १६।४६
३७. पद्म १६।६
३८. वही १।८३
३९. वही ६४।४
४०. वही ५५।८७
४१. हरिवंश ५।२५७
४२. पद्म ६।६७
४३. वही ५५।८५
४४. वही ६४।५
४५. महा १६।४१
४६. पद्म ८०।१७३
४७. महा १६।८६
४८. वही १६।४२
४९. हरिवंश ४३।२२०
५०. वही १७।३३
५१. पद्म ६।३६६
५२. महा १६।४२
५३. हरिवंश ४५।७०; पद्म २०।२३३
५४. महा १६।८०
५५. वही ७५।४७६

वह्निप्रभ,[1] वस्त्वोकसार,[2] वस्त्वालय,[3] वसुमत्क,[4] विजयखेट,[5] विदग्ध,[6] विशोका,[7] विनीता,[8] विरजस्का,[9] विनयचेलि,[10] विमोच,[11] विद्युत्कान्त,[12] विद्युत्प्रभ,[13] विघट,[14] विशालपुर,[15] विहायस्तिलक,[16] वीरपुर,[17] वेदसामपुर,[18] वेणातट,[19] वैजयन्ती,[20] वैदिशपुर,[21] वैजयन्तपुर,[22] वैश्रवणकूट[23] वंशाल,[24] वंशस्थद्युति,[25] वंशस्थविलपुर,[26] श्वेतकेतु,[27] श्वेतपुर,[28] श्वेतविका,[29] शक्रपुर,[30] शतद्वार,[31] शकटमुखी,[32] शकटामुख,[33] शाखानगर,[34] शशिपुर,[35] शशिच्छाय,[36] शशिस्थानपुर,[37] शालगुह,[38] शालगुहा,[39] शिखापद,[40] शिवंकरपुर[41], शिल्पपुर[42], शिवशंकर[43], शशिप्रभा[44],

---

१. पद्म ६४।४
२. महा ६३।११८
३. वही ६३।२५१
४. वही १६।८०
५. हरिवंश १६।५३
६. पद्म २६।१३
७. महा १६।८१
८. हरिवंश ६०।२३६; पद्म २०।५० २०।३७, ८५।४५
९. महा १६।४५
१०. वही १६।४६
११. वही १६।४३
१२. वही ६८।२७५
१३. वही १६।७८
१४. पद्म ६।६७
१५. वही ५५।८७
१६. वही ५।७८
१७. महा ६५।५६; हरिवंश ४०।२१
१८. हरिवंश २४।२५
१९. पद्म ४८।१३८
२०. महा १६।५०; हरिवंश ३०।३३
२१. हरिवंश ४५।७०
२२. पद्म ३६।११
२३. महा १६।५१
२४. वही १६।७६
२५. पद्म ३६।६
२६. वही ४०।४३
२७. महा १६।३०
२८. हरिवंश ६०।२४०
२९. महा ७१।२८३
३०. वही १६।४६
३१. पद्म १२।२२
३२. महा १६।४४
३३. हरिवंश २३।३
३४. पद्म २१।१६२
३५. वही ३१।३५
३६. हरिवंश १७।३६; पद्म ६४।७
३७. पद्म ५५।८७
३८. हरिवंश ३२।३०
३९. वही २४।२६
४०. पद्म १३।५५
४१. महा ४७।४६, ७५।१६२
४२. वही ४७।१४४
४३. वही १६।७६
४४. वही १६।७८

शुभ्रपुर[1], शैलनगर[2], शैलपुर[3], शोभपुर[4], शौरिपुर[5], श्रीगृह[6], श्रीचन्द्र[7], श्रीगुहापुर[8], श्रीमत्तपुर[9], श्रीमनोहरपुर[10], श्रीप्रभ[11], श्रीधर[12], श्रीवत्स[13], श्रीविजयपुर[14], श्रीहर्म्य[15], श्रुतशोणित[16], श्रेयष्करपुर[17], श्रेयष्कर[18], स्फुट[19], स्फुटतट[20], स्थालक[21], स्वर्णग्राम[22], स्वर्णाभ[23], स्वयंप्रभ[24], सदृतु[25], सर[26], सर्वारिपुर[27], सखिसंज्ञ[28], समुद्र[29], सन्ध्याकर[30], सन्ध्याभ्र[31], सारसौख्य[32], सिंहनादपुर[33], सिंधुनद[34], सिद्धार्थपुर[35], सिंहपुरी[36], सिंहध्वज[37], सिद्धार्थ[38], सुगन्धिनी[39], सुमुखी[40], सुप्रतिष्ठ[41], सुरसंगीत[42], सुरनूपुर[43], सुरकान्तार[44],

---

१. हरिवंश १७।३२
२. पद्म २०।२०७
३. महा ५५।४८
४. पद्म ८०।१८६
५. वही २०।५८
६. वही ५५।८६, ६४।७
७. वही २०।२३३
८. वही ५५।८६
९. वही ५५।८६
१०. वही ५५।८६
११. महा १६।४०
१२. वही १६।४०
१३. वही १६।८४
१४. पद्म ६४।८
१५. महा १६।७६
१६. हरिवंश ५५।१६
१७. पद्म ६४।१०५
१८. महा ४७।१४२
१९. पद्म ५।३७३
२०. वही ६।६७
२१. महा ६८।१३
२२. हरिवंश ३०।८
२३. हरिवंश, २४।६६
२४. पद्म ७।३३७
२५. वही ६।६६
२६. वही ६।६७
२७. वही ३०।१२२
२८. वही २०।२३३
२९. वही ५।३७१
३०. वही ५।३७१; हरिवंश ४५।११४
३१. वही ३।३१३
३२. महा ७४।४०१
३३. पद्म ८।३२०; हरिवंश ६।१६२
३४. वही ८।३२०
३५. हरिवंश ६०।२४१
३६. पद्म २०।४७
३७. महा १६।३७
३८. वही ५७।४६
३९. वही १६।८५
४०. वही १६।५२
४१. वही ७६।२१६
४२. पद्म ८।४६४
४३. वही ५५।८५
४४. महा ६६।११४

सुदर्शन[1], सुरेन्द्रकान्त[2], सुरेन्द्ररमण[3], सुमहानगर[4], सुमाद्रिका[5], सुरेन्द्रकान्तार[6], सुप्रकार[7], सुवेल[8], सुवर्णाभ[9], सूर्याभपुर[10], सूर्योदय[11], सूर्यपुर[12], सोमखेट[13], सोमप्रसपुर[14], सौमनस[15], हयपुर[16], हस्तवप्र[17], हरिपुर[18], हरि[19], हंसपुर,[20] हंसगर्भ[21], हंसद्वीप[22], हनूरुह[23], हेमपुर[24], हेमाभ[25], हेमकूट[26]।

१. महा १६।८५; पद्म २०।२३२
२. वही १६।८१
३. पद्म ८१।२१
४. वही २०।१४
५. वही २०।१४
६. महा ६२।७१
७. वही ७१।४०६
८. पद्म ५।३७१
९. महा ७५।३६
१०. पद्म ५८।८४
११. वही ८।३६२, ५५।८५
१२. हरिवंश ३३।१; महा १६।५२; पद्म २०।२४२
१३. महा ५३।४३
१४. हरिवंश ६०।२४२
१५. महा ५१।७२
१६. वही ४७।१३२; हरिवंश ४४।४७
१७. हरिवंश ६२।४
१८. वही १५।२२; पद्म २१।४
१९. पद्म ५।३७१; ६।६६
२०. वही ५।३७१; ५४।७७
२१. महा १६।७६
२२. पद्म ५।३७१, ६।६६
२३. वही १७।३७६; १७।४०३
२४. वही ६।५६४; १५।८५
२५. महा ७५।४२०
२६. वही १६।५१

[ग] पर्वत

१. समीकृत पर्वत: आलोचित जैन पुराणों के परिशीलन से अग्रलिखित पर्वतों का तादात्म्य तत्कालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से होता है :

अंजनगिरि[१] : यह पंजाब की सुलेमान पर्वत श्रेणी है। इसके उत्तर में गोमल नदी और दक्षिण में सिन्धु नदी है। यह पंजाब को बलूचिस्तान से पृथक् करता है।[२]

इला : यह भरत क्षेत्र का इला नामक पर्वत है।[३]

इष्वाकार : धातकीखण्ड के पूर्व दिशा में इष्वाकार पर्वत है।[४]

ऋष्यमुक[५] : तुंगभद्रा क्षेत्र में यह पर्वत है। इसी से पम्पा नदी निकलकर तुंगभद्रा में मिलती है।[६]

ऋक्षवान्[७] : ताप्ती के दक्षिणी तट पर वर्तमान सतपुड़ा से महादेव पहाड़ियों के पूर्वी भाग के सम्पूर्ण पर्वत श्रृंखला को ऋक्ष पर्वत से अभिहित किया जाता है।[८]

किष्किन्धा[९] : बुलेव से लगभग चार मील दक्षिण-पूर्व में कल्याणपुर नामक आधुनिक गाँव के पास एक प्राचीन नगर के प्रसरित भग्नावशेष प्राचीन किष्किन्धा नामक स्थल को परिलक्षित करते हैं।[१०]

कुण्डल[११] : हरिवंश पुराण में कुण्डलवर द्वीप के मध्य में इसकी स्थिति बतायी गयी है।[१२]

---

१. हरिवंश ६०।२१२; महा ७।६७, ५८।८६, ७१।१६
२. लाहा—वही, पृ० १११
३. महा ५६।११८
४. वही ५४।८६; हरिवंश ५।५७८
५. वही २०।५६
६. वासुदेव शरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४६
७. महा २६।६६
८. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० १४४
९. पद्म ६।५३४, ६३।२४; महा २६।६०, ६८।४४४
१०. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, ३० जनवरी, १६५३, पृ० ४
११. महा ५।२६१
१२. हरिवंश ५।६८६

कैलाश[1] : पद्म पुराण में कैलाश पर्वत को अष्टपद कहा गया है।[2] डॉ० एस० एम० अली ने दक्षिण हिमालय में इसकी स्थिति बतायी है।[3]

कृष्णागिरि[4] : इसे कण्हगिरि (कन्हेरी) तथा कराकोरम या काला पर्वत भी कहा गया है। पश्चिम की ओर यह हिन्दुकुश पर्वत के साथ संयुक्त हो गया है। यह हिमालय से प्राचीन है, जो हर्सीनियम युग में उद्भूत हुआ था।[5]

गिरिनार[6] : इसे रैवतक[7] और ऊर्जयन्त[8] भी कहते हैं। आधुनिक गुजरात में जूनागढ़ के पास गिरनार या रैवतक पहाड़ी स्थित है।[9]

गोवर्धन[10] : यह पहाड़ी मथुरा जिले में वृन्दावन से १८ मील दूर स्थित है।[11]

गोरथ[12] : इसे गोरगिरि भी कहते हैं।[13] यह आधुनिक बरार पहाड़ी है।[14]

गन्धमादन[15] : हरिवंश पुराण के अनुसार मेरु पर्वत की पश्चिमोत्तर दिशा में गन्धमादन पर्वत स्थित है।[16] इसे रुद्र हिमालय और कैलाश पर्वत का एक हिस्सा बताया गया है। इसके मन्दाकिनी से सिञ्चित होने का उल्लेख मिलता है।[17]

चित्रकूट[18] : आधुनिक बाँदा जिले में पयस्वनी और मन्दाकिनी नदियों के तट पर, चित्रकूट रेलवे स्टेशन से चार मील दूर पर चित्रकूट पहाड़ी है।

त्रिकूट[19] : महा पुराण में वर्णित है कि लंका नामक द्वीप त्रिकुराचल से सुशोभित था।[20] पद्म पुराण में इसका उल्लेख त्रिकुराचल नाम से हुआ है।[21] इससे इसकी स्थिति श्रीलंका में मानी जाती है।

चेदि[22] : सम्भवतः यह दक्षिण भारत के चेदि राज्य में रहा होगा।

---

१. हरिवंश २।६४; महा १।१४६, ७।३८६ ३३।१५-२७, ६३।२६६
२. पद्म १।७२, ५।१६६
३. एस० एम० अली—वही, पृ० ५६
४. महा ३०।५०
५. लाहा—वही, पृ० १५१
६. हरिवंश १।११५
७. वही ४२।६६
८. पद्म २०।५८
९. लाहा—वही, पृ० ४७३, ५००
१०. हरिवंश ३५।४८
११. लाहा—वही, पृ० १३६
१२. महा २९।४६
१३. निशीथचूर्णी, पृ० १८
१४. लाहा—वही, पृ० ३७०
१५. पद्म १३।३८; महा ७०।११६
१६. हरिवंश ५।२१०
१७. लाहा—वही, पृ० १२६
१८. पद्म ३२।२०
१९. वही ५।१५५; महा ३०।२६
२०. महा ६८।२५६
२१. पद्म ६।८२
२२. महा २९।५५

दन्ती[1] : इसका दूसरा नाम महेन्द्रगिरि था।[2] यह भरत क्षेत्र के अन्त में महासागर के निकट आग्नेय दिशा में था।[3]

दर्दुराद्रि[4] : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने दर्दुर पहाड़ी को उटकमण्ड में स्थित बताया है।[5]

नाग[6] : नाग या नागा पहाड़ियाँ नागालैण्ड की पूर्वी सीमाएँ हैं।[7]

निषध[8] : डॉ० एस० एम० अली ने निषध के पश्चिमी भाग को हिन्दुकुश माना है।[9]

नीलगिरि[10] : इसे अंजनगिरि या अंजनक्षांक्षीधर भी कहा गया है।[11] यह विदर्भ देशान्तर्गत गन्धिल के उत्तर में था।[12]

पारियात्र[13] : डॉ० भण्डारकर ने इसे विन्ध्य पर्वतमाला का वह अंश माना है, जहाँ से चम्बल और बेतवा नदियाँ निकलती हैं। इसका विस्तार चम्बल नदी के उद्गम स्थल से कम्बात की खाड़ी पर्यन्त बताया है।[14] डॉ० रायचौधरी ने इसे भोपाल के पश्चिम में स्थित बताया है।[15]

पुष्पगिरि[16] : यह आन्ध्र प्रदेश में कुड्डापा जिले में कोटलूरू के पास स्थित था।[17]

मलय[18] : पार्जिटर ने इसे नीलगिरि से कन्याकुमारी तक फैले हुए पश्चिमी घाट के एक खण्ड से समीकृत किया है। मलयकूट या श्रीखण्डाद्रि अथवा चन्दनाद्रि पर अगस्त मुनि का आश्रम था।[19]

---

१. पद्म १५।१०
२. वही १५।१४
३. वही १५।११
४. महा २६।८६
५. वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, पृ० १४५
६. महा २६।८८
७. लाहा—वही, पृ० ४०३
८. पद्म १०५।१५७; हरिवंश ५।८०-६०; महा ५।२६१, १२।१३८, ६३।१६३
९. एस० एम० अली—वही, पृ० ५४
१०. पद्म १०५।१५७; हरिवंश ५।१६१
११. पद्म ८।१६७
१२. महा ४।५२
१३. वही २६।६७
१४. नन्द लाल डे—वही, पृ० १४८
१५. अवध बिहारी लाल अवस्थी—प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ० २१
१६. पद्म ५३।२०१
१७. लाहा—वही, पृ० ३११, ६०१
१८. पद्म ३३।३१६; हरिवंश ५४।७४; महा ३०।२६, ४३।३७०
१९. लाहा—वही,पृ०२६१

महेन्द्र[1] : पद्म पुराण में महेन्द्रगिरि का पहला नाम दन्ती बताया गया है।[2] इसको मलय पर्वत से सम्बन्धित करने से इसकी स्थिति केरल में बैठती है।

महामेरु (मेरु)[3] : इसकी पहचान सर्वोत्तम पर्वत शिखर सिनेरु से की गयी है। यह सात दिव्य पर्वतमालाओं से परिवृत्त था। यह ६८,००० लीग ऊँचा था।[4] डॉ० एस० एम० अली ने मेरु पर्वत की स्थिति ट्रांस-हिमालय को माना है, जो पामीर का शीर्ष है।[5]

रामगिरि[6] : रामगिरि (वंशाद्रि या रामटेक) महाराष्ट्र के नागपुर जिले में है।[7]

रूप्याचल : हरिवंश पुराण में इसे पश्चिम पुष्करार्ध के पश्चिम विदेह क्षेत्र में माना है।[8]

रुक्मी : पद्म पुराण में वर्णित है कि रुक्मी जम्बूद्वीप में फैला है और दोनों समुद्रों को छूता है।[9] हरिवंश पुराण में इसके आठ कूट (श्रेणियों) का उल्लेख है।[10]

वक्षार[11] : हरिवंश पुराण में विदेह क्षेत्रान्तर्गत सोलह वक्षार पर्वतों का उल्लेख मिलता है।[12]

विजयार्ध : जैन पुराणों में विजयार्ध पर्वत को भरत क्षेत्र के मध्य में पूर्व से पश्चिम विस्तृत तथा दोनों समुद्रों को स्पर्श करने वाला वर्णित किया है।[13] इसका समीकरण विन्ध्याचल से करना समीचीन होगा।

विद्युत्प्रभ : हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति मेरु पर्वत के दक्षिण-पश्चिम दिशा में बतायी गयी है।[14]

विन्ध्याचल[15] : हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति नर्मदा को पार करने पर बतायी गयी है।[16] विन्ध्याचल को विजयार्ध कहना उचित होगा।

---

१. पद्म ६।४२; महा २६।८८
२. वही १५।११, १५।१४
३. वही २।३३-३५, ४।५; हरिवंश ६।३५; महा १।१०, ४।५२, ६३।१६३
४. लाहा—वही, पृ० ५८६
५. अली—वही, पृ० ४७, ५०-५२
६. पद्म ४०।४५; हरिवंश ४६।१८
७. लाहा—वही, पृ० ५४६
८. हरिवंश ३४।१५
९. पद्म १०५।१५८
१०. हरिवंश ५।१०२-१०४
११. पद्म ३।४२; महा ६३।२०१
१२. हरिवंश ५।२२८-२३५
१३. पद्म १।५६, ३।४१, हरिवंश १।१०१ ५।२०-३६; महा ४।८१, ५।२६१, १८।१४६, ६८।७, ६२।२०
१४. हरिवंश ५।२१२
१५. पद्म १४।२३०; महा २६।८८
१६. हरिवंश ४५।११३

विपुलाद्रि : इसे विपुलाचल भी कहा गया है।[1] जैन पुराणों में विपुलाद्रि (कुशाग्रगिरि) की स्थिति मगध (राजगृह) देश में बतायी गयी है।[2]

वैभार : जैन पुराणों में वैभार या वेभार को मगध देश में बताया गया है।[3]

शिखरी : जैन पुराणों में इसकी स्थिति जम्बूद्वीप में पूर्व से पश्चिम दो समुद्रों को छूने वाला बताया गया है। इसके ग्यारह कूटों (श्रेणियों) का उल्लेख है।[4]

शेष : पद्म पुराण में इसकी स्थिति लंका में बतायी गयी है।[5]

श्रीपर्वत[6] : श्रीपर्वत या श्रीशैल कूर्नूल जिले में कृष्णा नदी के ऊपर है। साधारणतया इसे नासिक प्रशस्ति में वर्णित सिरितन से समीकृत करते हैं।[7]

सह्य[8] : इसका समीकरण पश्चिमी घाट से किया गया है।

सिंहगिरि : महा पुराण में इसे भरत क्षेत्र के गंगा नदी के पास बताया गया है।[9]

सिद्धकूट[10] : इसे सिद्धिगिरि पर्वत भी कहा गया है।[11] इसे बिहार के शाहाबाद जिले में बक्सर के समीप बताया गया है।[12]

सुन्दरपीठ : महा पुराण में इसे लंका में बताया गया है।[13]

सुमेरु[14] : महामेरु या मेरु के सम्बन्ध में पूर्व ही पढ़ चुके हैं।

सौम्य : हरिवंश पुराण में मेरु पर्वत के दक्षिण-पूर्व की ओर सौमनस्य पर्वत का वर्णन है।[15] महा पुराण में हस्तिनापुर में सौम्य पर्वत का उल्लेख है।[16]

---

१. पद्म २।१०२, हरिवंश २।६२
२. वही १।४६; महा १।१६६; ७४।३८५, ७६।२
३. हरिवंश १८।१३२; महा २६।४६, ६३।१४०
४. पद्म १०५।१५८; हरिवंश ५।१०५-१०८
५. वही ८०।६४
६. वही ८८।३६
७. लाहा—वही, पृ० ३१८।३१६
८. पद्म २७।८७; महा ३०।२७
९. महा ७४।१६६
१०. वही ४७।४६
११. वही ६३।१३२
१२. लाहा—वही, पृ० २१४
१३. महा ६८।६४३
१४. पद्म १।४८; हरिवंश २।३२; महा ६२।२२
१५. हरिवंश ५।२१२
१६. महा ७०।२७६

हिमवान या हिमालय : इसे जैन पुराणों में महाहिमवान,[1] हिमवतकूट,[2] हिमवान,[3] हिमवत[4] कहा गया है। इसकी स्थिति जम्बूद्वीप के पूर्व बतायी गयी है।[5] डॉ० एस० एम० अली ने इसकी पहचान हिमालय पर्वत से किया है।[6]

२. असमीकृत पर्वत : जैन पुराणों के अध्ययनोपरान्त ऐसे पर्वतों का वर्णन मिलता है, जिनका तादात्म्य साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से नहीं हो पाया। उनका वर्णन अग्रलिखित है :

अम्बरतिलक,[7] अम्बुदावर्त्त,[8] अस्ताचल,[9] अनंग,[10] अहीन्द्र,[11] अण्डारगिरि,[12] आदित्यपाद,[13] उदक,[14] उदवास,[15] ऊर्जयन्त,[16] कम्बु,[17] कम्बलाद्रि,[18] कनकाद्रि,[19] कलिन्दगिरि,[20] कर्ण,[21] कर्णाटक,[22] किष्कु,[23] कुलाचल,[24] कुटाद्रि,[25] कुशाग्र,[26] कोलाहल,[27] कौस्तुभ,[28] कृष्णगिरि,[29] खचराचल,[30] गजदन्त,[31] गुंज,[32] गदागिरि,[33] गिरिकूट,[34] गोशीर्ष,[35] चन्द्रोदय,[36] चन्दनगिरि,[37] जगत्पाद,[38] जाम्बाव,[39] तुंगवारक,[40]

---

१. पद्म १०५।१५७; महा ६३।१९३
२. महा ३२।८४, ७४।१७१; हरिवंश ५।४७५
३. हरिवंश ११।४१; महा ६३।१९३
४. पद्म ७६।१०; हरिवंश ५।४५-५६; महा २९।६४
५. वही १०५।१५७; हरिवंश ५।४७५; ७४।१७१
६. अली—वही, पृ० ५०, ५७
७. महा ७।५२
८. हरिवंश ६०।२०
९. पद्म २।२०१
१०. महा २९।७०
११. वही ३५।५०
१२. वही २९।४६
१३. वही ६८।५१९
१४. हरिवंश ५।४६१
१५. वही ५।४६१
१६. पद्म २०।६१
१७. वही ४५।७०
१८. महा २९।६९
१९. वही ३।६५
२०. पद्म २७।१६
२१. वही ६।५२९
२२. हरिवंश २१।१२३
२३. पद्म ६।८२
२४. हरिवंश ५।१५
२५. महा २९।६७
२६. पद्म १।४६
२७. महा २९।५६
२८. हरिवंश ५।४६०
२९. महा ३०।५०
३०. वही ५।२९१
३१. पद्म २३।७
३२. वही ८।२०१
३३. महा २९।६८
३४. हरिवंश २१।१०२
३५. महा २९।८९
३६. वही ७५।३६२
३७. पद्म ३३।३१७
३८. महा ६८।४६८
३९. हरिवंश ४४।७
४०. महा ३८।४९

तुंगीगिरि,[1] तूर्णगति,[2] तैरश्चिक,[3] दण्डक,[4] दिशागिरि,[5] दुर्गागिरि,[6] धरणिभूषण,[7] धरणीमौलि,[8] नन्दन,[9] नगोत्तर,[10] नन्दी,[11] नभस्तिलक,[12] नागप्रिय,[13] निकुञ्ज,[14] नीलाद्रि,[15] पलाल,[16] पंचागिरि,[17] प्राग्भार,[18] पाण्ड्य,[19] पञ्चसङ्गम,[20] भीमकूट,[21] मन्दरगिरि,[22] मनोहर,[23] मधु,[24] मनुजोदय;[25] मलयकाञ्चन,[26] महाशंख,[27] मणिकान्त,[28] मानषोत्तर,[29] माल्यवान्,[30] मालावर्त्त,[31] मुकुन्द,[32] मुनिसागर,[33] मेघराव,[34] यमकाद्रि,[35] रतिकर,[36] रतिगिरि,[37] रथावर्त्त,[38] रत्नावर्त्त,[39] राजत,[40] रागगिरि;[41] रौप्याद्रि,[42] रौप्य,[43] वलाहक[44]

---

१. हरिवंश ६३।७२
२. पद्म ८०।१३७
३. महा २६।६७
४. पद्म ४२।५२
५. महा ७५।४७६
६. पद्म ८५।१३६
७. महा ७६।२२०
८. पद्म ६।५११
९. महा ६३।३३
१०. पद्म ३०।१३२
११. वही २७।१६
१२. महा ५४।१२५
१३. वही २६।५७, ६३।१६४
१४. पद्म २७।१२
१५. महा ५।१७६, ३६।४८
१६. वही ६।१३५
१७. पद्म ५।२७
१८. वही ६२।१८
१९. महा २६।८६
२०. पद्म ७।३५४
२१. महा ७५।४७
२२. वही ५८।५२; पद्म ८२।८
२३. वही ५८।७
२४. पद्म १।५८
२५. महा ७५।३०३
२६. वही ४६।१३५
२७. हरिवंश ५।४६२
२८. पद्म ६।४२
२९. महा ५।२६१, ५४।३५; हरिवंश ५।७७; पद्म २।४६, १५।६१
३०. हरिवंश ५।२१६
३१. वही ३६।७१
३२. महा ३८।५०
३३. वही ६३।६४
३४. पद्म ८।६०
३५. महा ३७।६८
३६. हरिवंश ५।६७३
३७. पद्म ५३।१५८
३८. महा ६२।१२६; पद्म १३।८२; हरिवंश ५।७३१
३९. वही ४७।२२
४०. वही ३१।१४
४१. हरिवंश ४६।१८
४२. महा ७।८८, ३६।१७३
४३. वही ३७।८६
४४. पद्म ८।२४

वनगिरि,[1] वरुण,[2] वसन्तगिरि,[3] वातपृष्ठ,[4] वासवत,[5] विमलकान्तार,[6] वेलन्धर,[7] वैताढ्य,[8] वैडर्य,[9] वंशस्थखिल,[10] वंशस्थल,[11] वंशधर,[12] वृषभाचल,[13] शत्रुञ्जय,[14] शिविभूधर,[15] शंख,[16] श्रीकट,[17] श्रीनाग,[18] स्वयंप्रभ,[19] सम्भेद,[20] सन्ध्याभ्र,[21] सन्ध्यावर्त्त,[22] संस्थलि,[23] सिन्धुकूट,[24] सितगिरि,[25] सुमन्दर,[26] सुरगिरि,[27] सुवेल,[28] सुरदुन्दुभि,[29] सुसीमा,[30] हिमगिरि,[31] हिमनाग,[32] ह्रीमन्त[33] ।

---

१. महा ६७।११५
२. हरिवंश २७।१२
३. पद्म २१।८२
४. महा २६।६६
५. वही २६।७०
६. वही ६६।१८८
७. पद्म ५४।६४
८. हरिवंश ४२।१७
९. वही २६।६७
१०. पद्म ६१।१६,
११. वही १।८४, ८५।२
१२. वही ३६।११
१३. महा ३२।१३०, हरिवंश ११।४७
१४. हरिवंश ६५।१८
१५. महा ७६।३२२
१६. हरिवंश ५।४६२
१७. महा २६।८६
१८. वही ६६।१३
१९. हरिवंश ५।७३
२०. महा ५६।५४; पद्म ५।२४६, ८।२३
२१. पद्म १८।११२
२२. वही ८।२४
२३. वही ८।४०५
२४. महा ७४।१७१
२५. वही २६।६८
२६. वही ३०।५०
२७. वही ४७।६
२८. पद्म ५४।७०
२९. वही ११२।७३
३०. महा ४७।१३४
३१. वही ७३।२६; पद्म ३।६२
३२. पद्म ५०।३२
३३. हरिवंश २१।२४

[घ] नदी

१ समीकृत नदी : आलोचित जैन पुराणों के परिशीलन से ऐसी नदियों का उल्लेख उपलब्ध हुआ है, जिनका तादात्म्य तत्कालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से भी किया गया है। ये नदियाँ निम्नांकित हैं :

अरुणा[1] : डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार अरुणा की पहचान सरस्वती नदी की सहायक मार्कण्ड नदी से करते हैं।[2]

इक्षुमती[3] : जैनेतर भागवत पुराण में इसे कुरुक्षेत्र की एक नदी बताया गया है।[4] कुरुक्षेत्र आधुनिक उत्तर प्रदेश में मेरठ जिले के अन्तर्गत आता है।

ऐरावती[5] : यह बहराइच, गोंडा तथा बस्ती जिले से बहती हुई गोरखपुर में बरहज के पश्चिम सरयू (घाघरा) नदी में मिलती है।[6]

कपीवती[7] : इसकी पहचान कपिली नदी से किया गया है, जो आसाम के नवगाँव जिले से होकर बहती है।[8]

कावेरी[9] : इसको आधुनिक कावेरी नदी से समीकृत करते हैं, जो तमिलनाडु में बहती है।

कालमही[10] : इसकी पहचान सहारनपुर, मुजफ्फरपुर जिलों में बहने वाली पश्चिमी काली नदी से कर सकते हैं, जो हिण्डन नदी की एक उपशाखा है।[11]

कुसुमवती : यह भरत क्षेत्र के इला पर्वत के दक्षिण में बहती थी।[12]

कौशिकी[13] : यह आधुनिक कुशी नदी है जो बिहार के पूर्णिया जिले से बहती हुई गंगा में मिलती है।[14]

---

१. महा २६।५०
२. दिनेश चन्द्र सरकार–वही, पृ० ११२
३. महा २६।८३
४. भागवत पुराण ५।१०।१
५. हरिवंश २१।१०२; महा ७५।४४
६. लाहा—वही, पृ० १०४-१०५
७. महा २६।४६, २६।६२
८. दिनेश चन्द्र सरकार–वही, पृ० ४२-४३
९. महा ४३।२७१
१०. वही २६।५०
११. दिनेश चन्द्र सरकार-वही, पृ० १२०
१२. हरिवंश २७।१३; महा ५६।११८
१३. महा २६।६५
१४. लाहा—वही, पृ० १५४

कृतमाला[1] : इसकी पहचान मद्रास के दक्षिण मदुरा के कोलकई नगर में बहने वाली वेङ्गी या वैगाई नदी से किया जाता है।[2]

कृष्णवणी[3] : यह आधुनिक कृष्णा नदी है। यह जातकों का कन्हपेण्णा, खारवेल के हाथीगुम्फा का कण्हपेण्णा, रामायण का कृष्णावेणी या कृष्णवेणा है। इसका उद्गम पश्चिमी घाट में है। यह डक्कन के पठार से होती हुई पूर्वी घाट को एक कृश-प्रवाह (नद कंदर) के रूप चीरती हुई पूर्व की ओर बहती हुई बङ्गाल की खाड़ी में गिरती है।[4]

गजवती : यह भरत क्षेत्र के इला पर्वत के दक्षिण बहती थी।[5]

गंगा[6] : यह आधुनिक गंगा नदी है जो हिमालय से निकल कर बङ्गाल की खाड़ी में गिरती है। गंगा सागर के आस-पास के क्षेत्र को गंगाद्वार[7] कहा गया है। महा पुराण में गंगापात[8] का वर्णन आया है, जो कि गंगा का उद्गमस्थल है।

गंधावती : जैन पुराणों में गंगा और गन्धवती नदियों के संगम का उल्लेख हुआ है।[9] गंधावती नदी गन्धमादन पर्वत से निकलती है।[10]

गम्भीरा[11] : चम्बल या चर्मण्वती नदी के यमुना नदी में गिरने के पहले उसकी सहायक गम्भीरा को माना गया है।[12]

ग्राहवती : हरिवंश पुराण के अनुसार यह नील पर्वत से निकलकर सीता-नदी की ओर जाती है तथा वक्षार और नील पर्वत के मध्य स्थित है।[13]

गोदावरी[14] : यह दक्षिण भारत की सबसे बड़ी नदी है। इसका स्रोत ब्रह्म-गिरि है, जो त्रयम्बक गाँव की ओर नासिक से बीस मील दूर है। यह पश्चिमी घाट से निकलकर विन्ध्य पर्वतमाला से होते हुए बङ्गाल की खाड़ी में गिरती है।[15]

---

१. महा २९।६३
२. लाहा—वही, पृ० ३०५; दिनेश चन्द्र सरकार—वही, पृ० १०४
३. महा २९।६८
४. लाहा—वही, पृ० २८३
५. महा ५९।११९; हरिवंश २७।१३
६. पद्म १०५।१६०, ९७।९६; हरिवंश ५।१२३; महा २६।१२६-१५०
७. हरिवंश ११।३; महा २८।१३
८. महा ३२।१६३
९. हरिवंश ६०।१६; महा ७०।३२२
१०. महा ७१।३०९
११. वही २९।५०
१२. लाहा—वही, पृ० ५७७
१३. हरिवंश ५।२३९
१४. वही ३१।२; महा २९।६०, २९।८५
१५. लाहा—वही, पृ० २५८

गोमती[1] : यह शाहजहाँपुर जिले से निकलती है और वाराणसी तथा गाजीपुर के बीचोबीच गंगा से मिलती है।[2]

चर्मवती[3] : यह आधुनिक चम्बल नदी है। यह मालवा पठार से निकल कर दक्षिण-पूर्व राजस्थान से होते हुए यमुना नदी में मिल जाती है।

चण्डवेगा : जैन पुराणों में भरत क्षेत्र के इला पर्वत के दक्षिण में चण्डवेगा नदी का उल्लेख मिलता है।[4]

चित्रावती[5] : इसका उद्गम विन्ध्य पर्वत है।

चुल्लितापी[6] : विन्ध्य पर्वत से निकलने वाली ताप्ती नदी की यह एक सहायक नदी है।

जम्बुमती[7] : इसकी पहचान जाम्बु नदी से कर सकते हैं। महाभारत में गंगा की सप्त धाराओं में से एक धारा के लिये जम्बुमती शब्द प्रयुक्त हुआ है।[8]

तमसा[9] : तमसा या टोंस नदी आजमगढ़ से बहती हुई बलिया के पश्चिम में गंगा नदी में गिरती है।[10]

तैला[11] : श्री नन्दलाल डे ने इसकी स्थिति मद्रास में और डॉ० भण्डारकर ने आन्ध्र तथा मध्य प्रदेश का सीमावर्ती भाग माना है।[12]

दारूवेणा[13] : यह सम्भवतः वेनगंगा (वेण्वा) है। पार्जिटर वेण्वा का सम्बन्ध पर्णाहिता से मानते हैं।[14]

नर्मदा[15] : मध्य तथा पश्चिम भारत की यह महत्त्वपूर्ण नदी है। यह मैकल पर्वतमाला से निकलती है और मध्य भारत में दक्षिण-पश्चिम दिशा में बहती हुई इन्दौर होते हुए भड़ौंच में समुद्र से मिलती है।[16]

---

१. महा २६।४६
२. लाहा—वही, पृ० १३६
३. महा २६।६४
४. हरिवंश २७।१३; महा ५६।११६
५. महा २६।५८
६. वही २६।६५
७. वही २६।६२
८. महाभारत भीष्मपर्व ६।४८
९. महा २६।५०, २६-५४
१०. लाहा—वही, पृ० ५३
११. महा २६।८३
१२. भरत सिंह उपाध्याय—बुद्धकालीन भूगोल, पृ० १६२-१६३
१३. महा ३०।५५
१४. दिनेश चन्द्र सरकार—वही, पृ० ५०
१५. पद्म १०।६०, हरिवंश १७।२१; महा २६।५२, ३०।८२
१६. लाहा—वही, पृ० ६०

नन्दा[1] : हिमालय में नन्दा की पहाड़ी नदी को कहते हैं।

निर्विन्ध्या[2] : इसका उद्गम विन्ध्य पर्वत माना गया है। यह बेतवा की एक सहायक नदी है, जो काली और सिन्धु के मध्य प्रवाहित होती है।

पनसा[3] : पनसा या पर्णासा अथवा वर्णसा समानार्थक हैं। यह चम्बल की एक शाखा थी। पनास या पनसा चम्बल की पश्चिमी सहायक नदी है।

पङ्कवती : हरिवंश पुराण में इसे नील पर्वत से निकलकर सीता नदी की ओर जाते हुए तथा वक्षार पर्वत के मध्य स्थित बताया गया है।[4]

पर्णकान्ता : महा पुराण में इसे कैलाश पर्वत के पास बताया गया है।[5]

भागीरथी[6] : भागीरथी या भीमरथ को कृष्णा नदी की मुख्य सहायक आधुनिक भीमा नदी से समीकृत किया गया है।[7]

महानदी : पुष्कार्ध द्वीप के पश्चिम स्थित सुमेरु पर्वत के पश्चिम इसकी स्थिति बतायी गयी है।[8] यह उड़ीसा की सबसे बड़ी नदी है, जो बरार के दक्षिण-पूर्वी कोने पर स्थित पहाड़ियों से निकलती है। यह रायगढ़, विलासपुर, सम्बलपुर, कटक होते हुए बङ्गाल की खाड़ी में गिरती है।[9]

मुररा[10] : इसे केरल की नदी कहा गया है।[11]

माल्यवती[12] : इसकी पहचान मालिनी नदी से की जा सकती है। यह अयोध्या से पचास मील दूर घाघरा नदी में मिलती है।

यमुना[13] : गंगा नदी की यह सबसे बड़ी सहायक नदी है। यह हिमालय पर्वत से निकलकर गंगा नदी के समानान्तर बहती हुई इलाहाबाद में गंगा से मिलती है।

---

१. महा २९।६५
२. वही २९।६२
३. वही २९।५४
४. हरिवंश ५।२३९
५. महा ६३।२६६
६. वही ३०।५५; हरिवंश ३१।५
७. लाहा—वही, पृ० २४३
८. महा ७०।२६
९. लाहा—वही, पृ० ६१
१०. महा ३०।५८
११. लाहा—वही, पृ० २९६
१२. महा २९।५९
१३. हरिवंश ३३।४७; महा २७।५९, ५८।८७

रेवा[1] : रेवा या रेवाकण्ठ का स्रोत विंध्य पर्वत की अमरकण्टक पहाड़ियाँ हैं। मंडला के पूर्व रेवा और नर्मदा का संगम होता है, जहाँ से वे दोनों नामों से आगे बढ़ती हैं।[2]

लांगललतिका[3] : इसकी पहचान आधुनिक लांगुलिनी से की जा सकती है, जो आन्ध्र प्रदेश के सिक्कीकोल जिले से होकर बहती है।[4]

वरदा[5] : गोदावरी नदी की दो ऊपरी सहायक नदियों में से प्राणहिता एक है, जो वैनगंगा, वरदा तथा पेनगंगा (पेन्नर) की संगमित धाराओं के संयुक्त प्रवाह का प्रतिनिधित्व करती है।[6] वरदा नदी विदर्भ राज्य का विभाजन करती है।[7]

विततां[8] : सम्भवतया यह वितस्ता (पालि वितंसा) है। वितस्ता (झेलम) नदी कश्मीर के पीरपंजल पर्वतमाला से निकलती है और पूँछ, मीरपुर, खोसव होती हुई चेनाव में मिलती है।[9]

विभंग[10] : महा पुराण के अनुसार विदर्भ देश के अन्तर्गत गन्धिल देश के पश्चिम ऊर्मिमालिनी नामक विभंग नदी है।[11] विभंगा में बारह नदियाँ हैं, जो सीता और सीतोदा में गिरती हैं।[12]

वेगवती[13] : जैन अनुश्रुति में इस नदी को सौराष्ट्र में ऊर्जयन्त पर्वत से सम्बद्ध बताया गया है।[14]

वैतरणी[15] : इस नदी में मृतक को स्नान कराने का उल्लेख मिलता है।[16] यह सिंहभूमि जिले के दक्षिण भाग में स्थित पहाड़ियों से निकलती है। यह उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर बलसोर जिले से होकर बहती है और धामरा की खाड़ी में गिरती है। इसके आगे इसमें दो सहायक नदियाँ मिलती हैं।[17]

---

१. पद्म ३७।१८; हरिवंश १७।२७; महा २६।६५
२. लाहा—वही, पृ० ६०
३. महा ३०।६२
४. दिनेश चन्द्र सरकार—वही, पृ० ५४
५. हरिवंश १७।२३
६. लाहा—वही, पृ० ६३
७. वही, पृ० ५७०
८. हरिवंश ११।७६
९. लाहा—वही, पृ० २२८
१०. महा ४।५२
११. हरिवंश ५।२४३
१२. वही ४६।४६; महा ७३।२२
१३. लाहा—वही, पृ० ५०२
१४. महा २६।८४; पद्म ८।४५४
१५. वही ७४।१८३
१६. लाहा—वही, पृ० ६२

शिप्रा[1] : इसका उद्गम-स्थल हिमालय के पश्चिम स्थित शिप्रा नामक झील है। यह दक्षिणी समुद्र में गिरती है।

शीतोदा : हरिवंश पुराण में इसकी स्थिति जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र के सुपद्मा देश में बतायी गयी है।[2] महा पुराण में इसे शोणनद भी कहा गया है।[3]

सरयू[4] : सरयू (घाघरा) नदी बहराइच जिले से होते हुए बिहार में छपरा जिले में गंगा में मिलती है।[5]

सिन्धु[6] : यह कैलाश पर्वत के उत्तर-पश्चिम से निकलकर पश्चिमोत्तर दिशा में प्रवाहित होती हुई कराकोरम पर्वतमाला से दक्षिण में मुड़कर लम्बी दूरी के बाद अरब सागर में गिरती है।[7] महा पुराण में सिन्धु नदी के उद्गम-स्थल को सिन्धु-द्वार वर्णित है।[8] जहाँ पर सिन्धु नदी अरब सागर में गिरती है उसे सिन्धु प्रपात कहा गया है।[9]

सीता : जैन पुराणों में विदेह क्षेत्र में वत्स या वत्सकावती देश में सीता नदी की स्थिति बतायी गयी है।[10] हरिवंश पुराण में इसकी सहायक नदियों में ग्राहवती, ह्रदवती, पङ्कवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला का वर्णन आया है।[11]

सीतोदा : जैन पुराणों में सीतोदा नदी की स्थिति विदेह क्षेत्र में विदर्भ, उत्तरकुरु, गन्धमालिनी (गन्धिल) देशों के मध्य में बतायी गयी है।[12] इसकी सहायक नदियों में क्षीरोदा, सीतोदा, स्रोतोऽन्तर्वाहिनी, गन्धमादिनी, फेनमालिनी, ऊर्मिमालिनी हैं।[13]

---

१. महा २९।६३
२. हरिवंश ३४।३
३. महा २९।५२
४. पद्म २९।८६, महा १०।७७, ४५।१४४
५. लाहा—वही, पृ० ५३
६. पद्म १०५।१६०; हरिवंश ५।१२३, महा २९।६१, ६८।६५५
७. लाहा—वही, पृ० ४८, २१४
८. महा ३०।१०८
९. वही ३२।७९
१०. पद्म १०५।१६०; हरिवंश ५।१२३; महा ७।६६, ४८।३, ५६।२
११. हरिवंश ५।२३९-२४०
१२. पद्म १०५।१६०; हरिवंश ५।१२३; महा ४।५२, ५।९८, ५९।१०९
१३. हरिवंश ५।२४१-२४२

सुवर्णवती : हरिवंश पुराण में इसे सुवर्णकूला कहा गया है।[1] जैन पुराणों में इसकी स्थिति भरत क्षेत्र में इला पर्वत के दक्षिण बतायी गयी है।[2]

हरवती : हरिवंश पुराण में इसे हरिद्वती कहा गया है।[3] महा पुराण में इसकी स्थिति भरत क्षेत्र में इला पर्वत के दक्षिण बतायी गयी है।[4]

हृदवती : हरिवंश पुराण के अनुसार हृदवती नदी नील पर्वत से निकल कर सीता नदी की ओर जाती है। यह नील और वक्षार पर्वत के मध्य स्थित है।[5]

२. **असमीकृत नदी** : हमारे अधीत जैन पुराणों में ऐसी नदियों का उल्लेख हुआ है, जिनका तादात्म्य साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से स्थापित नहीं किया जा सका है। ऐसी नदियाँ निम्नवत् हैं :

अवन्तिकामा[6], अम्बणी[7], औदुम्बरी[8], उन्मग्नजला[9], ऋजुकूला[10], कर्णरवा[11], कर्णकुण्डला[12], करीरी[13], कामवेगिनी[14], काञ्चन[15], कालतोया[16], कुब्जा[17], केतवा[18], क्रौञ्चरवा[19], चूर्णी[20], तरङ्गिणी[21], नरकान्ता[22], नारी[23], निषकुन्दरी[24], पारा[25], प्रमृशा[26], प्रहरा[27], प्रवेणी[28], पुण्यभागा[29], बाया[30], बीजा[31], महेन्द्रका[32],

---

१. हरिवंश ५।१२४
२. वही २७।१३; महा ५९।११९
३. वही २७।१३
४. महा ५९।११८
५. हरिवंश ५।२३९
६. महा २९।६४
७. वही २९।८७
८. वही २९।५०
९. वही ३२।२१; हरिवंश ११।२६
१०. वही ७४।३४८; वही २।५७
११. पद्म ४०।४०
१२. वही ५३।१६१
१३. महा ३०।५७
१४. वही २९।६५
१५. वही ६२।१५९
१६. वही २९।५०
१७. महा २९।८७
१८. वही ३०।५७
१९. पद्म ४२।६१, ४३।४८
२०. महा २९।८७
२१. हरिवंश ४६।४९
२२. वही ५।१२४; पद्म १०५।१६०
२३. वही ५।१२४; वही १०५।१६०
२४. महा २९।६१
२५. वही २९।६१
२६. वही २९।५४
२७. वही ३०।५८
२८. वही २९।२६
२९. पद्म ९९।३८
३०. महा ३०।५७
३१. वही २९।५२
३२. वही २९।८४

माषवती[1], मुखा (मूला)[2], मेखला[3], यूषकेसरिणी[4], रक्तोदा[5], रक्ता[6], रक्तमालिनी[7], रजतमालिका[8], रूप्यकूला[9], रोह्या (रोहित)[10], व्याघ्री[11], वेणुमती[12], विशाला[13], वसुमती[14], वेणा[15], वेणी[16], श्वसना[17], शतभोगा[18], शर्वरी[19], शर्करावती[20], शुक्तिमती[21], शुष्कनदी[22], सप्तगोदावर[23], सन्नीरा[24], समतोया[25], सिकतिनी[26], सुप्रयोगा[27], सुमागधी[28], सुवर्णकूला[29], सूकरिका[30], हंसावती,[31] हरित,[32] हरिकान्ता[33], हस्तिपानी[34]।

---

१. महा २६।८४
२. वही ३०।५६
३. वही २६।५२
४. वही ५६।२१६
५. हरिवंश ५।१२५; पद्म १०५।१६०
६. वही ५।१२५; वही ६५।१६०
७. वही २१।१४
८. महा ५८।५१
९. हरिवंश ५।१२४; पद्म १०५।१६०
१०. वही ५।१२३; वही १०५।१६०
११. महा २६।६४
१२. वही २६।५६
१३. वही २६।६३
१४. वही २६।७३
१५. वही २६।८०
१६. वही ३०।८३
१७. वही २६।८३
१८. महा २६।६५
१९. पद्म ३२।२८
२०. महा २६।६३
२१. वही २६।५४
२२. हरिवंश २६।८४
२३. महा २६।८५
२४. वही २६।८६
२५. वही २६।६२
२६. वही २६।३१
२७. वही २६।८६
२८. वही २६।४६
२९. पद्म १०५।१६०
३०. महा २६।८७
३१. पद्म १३।८२
३२. वही १०५।१६०; हरिवंश ५।१२३
३३. वही १०५।१६०; वही ५।१२३
३४. महा २६।६४

सन्दर्भ-ग्रन्थ

जैन मूल ग्रन्थ

अंगविज्जा : सम्पा० मुनि पूर्णविजय, प्राकृत जैन टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, १९५७

अपराजित पृच्छा : भुवनदेव, सम्पा० पोपट भाई अम्बाशंकर मनकड, बड़ौदा, १९५०

आचारांग : सम्पा० नथमल, लाडनूं (जोधपुर), वि० सं० २०३१

आचारांग और कल्पसूत्र : सम्पा० एच० याकोबी, आक्सफोर्ड, १८८२

आचारांग-निर्युक्ति : आगमोदय समिति, बम्बई १९१६

उत्तराध्ययन : एक परिशीलन : सुदर्शन लाल जैन, अमृतसर, १९७०

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन : आचार्य तुलसी, कलकत्ता, १९६८

उत्तराध्ययन सूत्र और कृतांग : सम्पा० एच० याकोबी, आक्सफोर्ड, १८९५

उपासकाध्ययन : सम्पा० कैलाश चन्द्र शास्त्री, काशी, १९६४

ओघ निर्युक्ति : आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९

औपपातिक सूत्र : सम्पा० इ० ल्युमेन, लाइपजिग, १८८३

कथाकोश: : प्रभाचन्द्र सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, दिल्ली, १९७४

कषाय पाहुड़ : मथुरा, वि० सं० २०००

कर्मप्रकृति : हीरालाल शास्त्री, भावनगर, १९१७

कर्मवाद : एक अध्ययन सुरेश मुनि, आगरा १९६५

कल्पसूत्र : भद्रबाहु, सम्पा० एच० याकोबी, लाइपजिग, १८७९

कषाय पाहुड सुत्त : गुणधराचार्य, सम्पा० हीरालाल जैन, कलकत्ता, १९५५

गद्य चिन्तामणि : वादीभ सिंह सूरि, सम्पा०, पन्नालाल जैन, दिल्ली, १९६८

गोम्मटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड) : नेमिचन्द्र, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, भाग १-२, दिल्ली, १९७८-१९८१

गाथासप्तशती : हाल, सम्पा० मथुरानाथ शास्त्री, बम्बई, १९३३

चन्द्रप्रभचरितम् : वीरनन्दि, सम्पा० अमृतलाल शास्त्री, शोलापुर, १९७१

चन्द्रप्रभचरितम् : वीरनन्दि, सम्पा० काशीनाथ शर्मा, बम्बई, वि० सं० १८९२

चारित्र पाहुड़ : बम्बई, वि० सं० १९७७

जम्बूसामिचरिउ : वीर कवि, सम्पा० विमल प्रकाश जैन, दिल्ली, १९६८

जसहरचरिउ : पुष्पदन्त, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, १९७२
जीवन्धरचम्पू : हरिश्चन्द्र, सम्पा० पन्नालाल जैन, दिल्ली, १९५८
जैनधर्मामृत : हीरालाल, काशी, १९६०
ज्ञानार्णव : शुभचन्द्र, सम्पा० पन्नालाल बाकलीवाल, बम्बई, १९२७
णायकुमारचरिउ : पुष्पदन्त, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, १९७२
तत्त्वार्थवार्तिक : अकलंकदेव, सम्पा० महेन्द्रकुमार, द्वि० भाग, काशी १९५७
तत्त्वार्थवृत्ति : दिल्ली, १९४९
तत्त्वार्थसार : कलकत्ता, १९२९
तत्त्वार्थ-सूत्र : उमास्वामि, टीका सुख लाल संघवी, वाराणसी, १९७६
तिलोयपण्णत्ति : यतिवृषभ, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, शोलापुर, १९४३
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (भाग १, २, ३) : हेमचन्द्र, अनु० एच० एस० जॉनसॅन, गायकवाड़ ओरियण्टल संस्कृत सीरीज, बड़ौदा, १९३१-१९५४; जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर, बम्बई, वि० सं० १९६५
दशवैकालिक : सम्पा० नथमल, कलकत्ता, सं० २०२०
दसवैकालिकासूत्र : अहमदाबाद, १९६२
दर्शन पाहुड़ : बम्बई, वि० सं० १९७७
दर्शनसार : देवसेन सूरि, सम्पा० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, वि० स०, १९७४
दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन-संग्रह : सम्पा० फूलचन्द्र सूरत चन्द दोशी, ईडर, १९५४
द्रव्य-संग्रह : सम्पा० मोहन लाल शास्त्री, जबलपुर, वी० नि० सं० २४९२
द्विसन्धान महाकाव्य : धनञ्जय, सम्पा० खुशालचन्द गोरावाला, दिल्ली, १९७०
धर्मामृत (सागार एवं अनगार) : आशाधर, सम्पा० कैलाशचन्द्र, भाग १ व २, दिल्ली, १९७७-७८
धर्मरत्नाकर : जयसेन, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, शोलापुर, १९७४
नायाधम्मकहाओ : सम्पा० एन० वी० वैद्य, पूना, १९४०
नियमसार : कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० मगन लाल जैन, बम्बई, १९६०
न्यायदर्शन : मुजफ्फरनगर, १९३४
पंचास्तिकाय : बम्बई, वि० सं० १९७२
पंचाध्यायी : देवकी नन्दन, १९३२
पउम चरिउ : स्वयम्भूदेव, सम्पा० एस० सी० भायाणी, अनु० देवेन्द्र कुमार जैन, भाग १ से ५, दिल्ली १९५८-१९७०

पद्म पुराण : रविषेण (भाग १, २, ३) सम्पा०, पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (प्र० सं०) १९५८-१९५९

पाण्डव पुराणम् : शुभचन्द्र, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, जीवराज गौतमचन्द्र जोशी, शोलापुर, १९५४

पार्श्वनाथ चरित्र : वादिराज सूरि, सम्पा० मनोहर लाल, बम्बई, १९१६

परिशिष्ट पर्वन : हेमचन्द्र, सम्पा० एच० याकोबी, कलकत्ता, १८८३

पुण्याश्रव कथाकोश : रामचन्द्र मुमुक्ष, सम्पा० नाथूराम प्रेमी, बम्बई १९१६

पुराण सार-संग्रह : दामनन्दी, सम्पा० गुलाबचन्द्र जैन, भाग १, २ काशी, १९५४-५५

पुरुदेवचम्पू प्रबन्ध : अर्हद्दास, सम्पा० पन्नालाल जैन, दिल्ली, १९७२

प्रवचन सार : कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा० अजित कुमार, पटना, वीर नि० सं० २४९५

प्रवचनसार : कुन्दकुन्द सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९३५

प्राकृत व्याकरण : हेमचन्द्र, बम्बई, १९०५

भगवती आराधना : सम्पा० शिवकोटि सखाराम दोशी, शोलापुर, १९३५

मदन पराजय : नागदेव, सम्पा० राजकुमार जैन, दिल्ली, १९९८

महा पुराण : जिनसेन, (भाग १, २) सम्पा०, पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी (द्वि० सं०), १९६३, १९६५

महा पुराण (उत्तर पुराण) : गुणभद्र, (द्वितीय भाग) सम्पा०, पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (प्र० सं०), १९५४

महापुराण (अपभ्रंश) : पुष्पदन्त (भाग १-४), सम्पा० देवेन्द्र कुमार जैन, मणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला, दिल्ली, १९७९-१९८३

महाबन्ध : भगवंत भूतबलि, भाग १ से ७, दिल्ली, १९४७-१९५८

मूलाचार : वट्टकेर, सम्पा० मनोहर लाल शास्त्री, बम्बई, १९७६

मोक्ष पाहुड़ : बम्बई, वि० सं० १९७७

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : समन्तभद्र, दिल्ली, १९५१

राजवार्तिक : दिल्ली, वि० सं० २००८

लिंग पाहुड़ : बम्बई, वि० सं० १९७७

वड्ढमाणचरिउ : विबुध श्रीधर, सम्पा० राजाराम जैन, दिल्ली, १९७५

वरांग चरित : जटासिंहनन्दि, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९३८

वसुनन्दि श्रावकाचार : वसुनन्दि, काशी, १९५२

वीर जिणिंद चरिउ : पुष्पदन्त, सम्पा० हीरा लाल जैन, दिल्ली, १९७४

वीरवर्धमानचरितम् : सकलकीर्ति, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, १९७४

शिल्परत्नम् : श्रीकुमार, सम्पा० के० साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२९
शील पाहुड़ : बम्बई, वि० सं० १९७७
श्लोक वार्तिक : शोलापुर १९४९-१९५६
श्रावकधर्म प्रदीप : कुन्थुसागर, सम्पा० जगन्मोहन लाल, बनारस, वीर नि० सं० २४८१
समरांगण सूत्रधार : भोज, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, खण्ड १, बड़ौदा, १९२४
समयसार : कुन्दकुन्द, सम्पा० कैलाशचन्द्र, शोलापुर, १९६०
सर्वार्थसिद्धि : फूलचन्द्र, काशी, १९५५
सिद्धान्तसार-संग्रह : जीवराज जैन ग्रन्थमाला, १९५७
सूत्रकृतांग : तुलसी, नथमल, लाडनूं, वीर सं० २०३१
सूत्र पाहुड़ : बम्बई, वि० सं० १९७७
स्तुतिविद्या : समन्तभद्र, सम्पा० पन्ना लाल, सरसावा, १९५०
स्याद्वादमञ्जरी : परम श्रुत प्रभावक मण्डल, वि० सं० १९९१
स्वयम्भू-स्तोत्र : समन्तभद्र, अनु० जुगलकिशोर मुख्तार, सहारनपुर, १९५१
हरिवंश पुराण : जिनसेन, सम्पा०, पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६२
हरिवंश पुराण : पुष्पदन्त, दिल्ली, सं० १९९७

जैनेतर मूल ग्रन्थ

अग्नि पुराण : अनु० एस० एन० दत्त, कलकत्ता, १९०३
अथर्ववेद : सम्पा० आर० रॉथ एवं डब्ल्यू० डी० ह्विटनी, बर्लिन, १९२४
अर्थशास्त्र : कौटिल्य, अनु० शामशास्त्री, मैसूर, १९२९
अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६
अमरकोश : अमरसिंह, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९१४-१९१७
अष्टाध्यायी : पाणिनि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९
आपस्तम्ब धर्मसूत्र : बनारस, १९३२
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र : वाराणसी, १९३४
आश्वलायन गृह्यसूत्र : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८९४
आश्वलायन श्रौतसूत्र : कलकत्ता, १८७९
उत्तररामचरित : सम्पा० पी० वी० काणे, बम्बई, १९२९

उपनिषद् : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, गीता प्रेस, गोरखपुर
ऋग्वेद : वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३-५१
ऋतु संहार : कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२२
ऐतरेय आरण्यक : आक्सफोर्ड, १९०९
ऐतरेय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३१
कथासरित्सागर : सोमेश्वर, पटना, १९६०
कर्पूरमंजरी : राजशेखर, कलकत्ता, १९४८
कात्यायन श्रौतसूत्र : सम्पा० विद्याधर शर्मा, बनारस, १९३७
कादम्बरी : बाणभट्ट सम्पा० एम० आर० काले, बम्बई, १९००
कामन्दक नीतिसार : सम्पा० ज्वाला प्रसाद मिश्र, बम्बई, सं० २००९
कामसूत्र : वात्स्यायन; अनु० देवदत्त शास्त्री, वाराणसी, १९६४
कालिका पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक सं० १८२९
कालिदास-ग्रन्थावली : सम्पा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, १९७६
कुमार सम्भव : कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२७
कूर्म पुराण : एन० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १८९०
गणेश पुराण : गोपाल नारायण एण्ड कं०, बम्बई, १८९२
गरुड़ पुराण : खेमराज श्रीकृष्ण दास; बम्बई, १९०६
गोपथ ब्राह्मण : कलकत्ता, १८७२
गौतम धर्मसूत्र : मैसूर, १९१७
गौतम-स्मृति : आक्सफोर्ड, १८९७
तैत्तिरीय आरण्यक : आनन्दाश्रम, संस्कृत सिरीज, १९२६
तैत्तिरीय ब्राह्मण : सम्पा० शामशास्त्री, मैसूर, १९२१
तैत्तिरीय संहिता : सम्पा० श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९४५
दश कुमार चरित : सम्पा० एम० आर० काले, बम्बई, १९१७
देवी पुराण : वंगवासी प्रेस; कलकत्ता
देवी भागवत पुराण : वंगवासी प्रेस, कलकत्ता
नारद स्मृति : अनु० जे० जॉली, आक्सफोर्ड, १८८९
नारदीय पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
पद्म पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८९५
पराशर गृह्यसूत्र : कलकत्ता, १८९०-९१
पराशर-स्मृति : गुजराती प्रेस, संस्करण १९१७

बृहन्नारदीय पुराण : वंगवासी प्रेस, कलकत्ता
बृहत्संहिता : वराहमिहिर, सम्पा० सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८९५-१८९७
बृहस्पति-स्मृति : गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, १९४१
बौधायन धर्मसूत्र : वाराणसी, १९३४
ब्रह्मवैवर्त पुराण : सम्पा० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८८
ब्रह्म पुराण : बम्बई, १९०७
ब्रह्म सूत्र : शांकर भाष्यम्, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
ब्रह्माण्ड पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१३
भविष्य पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५०
भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर; १९५३
मत्स्य पुराण : गुरु मण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९५४
मनुस्मृति : सम्पा० गंगानाथ झा, कलकत्ता, १९२०-१९२९
महाभारत : सम्पा० बी० एस० सुकथंकर तथा अन्य, पूना १९२७-१९३३;
महाभाष्य : पतञ्जलि, सम्पा० एफ० कीलहॉर्न, बम्बई
मानसार : सम्पा० पी० के० आचार्य, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी, १९३३
मानसोल्लास : सोमेश्वरदत्त, भाग १-३, बड़ौदा, १९३९
मार्कण्डेय पुराण : एफ० ई० पार्जिटर, कलकत्ता, १८८८-१९०५
मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास, बम्बई संस्कृत सिरीज, १८८९
मुद्राराक्षस : सम्पा० आर० के० ध्रुव, पूना, १९३०
मेघदूत : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९४०
याज्ञवल्क्य स्मृति : बम्बई, १९३६-४४
रघुवंश : कालिदास; सम्पा० एच० डी० वेलांकर, बम्बई, १९४८
राजतरंगिणी : कल्हण, सम्पा० एम० ए० स्टाइन, भाग १-२ वेस्टमिनिस्टर, १९००, वाराणसी, १९६१
रामायण : अनु० पी० सी० राय, गीता प्रेस गोरखपुर, १९६७
लिंग पुराण : सम्पा० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८५
वराह पुराण : कलकत्ता, १८९३
वशिष्ट धर्मसूत्र : पूना, १९३०
वामन पुराण : सम्पा० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता, वि० सं०, १३१४

वायु पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९३३
विष्णुधर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१२
विष्णु पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८८९
विष्णुस्मृति : अनु० जे० जॉली, कलकत्ता, १८८१
बृहस्पति स्मृति : बड़ौदा, १९४१
शतपथ ब्राह्मण : सम्पा० ए० वेबर, १९२४
शांख्यायन श्रौतसूत्र : कलकत्ता, १८९९
शिव पुराण : कलकत्ता, वि० सं० १३१४
शुक्रनीतिसार : शुकदेव, सम्पा० मिहिरचन्द्र खेमराज, बम्बई, सं० २०१२
संस्कार प्रकाश : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
साम्ब पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक सं० १८२१
सौर पुराण : पूना, १९२४
स्कन्द पुराण : कलकत्ता, वि० सं० १३१८
हरिवंश पुराण : सम्पा० आर० आर० शर्मा, भाग १-२, मुरादाबाद, १९२६
हर्ष चरित : बाणभट्ट—अनु० कॉवेल तथा टॉमस, कलकत्ता १८९७; पी० वी० काणे १९१८

सहायक ग्रन्थ

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पतञ्जलि कालीन भारत, पटना, सं० २०१९
अग्रवाल, उर्मिला : खजुराहो स्कल्पचर्स ऐण्ड देयर सिग्नीफिकॅन्स, दिल्ली, १९६४
अग्रवाल, वासुदेव शरण : हर्षचरित्र : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९६४
कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९५८
पाणिनि कालीन भारतवर्ष, वाराणसी, वि० सं०, २०१२
भारतीय कला, वाराणसी, १९७७
कला और संस्कृति, इलाहाबाद, १९५८
मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, १९६३
कीर्तिलता, झांसी, १९६३
ऐंशेण्ट इण्डियन फॉक कल्ट्स—वाराणसी, १९७०
इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मनु, वाराणसी, १९७०

मत्स्य पुराण : ए स्टडी, वाराणसी, १९६३
प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, १९६४
वामन पुराण : ए स्टडी, वाराणसी, १९६४
अय्यर, पी० एस० एस० : इवोल्युशन ऑव हिन्दू मारल आइडियल्स, कलकत्ता, १९३५
अरविन्द घोष : फाउण्डेशन ऑव इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, १९६८
अरोड़ा, राजेकुमार : हिस्टॉरिकल ऐण्ड कल्चरल डाटा फ्रॉम द भविष्य पुराण, नई दिल्ली, १९७२
अली, एस० एम० : द ज्योग्रॉफी ऑव द पुराणाज़, नई दिल्ली, १९६६
अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : द पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस, १९३८
राष्ट्रकूटाज़ ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना, १९६७
प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, १९६८
एजूकेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बनारस, १९४८
अवस्थी, अवध बिहारी लाल : स्टडीज़ इन स्कन्द पुराणाज़ (भाग १), लखनऊ, १९६५
स्टडीज़ इन वराह पुराण, लखनऊ, १९६६
प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, लखनऊ, १९६४
असरफ, कुँअर मुहम्मद : लाइफ ऐण्ड कण्डीशन ऑव द पीपुल ऑव हिन्दुस्तान, (१२००-१५५०), भाग १, जनरल ऑव द ऐशियाटिक सोसाइटी ऑव, बंगाल, १९३५
आचार्य, पी० के० : एन इनसाइक्लोपीडिया ऑव, हिन्दू आर्किटेक्चर, लन्दन, १९४६
मानसार ऑन आर्किटेक्चर ऐण्ड स्कल्पचर, इलाहाबाद, १९३३
आप्टे, वी० एम० : सोशल ऐण्ड रिलिजस लाइफ इन द गृह्यसूत्राज़, बम्बई, १९५४
आयंगर, के० वी० आर० : सम आस्पेक्टस ऑव ऐंशेण्ट इण्डियन पॉलटी, मद्रास, १९३५
हिन्दू व्यू ऑव लाइफ एकार्डिंग टु धर्मशास्त्र, बड़ौदा
इंगेल्स : द ओरिजिन ऑव द फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी ऐण्ड द स्टेट, मास्को, १९५२
उपाध्याय, अमर मुनि : योगशास्त्र : एक परिशीलन, आगरा, १९६३
उपाध्याय, वी० खोसो : रिलिजस कण्डीशन ऑव नार्दर्न इण्डिया (७००-१२०० ई०), वाराणसी, १९६४
उपाध्याय, अरुण कुमार : राजशेखर : एक अध्ययन, वाराणसी, १९७९
उपाध्याय, कृष्ण देव : हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, वाराणसी, १९७४

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पटना, १९७२
प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, १९७०
पूर्व मध्यकालीन भारत (७वीं से १२वीं शती ई०), प्रयाग,
उत्तर भारत का सांस्कृतिक इतिहास, प्रयाग, सं० २००९
गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-२, इलाहाबाद, १९५२
उपाध्याय, बलदेव : पुराण-विमर्श, वाराणसी, १९६५
भारतीय दर्शन, वाराणसी, १९४५
उपाध्याय पुष्करमुनि : जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आगरा, १९७७
उपाध्याय, भगवत शरण : कालिदास का भारत, भाग १-२, वाराणसी, १९६३-६४
गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १९६९
उपाध्याय, भरत सिंह : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, सं० २०१८
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द्र : भारतीय प्राचीन लिपिमाला, नई दिल्ली, १९७१
ओम प्रकाश : फूड ऐण्ड ड्रिंक्स इन ऐंशेण्ड इण्डिया, दिल्ली, १९६१
ओम प्रकाश : पोलिटकल आइडियाज़ इन द पुराणाज़, इलाहाबाद, १९७७
ओल्गा लंग : चाइनिज़ फेमिली ऐण्ड सोसाइटी, लंदन, १९४६
कनिंघम : ऐंशेण्ट ज्योग्राफी ऑव इण्डिया, कलकत्ता, १९२४
काणे, पी० वी० : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र (भाग १-५), पूना, १९६२-१९७५
कान्तावाला, जी० के० : कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम द मत्स्य पुराण, बड़ौदा, १९६४
कान्ति सागर : खोज की पगडंडियाँ, दिल्ली, १९५३
कापडिया, के० एम० : मैरेज़ ऐण्ड फैमिली इन इण्डिया, तृ० सं०, ऑक्सफोर्ड, १९६६
कापड़िया, एच० आर० : ए हिस्ट्री ऑव कैनॉनिकोल लिटरेचर ऑव द जैन्स, बम्बई, १९४१
कासलीवाल, कस्तूरचन्द्र : राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की सूची (भाग १ से ४), जयपुर
किरफेल, विल्लीबाल्ड : दस पुराण पञ्च लक्षण, बॉन, १९२७
कीथ, ए० बी० : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, ऑक्सफोर्ड, १९५३;
द संस्कृत ड्रामा, ऑक्सफोर्ड, १९५४
की एफ० ई० : इण्डियन ऐजुकेशन इन ऐंशेण्ट ऐण्ड लैटरी टाइम्स, आक्सफोर्ड, १९४२
कुमारस्वामी, ए० के० : हिस्ट्री ऑव इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, न्यूयार्क, १९६५
इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन आर्ट, दिल्ली, १९६९

कुमारस्वामीज़ सेलेक्टेड पेपर्स (भाग १-३), सम्पा० रोजर्स लिप्से, न्यूजर्सी (यू० एस० ए०)

कैटलाग ऑव जैन पेण्टिगस ऐण्ड मनुस्क्रिप्टस, बोस्टन, १६२४

के० भुजबल शास्त्री : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ७, वाराणसी, १६८१

कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ-सूची, वाराणसी, १६४८

क्रैमरिश, एस० : द आर्ट ऑव इण्डिया, लन्दन, १६५४

द हिन्दू टेम्पुल्स (भाग १-२), कलकत्ता, १६४६

इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता, १६३३

कैनी, एम० ए० : ऐन इन्साक्लोपीडिया ऑव रिलिजन, दिल्ली, १६७६

कैलास चन्द्र : जैन धर्म, मथुरा, १६७५

जैन साहित्य का इतिहास (भाग १-२), वाराणसी, वी० नि० सं० २५०२

जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका), वाराणसी, वी० नि० सं० २४८६

दक्षिण भारत में जैन धर्म, दिल्ली, १६६७

जैन न्याय, नई दिल्ली, १६६६

कोसाम्बी, डी० डी० : द कल्चर ऐण्ड सिविलाइजेशन ऑव ऐंशेण्ट इण्डिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन, लन्दन, १६६५

ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, १६५६

गंगाधरन, एन० : गरुड़ पुराण : ए स्टडी, वाराणसी, १६७२

गुप्त, धर्मेन्द्र कुमार : सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन द टाइम ऑव दण्डिन, दिल्ली, १६७२

गुप्त, परमानन्द : ज्योग्राफी इन ऐंशेण्ट इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स (६५० ई० तक), दिल्ली, १६७३

गुप्ते, आर० एस० : आइकनोग्राफी ऑव हिन्दू, बुद्धिस्ट ऐण्ड जैन्स, बम्बई, १६७२

गुसेव, एन० आर० : जैनिज़्म, बम्बई, १६७१

गैरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, १६७३

भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, १६६३

गोपाल, एस० : आउटलाइन्स ऑव जैनिज़्म, नई दिल्ली, १६७३

गोपाल, लल्लनजी : इकोनमिक लाइफ ऑव नार्दर्न इण्डिया (७००-१२०० ई०), दिल्ली, १६६५

गोयल, प्रीतिप्रभा : हिन्दू विवाह मीमांसा, रूपायन संस्थान, बोरून्दा, १९७६

ग्लासेनप्प, एच० : डाक्ट्रिन ऑव कर्म इन जैन फिलासफी, बम्बई, १९४२

घुर्ये, जी० एस० : कास्ट ऐण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, १९५०

घोष, अमलानन्द : आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर (अनु०-लक्ष्मी चन्द्र जैन—जैन कला और स्थापत्य), नई दिल्ली, १९७५

घोषाल, यू० एन० : स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, ओरिण्ट लागमंस, बम्बई, १९५७

हिस्ट्री ऑव हिन्दू पब्लिक लाइफ, भाग १, कलकत्ता, १९४५

ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज़, बम्बई, १९५९

चकलदार, एच० सी० : सोशल लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२९

स्टडीज़ इन वात्स्यायन्स कामसूत्र, कलकत्ता, १९७६

चक्रवर्ती, पी० सी० : आर्ट ऑव वार इन ऐंशेण्ट इण्डिया, ढाका, १९४१

चटर्जी, अशोक : पद्म पुराण : ए स्टडी, कलकत्ता, १९६७

चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा : पुराण : परिशीलन, पटना, १९७०

चन्द्र, के० आर० : ए क्रिटिकल स्टडी ऑव पउमचरिउम, वैशाली, १९७०

चन्धारी, आर० के० : पोजीशन ऑव ब्राह्मणाज़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पूना, १९६०

चौधरी, गुलाब चन्द्र : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया फ्रॉम जैन सोर्सेज़ (६५०-१३०० ई०), अमृतसर, १९६३

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, वाराणसी, १९७३

जायसवाल, काशी प्रसाद : हिन्दू राजतन्त्र (भाग १-२), वाराणसी, सं० २०३४

हिन्दू पॉलटी, कलकत्ता, १९२४

जॉली, जे० : आउट लाइन्स ऑव हिस्ट्री ऑव हिन्दू लॉ ऑव पार्टिशन इनहेरिटेंस ऐण्ड एडाप्सन, कलकत्ता, १८८५

जैन, कामता प्रसाद : द रिलिजन ऑव तीर्थंकराज़, अलीगढ़, १९६४

जैन तीर्थ और उनकी यात्रा, दिल्ली, १९६२

जैन, कैलाश चन्द्र : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, भोपाल, १९७१

जैन, कोमल चन्द्र : जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, १९६७

जैन गोकुल चन्द्र : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन अमृतसर, १९६७

जैन, जगदीश चन्द्र : लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन कनॅन्स, बम्बई, १९४७

जैन आगम में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५

जैन, ज्योति प्रसाद : जैन सोर्सेज़ ऑव द हिस्ट्री ऑव ऐंशेण्ट इण्डिया (१०० ई० पू० से ६०० ई०), दिल्ली, १९६४
रिलिजन ऐण्ड कल्चर ऑव जैन्स, दिल्ली, १९७७
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, काशी, १९६६
प्रकाशित जैन साहित्य, दिल्ली, १९५८
प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलायें, दिल्ली, १९७५
जैन, पुखराज : राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, आगरा, १९७०
जैन, प्रेम सागर : जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि, काशी, १९६३
जैन, प्रेम चन्द्र : अपभ्रंश कथा-काव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक, वाराणसी, १९७३
जैन, प्रेम सुमन : कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली (बिहार), १९७५
जैन, बलभद्र : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग १-२, दिल्ली, वी० नि० सं० २५००
जैन, बाल चन्द्र : जैन प्रतिमा विज्ञान, जबलपुर, १९७४
जैन, भाग चन्द्र : देवगढ़ की जैनकला : एक सांस्कृतिक अध्ययन, नई दिल्ली, १९७४
भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान, एटा, १९६१
जैनिज़्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, नागपुर, १९६२
जैन, मुनि उत्तम कमल : जैन सेक्टस ऐण्ड स्कूल्स, दिल्ली, १९७५
जैन, रतन लाल : जैन धर्म, दिल्ली, १९७४
जैन, राजा राम : रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पटना, १९७४
जैन, श्रीचन्द्र : जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर, १९७१
जैन, हीरालाल : भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९७५
जैन शिलालेख-संग्रह, भाग १, बम्बई
संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, इलाहाबाद, १९२३
जोहरापुरकर, विद्याधर : जैन शिलालेख-संग्रह, भाग ४-५, दिल्ली, वी० नि० सं० २४९१, २४९७
झा, गंगानाथ : नोट्स आन मानव धर्मशास्त्र, बम्बई, १८८६
ट्वायनबी, ए० जे० : ए स्टडी ऑव हिस्ट्री (इतिहास : एक अध्ययन), भाग १-२, लखनऊ, १९६६-६७
टाटिया, नथमल : स्टडीज़ इन जैन फिलासफी, बनारस, १९५१
टामस, एडवर्ड : ऐंशेण्ट इण्डियन वेट्स, वाराणसी, १९७०
टामस, पी० : फेस्टिवल ऐण्ड हालीडेज़ ऑव इण्डिया, बम्बई, १९७१
इण्डियन वीमेन थ्रू द एजेज़, लन्दन, १९६४

टामस, वाल्टर्स : ऑन युवान च्वांग्स ट्रवेल्स इन इण्डिया (६२६-६४५ ई०), भाग २, लन्दन, १६०४-५, प्रथम भारतीय संस्करण, नई दिल्ली, १६६१

ठाकुर, उपेन्द्र : द हूणाज़ इन इण्डिया, वाराणसी, १६६७
स्टडीज़ इन जैनिज़्म ऐण्ड बुद्धिज़्म इन मिथिला, वाराणसी, १६६४
सम आस्पेक्ट्स ऑव ऐंशेण्ट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, नई दिल्ली, १६७४

ठाकुर, लक्ष्मी दत्त : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, लखनऊ, १६६५

डे, एन० एल० : जिऑग्राफिकल डिक्शनरी ऑव ऐंशेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, लन्दन, १६२७

डैरेट, जे० डी० एम० : रिलिजन, लॉ ऐण्ड स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लन्दन, १६६६

त्रिपाठी, रमाशंकर : हिस्ट्री ऑव ऐंशेण्ट इण्डिया, दिल्ली, १६६०
हिस्ट्री ऑव कनौज, बनारस, १६३७

त्रिपाठी, श्रीकृष्ण मणि : पुराण तत्त्वमीमांसा, लखनऊ, १६६१

दत्ता, एन० के० : ओरिजिन ऐण्ड ग्रोथ ऑव कास्ट इन इण्डिया, कलकत्ता, १६३१

दत्ता, बी० बी० : टाउन प्लानिंग इन ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १६६५

दत्ता, रमेश चन्द्र : लैटर हिन्दू सिविलाइजेशन (५००-१२०० ई०), कलकत्ता, १६६५

दास, एस० के० : एजूकेशन सिस्टम ऑव द ऐंशेण्ट हिन्दूज़, कलकत्ता, १६३०
इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १६२२

दास, रायकृष्ण : प्राचीन भारत की चित्रकला, इलाहाबाद, १६६३
भारतीय मूर्तिकला, वाराणसी, सं० २०३०

दासगुप्ता, बी० सी० : जैन सिस्टम ऑव एजूकेशन, कलकत्ता, १६४२

दासगुप्ता, एस० एन० एवं डे, एस० के० : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता, १६६८

दिवाकर, सुमेर चन्द्र : जैन शासन, काशी, १६५०

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : प्राचीन भारत में कलात्मक विनोद, बम्बई, १६५२

द्विवेदी, वाचस्पति : कथासरित्सागर : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना १६७७

द्विवेदी, आर० सी० : कण्ट्रीब्यूसन ऑव जैनिज्म टु इण्डियन कल्चर, दिल्ली, १६७५

दीक्षित, प्रेम कुमारी : महाभारत में राज-व्यवस्था, लखनऊ, १६७०

दीक्षितार, वी० आर० : वार इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लन्दन, १९४८
पौराणिक इण्डेक्स (भाग१-३), मद्रास, १९३६
दीपंकर : कौटिल्य कालीन भारत, लखनऊ, १९६८
दुबे, हरि नारायण : पुराण समीक्षा, इलाहाबाद, १९८४
दुबे, एस० सी० : इण्डियन विलेज, १९५०
दुबे, सत्यमित्र : मनु की सामाजिक व्यवस्था, इलाहाबाद, १९६४
देव, कैलाश चन्द्र : भारत का संगीत सिद्धान्त, लखनऊ, १९५९
देव, एस० बी० : हिस्ट्री ऑव जैन मोनिज़्म, पूना, १९५६
देवराज, एन० के० : भारतीय संस्कृति (महाकाव्यों के आलोक में), लखनऊ, १९६१
देवेन्द्र मुनि : जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, उदयपुर, १९७५
देसाई, नीलेश्वरी बाई : ऐंशेण्ट इण्डियन सोसाइटी ऐण्ड मैथालोजी ऐज डिपिक्टेड इन द मार्कण्डेय पुराण, बड़ौदा, १९६८
देसाई, पी० बी० : जैनिज़्म इन साउथ इण्डिया ऐण्ड सम जैन एपीग्रॉफ्स, शोलापुर, १९५९
दोशी, बेचनदास : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, वाराणसी, १९६६
नगराज : आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, खण्ड I, कलकत्ता, १९६९
नथमल : जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, चुरू (राजस्थान), १९७३
नाहर, पी० सी० : जैन लेख-संग्रह, भाग १-३, कलकत्ता, १९१८-२९
नाहर और घोष : ऐन एपीटोम ऑव जैनिज़्म, कलकत्ता, १९१७
नाहटा, अगर चन्द भँवर लाल : बीकानेर जैन लेख-संग्रह, कलकत्ता, वी० नि० सं०, २४८२
नाथूराम 'प्रेमी' : जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६
नियोगी, पुष्पा : कण्ट्रीब्यूशन टु द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया (१०वीं-११वीं शती ई०), कलकत्ता, १९६२
नेगी, जे० एस० : सम इण्डोलॉजिकल स्टडीज़, भाग १, इलाहाबाद, १९६६
नेमिचन्द्र 'शास्त्री' : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, १९६८
आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन, वाराणसी, १९६३
संस्कृत-काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली, १९७१
व्रत तिथि निर्णय, दिल्ली, १९५६

पन्निकर, के० एम० : ओरिजिन ऐण्ड एवोल्युशन ऑव किंगशिप इन इण्डिया, १६५०
पद्म राजिया, बाई० जे० : ए कम्परेटिव स्टडी ऑव द जैन थ्यूरीज ऑव रियल्टी ऐण्ड नालेज, बम्बई, १६६३
पर्सी ब्राउन : इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट ऐण्ड हिन्दू), बम्बई, १६४६
पाई, जी० के० : कल्चरर हिस्ट्री फ्रॉम द कूर्म पुराण, कोचीन, १६७५
पाठक, वी० एस० : शैव कल्टस इन नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, १६६०
पाठक, विशुद्धानन्द : उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास (६००-१२०० ई०), लखनऊ, १६७७
पाठक, सर्वानन्द : विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, १६६७
पार्जिटर, एफ० आई० : पुराण टेक्टस ऑव द डायनेस्टीज ऑव द कलि ऐज, आक्सफोर्ड, १६१३
ऐंशेण्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडीशन्स, दिल्ली, १६६२
पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज् इन द ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १६५७
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १६६३
फाउण्डेसन ऑव इण्डियन कल्चर, भाग १-२, नई दिल्ली, १६८४
पाण्डेय, वीणा पाणि : हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, लखनऊ, १६६०
पाण्डेय, राजबली : हिन्दू संस्काराज्, बनारस, १६४६
हिन्दू संस्कार, वाराणसी
हिन्दू धर्म-कोश, लखनऊ, १६७८
सब्जेक्ट इण्डेक्स ऑव द पुराणज़, बनारस, १६५७
पेटरसन, पी० : ए कलेक्शन ऑव प्राकृत ऐण्ड संस्कृत इन्स्क्रिप्सन्स, भावनगर, १६०५
पुरी, बैजनाथ : भारत के प्राचीन नगर, लखनऊ, १६४७
इण्डिया इन द टाइम ऑव पतञ्जलि, बम्बई, १६५७
द हिस्ट्री ऑव द गुर्जर प्रतिहार, बम्बई, १६५७
पुशाल्कर, ए० डी० : स्टडीज् इन द एपिक्स ऐण्ड पुराणाज़, बम्बई, १६५५
पुष्कर, मुनि : जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आगरा, १६७७
प्रकाश : भारतीय सृष्टि विद्या, नई दिल्ली, १६७४
प्रभू, पी० एच० : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, बम्बई, १६५८
प्रसाद, एस० एन० : स्टडीज् इन गुणाढ्य, दिल्ली, १६७७
फ्लीट, जे० एफ० : कॉर्पस इन्स्क्रिप्सनम इण्डीकेरम, भाग ३

फूलचन्द्र : वर्ण, जाति और धर्म, काशी, १९६३
जैन तत्व मीमांसा, वाराणसी, वी० नि० सं०, २४८६
बदेर, क्लीरसे : वीमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया (मारेल ऐण्ड लिटरेरी स्टडीज़), लन्दन, १९२५
बनर्जी, एम० सी० : इण्डियन सोसाइटी इन द महाभारत, वाराणसी, १९५६
बनर्जी, सुरेश चन्द्र : फण्डामेण्टल्स ऑव ऐंशेण्ट इण्डियन म्युज़िक ऐण्ड डान्स, अहमदाबाद, १९७६
बनर्जी, जे० एन० : द डेवेल्पमेण्ट ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता, १९५६
बसु, जे० : इण्डिया इन द ऐज ऑव द ब्राह्मणाज़, कलकत्ता, १९६४
बसाक, आर० जी० : हिस्ट्री ऑव नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, १९३४
बासम, ए० एल० : द वॉण्डर दैट वॉज इण्डिया, लन्दन, १९५४
स्टडीज़ इन ऐंशेण्ट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, १९६४
बुल्के, फादर कामिल : राम कथा, इलाहाबाद, १९७१
बृहस्पति, कैलाश चन्द्र देव : भरत का संगीत सिद्धान्त
बेनी प्रसाद : स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, १९२८
बोथ्रा, पुष्पा : द जैन थ्युरी ऑव परसेप्शन, दिल्ली, १९७६
ब्रीस्टेड : द कल्क्वेस्ट ऑव् सिविलाइजेशन, लन्दन, १९५४
ब्यूलर, जी० : इण्डियन पेलियोग्राफी, कलकत्ता, १९५९
भगवान दास : द सायन्स ऑव सोशल आर्गनाइजेशन, लन्दन, १९३५
भगवानदीन : सोलह कारण भावना, दिल्ली, १९६६
भट्टाचार्य, टी० : ए स्टडी ऑव वास्तुविद्या, पटना, १९४७
ए केनॅन ऑव इण्डियन आर्ट, कलकत्ता, १९६३
भट्टाचार्य, नगेन्द्र नाथ : जैन फिलासफी, हिस्ट्रॉरिकल आउट लाइन्स, नई दिल्ली, १९७६
भट्टाचार्य, बी० सी० : जैन आइकनोग्राफी, लाहौर, १९३९
भट्टाचार्य, सच्चिदानन्द : भारतीय इतिहास कोश, लखनऊ, १९६७
भण्डारकार, आर० जी० : वैष्णविज़म, शैविज़म ऐण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पूना, १९२९
भागेन्दु, भागचन्द्र : भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान, एटा, १९६१
भार्गव, दयानन्द : जैन इथिक्स, दिल्ली, १९६८
भास्कर, भाग चन्द्र : जैन दर्शन तथा संस्कृति का इतिहास, नागपुर, १९७७

मजूमदार, ए० के० : चालुक्याज़ ऑव गुजरात, बम्बई, १९५६

मजूमदार, बी० के० : द मिलिटरी सिस्टम इन ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९६०

मजूमदार, बी० पी० : सोसियो-इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया (१०३०–११९४ ई०), कलकत्ता, १९६०

मजूमदार, डी० एन० : रेसेज ऐण्ड कल्चर्स ऑव इण्डिया, लन्दन, १९३५

मजूमदार, आर० सी० : हिस्ट्री ऑव बंगाल, भाग १, ढाका, १९४३
कारपोरेट लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२२
(सं) द ऐज ऑव इम्पीरियल युनिटी, बम्बई, १९५३
(सं) द क्लासिकल ऐज, बम्बई, १९५४

मजूमदार, आर० सी० एवं माध्वानन्द : ग्रेट वीमेन ऑव इण्डिया, अल्मोडा, १९५३

मधुकर मुनि : जैन धर्म की हजार शिक्षायें, ब्यावर (जोधपुर), १९७३

मनकड, डी० आर० : पौराणिक क्रोनोलोजी, आनन्द, १९५१

महेन्द्र कुमार : जैन दर्शन, वाराणसी, १९६६

महतो, मोहन लाल : जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, १९५८

महराज, मिस्री लाल : जैन धर्म में तप : स्वरूप एवं विश्लेषण, ब्यावर

मायेर, जे० जे० : सैक्सुअल लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लन्दन, १९३३

मालवणिया, दलसुख भाई : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, बनारस, १९४९
आगम युग का जैन दर्शन, आगरा, १९६६
निशीथ: एक अध्ययन, आगरा, १९५९

मिराशी, वासुदेव विष्णु : लिटरेरी ऐण्ड हिस्टॉरिकल स्टडीज़ इन इण्डोलॉजी, दिल्ली, १९७५
हिस्टॉरिकल डेटा इन दण्डिनाज़ दशकुमार चरित

मिश्र, कमला कान्त : जातकमाला : एक अध्ययन, इलाहाबाद, १९७७

मिश्र, जय शंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, १९८३
ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, १९६८

मिश्र, बी० बी० : पॉलटी इन द अग्नि पुराण, कलकत्ता, १९६५

मिश्र, लालमणि : भारतीय संगीत वाद्य, नई दिल्ली, १९७३
मिश्र, विद्या : वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, लखनऊ, १९६३
मिश्र, शिव नन्दन : गुप्तकालीन अभिलेखों से ज्ञात तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा, लखनऊ, १९७३
मिश्र, शिव शेखर : सोमेश्वर कृत मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९६६
मुकर्जी, राधा कमल : सोशल फन्क्सन ऑव आर्ट, बम्बई, १९४८
द इण्डियन स्कीम ऑव लाइफ, बम्बई, १९५१
लैण्ड प्राब्लम ऑव इण्डिया, लन्दन, १९३३
ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन सिविलाइजेशन, भाग १, बम्बई
मुकर्जी, राधा कुमुद : ऐंशेण्ट इण्डियन एजूकेशन, लन्दन, १९४७
द फण्डामेण्टल युनिटी ऑव इण्डिया, बम्बई, १९६०
मुकर्जी, एस० : जैन फिलासफी ऑव नॉन ऑब्सोल्युटिज्म, कलकत्ता, १९४४
मुख्तार, जुगुल किशोर एवं शास्त्री, परमानन्द : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, भाग १, सरसवा, भाग २, दिल्ली, १९६३
मुख्तार, जुगल किशोर : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, कलकत्ता, १९५६
युगवीर निबन्धावली, भाग १, दिल्ली, १९६३
समीचीन धर्मशास्त्र, दिल्ली, १९५५
स्वामी समन्तभद्र, बम्बई, १९२५
मुंशी, के० एम० : गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर, बम्बई, १९५४
मेक्लवर, आर० एम० एवं पेज, सी० एच० : सोसाइटी, लन्दन, १९६२
मेनन, पद्मिनी : पुराण संदर्भ कोश, कानपुर, १९६९
मेहता, मोहन लाल : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३ व ४, वाराणसी, १९६७, १९६८
जैन दर्शन, आगरा, १९५९
जैन कल्चर, वाराणसी, १९६९
जैन धर्म दर्शन, वाराणसी, १९७३
जैन आचार, वाराणसी, १९६६
प्राकृत प्रापर नेम्स, भाग १ व २, अहमदाबाद, १९७०, १९७२

मेहता, नाना लाल चिमन लाल : भारतीय चित्रकला
मोती चन्द्र : जैन मिनियेचर पेंटिंग्स फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया, अहमदाबाद, १९४९
भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सं० २००७
सार्थवाह, पटना, १९५३
मोती चन्द्र एवं शाह, उमाकान्त प्रेमानन्द : न्यू डाकूमेण्ट्स ऑव जैन पेंटिंग, बम्बई, १९७५
यादव, ब्रजनाथ सिंह : सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया (१२वीं शती) इलाहाबाद, १९७३
यादव, झिनकू : समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९७७
राजेन्द्र मुनि : चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, उदयपुर, १९७६
राधाकृष्णन्, एस० : धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, दिल्ली, १९७३
धर्म और समाज, दिल्ली, १९७२
भारतीय दर्शन, भाग १ व २, दिल्ली, १९७३
द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ, न्यूयार्क, १९४८
रानाडे, आर० डी० : कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, पूना, १९३३
राव, विजय बहादुर : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति (एक अध्ययन), वाराणसी, १९६६
रामगोपाल : इण्डिया ऑव वैदिक कल्पसूत्राज्, दिल्ली, १९५९
रामपुरिया, श्रीचन्द : कल्ट ऑव अहिंसा, कलकत्ता, १९५७
राय, कृष्णदास : भारत की चित्रकला, वाराणसी, वि० सं० २०३०
राय, उदय नारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नागरिक जीवन, इलाहाबाद, १९६५
हमारे पुराने नगर, इलाहाबाद, १९६९
गुप्त सम्राट् और उनका काल, इलाहाबाद, १९७१
स्टडीज् इन ऐंशेण्ट इंण्डियन कल्चर, भाग १, इलाहाबाद १९६१
राय, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज् इन द डेवेलप्मेण्ट ऑव आर्नामेण्टस ऐण्ड ज्वेलरी इन प्रोटोहिस्टॉरिकल इण्डिया, वाराणसी, १९६४
राय, मन्मथ : प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन, इलाहाबाद, सं० २०१३
राय, सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८
हिस्टॉरिकल ऐण्ड कल्चरल स्टडीज् इन द पुराणाज्, इलाहाबाद, १९७८

रायचौधरी, बी० के० : भारतीय संगीत कोष, कलकत्ता, १९३२

रोलैण्ड, बेंजामिन : द आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया : हिन्दू, बुद्धिस्ट ऐण्ड जैन, विक्टोरिया, १९५९

ऋषभ चन्द्र, के० : ए क्रिटिकल स्टडी ऑव पउमचरिउम ऑव विमलसूरि, अहमदाबाद

लॉ, एन० एन० : स्टडीज् इन द इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, १९२५

लाले, पी० जी० : स्टडीज् इन द देवी भागवत, बम्बई, १९७३

लाहा, विमल चन्द्र : हिस्ट्रोरिकल ज्योग्राफी ऑव ऐंशेण्ट इण्डिया, पेरिस, १९५४ (अनु० रामकृष्ण द्विवेदी—प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ, १९७२)

इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्ट्स ऑव बुद्धिज्म ऐण्ड जैनिज्म, लन्दन, १९४१

ज्योग्राफिकल ऐसेज् रिलेटिंग टू ऐंशेण्ट इण्डिया, दिल्ली, १९७६

इण्डोलोजिकल स्टडीज्, भाग १, कलकत्ता, १९५०

लिप्से, रोगर : कुमार स्वामीज् सेलेक्टेड पेपर्स, भाग १--३, न्यूजर्सी, १९७७

वर्मा, गायत्री : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, वाराणसी, १९६३

वर्मा, बी० एस० : सोसो-रेलिजस, एकोनामिक ऐण्ड लिटरेरी कण्डीशन ऑव बिहार, (३००-१०००) दिल्ली, १९६२

वर्मा, सांवलिया बिहारी लाल : भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास, पटना, १९७४

वसु, जे० : इण्डिया ऑव द ऐज् ऑव ब्राह्मणाज्, कलकत्ता, १९६४

वाजपेयी, कृष्ण दत्त : उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, १९५९

उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विभूति, लखनऊ. १९५७

भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योग, इलाहाबाद, १९६७

ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया ऑव ऐंशेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, भाग १, वाराणसी, १९६७

वाटर्स, टी० : ऑन युआन च्वांग्स ट्रेव्लस इन इण्डिया, लन्दन, १९०४-५

वाली, कोशल्या : द कन्सेप्सन ऑव अहिंसा इन इण्डियन थाट, वाराणसी, १९७४

विण्टरनित्ज़, एम० : ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग १-२, नई दिल्ली, १९७२

विल्सन, एच० एच० : द विष्णु पुराण : एक सिस्टम ऑव हिन्दू मैथालोजी ऐण्ड ट्रेडीशन, कलकत्ता, १९६१

विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ व ३, बम्बई, वि० सं० २००९,२०१३

वीरेन्द्र कुमार : तिलक मञ्जरी का आलोचनात्मक अध्ययन, उज्जैन, १९७८

वेत्तम, मनी : पौराणिक इन्साइक्लोपीडिया, दिल्ली, १९७५

वेस्टर्न मार्क, ई० : हिस्ट्री ऑव ह्यूमन मैरेज, भाग १-३, लन्दन, १९७१

व्यास, शान्तिकुमार नाथूराम : रामायणकालीन संस्कृति, नई दिल्ली, १९५८

व्यास, सूर्य नारायण : विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन, इन्दौर

शर्मा, आर० एस० : शूद्राज़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९५८

इण्डियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता, १९६५

भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, १९७३

आस्पेक्ट्स ऑव पोलीटिकल आइडियाज़ ऐण्ड इन्स्टीच्यूसन्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, दिल्ली, १९५९

शर्मा, ब्रजेन्द्र नाथ : सोसल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑव नार्दन इण्डिया (६००-१००० ई०), दिल्ली, १९७२

शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्टीज़, लखनऊ, १९५९

शर्मा, आर० एन० : ब्राह्मिन् थ्रू द ऐजेज़, दिल्ली, १९७७

शर्मा, जगदीश सरन : द नेशनल ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑव इण्डिया, नई दिल्ली, १९७२

शर्मा, एम० एल०; नीतिवाक्यामृत में राजनीति, दिल्ली, १९७१

शर्मा, राधा प्रसाद : पौराणिक कोश, वाराणसी, वि० सं० २०२८

शर्मा, बैजनाथ : हर्ष ऐण्ड हिज टाइम्स, वाराणसी, १९७०

शाह, अम्बालाल प्रे० : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, वाराणसी, १९६९

शाह, सी० जे० : जैनिज़्म इन नार्दर्न इण्डिया, बम्बई, १९२०

शास्त्री, जगदीश लाल : पोलिटिकल थाट इन द पुराणाज़, लाहौर, १९४४

शास्त्री, के वासुदेव : संगीत शास्त्र, लखनऊ, १९५८

शास्त्री, देवेन्द्र कुमार : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, दिल्ली १९७१

शास्त्री, परमानन्द : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, भाग २, दिल्ली

शास्त्री, शकुन्तल राव : वीमेन इन द सेक्रेट लाज

शास्त्री, के० भुजबली : प्रशस्ति-संग्रह, जैन सिद्धान्त भवन, आरा १९४२

शुक्ल, विजेन्द्र नाथ : भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १९६८
भवन-निवेश (समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्रीय), दिल्ली, १९६४
शुक्ल, बदरीनाथ : मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन, वाराणसी, १९६०
शुक्ल, रमाकान्त : जैनाचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण और तुलसीकृत रामचरित मानस दिल्ली, १९७४
श्रीवास्तव, धर्मावती : प्राचीन भारत में संगीत, वाराणसी, १९६७
श्रीवास्तव, बी० सी० : सन वर्शिप इन ऐंशेण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, १९७२
श्रीवास्तव, ए० एल० : श्रीवत्स, इलाहाबाद, १९८३
संकालिया, एच० डी० : जैन अइकनोग्राफी, बम्बई
संदेसर, बी० जे० : जैन आगम साहित्य में गुजरात, अहमदाबाद
सर आरल स्टाइन : एशिया मेजदा हर्थ एनिवर्सरी, वाल्यूम, १९२३
सरकार, दिनेश चन्द्र : सलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलीजेशन, भाग २, १९४२, १९६५
सोशल लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९७१
अर्ली इण्डियन पोलिटिक्ल ऐण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम, कलकत्ता, १९७२
ट्रेड ऐण्ड इण्डस्ट्री इन ऐंशेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९६२
अर्ली हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑव द जैन्स, कलकत्ता, १९७३
स्टडीज़ इन युग पुराण ऐण्ड अदर टेक्टस, दिल्ली, १९७४
स्टडीज़ इन द ज्योग्राफी ऑव ऐंशेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, दिल्ली १९६०
सव्यसाची : जैनधर्म और विधवा विवाह, दिल्ली, १९३१
सहाय, सच्चिदानन्द : मन्दिर-स्थापत्य का इतिहास, पटना, १९८१
सिकदार, जे० सी० : स्टडीज़ इन द भगवतीसूत्र, मुजफ्फरपुर, १९६४
सिन्क्लेयर, एस० : द हार्ट ऑव जैनिज्म, ऑक्सफोर्ड, १९१५
सिंह, मदन मोहन : बुद्धकालीन समाज और धर्म, पटना, १९७२
सिंह, राम भूषण प्रसाद : जैनिज़्म, इन अर्ली मेडिवल कर्नाटक (५००-१२०० ई०), दिल्ली, १९७५
सिंह, एच० आर० : ए क्रिटिक्ल स्टडी ऑव द ज्योग्राफिकल डाटा इन द अर्ली पुराणाज़, कलकत्ता, १९७२
सिंह, आर० सी० पी० : किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, १९६८
सिंह रणजीत : धर्म की हिन्दू अवधारण, इलाहाबाद, १९७७
सिन्हा, वशिष्ठ नारायण : जैन धर्म में अहिंसा, अमृतसर, १९७२

सुखलाल : दर्शन और चिन्तन, अहमदाबाद, १९५७
सुब्बाराव, एन० एस० : ऐकोनमिक ऐण्ड पोलिटिकल कन्डीशन्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, मैसूर, १९११
सुरेश मुनि : कर्मवाद : एक अध्ययन, आगरा, १९६५
सूरिदेव, श्रीरंजन : प्राकृत संस्कृत का समानन्तर अध्ययन, इलाहाबाद, १९८४
सेन, बी० सी० : स्टडीज़ इन द बुद्धिस्ट जातकाज़ (ट्रेडीशन ऐण्ड पॉलटी), कलकत्ता, १९७४
सेन, मधु : ए कल्चरल स्टडी ऑव द निशीथचूर्णी, अमृतसर, १९७५
सेन गुप्ता एन० सी० : इवोल्युशन ऑव ऐंशेण्ट इण्डियन लॉ, कलकत्ता, १९५३
सेनार्ट, ई० : कास्ट इन इण्डिया, लन्दन, १९३९
सोधिया, दरयाव सिंह : श्रावक धर्म संहिता, दिल्ली, १९७५
सोमसुरा, प्रभाकर ओ० : भारतीय संहिता, नई दिल्ली, बम्बई, १९७५
स्चूंबिंग, डब्ल्यू० : द डाक्ट्रिन ऑव द जैन्स, दिल्ली, १९७८
स्वर्णलता : प्राचीन भारत में राज्य और शासन व्यवस्था (याज्ञवल्क्य स्मृति पर आधारित) वाराणसी, १९७४
स्टिवेन्सॅन सिंक्लेयर : हार्ट ऑव जैनिज़्म, लन्दन, १९१५
स्मिथ : हिस्ट्री ऑव फाइन आर्टस इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन
स्मिथ, वी० : जैन स्तूप ऐण्ड अदर ऐण्टीक्यूटीज़ फ्राम मथुरा, इलाहाबाद, १९७०
स्वरूप, शान्ति : द आर्टस ऐण्ड क्राफ्टस ऑव इण्डिया ऐण्ड पाकिस्तान, बम्बई, १९६८
हकार्ट, ए० एम० : कास्ट ए कम्प्रेटिव स्टडी, लन्दन, १९५७
हस्तीमल जी : जैन धर्म का मौलिक इतिहास (भाग १) जयपुर १९७१
हाजरा, राजेन्द्र चन्द्र : स्टडीज़ इन द पौराणिक रिकर्ड ऑन् हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, वाराणसी, १९६५
स्टडीज़ इन द उपपुराणाज़, भाग १-२ कलकत्ता, १९७७
हावेल, ई० बी० : इण्डियन आर्किटेक्चर, लन्दन, १९१३
ऐंशेण्ट मेडिवल आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया, लन्दन, १९१५
इण्डियन स्कल्पचर ऐण्ड पेंटिंग, लन्दन, १९०८
हिंगरानी, आर० पी० : जैन आइकनोग्राफी इन रूपमंडन, वाराणसी, १९६८
हैण्डीकी, कृष्णकान्त : यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर, शोलापुर, १९४९
ज्ञानी, एस० डी० : अग्नि पुराण : ए स्टडी, वाराणसी, १९६४

अभिनन्दन तथा स्मृति ग्रन्थ

आचार्य श्री तुलसी षष्टिपूर्ति अभिनन्दन पत्रिका : सम्पा० हरिवंशराय बच्चन, नई दिल्ली, १९७४

ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पा० श्रीमती सुशीला सुलतानसिंह एवं श्रीमती जयमाला जैनेन्द्र किशोर, जैन महिला परिषद्, आरा, १९५४

आचार्य श्री विजय बल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ : श्री महावीर जैन विद्यालय प्रकाशन, बम्बई, १९५६

गुरुगोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ : सम्पा० कैलाशचन्द्र आदि, अखिल भारतीय, दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर, १९६७

डॉ० राजबली पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ : डॉ० राजबली पाडेय स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति, कला निधि प्रकाशन, देवरिया, १९७६

बरैयास्मृति ग्रन्थ : दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, १९६७

भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन : सम्पा० देशभूषण, जैन साहित्य समिति, दिल्ली, १९७३

श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ : बम्बई १९४८-४९

मरुधर केसरी मुनि श्री मिश्री लालजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पा० शोभाचन्द्र भारिल्ल, ब्यावर, जोधपुर, १९६८

महावीर जयन्ती स्मारिका : राजस्थान जैन सभा, जयपुर, १९६४

मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ : सम्पा० शोभाचन्द्र भारिल्ल, मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९६५

श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ : सम्पा० पन्ना लाल, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, १९७४

वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ : प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाल आदि, श्री वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति, सागर. वी० नि० सं० २४७६

श्री ईश्वरदास जालान अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पा० नन्द किशोर जालान, अभिनन्दन समिति, कलकत्ता, १९७७

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पा० देवेन्द्रमुनि शास्त्री, राजस्थान केसरी अध्यात्म योगी श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति बम्बई; उदयपुर, १९७९

सुमेरु चन्द्र दिवाकर अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पा० नन्द लाल जैन, सुमेरु चन्द्र अभिनन्दन समारोह समिति, जबलपुर, १९७६

कोश तथा लक्षण ग्रन्थ

द इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (१४ वाँ संस्करण) भाग १-२४ : द इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका पब्लिकेशन, लन्दन, १९२९

इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐण्ड ऐथिक्स : (सम्पा०) जे० हर्स्टिंगस (भाग १-३), न्यूयार्क, १९०८

इण्टर नेशनल इन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज (१७ भागों में) : (सम्पा०) सिल्स, डैविड एल०, द मैक्मिलन कं० एण्ड द फ्री प्रेस, १९६८

एन इन्साइक्लोपीडिया ऑफ् रिलिजन : मैरिस ए कन्ने, नाग पब्लीकेशन, दिल्ली, १९७६

जैन लक्षणावली : बालचन्द्र शास्त्री, (भाग १-३), वीरसेवा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली, १९७२

जैन सिद्धान्त कोश : (भाग १-४), क्षु० जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७०-७३

शोध पत्रिकायें

अमरभारती (मासिक) : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

अणुव्रत : अखिल भारतीय अणुव्रत समिति, २१० दीनदयाल मार्ग, दिल्ली

अनेकान्त : वीरसेवा मन्दिर, सरसावा

अपरिग्रह : एफ ९४, जवाहर पार्क वेस्ट, लक्ष्मीनगर, दिल्ली

अहिंसा वाणी (मासिक) : अखिल भारतीय जैन मिशन, अलीगंज

आत्मानन्द-प्रकाशन

आत्मरश्मि : आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना

आत्म-धर्म

इण्डियन ऐण्टीक्वरी : बम्बई

इण्डियन कल्चर

इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली : कलकत्ता

ऐनुअल रिपोर्ट ऑव द आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया : नई दिल्ली

कल्याण : गीता प्रेस, गोरखपुर

गुरुकुल पत्रिका

जर्नल ऑव द ओरियण्टल इंस्टीच्यूट : एम० एस० विश्वविद्यालय, बड़ौदा
जर्नल ऑव द गुजरात रिसर्च सोसाइटी : गुजरात रिसर्च सोसाइटी संशोधन, बम्बई
जर्नल ऑव द गंगा नाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट : इलाहाबाद
जय गुज्जार : चांदमल जांगड़ा, मु० पो० रामपुर (मारवाड़), जिला-पाली (राजस्थान)
जिनवाणी : जयपुर
जिनसन्देश : श्री भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा
जैन एण्टीक्वेरी : आरा
जैन जर्नल : जैन भवन पब्लिकेशन, कलकत्ता
जैन साहित्य संशोधक : पूना
जैन भारती (साप्ताहिक) : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
जैन शिक्षण साहित्य पत्रिका
जैन दर्शन और संस्कृति परिषद् पत्रिका : कलकत्ता
जैन सिद्धान्त भास्कर : आरा
जैन जगत
जैन युग
जैन प्रकाश
जैन सत्य प्रकाश
जैन धर्म प्रकाश
जैन विद्या : सवाई माधवपुर (राजस्थान)
जैन महिलादर्श
तीर्थंकर : हीरा भैया प्रकाशन, कनाड़िया रोड, इन्दौर
तुलसी प्रज्ञा : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)
धर्मदूत
नया जीवन
पुराणम् : रामनगर, वाराणसी
प्रज्ञा
प्रेम-सुधा
भारतीय विद्या : बम्बई
माडर्न रिव्यू

राजस्थान भारती : सादूल राजस्थानी इन्स्टीच्यूट, बीकानेर
विश्व ज्योति : विश्वेरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट सोसाइटी, साधु आश्रम
विश्वभारती
विजयानन्द : आत्मानन्द जैन महासभा, लुधियाना
सम्यग्दर्शन : अखिल भारतीय साधुमार्गीय जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म०प्र०)
हिन्दुस्तानी : हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
सम्यग्ज्ञान : दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, मेरठ
सन्मतिवाणी : दिगम्बर जैन, मालवा हुकुम चन्द्र मार्ग, इन्दौर
सम्बोधि : एल० डी० इन्स्टीच्यूट ऑव इण्डोलोजी, अहमदाबाद
सम्मेलन-पत्रिका : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
सन्मति (मराठी)
सन्मति सन्देश : प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली
श्रमण : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
श्रमणोपासक : अखिल भारतीय साधुमार्गीय जैन संघ; बीकानेर
श्री अमरवाणी वीरायतन : राजगृह (बिहार)
ज्ञानकीर्ति : नन्द किशोर जैन, ज्ञानकीर्ति, चौक, लखनऊ
ज्ञानपीठ
ज्ञानोदय

———

शब्दानुक्रमणिका

अंगद १६१
अंशुक १४४
अकारू ४७
अग्रनिवृंत्ति क्रिया ८४
अजीव ३३८, ३४२, ३४५
अजीवाधिकरण ३५०
अट्टालक २६०
अणराज्य १८३
अणुव्रत ५६, ६०, ३५४
अतिथिसंविभाग ५६
अदेवमातृका ३२२, ३२३
अधर्म २५, ३३८, ३४२, ३४५, ३४७
अधर्मास्तिकाय ३३५
अधिष्ठान १३२
अधिकरणिक २१३, २१४
अधिकृत २१३
अधोलोक ३३५, ३३६
अनगार ५४
अनर्थदण्ड विरति ५६
अनाराज्य १८३
अनुवृत्त लिपि २३६
अनेकान्तवाद ३६०, ३६१
अन्तर्वन्ती ११७
अन्त्यज ४७
अन्नप्राशन क्रिया ७२
अभव्य ३४२, ३४३
अभिव्यक्ति २८६
अम्लातक ३०१
अमूर्तिक ३४२, ३४४, ३४६
अयोनिज ४३, ४४
अर्द्धमास ३३२
अर्द्धनारीश्वर २५
अलंकार २६३
अलंकरणगृह १५१
अलाबु २६५
अलोक ३३५
अलोकाकाश ३३५
अलौकिक क्रीड़ा १७२
अवतंस १५५
अवतार क्रिया ८५
अवसर्पिणी २
अवाय (परराष्ट्र) २०४
असंख्यात ३४८
असि २६, ३२, ३२०
अर्हंत् ६, ५५
अहिंसा १३०, ३४६, ३७०, ३७१, ३६१

आकर ३२६

आकाश ३३८, ३४२, ३४४, ३४५, ३४७
आगार २६६
आत्मा ३३६, ३४०, ३४४
आर्त्तध्यान ३८०
आधिराज्य १८३
आधान क्रिया ६७, ६८
आनक २६६
आभ्यान्तर आर्त्तध्यान ३८१
आमायदासी १२२
आलय २६६
आश्यान १६५
आसन १८८, १६५
आस्रव ३४८, ३४६
आर्हन्त्य क्रिया ८४, ८६

इतिवृत्त २, ३, ४
इतिहास वेद २, ३
इन्द्रजाल क्रीड़ा १७२
इन्द्रत्याग क्रिया ८२
इन्द्राभिषेक क्रिया ८२
इन्द्रोपपाद क्रिया ८२

ईश्वर ३५५, ३५६

उत्सर्पिणी २
उत्तरगुण ३७०, ३७३
उत्तरीय १४४, १५०
उत्तंस १५४
उपचयजन्य ३११
उपनयन ५५, ७४, ७५
उपसंव्यान १४८
उपनीति क्रिया ५५, ८६, २३२, २३३
उपयोगिता क्रिया ८६
उपसर्ग १६
उपानत्क १५०
उपाध्याय ३६
उष्णीष १४६, १४७

ऊर्ध्वलोक ३३५, ३३६, ३३७

एणाजिना १५०

ऐतिह्य ४

और्ण १४३

कंचुक १४५
कंसवादक (झांझ) ३००, ३०१
कटक १६१, १६२
कटिसूत्र १६३
कण्ठमालिका १६०
कण्ठाभरण १६०
कन्दुककीड़ा १७०
कम्बल १४७
कर्म १६, ३५६ से ३५६
कर्मणा ३२
कर्मभूमि २३, २६, १८२
कर्मन्वय क्रिया ३३, ६७, ८७, ८८
कल्पना १३२
कल्पवृक्ष २४
कल्याणाभिषेक १७६
कर्षक ३२२, ३२५

कर्षण ४२
कषाय ३५४, ३५७, ३७४
कहला २६६
काल १६, ३३८, ३४५, ३४७, ३४८
कालमान ३३३
काकिणी ३३२
काकु २८५
काञ्ची १६२
काञ्चनसूत्र १६०
कापसिक १४३
कारवाँ ३३१
कार्तिक पूर्णिमा महोत्सव १७६
कारू ४७
किरीट १५३
किरीटी १५३
कीटज १४३
कीनाश ३२२, ३२५
कुआँ ३२२
कुगति २५
कुटिल लिपि २४०, २४१
कुण्डल १५५
कुन्तली १५४
कुलकर १८, २३, २४, २५, २६, १८१
कुलचर्या क्रिया ७६, ८७
कुलपरम्परा १६१
कुलभूषण ३०
कुसुम्भ १४६
कृषक ३२२, ३२३
कृषि २६, ३२, ३२०, ३२१
कृषिकर्म २६, ४२, ४३
कृषि वृत्ति ४३
केयूर १६१
केवल कल्याणक महोत्सव १७६
केशवाप क्रिया ७३
केश संस्कार १६५
कोश १८६
कौड़ी ३३२
कौमुदीमहोत्सव १७६
क्रीतदास १२२
क्षयजन्य ३११
क्षेत्रज्ञ ३३६
क्षौम १४५

खर्वट (कर्वट) २५०, २५१
खेट २५१

गढ़ १८५, १८६
गणग्रहण क्रिया ८५
गणराज्य १८३
गणोपग्रह क्रिया ८१
गर्भकल्याणक महोत्सव १७५
गर्भालम्भन ६७
गर्भाधान ६७
गर्भान्वय क्रिया ३३, ६७
गुंजा ३०१
गुणव्रत ५६
गुणस्थानाभ्युपगम क्रिया ८०
गुरुपूजन क्रिया ८३
गृहत्याग क्रिया ७६, ८७
गृहीशिता क्रिया ७६, ८७
गोपुर २६१
गोमुखमणि १६३

गोत्र शुद्धि २७
गोष्ठी १७३, १७४
ग्राम १८२
ग्रामपति ५८
ग्रैवेयक १६०

घण्टा ३००
घण्टीतंत्र ३२३
घटदासी ४८, १२२
घोष १८२, २५२

चक्रवापुरुष ३२३
चक्रलाभ क्रिया ८३
चक्राभिषेक क्रिया ८३
चर्म १४३
चातुर्वर्ण (चातुर्वर्ण्य) ३२, ३६, ३७
चीनपट्ट १४६
चीवार १४७
चूड़ामणि १५३
चूड़ाकर्म क्रिया ७३
चूष्य १३१
चैत्यालय १०१

छिन्न ३११

जनस्थान १८५
जन्मदिनोत्सव १७८
जन्मोत्सव १७७
जलक्रीड़ा १७०
जातिकृत ३६
जिनरूपता ८०, ८७
जिनवेश्म २७०
जीव ३३५ से ३५४
जीवाधिकरण ३५०
जुवराज्य १८३
जैनीकरण ३३
ज्ञ ३३६
ज्ञाता ३४१
ज्ञानी ३३६

झर्झर ३०१
झल्लरी २६६
झांझमंजीरा ३०१

ढक्का २६६

तंत्र (स्वराष्ट्र) २०४
तंत्री २६५
तड़ाग ३२२
तत्त्व ३४८
तप १६, ३७३
तलपत्रिका १५५
तान २८८
ताल २८६, ३००
तिर्यक् लोक ३३६
त्रिवर्ग १०२, १०४, १०५, ३१७
त्रिवेदी ३६
त्रिलोक ३३५
तीर्थ १६
तीर्थंकर १६, ३५३, ३५४
तीर्थंकरत्व ३५३, ३५४
तीर्थंकृद्भावना क्रिया ८०

तृणव २६४
तुलाकोटि १६३
तुलामान ३३३
तूर्य २६६

दण्डक्रीड़ा १७०
दण्डवर २१३
दया ३५३
दविय ३२४
द्रव्य ३३५, ३३७, ३३८
दर्दुर २६६
दान ४२, ७८, ३५३, ३६१ से ३६५
दाम १६२, १६३
दायभाग ११३
दास ४७, ५८
दिग्विरति ५६
द्विज सत्त्वम ५८
दिशाञ्जय क्रिया ८३
दीक्षाकल्याणक महोत्सव १७६
दीक्षाद्य क्रिया ८०, ८७
दीक्षान्वय क्रिया ३२, ६७, ८४, ८५
दीर्घिका २६५
दीनार ३३२
दुकूल १४८
दुर्ग २५५, २५६
दुंदुकाणक ३०१
दुन्दुभि २६७
दुष्यकुटी १४८
दूती ४८
देवता ३८४, ३८५, ३८६
देव-भोगी ३६
देवमातृका ३२२, ३२३
देवदासी १२३
देशमान ३३३
देशव्रत ५६
देशविरति ५६
दोलाक्रीड़ा १७०
द्रोणमुख १८२, २४६, २५०
द्वैधीभाव १८८, १६५
द्वैराज्य १८३
दोरज्ज १८३
दृढ़चर्या क्रिया ८६
द्यूतक्रीड़ा १७१

ध्याता ३७८
ध्यान १६, ३७८, ३७६, ३८०
धाय ४८, १२१
ध्येय ३७८, ३७६
धर्म २५, ५७, ६१, १०२, १०३, १०४, १०५ ३३८, ३४२, ३४५, ३४७
धर्मध्यान ३८२
धर्मास्तिकाय ३३५
धर्माधिकारी २१३, २१४
धातु २६३
धात्री १२१
धारागृह २६५
धूपवास १६५
धृति क्रिया ६६, ७०

नय ३६२, ३६३
नयवाद ३६१
नागरीलिपि २४१

नामकर्म क्रिया ७१
निर्ग्रन्थ ३६७, ३६८
निर्जरा ३४८, ३५१, ३५२, ३५३, ३५८
निर्यन्त्र ३१२
निर्वाण कल्याणक महोत्सव १७६
निश्छिन्द ३१२
निषद्या क्रिया ७२
निष्क ३३२
निष्क्रमण महोत्सव १७६
निष्क्रान्ति क्रिया ८३
निस्तारक ५८
निःसंगत्वात्मभावना क्रिया ८१
नूपुर १६३
नेत्र १४६
नैगम ३२८
नैमित्तिक लिपि २३६

पंचास्तिकाय ३३५, ३३८
पञ्चकल्याणक महोत्सव १७५
पञ्चेन्द्रिय ३४२, ३४३, ३४६
पट्ट १५४
पणव १८२, २६७
पत्तन २४६
पदार्थ ३४२
पनिहारिन १२२
पर्याय ३३७
परमाणु ३४६
परलोक ३४०
परिकर्म १३२
परिखा २५८, २५६
परिचारिका ४८
परिधान १४७
परिनिर्वृत्ति क्रिया ८६
परिमाणव्रत ५६
परीषह (परिषह) १६, ६३, ३७३
पर्वतारोहण क्रीड़ा १७२
पष्णग ३३२
पाप ३४८, ३५४
पाणिध २६७
पायंक ३३२
पारिवारिक शुद्धता २८
पारिव्रज्य ६२, ६३
पारिव्रज्य क्रिया ६२, ८८
प्रियोद्भव क्रिया ७०
प्रीति क्रिया ६६
पुटभेदन २५०, १८२
पुण्य ३४८, ३५४
पुण्ययज्ञा क्रिया ८६
पुद्गल ३३५, ३३८, ३४२, ३४५, ३४६ ३४६
पुनर्भू १२०
पुनर्जन्म ३५७, ३५६
पुमान् ३३६
पुराणी १
पुराणवित् १
पुराणवेद २
पुरोहित ३६, २०६
पुरुष ३३६
पुरुषार्थ १०२, १०३, १०४, १०५
पुष्कर २६८
पूजा १६, ७८, ३८७
पूजाराध्य क्रिया ८५

पेय १३१
पोत ३३०, ३३१
पौरव्यावहारिक २१३
प्रेष्य ४७
प्रोषधोपवास ५६
प्रतोली २६१
प्रपा २६६
प्रव्रज्या १६
प्रशान्तता क्रिया ८७
प्रशान्ति क्रिया ७६
प्राकार २५६, २६०
प्रावार १४६
प्रायोपगमन ६३, ६४

बन्ध ३३५, ३५०, ३५४
बर्हिर्यान क्रिया ७१, ७२
बालिक १५५
बाह्याली क्रीड़ा १७२
बुर्ज २६१
बुष्किम ३११
बेगार ५०

भंभा ३०१
भक्ष्य १३१
भयदासी १२२
भव्य ३४२, ३४३
भिक्षुकसंज्ञक ६३
भूदेव ३६
भेरी २६८
भोगभूमि २३, १८२
भोज्य १३१

भौतिक ३६
भृत्य वृत्ति ५१

मटम्ब १८२, २५१
मण्डुक ३०१
मदनोत्सव १७८
मध्यलोक ३३५, ३३६
मन्वन्तर २५
मयूरपिच्छधारी ६
मषि (मसि) २६, ३२, ३२०
महाराज्य १८३
महाव्रत ३७४
महीदेव ५८
मात्स्यन्याय १८२, २१५
मान ३३२
मानार्ह ५८
मार्गणा ३४१
मास ३३२
मित्र १८६
मुक्त ३४२, ३४४
मुकुट १५३
मुण्डितकेश ६
मुद्रिका १६१
मुनि ३६४ से ३७५
मुनिदीक्षा ६३
मूर्च्छना २८७, २६३
मूर्तिक ३४२, ३४६
मूरज २६६
मूलगुण ३७०, ३७३
मृगया विनोद क्रीड़ा १७१
मृतक संस्कार ८६, ६०

मृदंग २६८
मेखला १६२
मेयमान ३३३
मोक्ष १६, ६१, १०२, १०४, ३३५, ३४८, ३५१, ३५२
मोद क्रिया ७०
मौनाध्ययन वृत्तत्व क्रिया ८०
मौलि १५३

यन्त्र ३११
यवनिका १२६
यज्ञ ३८४
यज्ञोपवीत ४०, ४१, ४२, ५५, ५६, ५७ ७६, ७७
यष्टि १५६, १५७
यान १८८, १६५
यानपत्र ३३०, ३३१
युगादिपुरुष २६
युद्ध क्रीड़ा १७२
योग १६, ३७६, ३७७
योगत्याग क्रिया ८४
योगनिर्वाणसाधन क्रिया ८१
योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया ८१
योग सम्मह क्रिया ८४
योनिद्रव्य १३२
यौवराज्य क्रिया ८३

रटिक ३०१
रत्नत्रय ५६
रसना १६२
राग २८६
रासक्रीड़ा १७१
रूपक ३३२
रेशम १४३
रौद्रध्यान ३८१

लम्प ३०१
लम्पाक ३०१
लय २८६
लिपिसंख्यान क्रिया ७४
लिपि संस्कार २३३
लेख २८६
लेह्य १३१
लोक ३३५, ३४०, ३४७
लोकाकाश ३३५

वंश (बांसुरी) २६६, ३००
वंशशुद्धि २६
वर्णलाभ क्रिया ३०, ७८, ८६
वर्णाधिकारी ३७
वणिक् ४५, ३२८
वणिज् ३२८
वणिक् न्याय ३२६
वर्णोत्तम ५८
वर्णसंकर ५१
वल्कल १४३, १४८
वर्षवृद्धिदिनोत्सव १७८
वप्र (कोट) २५०
वनक्रीड़ा १७०
व्रतचर्या क्रिया ७७, ८६, २३२, २३३
व्रतावतरण क्रिया ५६, ७८, ८६, २३३,

व्रतोपवास ३६५, ३६६, ३६७
व्यापार ३४, ३२०, ३२८, ३२६, ३३० ३३१,
व्युष्टि क्रिया ७२, ७३
वाडव ३६
वाणिज्य २६, ३२, ३४, ३२०, ३२८, ३२६
वापी ३२२
वासस् १४६
विकृत लिपि २३६
विग्रह १८८, १६५
विजयोत्सव १७८
विद्या २६, ३२, ३२०
विधिदान क्रिया ८२
विन्यास २८५
विपञ्ची ३०१
विप्र ३६
विवाहोत्सव १७७
विवाह क्रिया ५७, ७८, ८६, ६१
विराम २८६
विरुधराज्य १८३
विष्टि ५०
विहार क्रिया ८४
वीणा २६४, २६५
वेणु ३००
वीतदोष ३२२
वीर्य १३२
वेत्रासन ३०१
वेश्म २६६
वैखानख ६२
वृत्तलाभ क्रिया ८५
वृत्ति २८५, २६३
व्यवहार २१३

शंख ३००
शरीर जन्म ६६
शरीर मरण ६६, ८६
शारदा लिपि २४१
शान्तदान्तचित्त ४१
शासनदेव २८१
शिक्षाव्रत ५६
शिल्प २६, ३२, ३२०, ३२५
शिल्पसंघ ३२८
शुक्लध्यान ३८३
श्रावकाचार ५६
श्रीगृह १५१
श्रुति २६०, २६३
श्रेष्ठी ४५, ४६, ३२८, ३२६
श्रोतिए ३६

संक्रमणजन्य ३११
संग्रह २५२
संख्यात ३४८
संवर ३४८, ३५०, ३५१, ३५३, ३५८, ३७६
संवाह १८२, २५२
संस्कार जन्म ६६
संस्कारमरण ६६, ८६
संसारी ३४२, ३४३, ३४४, ३४५
संश्रय १८८, १६५
सज्जाति क्रिया ८८
सप्तभंगी ३६१

सप्तभंगीनय ५६
सद्गृहित्व क्रिया ८८
सन्धि १८८, १६५
सम्यक् चारित्र ५७, १०३, १०४ ३४४, ३५२, ३५३, ३५४
सम्यक् दर्शन ५७, १०३, १०४, ३४४ ३५२, ३५३, ३५४
समवसरण १६, २७४, २७५, २७६
समताभाव ६०
समानार्थत्व २८६
समिति ३७२
समुदाय २८६
सल्लेखना ५६
सश्छिद्र ३१२
सद्म २६५, २६६
सक १६०
सागार ५४, ६४
सामयिक ५६
सामाजिक उत्सव १७७
सामायिक लिपि २३६
सामान्याभिहित २८६
साम्राज्य क्रिया ८३, ८६
सार्थवाह ४५, ४६, ३२८, ३२६
सार्वभौम १८३
सिद्ध ३४४, ३४५
सिद्धमात्रिका लिपि २४०, २४१
सिवैल्री ४४, ४५
सीमान्तकमणि १५४
सुखोदय क्रिया ८२
सुगति २५
सुघोषा २६५
सुन्द ३०१
सुप्रीति क्रिया ६६
सुरेन्द्रता क्रिया ८६
सुश्रुत ५८
सूत्रपद ६३
स्कन्ध ३४६
स्याद्वाद ३६१
स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया ८१
स्वर्णभाषक ३३२
स्थान २६३
स्थानलाभ क्रिया ८५
स्वर २८४, २८५, २६३
स्वराज्य क्रिया ८३

हक्का ३०१
हर्म्य २६७
हरिद्राब (खिजाब) १६५
हलवाहक ३२२, ३२५
हार १५७, १५८, १५६, १६०
हिंसा ४३, ६०, ३४६, ३५४
हिंसावृत्ति ४३
हिरण्य ३३२
हिरण्योत्कृष्टजन्मता क्रिया ८२
हुंकार ३०१
हेतुगुञ्जा ३०१
हैका ३०१

चित्र–फलक

१—वस्त्र एवं वेशभूषा

चित्र संख्या

१. अंशुक की उष्णीष पट्टिका : (पृ० १४४-१४६) मस्तक पर अंशुक की उष्णीष पट्टी (अजन्ता फलक २८, पंक्ति ४, चित्र ४)।

२. उष्णीष : (पृ० १४६) साफा या पगड़ी (अमरावती फलक ७)।

३. उपसंव्यान : (परिकर) (पृ० १४८, १५०) पल्ले सहित धोती पहनने का ढंग तथा कमरबन्द (वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र १४)।

४. कंचुक : (पृ० १४५) चोली पहने स्त्री (अहिच्छत्र के खिलौने, सं० ३०७)।

५. चीवर : (पृ० १४७) चीवर पहने बौद्ध-भिक्षु (अमरावती फलक ६, चित्र १४)।

१–अंशुक की उष्णीष पट्टिका

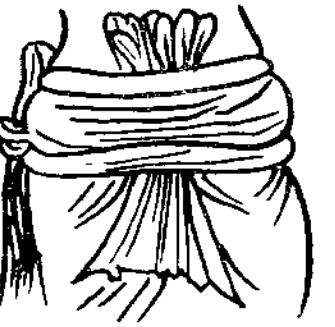

३–उपसंव्यान (परिकर)

२–उष्णीष

४–कंचुक

५–चीवर

२—वस्त्र एवं वेशभूषा और केश प्रसाधन

६. उत्तरीय : (पृ० १५०) तरंगित उत्तरीय। देवगढ़ मन्दिर की मूर्ति से (गोकुल चन्द्र जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र १०)।

७. सिर का माला : (पृ० १६७) सिर पर माला पहनने का ढंग (अजन्ता फलक २८, पंक्ति ३, चित्र २)।

८. ललाट-जूटक : (पृ० १६६-१६७) विशेष प्रकार का सिर पर जूड़ा तथा माला (अमरावती फलक ६, चित्र २)।

९. ललाट-जूटक : (पृ० १६६-१६७) सिर पर जूड़ा तथा माला (अजन्ता, फलक ७७)।

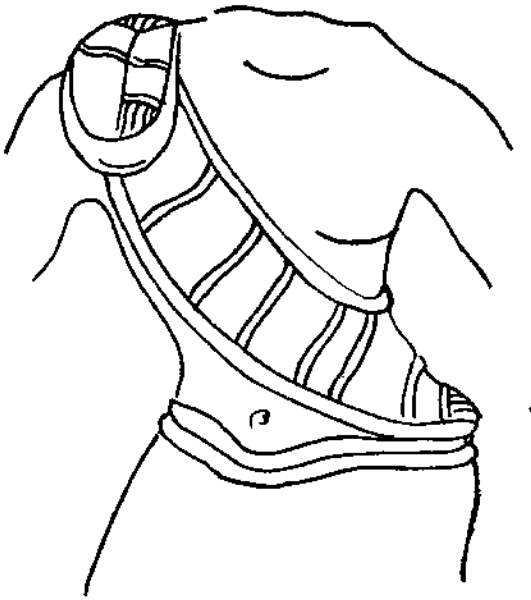

६—उत्तरीय

७—सिर का माला

८—ललाट-जूटक

९—ललाट-जूटक

३—केश प्रसाधन

१०. कवरी-विन्यास : (पृ० १६६) चोटी तथा चोटी में माला (वासुदेव शरण अग्रवाल—वही, चित्र ४१)।

११. कवरी-विन्यास : (पृ० १६६) अन्य प्रकार की चोटी तथा चोटी में माला (अमरावती फलक ८, चित्र २३)।

१२. धम्मिल-विन्यास : (पृ० १६६) विशेष प्रकार का धम्मिल-विन्यास (अमरावती फलक ६, चित्र ३)।

१३. धम्मिल-विन्यास : (पृ० १६६) केशों को इकट्ठा करके जूड़े की तरह बाँधना (अजन्ता फलक ३६)।

१०—कवरी-विन्यास

१२—धम्मिल विन्यास

११—कवरी-विन्यास

१३—धम्मिल-विन्यास

४—केश प्रसाधन

१४. अलक-जाल : (पृ० १६६) केश बाँधने का विशेष ढंग । राजघाट से प्राप्त एक मृण्मूर्ति (गोकुल चन्द्र जैन—वही, चित्र ३३) ।

१५. मौलि : (पृ० १५३, १६६) पुरुषों के केश बाँधने का विशेष प्रकार (गोकुल चन्द्र जैन—वही, चित्र ३४) ।

१६. केशपाश : (पृ० १६७) पत्र और पुष्प मंजरी से सजाकर मुकुट से बाँधे गये केश (गोकुल चन्द्र जैन—वही, चित्र ३५) ।

१७. कुन्तल-कलाप : (पृ० १६७) मोर की पूंछ के अग्रभाग की तरह संवारे गये कुन्तल (गोकुल चन्द्र जैन—वही, चित्र ३६) ।

१४—अलक-जाल

१५—मौलि

१६—केशपाश

१७—कुन्तल-कलाप

५—आभूषण

१८. किरीट : (पृ० १५३) चक्रवर्ती तथा सम्राटों द्वारा धारण किया जाने वाला सिर का बहुमूल्य आभूषण (अमरावती फलक ७, चित्र ८)।

१९. किरीटी : (पृ० १५३) यह किरीट से छोटा होता था।

२०. उत्तंस : (पृ० १५४) आकार में किरीट और मुकुट से छोटा, परन्तु दोनों से सुन्दर और बहुमूल्य।

२१. पट्ट : (पृ० १५४) यह स्वर्ण का होता था तथा पगड़ी के ऊपर पट्ट के रूप में बाँधते थे।

२२. कुन्तली : (पृ० १५४) आकार में किरीट से बड़ा तथा कलगी के साथ धारण करने योग्य।

२३. सीमान्तक मणि : (पृ० १५४) स्त्रियों के माँग का आभूषण (अहिच्छत्र में मिट्टी के खिलौने, द्रष्टव्य—अग्रवाल—वही, चित्र १६)।

२४. मुकुट : (पृ० १५३) इसमें चूड़ामणि तथा कलगी भी होता था। यह किरीट से कम मूल्यवान् (अजन्ता फलक ७८)।

१८—किरीट

२०—उत्तंस

१९—किरीटी

२१—पट्ट

२२—कुन्तली

२३—सीमान्तक मणि

२४—मुकुट

६—आभूषण

२५. कुण्डल : (पृ० १५५) कान का आभूषण (अजन्ता फलक ३३)।

२६. अवतंस : (पृ० १५५) कान का आभूषण (अजन्ता फलक ३३)।

२७. तलपत्रिका : (पृ० १५५) पुरुष द्वारा धारण किया जाने वाला कान का आभूषण (अमरावती फलक ७, चित्र ८)।

२८. बालिक : (पृ० १५५) कान में पहनने का गोला आभूषण।

२९. शीर्षक यष्टि : (पृ० १५६) गले का आभूषण। इसके मध्य में एक मोती होती थी।

३०. उपशीर्षक यष्टि : (पृ० १५६) इसके मध्य में क्रमशः बढ़ते हुए तीन मोती होते थे।

३१. प्रकाण्ड यष्टि : (पृ० १५६) इसके मध्य में क्रमशः बढ़ते हुए पाँच मोती होते थे।

२५–कुण्डल

२७–तलपत्रिका

२९–शीर्षक यष्टि

२६–अवतंस

२८–बालिक

३०–उपशीर्षक यष्टि

३१–प्रकाण्ड यष्टि

७—आभूषण

३२. शुद्धा यष्टि : (पृ० १५७) इसमें मणि का प्रयोग नहीं होता था।

३३. तरल प्रबन्ध यष्टि : (पृ० १५६) इसमें सर्वत्र एक समान मोती लगे होते थे।

३४. अवघाटक यष्टि : (पृ० १५६। इसके मध्य में बड़ा मोती और क्रमशः घटते हुए छोटे-छोटे मोती होते थे।

३५. इन्द्रच्छन्दहार : (पृ० १५७) इसमें १००८ लड़ियाँ होती थीं। इसे जिनेन्द्र, इन्द्र तथा चक्रवर्ती धारण करते थे।

३२–शुद्धा यष्टि

३३–तरल प्रबन्ध यष्टि

३४–अवघाटक यष्टि

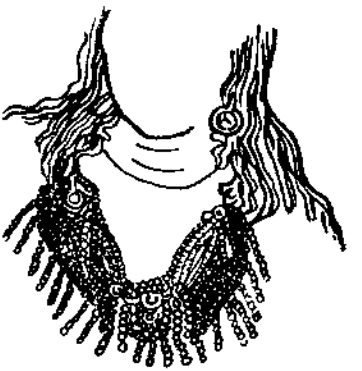

३५–इन्द्रच्छन्दहार

८—आभूषण

३६. मणिमध्या यष्टि : (पृ० १५७) इसके मध्य में मणि का प्रयोग होता था।

३७. विजयच्छन्दहार : (पृ० १५८) इसमें ५०४ लड़ियाँ होती थीं। इसे अर्द्ध-चक्रवर्ती, बलभद्र आदि धारण करते थे।

३८. हार : (पृ० १५८) इसमें १०८ लड़ियाँ होती थीं।

३९. देवच्छन्दहार : (पृ० १५८) इसमें ८१ लड़ियाँ होती थीं।

४०. अर्द्धहार : (पृ० १५८) इसमें ६४ लड़ियाँ होती थीं।

४१. रश्मिकलापहार : (पृ० १५८) इसमें ५४ लड़ियाँ होती थीं।

४२. नक्षत्रमालाहार : (पृ० १५८) इसमें २७ लड़ियाँ होती थीं।

३६—मणिमध्या यष्टि

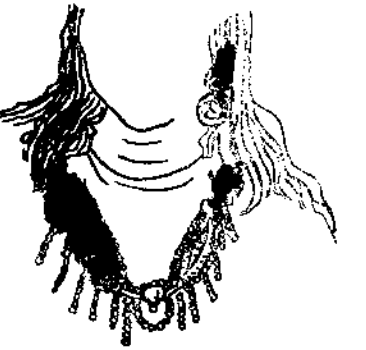

३७—विजयछन्दहार

३८—हार

३९—देवच्छन्दहार

४०—अर्द्धहार, ४१—रश्मि कलापहार

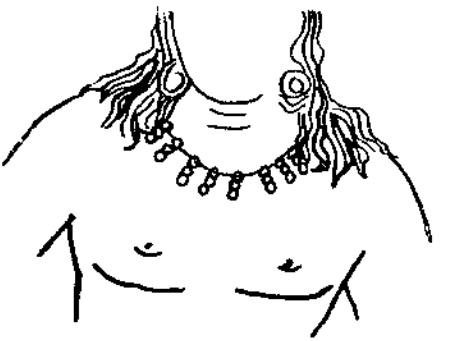

४२—नक्षत्रमालाहार

६—आभूषण

४३. फलकहार : (पृ० १५८) अर्द्धमाणवहार में मणि लगा देने से फलक हार होता था।

४४. अर्द्धमाणवहार : (पृ० १५८) इसमें १० लड़ियाँ होती थीं।

४५. माणवहार : (पृ० १५८) इसमें २० लड़ियाँ होती थीं।

४६. अर्द्धगुच्छहार : (पृ० १५८) इसमें २४ लड़ियाँ होती थीं।

४७. गुच्छहार : (पृ० १५८) इसमें ३२ लड़ियाँ होती थीं।

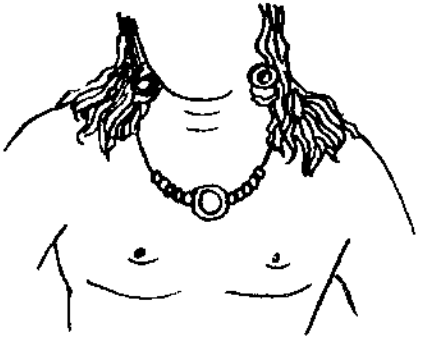

४३–फलकहार

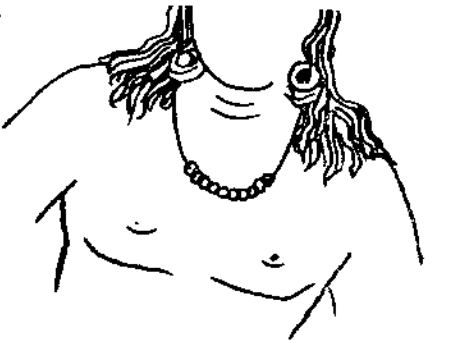

४४–अर्धमाणवहार

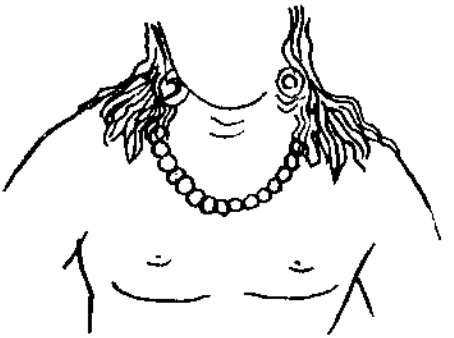

४५–माणवहार

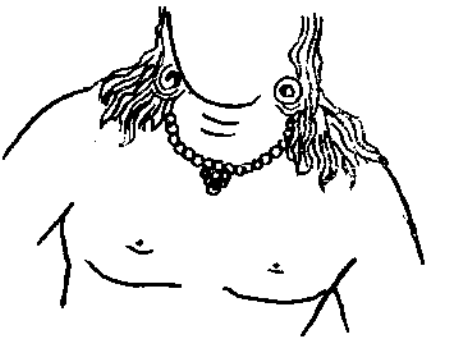

४६–अर्द्ध गुच्छहार

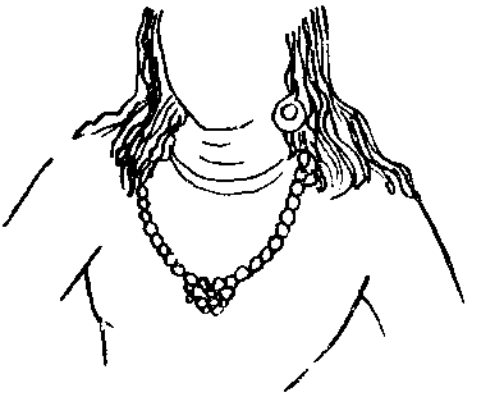

४७–गुच्छहार

१०—आभूषण

४८. काञ्चन सूत्र : (पृ० १६०) गले में पहनने की सोने की जंजीर।

४९. अंगद : (पृ० १६१) भुजा का आभूषण (अमरावती फलक ८, चित्र ७-८)।

५०. कटक : (पृ० १६१) कलाई का आभूषण (वही, चित्र ९, ११)।

५१. मुद्रिका : (पृ० १६१) उँगली का आभूषण।

५२. केयूर : (पृ० १६१) भुजा का आभूषण (वही, चित्र ७-८)।

५३. कण्ठमालिका : (पृ० १६०) कण्ठ का आभूषण। स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे (अमरावती फलक ४, चित्र २९)।

५४. रसना : (पृ० १६२) कमर में पहनने का आभूषण (वही, चित्र ३४)।

५५. मेखला : (पृ० १६२) चौड़ी तथा घुँघरूदार। स्त्री-पुरुष दोनों के पहनने का आभूषण (वही, चित्र २६)।

५६. कांची : (पृ० १६२) कमर में पहनने की करधनी (वही, चित्र २८)।

५७. दाम : (पृ० १६२) कमर में धारण करने का आभूषण (वही, चित्र २७)।

५८. कटिसूत्र : (पृ० १६३) स्त्री-पुरुष दोनों के कमर में धारण करने का आभूषण।

५९. नूपुर : (पृ० १६३) पैर की उँगलियों में पहनने का आभूषण। थाली में नूपुर लिये हुए परिचारिका। (वही, चित्र १८)।

४८–काञ्चन सूत्र

४९–अंगद

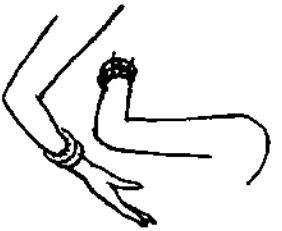

५०–कटक

५१–मुद्रिका

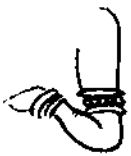

५२–केयूर

५३–कण्ठमालिका

५४–रसना

५५–मेखला

५६–कांची

५७–दाम

५८–कटिसूत्र

५९–नूपुर

११—आभूषण और शस्त्रास्त्र

६०. तुलाकोटि : (पृ० १६३) पैर का आभूषण था, जो तराजू की डंडी के समान होता था।

६१. गोमुखमणि : (पृ० १६३) पैर का आभूषण, जिसका अग्रभाग गाय के मुख के समान था और जिसके अग्रभाग पर मणि लगी होती थी।

६२. गदा : (पृ० २२७) बड़े आकार की गदा (अमरावती फलक १०, चित्र १५)।

६३. गदा : (पृ० २२७) छोटे आकार की गदा (अमरावती फलक १८)।

६४. असिधेनुका : (पृ० २२७) कमर की पेटी में रखी कटारी सहित पदाति-युवक। अहिच्छत्र से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्ति।

६५. खेटक : (पृ० २२७) ढाल। अहिच्छत्र से प्राप्त मिट्टी की मूर्ति।

६६. नाराच : (पृ० २२८) भस्त्रा या धौंकनीनुमा तरकश।

६०—तुलाकोटि

६१—गोमुखमणि

६२—गदा

६३—गदा

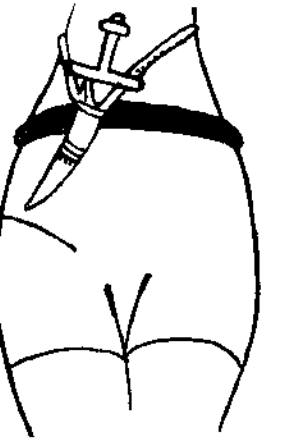

६४—असिधेनुका

६५—खेटक

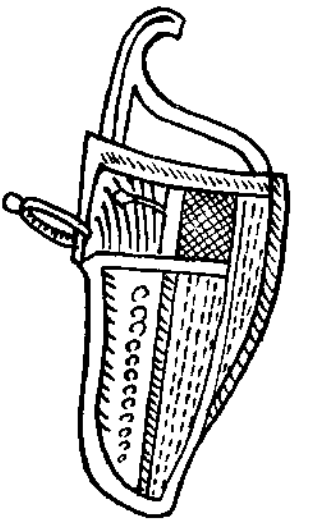

६६—नाराच

१२—शस्त्रास्त्र

६७. कुठार : (पृ० २२७) फरशा (अमरावती फलक १०, चित्र ३)।

६८. निर्घात (अशनि) : (पृ० २२८) वज्र। (वही, चित्र ४३)।

६९. वारुणा : (पृ० २२८) वांगुरा या कमन्द।

७०. यष्टि : (पृ० २२८) कमर में लटकाये यष्टि या असियष्टि (अमरावती फलक १०, चित्र ८)।

७१. पाश : (पृ० २२८) बंधन।

७२. कृपाण (कटार) : (पृ० २२७) दो मुखी तलवार। (अमरावती फलक १०, चित्र ६)।

७३. धनुष (कोदण्ड) : (पृ० २२८) लपेटा धनुष (वही, चित्र ४)।

७४. धनुष : (पृ० २२८) चढ़ाया धनुष (वही, चित्र ११)।

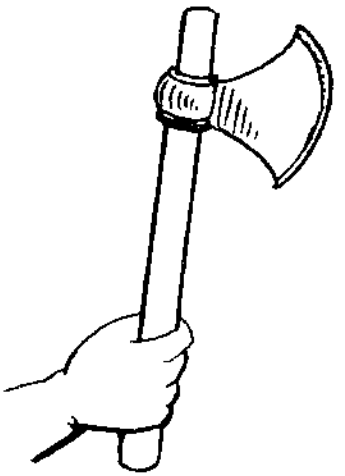

६७—कुठार

६८-निर्घात
(अशनि)

६९—वारुणा

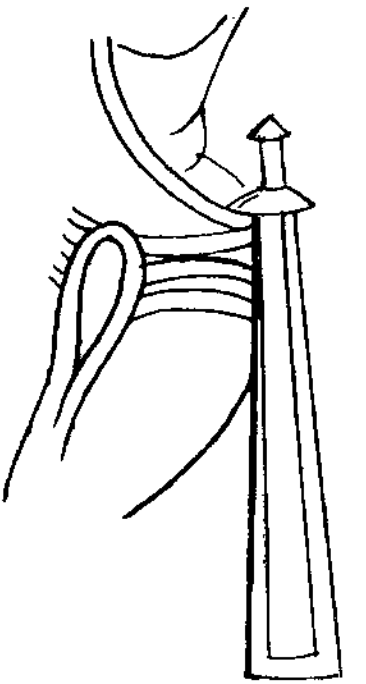

७०—यष्टि

७१—पाश

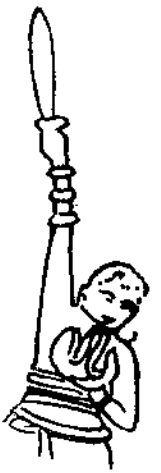

७२—कृपाण (कटार)

७३—धनुष (कोदण्ड)

७४—धनुष

१३—शस्त्रास्त्र और समवसरण

७५. दण्ड : (पृ० २२८) हाथ में दण्ड या प्यादा ।

७६. प्रास : (पृ० २२८) भाला ।

७७. शूल (त्रिशूल) : (पृ० २२९) प्रहार किया जाता हुआ त्रिशूल (वही, चित्र १४) ।

७८. शूल (त्रिशूल) : (पृ० २२९) हाथ में स्थित त्रिशूल (वही, चित्र १६) ।

७९. चक्र : (पृ० २२७) मथुरा से प्राप्त विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति से चक्र ।

८०. समवसरण की सामान्य भूमि : (पृ० २७४-२७६) ।

८१. समवसरण का मानस्तम्भ भूमि : (पृ० २७४-२७६) ।

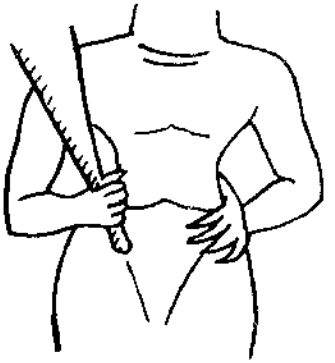

७५—दण्ड

७६—प्राम

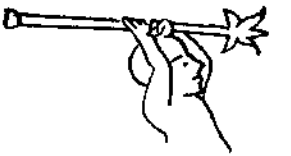

७७—शूल (त्रिशूल)

७६—चक्र

७८—शूल (त्रिशूल)

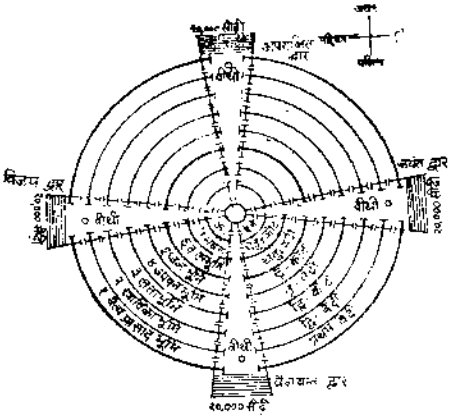

८०—समवसरण की सामान्य भूमि

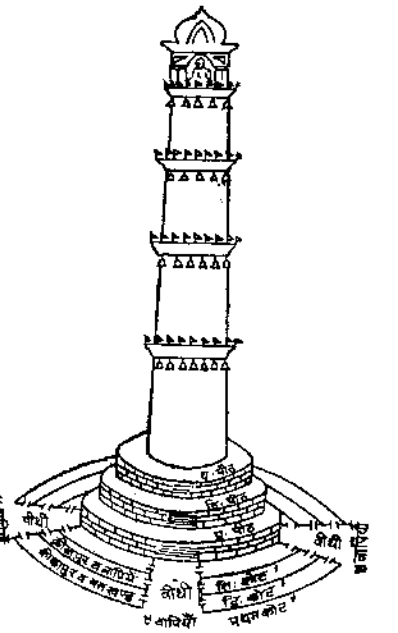

८१—समवसरण का मानस्तम्भ भूमि

१४—समवसरण

८२. समवसरण के चैत्य वृक्ष की भूमि : (पृ० २७४-२७६)।

८३. समवसरण का एक दिशात्मक सामान्य भूमि : (पृ० २७४-२७६)।

८४. समवसरण का धूलिशाल कोट तथा उसका तोरण द्वार : (पृ० २७४-२७६)।

८५. समवसरण की गन्ध कुटी : (पृ० २७४-२७६)।

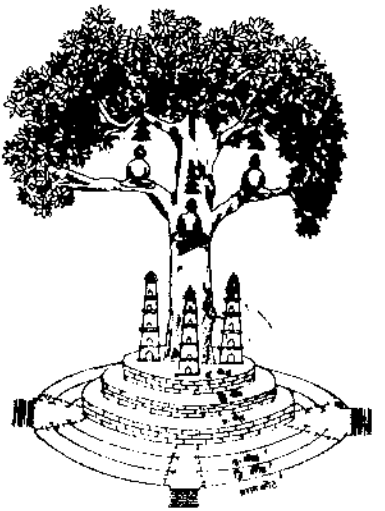

८२—समवसरण के चैत्यवृक्ष की भूमि

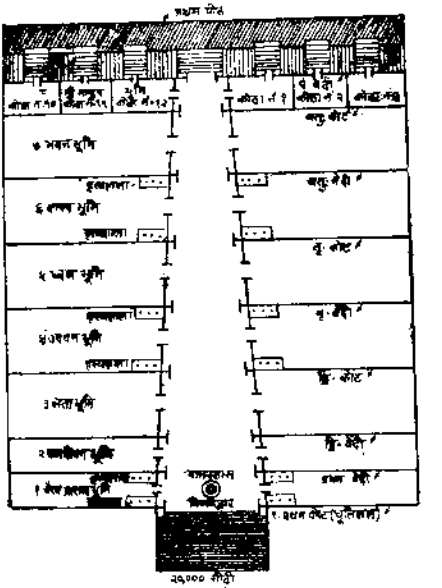

८३—समवसरण का एक दिशात्मक सामान्य भूमि

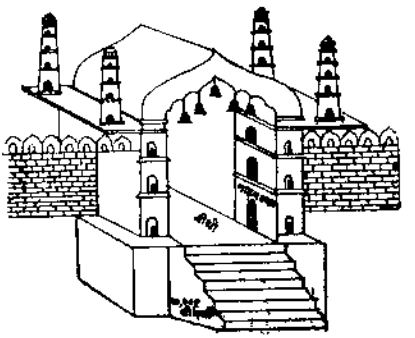

८४—समवसरण का धूलिशाल कोट तथा उसका तोरण द्वार

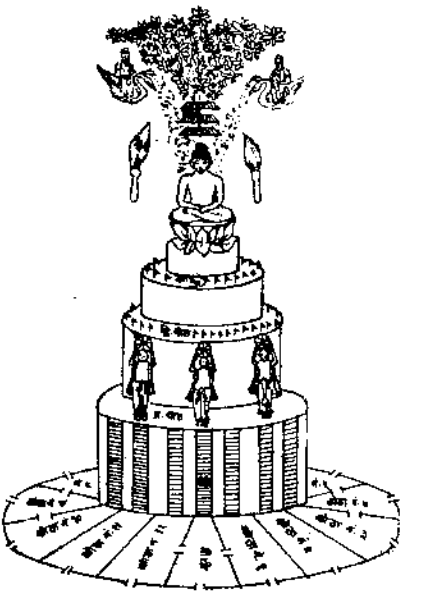

८५—समवसरण की गन्ध कुटी

१५—वाद्य यन्त्र

८६. तुणव : (पृ० २६४) सितार के रूप में तम्बूरे के आकार का तुणव ।

८७. सुघोषा वीणा : (पृ० २६५) १७ तार की वीणा ।

८८. अलाबु वीणा : (पृ० २६५) लौकी या तुम्बा से निर्मित वीणा ।

८६. एकतंत्री वीणा : (पृ० २६५) एक तार की वीणा ।

६०. त्रितंत्री वीणा : (पृ० २६५) तीन तार वाली वीणा ।

६१. विपञ्ची वीणा : (पृ० ३०१) समुद्रगुप्त के सिक्कों पर अंकित विपञ्ची वीणा वादन करते हुए ।

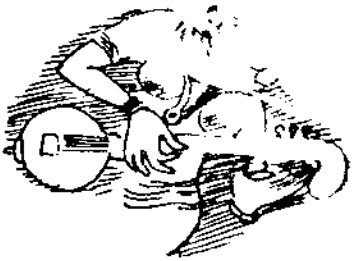

८६—तुणव

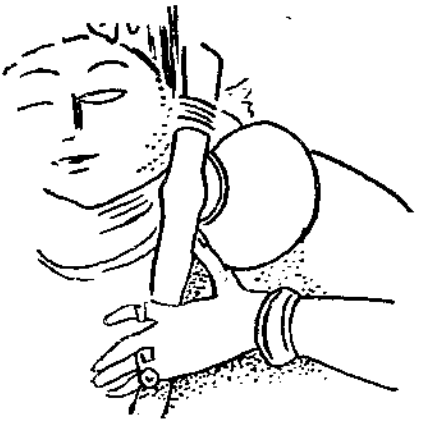

८९—एकतंत्री वीणा

८७—सुघोषा वीणा

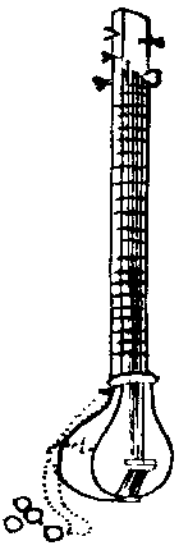

८८—अलाबु वीणा

९०—त्रितंत्री वीणा

९१—विपञ्ची वीणा

१६—वाद्य यन्त्र

९२. आनक : (पृ० २९६) आधुनिक नगाड़े या नौबत के समान ।

९३. झल्लरी : (पृ० २९६) आधुनिक खंजरी । कोणार्क, १२५० ई० ।

९४. दर्दुर : (पृ० २९६) घट के आकार का वाद्य ।

९५. दुन्दुभि : (पृ० २९७) नगाड़ा-नगड़िया । इसे लकड़ी से बजाते हैं ।

९६. ढक्का : (पृ० २९६) बगल में दबाकर हाथ से बजाने का वाद्य या धौंसा ।

९७. पणव : (पृ० २९७) आधुनिक हुड्डुक के समान ।

९८. पणव : (पृ० २९७) आधुनिक हुड्डुक के समान ।

९२–आनक

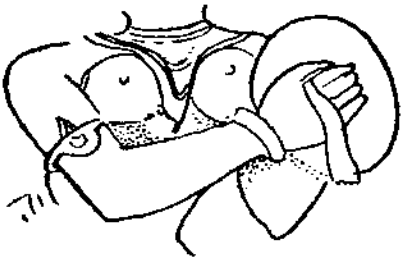

९३–झल्लरी

९४–दर्दुर

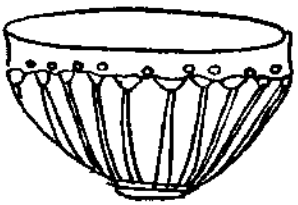

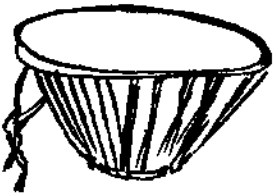

९५–दुन्दुभि

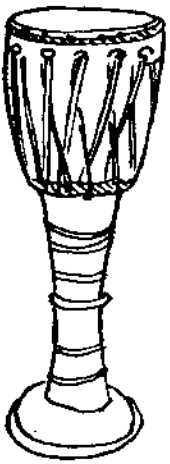

९६–ढक्का

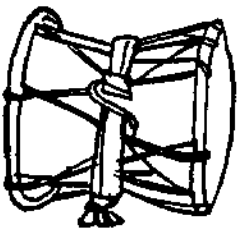

९७–पणव

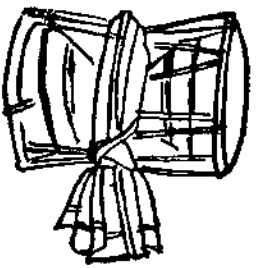

९८–पणव

१७—वाद्य यन्त्र

९९. पटह : (पृ० २९७) ढोलक के समान। रानकपुर, आदिनाथ मन्दिर, ग्यारहवीं-बारहवीं शती।

१००. पुष्कर : (पृ० २९८) मृदंग या पखावज का प्राचीन रूप।

१०१. पाणिघ : (पृ० २९७) आधुनिक तबला का प्राचीन रूप।

१०२. मृदंग : (पृ० २९८) कर्नाटक के मृदंगम् के समान।

१०३. भेरी : (पृ० २९८) ढोल के समान।

१०४. झर्झर : (पृ० ३०१) झर्झर का वादन। आलमपुर, पापनाशिनी, सातवीं-आठवीं शती ई०।

९९—पटह

१००—पुष्कर

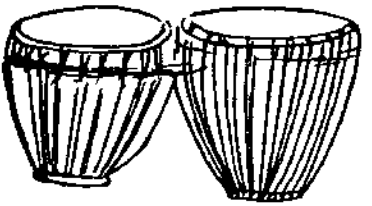

१०१—पाणिघ

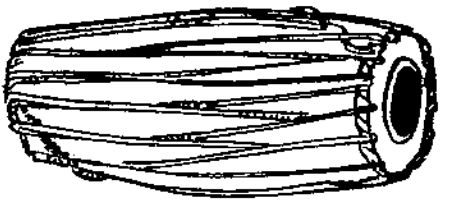

१०२—मृदंग

१०३—भेरी

१०४—झर्झर

१८—वाद्य यन्त्र

१०५. कहला : (पृ० २६६) भूपाड़ों तथा बांगाल के समान।

१०६. वंश (वंशी) : (पृ० २६६) बांसुरी।

१०७. तूर्य : (पृ० २६६) तूर्यवादक। विष्णुपुर, सोलहवीं शती में।

१०८. शंख : (पृ० ३००) शंखवादक। खजुराहो, विष्णु मन्दिर, दशवीं शती।

१०९. घंटा : (पृ० ३००) बिरमानी में घंटा।

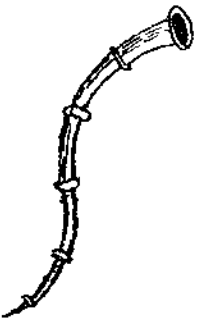

१०५—कहला

१०६—वंश (वंशी)

१०७—तूर्य

१०८—शंख

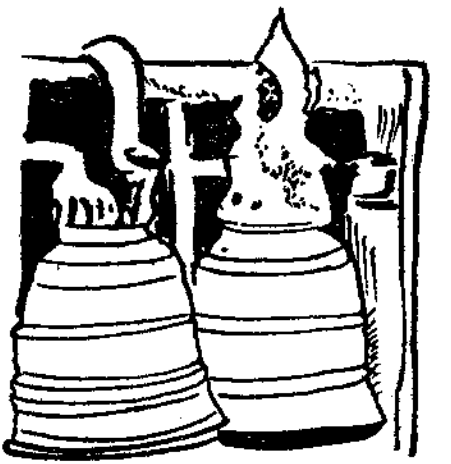

१०९—घण्टा

१६—वाद्य यन्त्र

११०. ताल : (पृ० ३००) मंजीरा से बड़ा।

१११. वृन्दवादन : एक साथ वादन करते हुए। बायें से क्रमश—मंजीरा (पृ० ३०१), एकतंत्री-वीणा (पृ० २६५), वंशी (पृ० २६६), झांझ (पृ० ३००) तथा हुडुक (पृ० २६७) का वादन करते हुए। खजुराहो, दशवीं शती ई०।

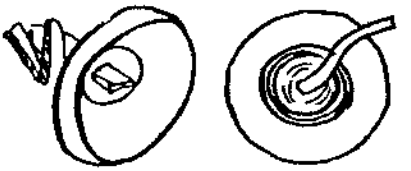

११०—ताल

१११—वृन्दवादन
(मंजीरा, एकतंत्री-वीणा, वंशी, झांझ तथा डुडुक)

२०—जैन पुराण कालीन भारत

११२. जैन पुराण कालीन भारत : (पृ० ३६४–४५४) प्रमुख पर्वत, नदी, देश (राष्ट्र), नगर ।

जैन पुराण कालीन
भारत
सुमेरू (महामेरू) प०
हिन्दूकुश प०
हिमवन्त पर्वत
हिमालय प०
मानसरोवर
ब्रह्मपुत्र नदी
सिन्धु नदी
सरस्वती नदी
जयपुर
मथुरा
सौवीर
अपरान्तक
कच्छ
सौराष्ट्र
गिरनार प०
अवन्ती
विन्ध्याचल पर्वत
नर्मदा नदी
रत्नपुर
पुर
महानदी
ताप्ती नदी
प्रतिष्ठानपुर
गोदावरी नदी
इन्द्रावती नदी
कुण्डी
कामरूप
प्राग्ज्योतिष
गौड़
किरात
रत्नाकर
महोदधि
दक्षिण
लंका
पयोधि
0 100 200 300 400
मील

Dr. Devi Prasad Misra's remarkable book in Hindi entitled *Jaina Puranon ka Sanskritik Adhyayana* is an admirable contribution to the studies in Jainology in general and to the studies in Jain Culture in particular as it presents at one place, for the first time, the rich and varied cultural heritage of the Jainas depicted in a large number of voluminous Jain Puranas composed in different parts of India during the ancient and medieval period of more than one thousand years.....It is a comprehensive study on the cultural aspects of the Jain Puranas....The author has utilised relevent original works available on the subject and consulted a good number of primary and secondary sources. The author has also analysed the appropriate and relevant data in Non-Jain texts and Archaeological evidences.....The book provides valuable and authentic information on different aspects of cultural life, social organisation, political administration, economic activities, educational system, literary works, artistic constructions, ecclesiastical order, religious rituals and geographical conditions.....I am sure that the book will be of great utility to the research scholars not only of Sanskrit and Prakrit languages and literature but also of Sociology, Cultural Anthropology, Social History and other Social Sciences.....The book is a piece of valuable and arduous research work.....A translation of the book in English would be of great value to foreign scholars interested in the study of Jain Culture & Jainology.

Dr. Vilas A. Sangave
Honorary Director
Shahu Research Institute
Shivaji University, Kolhapur